ॐ

परमात्मने नमः

श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन साहित्य स्मृति संचय, पुष्प नं.

अष्टपाहुड़ प्रवचन

भाग-१

परम पूज्य श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव
द्वारा रचित परमागम श्री अष्टपाहुड़
(दर्शनपाहुड़, गाथा 1 से 36) पर
परम उपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के
धारावाहिक शब्दशः प्रवचन

: हिन्दी अनुवाद :
पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन
बिजौलियाँ, जिला-भीलवाड़ा (राज.)

: प्रकाशक :
श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट
302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056
फोन : (022) 26130820

: सह-प्रकाशक :
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250
फोन : 02846-244334

प्रथम संस्करण :

ISBN No. :

न्यौछावर राशि : 20 रुपये मात्र

प्राप्ति स्थान :

1. **श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट,**
   सोनगढ़ (सौराष्ट्र) – 364250, फोन : 02846-244334
2. **श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट**
   302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, वी. एल. महेता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट),
   मुम्बई-400056, फोन (022) 26130820 Email - vitragva@vsnl.com
3. **श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट (मंगलायतन)**
   अलीगढ़-आगरा मार्ग, सासनी-204216 (उ.प्र.)
4. **पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट,**
   ए-4, बापूनगर, जयपुर, राजस्थान-302015, फोन : (0141) 2707458
5. **पूज्य श्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट,**
   कहान नगर, लाम रोड, देवलाली-422401, फोन : (0253) 2491044
6. **श्री परमागम प्रकाशन समिति**
   श्री परमागम श्रावक ट्रस्ट, सिद्धक्षेत्र, सोनागिरजी, दतिया (म.प्र.)
7. **श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान आध्यात्मिक ट्रस्ट**
   योगी निकेतन प्लाट, 'स्वरुचि' सवाणी होलनी शेरीमां, निर्मला कोन्वेन्ट रोड
   राजकोट-360007 फोन : (0281) 2477728, मो. 09374100508

टाईप-सेटिंग : **विवेक कम्प्यूटर्स,** अलीगढ़

मुद्रक :

प्रकाशकीय

शासननायक अन्तिम तीर्थंकर देवाधिदेव श्री महावीर परमात्मा का वर्तमान शासन प्रवर्त रहा है। आपश्री की दिव्यध्वनि द्वारा प्रकाशित मोक्षमार्ग, परम्परा में हुए अनेक आचार्य भगवन्तों द्वारा आज भी विद्यमान है। श्री गौतम गणधर के बाद अनेक आचार्य हुए, उनमें श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव का स्थान श्री महावीरस्वामी, श्री गौतम गणधर के पश्चात् तीसरे स्थान पर आता है, यह जगत विदित है।

श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्य विक्रम संवत् ४९ के लगभग हुए हैं। आपश्री ने स्वयं की ऋद्धि द्वारा वर्तमान विदेहक्षेत्र में प्रत्यक्ष विराजमान श्री सीमन्धर भगवान के समवसरण में आठ दिन रहकर दिव्यदेशना ग्रहण की है, वहाँ से आकर उन्होंने अनेक महान परमागमों की रचना की। उनमें अष्टप्राभृत ग्रन्थ का भी समावेश होता है। आचार्य भगवन्त की पवित्र परिणति के दर्शन उनकी प्रत्येक कृतियों में होते हैं। भव्य जीवों के प्रति निष्कारण करुणा करके उन्होंने मोक्षमार्ग का अन्तर-बाह्यस्वरूप स्पष्ट किया है। आचार्य भगवन्त ने मोक्षमार्ग को टिका रखा है, यह कथन वस्तुतः सत्य प्रतीत होता है।

चतुर्थ गुणस्थान से चौदह गुणस्थानपर्यन्त अन्तरंग मोक्षमार्ग के साथ भूमिकानुसार वर्तते विकल्प की मर्यादा कैसी और कितनी होती है वह आपश्री ने स्पष्ट किया है। इस प्रकार निश्चय व्यवहार मोक्षमार्ग का स्वरूप स्पष्ट करके अनेक प्रकार के विपरीत अभिप्रायों में से मुमुक्षु जीवों को उभारा है। अष्टप्राभृत ग्रन्थ में मुख्यरूप से निर्ग्रन्थ मुनिदशा कैसी होती है और साथ में कितनी मर्यादा में उस गुणस्थान में विकल्प की स्थिति होती है, यह स्पष्ट किया है।

वर्तमान काल में दिगम्बर साहित्य तो था ही परन्तु साहित्य में निहित मोक्षमार्ग का स्वरूप यदि इस काल में किसी दिव्यशक्ति धारक महापुरुष ने प्रकाशित किया हो तो वे हैं परमोपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी। पूज्य गुरुदेवश्री ने शास्त्रों में निहित मोक्षमार्ग को स्वयं की दिव्य श्रुतलब्धि द्वारा समाज में निर्भीकता से उद्‌घाटित किया है। शास्त्र में मोक्षमार्ग का रहस्य तो प्ररूपित था ही परन्तु इस काल के अचम्भा समान पूज्य गुरुदेवश्री की अतिशय भगवती प्रज्ञा ने उस रहस्य को स्पष्ट किया है। पूज्य गुरुदेवश्री का असीम उपकार आज तो गाया ही जाता है किन्तु पंचम काल के अन्त तक गाया जायेगा।

पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा अनेक परमागमों पर विस्तृत प्रवचन हुए हैं। उनमें अष्टपाहुड़ का भी समावेश होता है। प्रस्तुत प्रवचन शब्दशः प्रकाशित हों, ऐसी भावना मुमुक्षु समाज में से व्यक्त होने से श्री कुन्दकुन्द कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, विले पार्ला, मुम्बई द्वारा इन प्रवचनों का अक्षरशः प्रकाशित करना सहर्ष स्वीकार किया गया, तद्नुसार ये प्रवचन गुजराती भाषा में सात भागों में

प्रकाशित हुए हैं। उनमें से हिन्दी प्रकाशन के इस प्रथम भाग में **दर्शनपाहुड़** की गाथा 1 से 36 तक के 21 प्रवचनों का समावेश है। जिनमें 19 प्रवचन सन् 1970 तथा दो प्रवचन उस वर्ष में अनुपलब्ध होने से 1973 के प्रवचनों से लिये गये हैं।

सम्यग्दर्शन धर्म का मूल है। सम्यग्दर्शन का स्वरूप आचार्य भगवन्त ने स्वयं की मौलिक शैली में सुचारूरूप से वर्णन किया है। सम्यग्दर्शन का स्वरूप कैसा होता है, वह पूज्य गुरुदेवश्री ने अनेक पहलुओं से स्पष्ट किया है। आचार्य भगवान के हृदय में प्रवेश कर उनके भावों को खोलनेवाले अलौकिक सामर्थ्य के दर्शन पूज्य गुरुदेवश्री के इन प्रवचनों में होते हैं। अनन्त काल से मिथ्यात्व के दु:ख से पीड़ित जीवों को सम्यग्दर्शन किस प्रकार प्राप्त हो और सम्यक्त्व के सुख से किस प्रकार अलंकृत हुआ जाए, इसका विशद वर्णन प्रस्तुत प्रवचनों में हुआ है।

इन प्रवचनों को सी.डी. में से सुनकर गुजराती भाषा में शब्दश: तैयार करने का कार्य नीलेशभाई जैन, भावनगर द्वारा किया गया है, तत्पश्चात् इन प्रवचनों को श्री चेतनभाई मेहता, राजकोट द्वारा जाँचा गया है। बहुत प्रवचन बैटरीवाले होने से जहाँ आवाज बराबर सुनायी नहीं दी, वहाँ .... करके छोड़ दिया गया है। वाक्य रचना पूर्ण करने के लिये कोष्ठक का भी प्रयोग किया गया है।

हिन्दी भाषी मुमुक्षु समाज में भी इन प्रवचनों का व्यापक प्रचार-प्रसार हो इस भावना से इन प्रवचनों का हिन्दी रूपान्तरण एवं सी.डी. से मिलान करने का कार्य पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियाँ (राजस्थान) ने किया है। तदर्थ संस्था सभी सहयोगियों का सहृदय आभार व्यक्त करती है।

ग्रन्थ के मूल अंश को बोल्ड टाईप में दिया गया है।

प्रवचनों को पुस्तकारूढ़ करने में जागृतिपूर्वक सावधानी रखी गयी तथापि कहीं क्षति रह गयी हो तो पाठकवर्ग से प्रार्थना है कि वे हमें अवश्य सूचित करें। जिनवाणी का कार्य अति गम्भीर है, इसलिए कहीं प्रमादवश क्षति रह गयी हो तो देव-गुरु-शास्त्र की विनम्रतापूर्वक क्षमायाचना करते हैं। पूज्य गुरुदेवश्री के चरणों में तथा प्रशममूर्ति भगवती माता के चरणों में कोटि-कोटि वन्दन समर्पित करते हुए भावना भाते हैं कि आपश्री की दिव्यदेशना जयवन्त वर्तो.. जयवन्त वर्तो..

प्रस्तुत प्रवचन ग्रन्थ www.vitragvani.com पर रखा गया है।

अन्तत: प्रस्तुत प्रवचनों के स्वाध्याय द्वारा मुमुक्षु जीव आत्महित की साधना करें इसी भावना के साथ विराम लेते हैं।

निवेदक

ट्रस्टीगण, श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, मुम्बई

एवं

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़

श्री समयसारजी-स्तुति

(हरिगीत)

संसारी जीवनां भावमरणो टाळवा करुणा करी,
सरिता वहावी सुधा तणी प्रभु वीर! ते संजीवनी;
शोषाती देखी सरितने करुणाभीना हृदये करी,
मुनिकुंद संजीवनी समयप्राभृत तणे भाजन भरी।

(अनुष्टुप)

कुन्दकुन्द रच्युं शास्त्र, साथिया अमृतने पूर्या,
ग्रंथाधिराज! तारामां भावो ब्रह्मांडना भर्या।

(शिखरिणी)

अहो! वाणी तारी प्रशमरस-भावे नीतरती,
मुमुक्षुने पाती अमृतरस अंजलि भरी भरी;
अनादिनी मूर्छा विष तणी त्वराथी ऊतरती,
विभावेथी थंभी स्वरूप भणी दोड़े परिणति।

(शार्दूलविक्रीड़ित)

तुं छे निश्चयग्रंथ भंग सघळा व्यवहारना भेदवा,
तुं प्रज्ञाछीणी ज्ञान ने उदयनी संधि सहु छेदवा;
साथीसाधकनो, तुं भानु जगनो, संदेश महावीरनो,
विसामो भवक्लांतना हृदयनो, तुं पंथ मुक्ति तणो।

(वसंततिलका)

सुण्ये तने रसनिबंध शिथिल थाय,
जाण्ये तने हृदय ज्ञानी तणां जणाय;
तुं रुचतां जगतनी रुचि आळसे सौ,
तुं रीझतां सकलज्ञायकदेव रीझे।

(अनुष्टुप)

बनावुं पत्र कुंदननां, रत्नोना अक्षरो लखी;
तथापि कुंदसूत्रोनां अंकाये मूल्य ना कदी।

श्री सद्‌गुरुदेव-स्तुति

(हरिगीत)

संसारसागर तारवा जिनवाणी छे नौका भली,
ज्ञानी सुकानी मळ्या विना ए नाव पण तारे नहीं;
आ काळमां शुद्धात्मज्ञानी सुकानी बहु बहु दोह्यलो,
मुज पुण्यराशि फळ्यो अहो! गुरु कहान तुं नाविक मळ्यो।

(अनुष्टुप)

अहो! भक्त चिदात्माना, सीमंधर-वीर-कुंदना।
बाह्यांतर विभवो तारा, तारे नाव मुमुक्षुनां।

(शिखरिणी)

सदा दृष्टि तारी विमळ निज चैतन्य नीरखे,
अने ज्ञप्तिमांही दरव-गुण-पर्याय विलसे;
निजालंबीभावे परिणति स्वरूपे जई भळे,
निमित्तो वहेवारो चिद्‌घन विषे कांई न मळे।

(शार्दूलविक्रीडित)

हैयु 'सत सत, ज्ञान ज्ञान' धबके ने वज्रवाणी छूटे,
जे वज्रे सुमुमुक्षु सत्त्व झळके; परद्रव्य नातो तूटे;
- रागद्वेष रुचे न, जंप न वळे भावेंद्रिमां-अंशमां,
टंकोत्कीर्ण अकंप ज्ञान महिमा हृदये रहे सर्वदा।

(वसंततिलका)

नित्ये सुधाझरण चंद्र! तने नमुं हुं,
करुणा अकारण समुद्र! तने नमुं हुं;
हे ज्ञानपोषक सुमेघ! तने नमुं हुं,
आ दासना जीवनशिल्पी! तने नमुं हुं।

(स्त्रग्धरा)

ऊंडी ऊंडी, ऊंडेथी सुखनिधि सतना वायु नित्ये वहंती,
वाणी चिन्मूर्ति! तारी उर-अनुभवना सूक्ष्म भावे भरेली;
भावो ऊंडा विचारी, अभिनव महिमा चित्तमां लावी लावी,
खोयेलुं रत्न पामुं, - मनरथ मननो; पूरजो शक्तिशाळी!

अध्यात्मयुगसृष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

(संक्षिप्त जीवनवृत्त)

भारतदेश के सौराष्ट्र प्रान्त में, बलभीपुर के समीप समागत 'उमराला' गाँव में स्थानकवासी सम्प्रदाय के दशाश्रीमाली वणिक परिवार के श्रेष्ठीवर्य श्री मोतीचन्दभाई के घर, माता उजमबा की कूख से विक्रम संवत् 1946 के वैशाख शुक्ल दूज, रविवार (दिनाङ्क 21 अप्रैल 1890 - ईस्वी) प्रात:काल इन बाल महात्मा का जन्म हुआ।

जिस समय यह बाल महात्मा इस वसुधा पर पधारे, उस समय जैन समाज का जीवन अन्ध-विश्वास, रूढ़ि, अन्धश्रद्धा, पाखण्ड, और शुष्क क्रियाकाण्ड में फँस रहा था। जहाँ कहीं भी आध्यात्मिक चिन्तन चलता था, उस चिन्तन में अध्यात्म होता ही नहीं था। ऐसे इस अन्धकारमय कलिकाल में तेजस्वी कहानसूर्य का उदय हुआ।

पिताश्री ने सात वर्ष की लघुवय में लौकिक शिक्षा हेतु विद्यालय में प्रवेश दिलाया। प्रत्येक वस्तु के ह्रार्द तक पहुँचने की तेजस्वी बुद्धि, प्रतिभा, मधुरभाषी, शान्तस्वभावी, सौम्य गम्भीर मुखमुद्रा, तथा स्वयं कुछ करने के स्वभाववाले होने से बाल 'कानजी' शिक्षकों तथा विद्यार्थियों में लोकप्रिय हो गये। विद्यालय और जैन पाठशाला के अभ्यास में प्राय: प्रथम नम्बर आता था, किन्तु विद्यालय की लौकिक शिक्षा से उन्हें सन्तोष नहीं होता था। अन्दर ही अन्दर ऐसा लगता था कि मैं जिसकी खोज में हूँ, वह यह नहीं है।

तेरह वर्ष की उम्र में छह कक्षा उत्तीर्ण होने के पश्चात्, पिताजी के साथ उनके व्यवसाय के कारण पालेज जाना हुआ, और चार वर्ष बाद पिताजी के स्वर्गवास के कारण, सत्रह वर्ष की उम्र में भागीदार के साथ व्यवसायिक प्रवृत्ति में जुड़ना हुआ।

व्यवसाय की प्रवृत्ति के समय भी आप अप्रमाणिकता से अत्यन्त दूर थे, सत्यनिष्ठा, नैतिज्ञता, निखालिसता और निर्दोषता से सुगन्धित आपका व्यावहारिक जीवन था। साथ ही आन्तरिक व्यापार और झुकाव तो सतत् सत्य की शोध में ही संलग्न था। दुकान पर भी धार्मिक पुस्तकें पढ़ते थे। वैरागी चित्तवाले कहानकुँवर कभी रात्रि को रामलीला या नाटक देखने जाते तो उसमें से वैराग्यरस का घोलन करते थे। जिसके फलस्वरूप पहली बार सत्रह वर्ष की उम्र में पूर्व की आराधना के संस्कार और मङ्गलमय उज्ज्वल भविष्य की अभिव्यक्ति करता हुआ, बारह लाईन का काव्य इस प्रकार रच जाता है —

शिवरमणी रमनार तूं, तूं ही देवनो देव।

उन्नीस वर्ष की उम्र से तो रात्रि का आहार, जल, तथा अचार का त्याग कर दिया था।

सत्य की शोध के लिए दीक्षा लेने के भाव से 22 वर्ष की युवा अवस्था में दुकान का परित्याग करके, गुरु के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार कर लिया और 24 वर्ष की उम्र में (अगहन शुक्ल 9, संवत् 1970) के दिन छोटे से उमराला गाँव में 2000 साधर्मियों के विशाल जनसमुदाय की उपस्थिति में स्थानकवासी सम्प्रदाय की दीक्षा अंगीकार कर ली। दीक्षा के समय हाथी पर चढ़ते हुए धोती फट जाने

से तीक्ष्ण बुद्धि के धारक - इन महापुरुष को शंका हो गयी कि कुछ गलत हो रहा है परन्तु सत्य क्या है ? यह तो मुझे ही शोधना पड़ेगा।

दीक्षा के बाद सत्य के शोधक इन महात्मा ने स्थानकवासी और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समस्त आगमों का गहन अभ्यास मात्र चार वर्ष में पूर्ण कर लिया। सम्प्रदाय में बड़ी चर्चा चलती थी, कि कर्म है तो विकार होता है न ? यद्यपि गुरुदेवश्री को अभी दिगम्बर शास्त्र प्राप्त नहीं हुए थे, तथापि पूर्व संस्कार के बल से वे दृढ़तापूर्वक सिंह गर्जना करते हैं — **जीव स्वयं से स्वतन्त्ररूप से विकार करता है; कर्म से नहीं अथवा पर से नहीं। जीव अपने उल्टे पुरुषार्थ से विकार करता है और सुल्टे पुरुषार्थ से उसका नाश करता है।**

विक्रम संवत् 1978 में महावीर प्रभु के शासन-उद्धार का और हजारों मुमुक्षुओं के महान पुण्योदय का सूचक एक मङ्गलकारी पवित्र प्रसंग बना —

32 वर्ष की उम्र में, विधि के किसी धन्य पल में श्रीमद्भगवत् कुन्दकन्दाचार्यदेव रचित 'समयसार' नामक महान परमागम, एक सेठ द्वारा महाराजश्री के हस्तकमल में आया, इन पवित्र पुरुष के अन्तर में से सहज ही उद्गार निकले — **'सेठ! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।'** इसका अध्ययन और चिन्तवन करने से अन्तर में आनन्द और उल्लास प्रगट होता है। इन महापुरुष के अन्तरंग जीवन में भी परम पवित्र परिवर्तन हुआ। भूली पड़ी परिणति ने निज घर देखा। तत्पश्चात् श्री प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, मोक्षमार्गप्रकाशक, द्रव्यसंग्रह, सम्यग्ज्ञानदीपिका इत्यादि दिगम्बर शास्त्रों के अभ्यास से आपको नि:शंक निर्णय हो गया कि दिगम्बर जैनधर्म ही मूलमार्ग है और वही सच्चा धर्म है। इस कारण आपकी अन्तरंग श्रद्धा कुछ और बाहर में वेष कुछ — यह स्थिति आपको असह्य हो गयी। अत: अन्तरंग में अत्यन्त मनोमन्थन के पश्चात् सम्प्रदाय के परित्याग का निर्णय लिया।

परिवर्तन के लिये योग्य स्थान की खोज करते-करते सोनगढ़ आकर वहाँ 'स्टार ऑफ इण्डिया' नामक एकान्त मकान में महावीर प्रभु के जन्मदिवस, चैत्र शुक्ल 13, संवत् 1991 (दिनांक 16 अप्रैल 1935) के दिन दोपहर सवा बजे सम्प्रदाय का चिह्न मुँह पट्टी का त्याग कर दिया और स्वयं घोषित किया कि **अब मैं स्थानकवासी साधु नहीं; मैं सनातन दिगम्बर जैनधर्म का श्रावक हूँ।** सिंह-समान वृत्ति के धारक इन महापुरुष ने 45 वर्ष की उम्र में महावीर्य उछाल कर यह अद्भुत पराक्रमी कार्य किया।

स्टार ऑफ इण्डिया में निवास करते हुए मात्र तीन वर्ष के दौरान ही जिज्ञासु भक्तजनों का प्रवाह दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया, जिसके कारण यह मकान एकदम छोटा पड़ने लगा; अत: भक्तों ने इन परम प्रतापी सत् पुरुष के निवास और प्रवचन का स्थल **'श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर'** का निर्माण कराया। गुरुदेवश्री ने वैशाख कृष्ण 8, संवत् 1994 (दिनांक 22 मई 1938) के दिन इस निवासस्थान में मंगल पदार्पण किया। यह स्वाध्याय मन्दिर, जीवनपर्यन्त इन महापुरुष की आत्मसाधना और वीरशासन की प्रभावना का केन्द्र बन गया।

दिगम्बर धर्म के चारों अनुयोगों के छोटे बड़े 183 ग्रन्थों का गहनता से अध्ययन किया, उनमें से मुख्य 38 ग्रन्थों पर सभा में प्रवचन किये। जिनमें श्री समयसार ग्रन्थ पर 19 बार की गयी अध्यात्म

वर्षा विशेष उल्लेखनीय है। प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, परमात्मप्रकाश, नियमसार, पंचास्तिकायसंग्रह, समयसार कलश–टीका इत्यादि ग्रन्थों पर भी बहुत बार प्रवचन किये हैं।

दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले और कुन्दकुन्दादि आचार्यों के गहन शास्त्रों के रहस्योद्‌घाटक इन महापुरुष की भवताप विनाशक अमृतवाणी को ईस्वी सन् 1960 से नियमितरूप से टेप में उत्कीर्ण कर लिया गया, जिसके प्रताप से आज अपने पास नौ हजार से अधिक प्रवचन सुरक्षित उपलब्ध हैं। यह मङ्गल गुरुवाणी, देश–विदेश के समस्त मुमुक्षु मण्डलों में तथा लाखों जिज्ञासु मुमुक्षुओं के घर–घर में गुंजायमान हो रही है। इससे इतना तो निश्चित है कि भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को पञ्चम काल के अन्त तक यह दिव्यवाणी ही भव के अभाव में प्रबल निमित्त होगी।

इन महापुरुष का धर्म सन्देश, समग्र भारतवर्ष के मुमुक्षुओं को नियमित उपलब्ध होता रहे, तदर्थ सर्व प्रथम विक्रम संवत् 2000 के माघ माह से (दिसम्बर 1943 से) **आत्मधर्म** नामक मासिक आध्यात्मिक पत्रिका का प्रकाशन सोनगढ़ से मुरब्बी श्री रामजीभाई माणिकचन्द दोशी के सम्पादकत्व में प्रारम्भ हुआ, जो वर्तमान में भी गुजराती एवं हिन्दी भाषा में नियमित प्रकाशित हो रहा है। पूज्य गुरुदेवश्री के दैनिक प्रवचनों को प्रसिद्धि करता दैनिक पत्र **श्री सद्‌गुरु प्रवचनप्रसाद** ईस्वी सन् 1950 सितम्बर माह से नवम्बर 1956 तक प्रकाशित हुआ। स्वानुभवविभूषित चैतन्यविहारी इन महापुरुष की मङ्गल–वाणी को पढ़कर और सुनकर हजारों स्थानकवासी श्वेताम्बर तथा अन्य कौम के भव्य जीव भी तत्त्व की समझपूर्वक सच्चे दिगम्बर जैनधर्म के अनुयायी हुए। अरे! मूल दिगम्बर जैन भी सच्चे अर्थ में दिगम्बर जैन बने।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा दिगम्बर आचार्यों और मान्यवर, पण्डितवर्यों के ग्रन्थों तथा पूज्य गुरुदेवश्री के उन ग्रन्थों पर हुए प्रवचन–ग्रन्थों का प्रकाशन कार्य विक्रम संवत् 1999 (ईस्वी सन् 1943 से) शुरु हुआ। इस सत्साहित्य द्वारा वीतरागी तत्त्वज्ञान की देश–विदेश में अपूर्व प्रभावना हुई, जो आज भी अविरलरूप से चल रही है। परमागमों का गहन रहस्य समझाकर कृपालु कहान गुरुदेव ने अपने पर करुणा बरसायी है। तत्त्वजिज्ञासु जीवों के लिये यह एक महान आधार है और दिगम्बर जैन साहित्य की यह एक अमूल्य सम्पत्ति है।

ईस्वीं सन् 1962 के दशलक्षण पर्व से भारत भर में अनेक स्थानों पर पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रवाहित तत्त्वज्ञान के प्रचार के लिए प्रवचनकार भेजना प्रारम्भ हुआ। इस प्रवृत्ति से भारत भर के समस्त दिगम्बर जैन समाज में अभूतपूर्व आध्यात्मिक जागृति उत्पन्न हुई। आज भी देश–विदेश में दशलक्षण पर्व में सैकड़ों प्रवचनकार विद्वान इस वीतरागी तत्त्वज्ञान का डंका बजा रहे हैं।

बालकों में तत्त्वज्ञान के संस्कारों का अभिसिंचन हो, तदर्थ सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 (ईस्वीं सन् 1941) के मई महीने के ग्रीष्मकालीन अवकाश में बीस दिवसीय धार्मिक शिक्षण वर्ग प्रारम्भ हुआ, बड़े लोगों के लिये प्रौढ़ शिक्षण वर्ग विक्रम संवत् 2003 के श्रावण महीने से शुरु किया गया।

सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 – फाल्गुन शुक्ल दूज के दिन नूतन दिगम्बर जिनमन्दिर में कहानगुरु के मङ्गल हस्त से श्री सीमन्धर आदि भगवन्तों की पंच कल्याणक विधिपूर्वक प्रतिष्ठा हुई। उस

समय सौराष्ट्र में मुश्किल से चार-पाँच दिगम्बर मन्दिर थे और दिगम्बर जैन तो भाग्य से ही दृष्टिगोचर होते थे। जिनमन्दिर निर्माण के बाद दोपहरकालीन प्रवचन के पश्चात् जिनमन्दिर में नित्यप्रति भक्ति का क्रम प्रारम्भ हुआ, जिसमें जिनवर भक्त गुरुराज हमेशा उपस्थित रहते थे, और कभी-कभी अतिभाववाही भक्ति भी कराते थे। इस प्रकार गुरुदेवश्री का जीवन निश्चय-व्यवहार की अपूर्व सन्धियुक्त था।

ईस्वी सन् 1941 से ईस्वीं सन् 1980 तक सौराष्ट्र-गुजरात के उपरान्त समग्र भारतदेश के अनेक शहरों में तथा नैरोबी में कुल 66 दिगम्बर जिनमन्दिरों की मङ्गल प्रतिष्ठा इन वीतराग-मार्ग प्रभावक सत्पुरुष के पावन कर-कमलों से हुई।

जन्म-मरण से रहित होने का सन्देश निरन्तर सुनानेवाले इन चैतन्यविहारी पुरुष की मङ्गलकारी जन्म-जयन्ती 59 वें वर्ष से सोनगढ़ में मनाना शुरु हुआ। तत्पश्चात् अनेकों मुमुक्षु मण्डलों द्वारा और अन्तिम 91 वें जन्मोत्सव तक भव्य रीति से मनाये गये। 75 वीं हीरक जयन्ती के अवसर पर समग्र भारत की जैन समाज द्वारा चाँदी जड़ित एक आठ सौ पृष्ठीय अभिनन्दन ग्रन्थ, भारत सरकार के तत्कालीन गृहमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री द्वारा मुम्बई में देशभर के हजारों भक्तों की उपस्थिति में पूज्यश्री को अर्पित किया गया।

श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा के निमित्त समग्र उत्तर और पूर्व भारत में मङ्गल विहार ईस्वी सन् 1957 और ईस्वी सन् 1967 में ऐसे दो बार हुआ। इसी प्रकार समग्र दक्षिण और मध्यभारत में ईस्वी सन् 1959 और ईस्वी सन् 1964 में ऐसे दो बार विहार हुआ। इस मङ्गल तीर्थयात्रा के विहार दौरान लाखों जिज्ञासुओं ने इन सिद्धपद के साधक सन्त के दर्शन किये, तथा भवान्तकारी अमृतमय वाणी सुनकर अनेक भव्य जीवों के जीवन की दिशा आत्मसन्मुख हो गयी। इन सन्त पुरुष को अनेक स्थानों से अस्सी से अधिक अभिनन्दन पत्र अर्पण किये गये हैं।

श्री महावीर प्रभु के निर्वाण के पश्चात् यह अविच्छिन्न पैंतालीस वर्ष का समय (वीर संवत् 2461 से 2507 अर्थात् ईस्वी सन् 1935 से 1980) वीतरागमार्ग की प्रभावना का स्वर्णकाल था। जो कोई मुमुक्षु, अध्यात्म तीर्थधाम स्वर्णपुरी / सोनगढ़ जाते, उन्हें वहाँ तो चतुर्थ काल का ही अनुभव होता था।

विक्रम संवत् 2037, कार्तिक कृष्ण 7, दिनांक 28 नवम्बर 1980 शुक्रवार के दिन ये प्रबल पुरुषार्थी आत्मज्ञ सन्त पुरुष — देह का, बीमारी का और मुमुक्षु समाज का भी लक्ष्य छोड़कर अपने ज्ञायक भगवान के अन्तरध्यान में एकाग्र हुए, अतीन्द्रिय आनन्दकन्द निज परमात्मतत्त्व में लीन हुए। सायंकाल आकाश का सूर्य अस्त हुआ, तब सर्वज्ञपद के साधक सन्त ने मुक्तिपुरी के पन्थ में यहाँ भरतक्षेत्र से स्वर्गपुरी में प्रयाण किया। वीरशासन को प्राणवन्त करके अध्यात्म युग सृजक बनकर प्रस्थान किया।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस युग का एक महान और असाधारण व्यक्तित्व थे, उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सत्य से अत्यन्त दूर जन्म लेकर स्वयंबुद्ध की तरह स्वयं सत्य का अनुसन्धान किया और अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ से जीवन में उसे आत्मसात किया।

इन विदेही दशावन्त महापुरुष का अन्तर जितना उज्ज्वल है, उतना ही बाह्य भी पवित्र है; ऐसा

पवित्रता और पुण्य का संयोग इस कलिकाल में भाग्य से ही दृष्टिगोचर होता है। आपश्री की अत्यन्त नियमित दिनचर्या, सात्विक और परिमित आहार, आगम सम्मत्त संभाषण, करुण और सुकोमल हृदय, आपके विरल व्यक्तित्व के अभिन्न अवयव हैं। शुद्धात्मतत्त्व का निरन्तर चिन्तवन और स्वाध्याय ही आपका जीवन था। जैन श्रावक के पवित्र आचार के प्रति आप सदैव सतर्क और सावधान थे। जगत् की प्रशंसा और निन्दा से अप्रभावित रहकर, मात्र अपनी साधना में ही तत्पर रहे। आप भावलिंगी मुनियों के परम उपासक थे।

आचार्य भगवन्तों ने जो मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उसे इन रत्नत्रय विभूषित सन्त पुरुष ने अपने शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति के आधार से सातिशय ज्ञान और वाणी द्वारा युक्ति और न्याय से सर्व प्रकार से स्पष्ट समझाया है। द्रव्य की स्वतन्त्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार, क्रमबद्धपर्याय, कारणशुद्धपर्याय, आत्मा का शुद्धस्वरूप, सम्यग्दर्शन, और उसका विषय, सम्यग्ज्ञान और ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता, तथा सम्यक्चारित्र का स्वरूप इत्यादि समस्त ही आपश्री के परम प्रताप से इस काल में सत्यरूप से प्रसिद्धि में आये हैं। आज देश-विदेश में लाखों जीव, मोक्षमार्ग को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं - यह आपश्री का ही प्रभाव है।

समग्र जीवन के दौरान इन गुणवन्ता ज्ञानी पुरुष ने बहुत ही अल्प लिखा है क्योंकि आपको तो तीर्थङ्कर की वाणी जैसा योग था, आपकी अमृतमय मङ्गलवाणी का प्रभाव ही ऐसा था कि सुननेवाला उसका रसपान करते हुए थकता ही नहीं। दिव्य भावश्रुतज्ञानधारी इस पुराण पुरुष ने स्वयं ही परमागम के यह सारभूत सिद्धान्त लिखाये हैं :—

1. एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता।
2. प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध ही होती है।
3. उत्पाद, उत्पाद से है; व्यय या ध्रुव से नहीं।
4. उत्पाद, अपने षट्कारक के परिणमन से होता है।
5. पर्याय के और ध्रुव के प्रदेश भिन्न हैं।
6. भावशक्ति के कारण पर्याय होती ही है, करनी नहीं पड़ती।
7. भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है।
8. चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता है।
9. स्वद्रव्य में भी द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद करना, वह अन्यवशपना है।
10. ध्रुव का अवलम्बन है परन्तु वेदन नहीं; और पर्याय का वेदन है, अवलम्बन नहीं।

इन अध्यात्मयुगसृष्टा महापुरुष द्वारा प्रकाशित स्वानुभूति का पावन पथ जगत में सदा जयवन्त वर्तो!

तीर्थङ्कर श्री महावीर भगवान की दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले शासन स्तम्भ श्री कहानगुरुदेव त्रिकाल जयवन्त वर्तो!!

सत्पुरुषों का प्रभावना उदय जयवन्त वर्तो!!!

❖ ❖ ❖

अनुक्रमणिका

प्रवचन क्रमांक	दिनाङ्क	गाथा	पृष्ठ नम्बर
१	०९-०६-१९७०	१, २	४
२	१०-०६-१९७०	२	३२
३	११-०६-१९७०	२	४६
४	१२-०६-१९७०	२	६१
५	१३-०६-१९७०	२	७९
६	१४-०६-१९७०	२	९७
७	१५-०६-१९७०	२	११४
८	१६-०६-१९७०	२-३	१२९
९	१७-०६-१९७०	३-४	१४८
१०	१८-०६-१९७०	५ से ७	१६५
११ए	०३-१०-१९७३	८	१८३
११बी	०५-१०-१९७३	९ से ११	२०१
१२	२०-०६-१९७०	११ से १३	२१८
१३	२१-०६-१९७०	१३ से १५	२३४
१४	२२-०६-१९७०	१६ से १८	२५३
१५	२३-०६-१९७०	१८ से २०	२७१
१६	२४-०६-१९७०	२१ से २३	२९१
१७	२५-०६-१९७०	२४ से २६	३१०
१८	२६-०६-१९७०	२६ से २८	३३०
१९	२७-०६-१९७०	२९ से ३१	३५१
२०	२८-०६-१९७०	३२ से ३४	३६९
२१	२९-०६-१९७०	३५ से ३६	३८८

ॐ

नमः श्री सिद्धेभ्यः

अष्टपाहुड़ प्रवचन

(श्रीमद् भगवत कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत श्री अष्टपाहुड़ ग्रन्थ पर
अध्यात्मयुगपुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचन)

भाग-१

भाषा-वचनिका

[श्री पण्डित जयचन्द्रजी छाबड़ा]

अथ दर्शनपाहुड

-१-

(दोहा)

श्रीमत वीरजिनेश रवि मिथ्यातम हरतार।
विघनहरन मंगलकरन वंदू वृषकरतार।।१।।
वानी वंदू हितकरी जिनमुख-नभतैं गाजि।
गणधरगणश्रुतभू-झरी-बूंद-वर्णपद साजि।।२।।
गुरु गौतम वंदू सुविधि संयमतपधर और।
जिनि तैं पंचमकाल मैं बरत्यो जिनमत दौर।।३।।
कुन्दकुन्दमुनि कूं नमूं कुमतध्वांतहर भान।
पाहुड ग्रन्थ रचे जिनहिं प्राकृत वचन महान।।४।।
तिनिमैं कई प्रसिद्ध लखि करूं सुगम सुविचार।
देशवचनिकामय लिखूं भव्य-जीवहितधार।।५।।

– इसप्रकार मंगलपूर्वक प्रतिज्ञा करके श्री कुन्दकुन्द आचार्यकृत प्राकृतगाथाबद्ध पाहुड ग्रन्थों में से कुछ की देशभाषामय वचनिका लिखते हैं ह्र

वहाँ प्रयोजन ऐसा है कि इस हुण्डावसर्पिणी काल में मोक्षमार्ग की अन्यथा प्ररूपणा करनेवाले अनेक मत प्रवर्तमान हैं। उसमें भी इस पंचमकाल में केवली–श्रुतकेवली का व्युच्छेद होने से जिनमत में भी जड़ वक्र जीवों के निमित्त से परम्परा मार्ग का उल्लंघन करके श्वेताम्बर आदि बुद्धिकल्पित मत हुए हैं। उनका निराकरण करके यथार्थ स्वरूप की स्थापना के हेतु दिगम्बर आम्नाय मूलसंघ में आचार्य हुए और उन्होंने सर्वज्ञ की परम्परा के अव्युच्छेदरूप प्ररूपणा के अनेक ग्रन्थों की रचना की है, उनमें दिगम्बर सम्प्रदाय मूलसंघ नन्दि आम्नाय सरस्वतीगच्छ में श्री कुन्दकुन्द मुनि हुए और उन्होंने पाहुडग्रन्थों की रचना की। उन्हें संस्कृत भाषा में प्राभृत कहते हैं और वे प्राकृत गाथाबद्ध हैं।

काल दोष से जीवों की बुद्धि मन्द होती है, जिससे वे अर्थ नहीं समझ सकते; इसलिए देशभाषामय वचनिका होगी तो सब पढ़ेंगे और अर्थ समझेंगे तथा श्रद्धान दृढ़ होगा ह्र ऐसा प्रयोजन विचार कर वचनिका लिख रहे हैं, अन्य कोई ख्याति, बड़ाई या लाभ का प्रयोजन नहीं है।

इसलिए हे भव्यजीवों ! इसे पढ़कर, अर्थ समझकर, चित्त में धारण करके यथार्थ मत के बाह्यलिंग एवं तत्त्वार्थ का श्रद्धान दृढ़ करना। इसमें कुछ बुद्धि की मंदता से तथा प्रमाद के वश अन्यथा अर्थ लिख दूँ तो अधिक बुद्धिमान मूलग्रन्थ को देखकर, शुद्ध करके पढ़ें और मुझे अल्पबुद्धि जानकर क्षमा करें।

अब यहाँ प्रथम दर्शनपाहुड की वचनिका लिखते हैं –

गाथा–१

(दोहा)

वंदू श्री अरिहंत कूं मन वच तन इकतान।
मिथ्याभाव निवारि कैं करैं सु दर्शन ज्ञान।।

अब ग्रन्थकर्ता श्री कुन्दकुन्दाचार्य ग्रन्थ के आदि में ग्रन्थ की उत्पत्ति और उसके ज्ञान का कारण जो परम्परा गुरु का प्रवाह, उसे मंगल के हेतु नमस्कार करते हैं –

काऊण णमुक्कारं जिणवरवसहस्स वड्ढमाणस्स।
दंसणमग्गं वोच्छामि जहाकम्मं समासेण।।१।।

कृत्वा नमस्कारं जिनवरवृषभस्य वर्द्धमानस्य।
दर्शनमार्गं वक्ष्यामि यथाक्रमं समासेन।।१।।

जिनवर वृषभ वर्धमान को कर नमन दर्शन मार्ग को।
मैं कहूँगा संक्षेप में क्रमशः कहा जिनराज जो।।१।।

इसका देशभाषामय अर्थ – आचार्य कहते हैं कि मैं जिनवर वृषभ ऐसे जो आदि तीर्थंकर श्री ऋषभदेव तथा अन्तिम तीर्थंकर वर्द्धमान, उन्हें नमस्कार करके दर्शन अर्थात् मत का जो मार्ग है, उसे यथानुक्रम संक्षेप में कहूँगा।

भावार्थ – यहाँ 'जिनवरवृषभ' विशेषण है; उसमें जो जिन शब्द है, उसका अर्थ ऐसा है कि जो कर्मशत्रु को जीते सो जिन। वहाँ सम्यग्दृष्टि अव्रती से लेकर कर्म की गुणश्रेणीरूप निर्जरा करनेवाले सभी जिन हैं, उनमें वर अर्थात् श्रेष्ठ। इसप्रकार गणधर आदि मुनियों को जिनवर कहा जाता है; उनमें वृषभ अर्थात् प्रधान ऐसे भगवान तीर्थंकर परमदेव हैं। उनमें प्रथम तो श्री ऋषभदेव हुए और पंचमकाल के प्रारंभ तथा चतुर्थकाल के अन्त में अन्तिम तीर्थंकर श्री वर्द्धमानस्वामी हुए हैं। वे समस्त तीर्थंकर जिनवर वृषभ हुए हैं, उन्हें नमस्कार हुआ। वहाँ 'वर्द्धमान' ऐसा विशेषण सभी के लिए जानना; क्योंकि सभी अन्तरंग एवं बाह्य लक्ष्मी से वर्द्धमान हैं अथवा जिनवर वृषभ शब्द तो आदि तीर्थंकर श्री ऋषभदेव को और वर्द्धमान शब्द से अन्तिम तीर्थंकर को जानना।

इसप्रकार आदि और अन्त के तीर्थंकरों को नमस्कार करने से मध्य के तीर्थंकरों को भी सामर्थ्य से नमस्कार जानना। तीर्थंकर सर्वज्ञ वीतराग को तो परमगुरु कहते हैं और उनकी परिपाटी में चले आ रहे गौतमादि मुनियों को जिनवर विशेषण दिया, उन्हें अपरगुरु कहते हैं ह्न इसप्रकार परापर गुरुओं का प्रवाह जानना। वे शास्त्र की उत्पत्ति तथा ज्ञान के कारण हैं। उन्हें ग्रन्थ के आदि में नमस्कार किया।।१।।

प्रवचन-१ गाथा-१, २ मंगलवार, ज्येष्ठ शुक्ल ५, दिनांक ०९-०६-१९७०

भगवान के मार्ग में विच्छेद न हो, ऐसे अनेक ग्रन्थ आचार्यों ने बनाये हैं। **उनमें दिगम्बर सम्प्रदाय मूलसंघ नन्दि आम्नाय सरस्वतीगच्छ में श्री कुन्दकुन्द मुनि हुए और उन्होंने पाहुडग्रन्थों की रचना की। उन्हें संस्कृत भाषा में प्राभृत कहते हैं..** लो, प्राभृत। **और वे प्राकृत गाथाबद्ध हैं।** गाथा प्राकृत है। **काल दोष से जीवों की बुद्धि मन्द होती है,..** काल दोष के कारण जीव की बुद्धि थोड़ी है। **जिससे वे अर्थ नहीं समझ सकते;..** इससे उनका अर्थ समझ में नहीं आता। **इसलिए देशभाषामय वचनिका होगी तो सब पढेंगे..** प्रचलित भाषा में होगी तो सब पढ़ेंगे। **और अर्थ समझेंगे तथा श्रद्धान दृढ़ होगा..** सच्चा समझेंगे तो दृढ़ श्रद्धा होगी। **ऐसा प्रयोजन विचार कर वचनिका लिख रहे हैं,..** यह प्रयोजन विचारकर वचनिका लिखी जाती है। **अन्य कोई ख्याति,...** प्रसिद्धि **बड़ाई या लाभ का प्रयोजन नहीं है।** ऐसा वचनिकाकार कहते हैं।

इसलिए हे भव्यजीवों! इसे पढ़कर,... अर्थ समझकर। **अर्थ समझकर, चित्त में धारण करके यथार्थ मत के बाह्यलिंग...** दो बात पर वजन है। वीतरागमार्ग का मुनि का बाह्यलिंग नग्न होता है और तत्त्वार्थ की श्रद्धा दृढ़ करना। **एवं तत्त्वार्थ का श्रद्धान दृढ़ करना। इसमें कुछ बुद्धि की मंदता से...** बुद्धि की मन्दता से। **प्रमाद के वश अन्यथा अर्थ लिख दूँ...** अन्यथा कोई (दूसरा अर्थ) लिखा जाये **तो अधिक बुद्धिमान मूलग्रन्थ को देखकर, शुद्ध करके पढ़ें और मुझे अल्पबुद्धि जानकर क्षमा करें।** लो, यह हिन्दी भाषा बहुत सरल है।

अब दोहा

वंदू श्री अरिहंत कूं मन वच तन इकतान।
मिथ्याभाव निवारि कैं करैं सु दर्शन ज्ञान ।।

श्री अरिहन्त भगवान को मन-वचन और तन की एकता से वन्दन करता हूँ। मिथ्याभाव निवारण करके (अर्थात्) अज्ञान आदि मिथ्यात्व का नाश करके '**करैं सु दर्शन ज्ञान**' सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान करे, इसके लिये यह वचनिका मैं लिखता हूँ।

अब ग्रन्थकर्ता श्री कुन्दकुन्दाचार्य ग्रन्थ के आदि में ग्रन्थ की उत्पत्ति...

ग्रन्थ की उत्पत्ति कैसे हुई ? **उसके ज्ञान का कारण जो परम्परा गुरु का प्रवाह, उसे मंगल के हेतु नमस्कार करते हैं–** लो ! अब कुन्दकुन्दाचार्य स्वयं नमस्कार करते हैं।

काऊण णमुक्कारं जिणवरवसहस्स वड्ढमाणस्स।
दंसणमग्गं वोच्छामि जहाकम्मं समासेण।।१।।

यह पहली गाथा है।

इसका देशभाषामय अर्थ **– आचार्य कहते हैं कि मैं जिनवर वृषभ ऐसे जो आदि तीर्थंकर श्री ऋषभदेव तथा अन्तिम तीर्थंकर वर्द्धमान, उन्हें नमस्कार करके..** पहले और अन्तिम दोनों आ गये। ऋषभदेव भगवान और वर्द्धमान तीर्थंकर। **दर्शन अर्थात् मत का जो मार्ग है, उसे यथानुक्रम संक्षेप में कहूँगा।** मत अर्थात् दर्शन। दर्शन उसे कहा जाता है कि मुनि का बाह्य–नग्नपना और अन्तर में वीतरागी दशा, उसे यहाँ मत और दर्शन कहने में आया है। **यथानुक्रम संक्षेप में कहूँगा।**

भावार्थ **– यहाँ 'जिनवरवृषभ' विशेषण है;...** उसका ऐसा अर्थ है। **उसमें जो जिन शब्द है, उसका अर्थ ऐसा है कि जो कर्मशत्रु को जीते, सो जिन।** कर्मशत्रु को जीते, वह जिन। **वहाँ सम्यग्दृष्टि अव्रती से लेकर कर्म की गुणश्रेणीरूप निर्जरा करनेवाले सभी जिन हैं,...** लो ! सम्यग्दृष्टि से लेकर गुणश्रेणीरूप निर्जरा करनेवाले सभी चौथे गुणस्थानवाले को भी जिन कहने में आते हैं। लो ! सम्यग्दृष्टि की कोई गिनती नहीं। चारित्र होवे तो... ? कहते हैं न ? यहाँ तो कहते हैं सम्यग्दृष्टि से जिन कहने में आता है।

मुमुक्षु : चारित्र आंशिक....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह अलग बात है, परन्तु मिथ्यात्व की अपेक्षा से सम्यग्दर्शन सर्वोत्कृष्ट वस्तु है। वन्दन करनेयोग्य है। आता है या नहीं ?... छहढाला में आता है या नहीं ? 'लेश न संयम पै शुभनाथ जजे हैं' आता है ? जजे हैं – इन्द्र जिसे पूजते हैं। यहाँ तो चारित्र की... वीतरागी निर्ग्रन्थदशा, वह तो अलौकिक बात है। समझ में आया ? उसके हिसाब से सम्यग्दृष्टि तो हल्के हैं, परन्तु यहाँ तो सम्यग्दर्शन की भूमिका, अनन्त काल से नहीं प्रगट हुआ, ऐसा स्वरूप का भान, अनुभव, वह अलौकिक चीज़ है। जहाँ से मार्ग शुरु होता है, वहाँ से जिन कहने में आये हैं।

सम्यग्दृष्टि अव्रती से लेकर कर्म की गुणश्रेणीरूप निर्जरा करनेवाले सभी जिन हैं, उनमें वर अर्थात् श्रेष्ठ। इसप्रकार.. जिनवर अर्थात् गणधर। जिन में भी वर अर्थात् प्रधान गणधर। **आदि मुनियों को जिनवर कहा जाता है;..** लो, गणधर को जिनवर कहा। **उनमें वृषभ अर्थात् प्रधान ऐसे भगवान तीर्थंकर परमदेव हैं।** लो! तीन बोल लिये। द्रव्यसंग्रह में शुरुआत में आता है न? द्रव्यसंग्रह में आता है। **उनमें प्रथम तो श्री ऋषभदेव हुए और पंचमकाल के प्रारंभ तथा चतुर्थकाल के अन्त में अन्तिम तीर्थंकर श्री वर्द्धमानस्वामी हुए हैं। वे समस्त तीर्थंकर जिनवर वृषभ हुए हैं,..** लो! दूसरा अर्थ कहा। जिनवर, वह तो सर्व तीर्थंकर को जिनवर वृषभ कहने में आता है। **उन्हें नमस्कार हुआ। वहाँ 'वर्द्धमान' ऐसा विशेषण सभी के लिए जानना;..** ऋषभदेव... आत्मा ये सब वर्द्धमान भगवान सब ऋषभदेव कहलाते हैं।

क्योंकि सभी अन्तरंग एवं बाह्य लक्ष्मी से वर्द्धमान हैं.. सर्व तीर्थंकर अन्तर्लक्ष्य में केवलज्ञानादि, बाह्य लक्ष्मी समवसरण आदि (से) वर्द्धमान हैं। **अथवा जिनवर वृषभ शब्द तो आदि तीर्थंकर श्री ऋषभदेव को और वर्द्धमान शब्द से अन्तिम तीर्थंकर को जानना। इसप्रकार आदि और अन्त के तीर्थंकरों को नमस्कार करने से मध्य के तीर्थंकरों को भी सामर्थ्य से नमस्कार जानना।** मध्य में सब बाईस तीर्थंकरों को भी नमस्कार हो गया। **तीर्थंकर सर्वज्ञ वीतराग को तो परमगुरु कहते हैं और उनकी परिपाटी में चले आ रहे गौतमादि मुनियों को जिनवर विशेषण दिया, उन्हें अपरगुरु कहते हैं–** पर और अपर गुरु आता है कहीं? ऐई! पर–अपर गुरु आता है या नहीं कहीं? समयसार की पाँचवीं गाथा। परन्तु याद नहीं रहता न।

इस प्रकार परापर गुरुओं का प्रवाह जानना। पर सर्वज्ञ से लेकर अपर जो गौतम आदि मुनि अपने गणधर गुरु हो गये। **गुरुओं का प्रवाह..** अनादि मार्ग चला आता है, कहते हैं। **वे शास्त्र की उत्पत्ति..** उनसे शास्त्र की उत्पत्ति होती है। **तथा ज्ञान के कारण हैं।** इन तीन को **ग्रन्थ के आदि में नमस्कार किया।** लो, शास्त्र की उत्पत्ति के कारण हैं और ज्ञान का कारण है। शास्त्र की उत्पत्ति भी मुनियों से हुई है और ज्ञान का भी कारण हैं। इस कारण उन्हें नमस्कार किया जाता है।

गाथा-२

अब, धर्म का मूल दर्शन है, इसलिए जो दर्शन से रहित हो, उसकी वंदना नहीं करना चाहिए – ऐसा कहते हैं –

दंसणमूलो धम्मो उवइट्ठो जिणवरेहिं सिस्साणं।
तं सोऊण सकण्णे दंसणहीणो ण वंदिव्वो।।२।।

दर्शनमूलो धर्मः उपदिष्टः जिनवरैः शिष्याणाम्।
तं श्रुत्वा स्वकर्णे दर्शनहीनो न वन्दितव्यः।।२।।

दर्शन धर्म का मूल कहते सभी जिनवर शिष्य को।
स्व-श्रोत्र से यह सुन नहीं है वंद्य दर्शन-हीन जो।।२।।

अर्थ – जिनवर जो सर्वज्ञदेव हैं, उन्होंने शिष्य जो गणधर आदिक को धर्म का उपदेश दिया है; कैसा उपदेश दिया है ? कि दर्शन जिसका मूल है। मूल कहाँ होता है कि जैसे मन्दिर की नींव और वृक्ष की जड़ होती है, उसीप्रकार धर्म का मूल दर्शन है। इसलिए आचार्य उपदेश देते हैं कि हे सकर्ण अर्थात् सत्पुरुषो ! सर्वज्ञ के कहे हुए उस दर्शनमूलरूप धर्म को अपने कानों से सुनकर जो दर्शन से रहित हैं, वे वंदन योग्य नहीं हैं; इसलिए दर्शनहीन की वंदना मत करो। जिसके दर्शन नहीं है, उसके धर्म भी नहीं है, क्योंकि मूलरहित वृक्ष के स्कन्ध, शाखा, पुष्प फलादिक कहाँ से होंगे? इसलिए यह उपदेश है कि जिसके धर्म नहीं है, उससे धर्म की प्राप्ति नहीं हो सकती, फिर धर्म के निमित्त उसकी वंदना किसलिए करें ? – ऐसा जानना।

अब, यहाँ धर्म का तथा दर्शन का स्वरूप जानना चाहिए। वह स्वरूप तो संक्षेप में ग्रन्थकार ही आगे कहेंगे, तथापि कुछ अन्य ग्रन्थों के अनुसार यहाँ भी दे रहे हैं – 'धर्म' शब्द का अर्थ यह है कि जो आत्मा को संसार से उबारकर सुखस्थान में स्थापित करे सो धर्म है और दर्शन अर्थात् देखना। इसप्रकार धर्म की मूर्ति दिखायी दे, वह दर्शन है तथा प्रसिद्धि में जिसमें धर्म का ग्रहण हो ऐसे मत को 'दर्शन' कहा है। लोक में धर्म की तथा दर्शन की मान्यता सामान्यरूप से तो सबके हैं, परन्तु सर्वज्ञ के बिना यथार्थ स्वरूप का जानना नहीं हो सकता; परन्तु छद्मस्थ प्राणी अपनी बुद्धि से अनेक स्वरूपों

की कल्पना करके अन्यथा स्वरूप स्थापित करके उनकी प्रवृत्ति करते हैं और जिनमत सर्वज्ञ की परम्परा से प्रवर्तमान है, इसलिए इसमें यथार्थ स्वरूप का प्ररूपण है।

वहाँ धर्म को निश्चय और व्यवहार – ऐसे दो प्रकार से साधा है। उसकी प्ररूपणा चार प्रकार से है – प्रथम वस्तुस्वभाव, दूसरे उत्तम क्षमादिक दस प्रकार, तीसरे सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप और चौथे जीवों की रक्षारूप ऐसे चार प्रकार हैं। वहाँ निश्चय से सिद्ध किया जाय, तब तो सबमें एक ही प्रकार है, इसलिए वस्तुस्वभाव का तात्पर्य तो जीव नामक वस्तु की परमार्थरूप दर्शन–ज्ञान–परिणाममयी चेतना है और वह चेतना सर्व विकारों से रहित शुद्ध–स्वभावरूप परिणमित हो, वही जीव का धर्म है तथा उत्तम क्षमादिक दश प्रकार कहने का तात्पर्य यह है कि आत्मा क्रोधादि कषायरूप न होकर अपने स्वभाव में स्थिर हो वही धर्म है, यह भी शुद्ध चेतनारूप ही हुआ।

दर्शन–ज्ञान–चारित्र कहने का तात्पर्य यह है कि तीनों एक ज्ञानचेतना के ही परिणाम हैं, वही ज्ञानस्वभावरूप धर्म है और जीवों की रक्षा का तात्पर्य यह है कि जीव क्रोधादि कषायों के वश होकर अपनी या पर की पर्याय के विनाशरूप मरण तथा दुःख संक्लेश परिणाम न करे – ऐसा अपना स्वभाव ही धर्म है। इसप्रकार शुद्ध द्रव्यार्थिकरूप निश्चयनय से साधा हुआ धर्म एक ही प्रकार है।

व्यवहारनय पर्यायाश्रित है इसलिए भेदरूप है, व्यवहारनय से विचार करें तो जीव के पर्यायरूप परिणाम अनेकप्रकार हैं इसलिए धर्म का भी अनेकप्रकार से वर्णन किया है। वहाँ (१) प्रयोजनवश एकदेश का सर्वदेश से कथन किया जाये सो व्यवहार है, (२) अन्य वस्तु में अन्य का आरोपण अन्य के निमित्त से और प्रयोजनवश किया जाये वह भी व्यवहार है, वहाँ वस्तुस्वभाव कहने का तात्पर्य तो निर्विकार चेतना के शुद्धपरिणाम के साधकरूप, (३) मंदकषायरूप शुभ परिणाम है तथा जो बाह्यक्रियाएँ हैं, उन सभी को व्यवहारधर्म कहा जाता है। उसीप्रकार रत्नत्रय का तात्पर्य स्वरूप के भेद दर्शन–ज्ञान–चारित्र तथा उनके कारण बाह्य क्रियादिक हैं, उन सभी को व्यवहार धर्म कहा जाता है। उसीप्रकार (४) जीवों की दया कहने का तात्पर्य यह है कि क्रोधादि मंदकषाय होने से अपने या पर के मरण, दुःख, क्लेश आदि न करना; [१]उसके साधक समस्त बाह्यक्रियादिक को धर्म कहा जाता है। इसप्रकार जिनमत में निश्चय–व्यवहारनय से साधा हुआ धर्म कहा है।

१. साधकरूप–सहचर हेतुरूप निमित्तमात्र; अंतरंग कार्य हो तो बाह्य में इस प्रकार को निमित्त कारण कहा जाता है।

वहाँ एकस्वरूप अनेकस्वरूप कहने में स्याद्वाद से विरोध नहीं आता, कथञ्चित् विवक्षा से सर्व प्रमाणसिद्ध है। ऐसे धर्म का मूल दर्शन कहा है, इसलिए ऐसे धर्म की श्रद्धा, प्रतीति, रुचिसहित आचरण करना ही दर्शन है, यह धर्म की मूर्ति है, इसी को मत(दर्शन) कहते हैं और यही धर्म का मूल है तथा ऐसे धर्म की प्रथम श्रद्धा, प्रतीति, रुचि न हो तो धर्म का आचरण भी नहीं होता। जैसे वृक्ष के मूल बिना स्कंधादिक नहीं होते। इसप्रकार दर्शन को धर्म का मूल कहना युक्त है। ऐसे दर्शन का सिद्धान्तों में जैसा वर्णन है, तदनुसार कुछ लिखते हैं।

वहाँ अंतरंग सम्यग्दर्शन तो जीव का भाव है, वह निश्चय द्वारा उपाधिरहित शुद्ध जीव का साक्षात् अनुभव होना ऐसा एक प्रकार है। वह ऐसा अनुभव अनादिकाल से मिथ्यादर्शन नामक कर्म के उदय से अन्यथा हो रहा है। सादि मिथ्यादृष्टि के उस मिथ्यात्व की तीन प्रकृतियाँ सत्ता में होती हैं – मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति तथा उनकी सहकारिणी अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ के भेद से चार कषाय नामक प्रकृतियाँ हैं। इसप्रकार यह सात प्रकृतियाँ ही सम्यग्दर्शन का घात करनेवाली हैं; इसलिए इन सातों का उपशम होने से पहले तो इस जीव के उपशमसम्यक्त्व होता है। इन प्रकृतियों का उपशम होने का बाह्य कारण सामान्यत: द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव हैं, उनमें द्रव्य में तो साक्षात् तीर्थंकर के देखनादि (दर्शनादि) प्रधान हैं, क्षेत्र में समवसरणादिक प्रधान हैं, काल में अर्द्धपुद्गलपरावर्तन संसार भ्रमण शेष रहे वह तथा भाव में अध:प्रवृत्त करण आदिक हैं।

(सम्यक्त्व के बाह्य कारण) विशेषरूप से तो अनेक हैं। उनमें से कुछ के तो अरिहंत बिम्ब का देखना, कुछ के जिनेन्द्र के कल्याणक आदि की महिमा देखना, कुछ के जातिस्मरण, कुछ के वेदना का अनुभव, कुछ के धर्म श्रवण तथा कुछ के देवों की ऋद्धि का देखना इत्यादि बाह्य कारणों द्वारा मिथ्यात्वकर्म का उपशम होने से उपशमसम्यक्त्व होता है। तथा इन सात प्रकृतियों में छह का तो उपशम या क्षय हो और एक सम्यक्त्व प्रकृति का उदय हो, तब क्षयोपशम सम्य-क्त्व होता है। इस प्रकृति के उदय से किंचित् अतिचार – मल लगता है तथा इन सात प्रकृतियों का सत्ता में से नाश हो, तब क्षायिक सम्यक्त्व होता है।

इसप्रकार उपशमादि होने पर जीव के परिणामभेद से तीन प्रकार होते हैं; वे परिणाम अति सूक्ष्म हैं, केवलज्ञानगम्य हैं, इसलिए इन प्रकृतियों के द्रव्य पुद्गलपरमाणुओं

के स्कंध हैं, वे अतिसूक्ष्म हैं और उनमें फल देने की शक्तिरूप अनुभाग है, वह अतिसूक्ष्म है, वह छद्मस्थ के ज्ञानगम्य नहीं है। तथा उनका उपशमादिक होने से जीव के परिणाम भी सम्यक्त्वरूप होते हैं, वे भी अतिसूक्ष्म हैं, वे भी केवलज्ञानगम्य हैं। तथापि जीव के कुछ परिणाम छद्मस्थ के ज्ञान में आने योग्य होते हैं, वे उसे पहिचानने के बाह्य-चिह्न हैं, उनकी परीक्षा करके निश्चय करने का व्यवहार है - ऐसा न हो तो छद्मस्थ व्यवहारी जीव के सम्यक्त्व का निश्चय नहीं होगा और तब आस्तिक्य का अभाव सिद्ध होगा, व्यवहार का लोप होगा - यह महान दोष आयेगा। इसलिए बाह्य चिह्नों को आगम, अनुमान तथा स्वानुभव से परीक्षा करके निश्चय करना चाहिए।

वे चिह्न कौन से हैं सो लिखते हैं - मुख्य चिह्न तो उपाधिरहित शुद्ध ज्ञान चेतनास्वरूप आत्मा की अनुभूति है। यद्यपि यह अनुभूति ज्ञान का विशेष है, तथापि वह सम्यक्त्व होने पर होती है, इसलिए उसे बाह्य चिह्न कहते हैं। ज्ञान तो अपना अपने को स्वसंवेदनरूप है; उसका रागादि विकाररहित शुद्धज्ञानमात्र का अपने को आस्वाद होता है कि - ''जो यह शुद्ध ज्ञान है सो मैं हूँ और ज्ञान में जो रागादि विकार हैं, वे कर्म के निमित्त से उत्पन्न होते हैं, वह मेरा स्वरूप नहीं है'' - इसप्रकार भेदज्ञान से ज्ञानमात्र के आस्वादन को ज्ञान की अनूभूति कहते हैं, वही आत्मा की अनुभूति है तथा वही शुद्धनय का विषय है। ऐसी अनुभूति से शुद्धनय के द्वारा ऐसा भी श्रद्धान होता है कि जो सर्व कर्मजनित रागादिकभाव से रहित अनंतचतुष्टय मेरा स्वरूप है, अन्य सब भाव संयोगजनित हैं - ऐसी आत्मा की अनुभूति सो सम्यक्त्व का मुख्य चिह्न है। यह मिथ्यात्व अनन्तानुबंधी के अभाव से सम्यक्त्व होता है, उसका चिह्न है; उस चिह्न को ही सम्यक्त्व कहना, सो व्यवहार है।

उसकी परीक्षा सर्वज्ञ के आगम, अनुमान तथा स्वानुभव प्रत्यक्ष प्रमाण इन प्रमाणों से की जाती है। इसी को निश्चय तत्त्वार्थश्रद्धान भी कहते हैं। वहाँ अपनी परीक्षा तो अपने स्वसंवेदन की प्रधानता से होती है और पर की परीक्षा तो पर के अंतरंग तथा पर के वचन व काय की क्रिया से होती है, यह व्यवहार है, परमार्थ सर्वज्ञ जानते हैं। व्यवहारी जीव को सर्वज्ञ ने भी व्यवहार के ही शरण का उपदेश दिया है।

(नोंध - अनुभूति ज्ञान गुण की पर्याय है, वह श्रद्धा गुण से भिन्न है; इसलिए ज्ञान के द्वारा श्रद्धान का निर्णय करना व्यवहार है, उसका नाम व्यवहारी जीवों को व्यवहार का ही शरण अर्थात् आलम्बन समझना)

अनेक लोग कहते हैं कि - सम्यक्त्व तो केवलीगम्य है, इसलिए अपने को सम्यक्त्व होने का निश्चय नहीं होता, इसलिए अपने को सम्यग्दृष्टि नहीं मान सकते ?

परन्तु इसप्रकार सर्वथा एकान्त से कहना तो मिथ्यादृष्टि है; सर्वथा ऐसा कहने से व्यवहार का लोप होगा, सर्व मुनि-श्रावकों की प्रवृत्ति मिथ्यात्वरूप सिद्ध होगी और सब अपने को मिथ्यादृष्टि मानेंगे तो व्यवहार कहाँ रहेगा ? इसलिए परीक्षा होने के पश्चात् ऐसा श्रद्धान नहीं रखना चाहिए कि मैं मिथ्यादृष्टि ही हूँ। मिथ्यादृष्टि तो अन्यमती को कहते हैं और उसी के समान स्वयं भी होगा, इसलिए सर्वथा एकान्तपक्ष ग्रहण नहीं करना चाहिए तथा तत्त्वार्थश्रद्धान तो बाह्य चिह्न है।

जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष – ऐसे सात तत्त्वार्थ हैं; उनमें पुण्य और पाप को जोड़ देने से नव पदार्थ होते हैं। उनकी श्रद्धा अर्थात् सन्मुखता, रुचि अर्थात् तद्रूप भाव करना तथा प्रतीति अर्थात् जैसे सर्वज्ञ ने कहे हैं, तदनुसार ही अंगीकार करना और उनके आचरणरूप क्रिया – इसप्रकार श्रद्धानादिक होना सो सम्यक्त्व का बाह्य चिह्न है।

तथा प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य भी सम्यक्त्व के बाह्य चिह्न हैं। वहाँ (१) प्रशम – अनंतानुबंधी क्रोधादिक कषाय के उदय का अभाव सो प्रशम है। उसके बाह्य चिह्न जैसे कि सर्वथा एकान्त तत्त्वार्थ का कथन करनेवाले अन्य मतों का श्रद्धान, बाह्यवेश में सत्यार्थपने का अभिमान करना, पर्यायों में एकान्त के कारण आत्मबुद्धि से अभिमान तथा प्रीति करना वह अनंतानुबंधी का कार्य है, वह जिसके न हो तथा किसी ने अपना बुरा किया तो उसका घात करना आदि मिथ्यादृष्टि की भाँति विकारबुद्धि अपने को उत्पन्न न हो तथा वह ऐसा विचार करे कि मैंने अपने परिणामों से जो कर्म बाँधे थे, वे ही बुरा करनेवाले हैं, अन्य तो निमित्तमात्र हैं – ऐसी बुद्धि अपने को उत्पन्न हो – ऐसे मंदकषाय है तथा अनंतानुबंधी के बिना अन्य चारित्रमोह की प्रकृतियों के उदय से आरम्भादिक क्रिया में हिंसादिक होते हैं, उनको भी भला नहीं जानता; इसलिए उससे प्रशम का अभाव नहीं कहते।

(२) संवेग – धर्म में और धर्म के फल में परम उत्साह हो वह संवेग है तथा साधर्मियों से अनुराग और परमेष्ठियों में प्रीति वह भी संवेग ही है तथा धर्म के फल में अभिलाषा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि अभिलाषा तो उसे कहते हैं, जिसे इन्द्रियविषयों की चाह हो। अपने स्वरूप की प्राप्ति में अनुराग को अभिलाषा नहीं कहते।

(३) निर्वेद – इस संवेग में ही निर्वेद भी हुआ समझना, क्योंकि अपने स्वरूप

रूप धर्म की प्राप्ति में अनुराग हुआ, तब अन्यत्र सभी अभिलाषा का त्याग हुआ, सर्व परद्रव्यों से वैराग्य हुआ, वही निर्वेग है।

(४) अनुकम्पा – सर्व प्राणियों में उपकार की बुद्धि और मैत्रीभाव सो अनुकम्पा है तथा मध्यस्थभाव होने से सम्यग्दृष्टि के शल्य नहीं है, किसी से बैरभाव नहीं होता, सुख–दु:ख, जीवन–मरण अपना पर के द्वारा और पर का अपने द्वारा नहीं मानता है तथा पर में जो अनुकम्पा है सो अपने में ही है, इसलिए पर का बुरा करने का विचार करेगा तो अपने कषायभाव से स्वयं अपना ही बुरा हुआ; पर का बुरा नहीं सोचेगा तब अपने कषायभाव नहीं होंगे, इसलिए अपनी अनुकम्पा ही हुई।

(५) आस्तिक्य – जीवादि पदार्थों में अस्तित्वभाव सो आस्तिक्यभाव है। जीवादि पदार्थों का स्वरूप सर्वज्ञ के आगम से जानकर उनमें ऐसी बुद्धि हो कि जैसे सर्वज्ञ ने कहे वैसे ही यह हैं, अन्यथा नहीं हैं, वह आस्तिक्यभाव है। इसप्रकार यह सम्यक्त्व के बाह्य चिह्न हैं।

सम्यक्त्व के आठ गुण हैं – संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य और अनुकम्पा। यह सब प्रशमादि चार में ही आ जाते हैं। संवेग में निर्वेद, वात्सल्य और भक्ति – ये आ गये तथा प्रशम में निंदा, गर्हा आ गई।

सम्यग्दर्शन के आठ अंग कहे हैं, उन्हें लक्षण भी कहते हैं और गुण भी। उनके नाम हैं – नि:शंकित, नि:कांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना।

वहाँ शंका नाम संशय का भी है और भय का भी। वहाँ धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, कालाणुद्रव्य, परमाणु इत्यादि तो सूक्ष्मवस्तु हैं तथा द्वीप, समुद्र, मेरुपर्वत आदि दूरवर्ती पदार्थ हैं तथा तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि अन्तरित पदार्थ हैं; वे सर्वज्ञ के आगम में जैसे कहे हैं, वैसे हैं या नहीं हैं? अथवा सर्वज्ञदेव ने वस्तु का स्वरूप अनेकान्तात्मक कहा है सो सत्य है या असत्य? – ऐसे सन्देह को शंका कहते हैं। जिसके यह न हो उसे नि:शंकित अंग कहते हैं तथा यह जो शंका होती है सो मिथ्यात्वकर्म के उदय से (उदय में युक्त होने से) होती है; पर में आत्मबुद्धि होना उसका कार्य है। जो पर में आत्मबुद्धि है, सो पर्यायबुद्धि है और पर्यायबुद्धि भय भी उत्पन्न करती है।

शंका भय को भी कहते हैं, उसके सात भेद हैं – इस लोक का भय, परलोक का भय, मृत्यु का भय, अरक्षा का भय, अगुप्ति का भय, वेदना का भय, अकस्मात् का

भय। जिसके यह भय हों, उसे मिथ्यात्व कर्म का उदय समझना चाहिए; सम्यग्दृष्टि होने पर यह नहीं होते।

प्रश्न – भयप्रकृति का उदय तो आठवें गुणस्थान तक है; उसके निमित्त से सम्यग्दृष्टि को भय होता ही है, फिर भय का अभाव कैसा ?

समाधान – कि यद्यपि सम्यग्दृष्टि के चारित्रमोह के भेदरूप भयप्रकृति के उदय से भय होता है, तथापि उसे निर्भय ही कहते हैं; क्योंकि उसके कर्म के उदय का स्वामित्व नहीं है और परद्रव्य के कारण अपने द्रव्यस्वभाव का नाश नहीं मानता। पर्याय का स्वभाव विनाशीक मानता है, इसलिए भय होने पर भी उसे निर्भय ही कहते हैं। भय होने पर उसका उपचार भागना (पलायन) इत्यादि करता है; वहाँ वर्तमान की पीड़ा सहन न होने से वह इलाज (उपचार) करता है, वह निर्बलता का दोष है। इसप्रकार सम्यग्दृष्टि के संदेह तथा भयरहित होने से निःशंकित अंग होता है।।१।।

कांक्षा अर्थात् भोगों की इच्छा–अभिलाषा। वहाँ पूर्वकाल में किये भोगों की वांछा तथा उन भोगों की मुख्य क्रिया में वांछा तथा कर्म और कर्म के फल की वांछा तथा मिथ्यादृष्टियों के भोगों की प्राप्ति देखकर उन्हें अपने मन में भला जानना अथवा जो इन्द्रियों को न रुचे ऐसे विषयों में उद्वेग होना – यह भोगाभिलाष के चिह्न हैं। यह भोगाभिलाष मिथ्यात्वकर्म के उदय से होता है और जिसके यह न हो, वह निःकांक्षित अंगयुक्त सम्यग्दृष्टि होता है। वह सम्यग्दृष्टि यद्यपि शुभक्रिया–व्रतादिक आचरण करता है और उसका फल शुभकर्मबन्ध है, किन्तु उसकी वह वांछा नहीं करता। व्रतादिक को स्वरूप का साधक जानकर उनका आचरण करता है कर्म के फल की वांछा नहीं करता – ऐसा निःकांक्षित अंग है।।२।।

अपने में अपने गुण की महत्ता की बुद्धि से अपने को श्रेष्ठ मानकर पर में हीनता की बुद्धि हो, उसे विचिकित्सा कहते हैं; वह जिसके न हो सो निर्विचिकित्सा अंगयुक्त सम्यग्दृष्टि होता है। उसके चिह्न ऐसे हैं कि यदि कोई पुरुष पाप के उदय से दुःखी हो, असाता के उदय से ग्लानियुक्त शरीर हो तो उसमें ग्लानिबुद्धि नहीं करता। ऐसी बुद्धि नहीं करता कि मैं सम्पदावान हूँ, सुन्दर शरीरवान हूँ, यह दीन, रंक मेरी बराबरी नहीं कर सकता। उलटा ऐसा विचार करता है कि प्राणियों के कर्मोदय से अनेक विचित्र अवस्थाएँ होती हैं; जब मेरे ऐसे कर्म का उदय आवे, तब मैं भी ऐसा ही हो जाऊँ – ऐसे विचार से निर्विचिकित्सा अंग होता है।।३।।

अतत्त्व में तत्त्वपने का श्रद्धान सो मूढदृष्टि है। ऐसी मूढदृष्टि जिसके न हो सो अमूढदृष्टि है। मिथ्यादृष्टियों द्वारा मिथ्या हेतु एवं मिथ्या दृष्टान्त से साधित पदार्थ हैं, वह सम्यग्दृष्टि को प्रीति उत्पन्न नहीं कराते हैं तथा लौकिक रूढि अनेक प्रकार की हैं, वह नि:सार हैं, नि:सार पुरुषों द्वारा ही उसका आचरण होता है, जो अनिष्ट फल देनेवाली है तथा जो निष्फल है; जिनका बुरा फल है तथा उनका कुछ हेतु नहीं है, कुछ अर्थ नहीं है; जो कुछ लोकरूढि चल पड़ती है, उसे लोग अपना मान लेते हैं और फिर उसे छोड़ना कठिन हो जाता है इत्यादि लोकरूढि है।

अदेव में देवबुद्धि, अधर्म में धर्मबुद्धि, अगुरु में गुरुबुद्धि इत्यादि देवादिक मूढता है, वह कल्याणकारी नहीं है। सदोष देव को देव मानना तथा उनके निमित्त हिंसादि द्वारा अधर्म को धर्म मानना तथा मिथ्या आचारवान्, शल्यवान्, परिग्रहवान् सम्यक्त्वव्रतरहित को गुरु मानना इत्यादि मूढदृष्टि के चिह्न हैं। अब, देव–गुरु–धर्म कैसे होते हैं, उनका स्वरूप जानना चाहिए, सो कहते हैं –

रागादिक दोष और ज्ञानावरणादिक कर्म ही आवरण हैं; यह दोनों जिसके नहीं हैं, वह देव है। उसके केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य – ऐसे अनंतचतुष्टय होते हैं। सामान्यरूप से तो देव एक ही है और विशेषरूप से अरहंत, सिद्ध ऐसे दो भेद हैं तथा इनके नामभेद के भेद से भेद करें तो हजारों नाम हैं तथा गुणभेद किए जायें तो अनन्त गुण हैं। परमौदारिक देह में विद्यमान घातियाकर्मरहित अनन्तचतुष्टयसहित धर्म का उपदेश करनेवाले ऐसे तो अरिहंतदेव हैं तथा पुद्गलमयी देह से रहित लोक के शिखर पर विराजमान सम्यक्त्वादि अष्टगुणमंडित अष्टकर्मरहित ऐसे सिद्ध देव हैं। इनके अनेकों नाम हैं – अरहंत, जिन, सिद्ध, परमात्मा, महादेव, शंकर, विष्णु, ब्रह्मा, हरि, बुद्ध, सर्वज्ञ, वीतराग परमात्मा इत्यादि अर्थ सहित अनेक नाम हैं – ऐसा देव का स्वरूप जानना।

गुरु का भी अर्थ से विचार करें तो अरिहंत देव ही हैं, क्योंकि मोक्षमार्ग का उपदेश करनेवाले अरिहंत ही हैं, वे ही साक्षात् मोक्षमार्ग का प्रवर्तन कराते हैं तथा अरिहंत के पश्चात् छद्मस्थ ज्ञान के धारक उन्हीं का निर्ग्रन्थ दिगम्बर रूप धारण करनेवाले मुनि हैं सो गुरु हैं; क्योंकि अरिहंत की सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की एकदेश शुद्धता उनके पायी जाती है और वे ही संवर–निर्जरा–मोक्ष का कारण हैं, इसलिए अरिहंत की भाँति एकदेशरूप से निर्दोष हैं, वे मुनि भी गुरु हैं, मोक्षमार्ग का उपदेश करनेवाले हैं।

ऐसा मुनिपना सामान्यरूप से एक प्रकार का है और विशेषरूप से वही तीन प्रकार

का है – आचार्य, उपाध्याय, साधु। इसप्रकार यह पदवी की विशेषता होने पर भी उनके मुनिपने की क्रिया समान ही है; बाह्य लिंग भी समान है, पञ्च महाव्रत, पञ्च समिति, तीन गुप्ति – ऐसे तेरह प्रकार का चारित्र भी समान ही है, तप भी शक्ति अनुसार समान ही है, साम्यभाव भी समान है, मूलगुण उत्तरगुण भी समान है, परिषह उपसर्गों का सहना भी समान है, आहारादि की विधि भी समान है, चर्या, स्थान, आसनादि भी समान हैं, मोक्षमार्ग की साधना, सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र भी समान हैं। ध्याता, ध्यान, ध्येयपना भी समान है, ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेयपना भी समान है, चार आराधना की आराधना, क्रोधादिक कषायों का जीतना इत्यादि मुनियों की प्रवृत्ति है, वह सब समान है।

विशेष यह है कि जो आचार्य हैं, वे पञ्चाचार अन्य को ग्रहण कराते हैं तथा अन्य को दोष लगे तो उसके प्रायश्चित्त की विधि बतलाते हैं, धर्मोपदेश, दीक्षा एवं शिक्षा देते हैं – ऐसे आचार्य गुरुवन्दना करने योग्य हैं।

जो उपाध्याय हैं वे वादित्व, वाग्मित्व, कवित्व, गमकत्व – इन चार विद्याओं में प्रवीण होते हैं; उसमें शास्त्र का अभ्यास प्रधान कारण है। जो स्वयं शास्त्र पढते हैं और अन्य को पढाते हैं, ऐसे उपाध्याय गुरु वन्दनयोग्य हैं; उनके अन्य मुनिव्रत, मूलगुण, उत्तरगुण की क्रिया आचार्य के समान ही होती है तथा साधु रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग की साधना करते हैं सो साधु हैं; उनके दीक्षा, शिक्षा और उपदेशादि देने की प्रधानता नहीं है, वे तो अपने स्वरूप की साधना में ही तत्पर होते हैं; जिनागम में जैसी निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि की प्रवृत्ति कही है, वैसी सभी प्रवृत्ति उनके होती है – ऐसे साधु वन्दना के योग्य हैं। अन्यलिंगी–वेषी व्रतादिक से रहित परिग्रहवान, विषयों में आसक्त गुरु नाम धारण करते हैं, वे वन्दनयोग्य नहीं हैं।

इस पंचमकाल में जिनतमत में भी भेषी हुए हैं। वे श्वेताम्बर, यापनीयसंघ, गोपुच्छपिच्छसंघ, नि:पिच्छसंघ, द्राविड़संघ आदि अनेक हुए हैं; यह सब वन्दनयोग्य नहीं हैं। मूलसंघ, नग्नदिगम्बर, अट्ठाईस मूलगुणों के धारक, दया के और शौच के उपकरण मयूरपिच्छक, कमण्डल धारण करनेवाले, यथोक्त विधि से आहार करनेवाले गुरु वन्दनयोग्य हैं, क्योंकि जब तीर्थंकर देव दीक्षा लेते हैं, तब ऐसा ही रूप धारण करते हैं, अन्य भेष धारण नहीं करते; इसी को जिनदर्शन कहते हैं।

धर्म उसे कहते हैं जो जीव को संसार के दु:खरूप नीच पद से मोक्ष के सुखरूप उच्च पद में स्थापित करे – ऐसा धर्म मुनि–श्रावक के भेद से, दर्शन–ज्ञान–चारित्रात्मक

एकदेश सर्वदेशरूप निश्चय–व्यवहार द्वारा दो प्रकार कहा है; उसका मूल सम्यग्दर्शन है; उसके बिना धर्म की उत्पत्ति नहीं होती। इसप्रकार देव–गुरु–धर्म में तथा लोक में यथार्थ दृष्टि हो और मूढता न हो सो अमूढदृष्टि अंग है।।४।।

अपने आत्मा की शक्ति को बढाना सो उपबृंहण अंग है। सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र को अपने पुरुषार्थ द्वारा बढाना ही उपबृंहण है। उसे उपगूहन भी कहते हैं– ऐसा अर्थ जानना चाहिए कि जिनमार्ग स्वयंसिद्ध है; उसमें बालक के तथा असमर्थ जन के आश्रय से जो न्यूनता हो, उसे अपनी बुद्धि से गुप्त कर दूर ही करे, वह उपगूहन अंग है।।५।।

जो धर्म से च्युत होता हो उसे दृढ करना सो स्थितिकरण अंग है। स्वयं कर्मोदय के वश होकर कदाचित् श्रद्धान से तथा क्रिया–आचार से च्युत होता हो तो अपने को पुरुषार्थपूर्वक पुन: श्रद्धान में दृढ करे; उसीप्रकार अन्य कोई धर्मात्मा धर्म से च्युत होता हो तो उसे उपदेशादिक द्वारा धर्म में स्थापित करे, वह स्थितिकरण अंग है।।६।।

अरिहंत, सिद्ध, उनके बिम्ब, चैत्यालय चतुर्विध संघ और शास्त्र में दासत्व हो – जैसे स्वामी का भृत्य दास होता है तदनुसार वह वात्सल्य अंग है। धर्म के स्थान पर उपसर्गादि आयें उन्हें अपनी शक्ति अनुसार दूर करे, अपनी शक्ति को न छिपाये – यह सब धर्म में अति प्रीति हो तब होता है।।७।।

धर्म का उद्योत करना सो प्रभावना अंग है। रत्नत्रय द्वारा अपने आत्मा का उद्योत करना तथा दान, तप, पूजा–विधान द्वारा एवं विद्या, अतिशय–चमत्कारादि द्वारा जिनधर्म का उद्योत करना वह प्रभावना अंग है।।८।।

इसप्रकार यह सम्यक्त्व के आठ अंग हैं; जिसके यह प्रगट हों उसके सम्यक्त्व है – ऐसा जानना चाहिए।

प्रश्न – यदि यह सम्यक्त्व के चिह्न मिथ्यादृष्टि के भी दिखाई दें तो सम्यक्–मिथ्या का विभाग कैसे होगा ?

समाधान – जैसे चिह्न सम्यक्त्वी के होते हैं, वैसे मिथ्यात्वी के तो कदापि नहीं होते, तथापि अपरीक्षक को समान दिखाई दें तो परीक्षा करके भेद जाना जा सकता है। परीक्षा में अपना स्वानुभव प्रधान है। सर्वज्ञ के आगम में जैसा आत्मा का अनुभव होना कहा है, वैसा स्वयं को हो तो उसके होने से अपनी वचन–काय की प्रवृत्ति भी तदनुसार होती है, उस प्रवृत्ति के अनुसार अन्य की भी वचन–काय की प्रवृत्ति पहचानी जाती है

– इसप्रकार परीक्षा करने से विभाग होते हैं तथा यह व्यवहार मार्ग है, इसलिए व्यवहारी छद्मस्थ जीवों के अपने ज्ञान के अनुसार प्रवृत्ति है; यथार्थ सर्वज्ञदेव जानते हैं।

व्यवहारी को सर्वज्ञदेव ने व्यवहार का ही आश्रय बतलाया है*। यह अन्तरंग सम्यक्त्वभावरूप सम्यक्त्व है, वही सम्यग्दर्शन है, बाह्यदर्शन, व्रत, समिति, गुप्तिरूप चारित्र और तपसहित अट्ठाईस मूलगुण सहित नग्न दिगम्बर मुद्रा उसकी मूर्ति है, उसे जिनदर्शन कहते हैं। इसप्रकार धर्म का मूल सम्यग्दर्शन जानकर जो सम्यग्दर्शनरहित हैं, उनके वंदन–पूजन का निषेध किया है – ऐसा यह उपदेश भव्यजीवों को अंगीकार करनेयोग्य है।।२।।

गाथा-२ पर प्रवचन

अब, धर्म का मूल दर्शन है, इसलिए जो दर्शन से रहित हो, उसकी वंदना नहीं करना चाहिए.. अब यहाँ से मार्ग शुरु होता है। इसलिए पहले नमस्कार, वन्दन किया।

दंसणमूलो धम्मो उवइट्ठो जिणवरेहिं सिस्साणं।
तं सोऊण सकण्णे दंसणहीणो ण वंदिव्वो।।२।।

अर्थ – **जिनवर जो सर्वज्ञदेव हैं, उन्होंने शिष्य जो गणधर आदिक को धर्म का उपदेश दिया है;...** उन्होंने—भगवानों ने और गणधरों ने—धर्म का उपदेश किया। **कैसा उपदेश दिया है? कि दर्शन जिसका मूल है।** ऐसा धर्म उपदेशित किया है। लो, जिसमें सम्यग्दर्शन मूल है, ऐसा धर्म भगवान ने कहा है। यह दर्शनपाहुड़ है न? **कि दर्शन जिसका मूल है।** ऐसा धर्म उपदेशित किया है। **मूल कहाँ होता है?–कि जैसे मन्दिर की नींव..** नींव। मकान, मकान की नींव **और वृक्ष की जड़..** वृक्ष का मूल। **उसीप्रकार धर्म का मूल दर्शन है।** मन्दिर की नींव और वृक्ष का जैसे मूल (जड़ हो), वैसे धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है। इस सम्यग्दर्शन के बिना धर्म तीन काल में नहीं होता।

मुमुक्षु : चारित्र हो, उसे दर्शन हो....

* स्वानुभूति ज्ञान गुण की पर्याय है, ज्ञान के द्वारा सम्यक्त्व का निर्णय करना उसका नाम व्यवहारी को व्यवहार का आश्रय समझना, किन्तु भेदरूप व्यवहार के आश्रय से वीतराग अंशरूप धर्म होगा ऐसा अर्थ कहीं पर नहीं समझना।

पूज्य गुरुदेवश्री : चारित्र हो, उसे दर्शन होता ही है परन्तु चारित्र चाहिए न! चारित्र अर्थात् क्या? व्रतादि की क्रिया, वह चारित्र है? ऐई! देवीचन्दजी! बाहर पंच महाव्रत आदि के विकल्प हैं, वे कहीं चारित्र नहीं हैं; वे तो अचारित्र हैं। वह तो चारित्र का दोष है। सब सबेरे आया था। राग व्यवहार है, बन्ध का कारण है, इस आत्मा में वह परिणति नहीं है। जीव की परिणति नहीं है। आत्मा की वह पर्याय नहीं है। आहा..हा..! अरे! किसने सुना है? दर्शन वस्तु पूरी जैन का मूल, धर्म का मूल दर्शन है। धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है।

इसलिए आचार्य उपदेश देते हैं कि.. इसलिए आचार्य महाराज उपदेश करते हैं। **हे सकर्ण..** पण्डित सत्पुरुषों! ऐसा। कान है और सुना है, ऐसा कहते हैं। जिसने तत्त्व की बात सुनी है, श्रद्धा की है, ऐसे **हे सकर्ण अर्थात् पण्डित सत्पुरुषो ! सर्वज्ञ के कहे हुए उस दर्शनमूलरूप धर्म को अपने कानों से सुनकर जो दर्शन से रहित हैं,.. सर्वज्ञ के कहे..** सर्वज्ञ परमात्मा, उन्होंने जो सम्यग्दर्शन धर्म कहा। राग और विकल्प तथा मन से पार, ऐसा चैतन्य ध्रुवस्वरूप। समझ में आया? उस चैतन्य भगवान ध्रुवस्वरूप की अन्तर प्रतीति और अनुभव में श्रद्धा। ऐसा सर्वज्ञ ने उपदेश किया है।

दर्शनमूलरूप धर्म को अपने कानों से सुनकर... सुनकर। **जो दर्शन से रहित हैं,..** जो सम्यग्दर्शन से रहित हैं। जिनकी श्रद्धा में राग से धर्म हो, पुण्य से धर्म हो, सर्वज्ञ के सिवाय कहे हुए तत्त्व भी सच्चे हैं, दूसरों के तीर्थक्षेत्र में भी धर्म होता है, दूसरे धर्म में भी कुछ धर्म है—ऐसी मान्यतावाले जीव हैं, वे सम्यग्दर्शनरहित हैं। समझ में आया? बद्रीनाथ के मन्दिर में से लिखान आया है। इसमें आया है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : उसे बेचारे को खबर नहीं।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, दूसरा पाप किया हो तो इन तीर्थों में नाश होता है, ऐसा लिखा है। कहाँ तीर्थ था? तीर्थ तो आत्मा है। आनन्दमूर्ति वीतरागस्वरूप के अन्तर जाने से, स्नान करने से तीर्थ होता है। वह तीर्थ है। ये बाहर के तीर्थ, वीतरागता के बाहर के तीर्थ वह

व्यवहार है, तो अन्य के तीर्थ तो है ही कहाँ। समझ में आया? सम्मेदशिखर, शत्रुंजय तीर्थ हैं, वे पाप का नाश करनेवाले तीर्थ नहीं। वह तो शुभभाव होता है, इससे जरा अशुभादि न हो, इतनी बात है। वह तीर्थ। तीर्थ तो आत्मा है। पूर्णानन्द का नाथ तरण उपाय के स्वभाव से जड़ा हुआ। समझ में आया? तीर्थ तो वह है। स्नान करनेयोग्य वह है।

अनन्त आनन्द और ज्ञान का स्वभाव, ऐसा जो आत्मा वह सर्वज्ञ ने कहा, वह आत्मा। वापस दूसरे आत्मा कहते हैं, वह आत्मा नहीं। इसलिए कहा न? **सर्वज्ञ के कहे हुए उस दर्शनमूलरूप धर्म को अपने कानों से सुनकर..** सर्वज्ञ भगवान ने कहा वह। सर्वज्ञ भगवान ने कहा हुआ मार्ग तो दिगम्बर दर्शन में ही है। अन्यत्र है नहीं। बात तो आयेगी। ऐसी स्पष्ट बात आयेगी इसमें तो। इसमें तो झटककर सब निकाल दिया है – ऐसा है। दिगम्बर दर्शन अनादि सनातन सर्वज्ञ परमेश्वर ने कहा, उस मार्ग का स्वरूप परम्परा दिगम्बर धर्म में है। उसके अतिरिक्त अन्यत्र कहीं अंश भी है नहीं। उसके लिये यह दर्शनपाहुड़ बनाया है। देखो! दर्शन सर्वज्ञ का मूल है। कथन में दर्शन प्रधान बात आयी है। सम्यग्दर्शन तो सच्चे देव-शास्त्र-गुरु जहाँ नहीं, वहाँ सम्यग्दर्शन कहाँ से होगा? समझ में आया? ऐसा है, भाई! दूसरों को खराब लगे, खोटा लगे परन्तु मार्ग तो यह है। बहुतों को ऐसा होता है न, अन्दर से निकाले कि भाई! यह तो हमारा खण्डन करते हैं। ऐसा आया था, श्रीमद् ने खण्डन नहीं किया। वहाँ खण्डन करते हैं, इसलिए हमें सुनना नहीं। अरे भगवान! बापू! मार्ग तो यह है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : होवे ही न! परन्तु ऐसी कौन सी चीज़ है, जो सबको ठीक लगे? यह तो अपने अभी कहा। वचनिका, मोक्षमार्गप्रकाशक। ऐसी कौन सी चीज़ है, जो सबको ठीक लगे। मार्ग तो जो वीतराग ने कहा हो, वह आता है। समझ में आया? जो पक्षकार हो, उसे ठीक नहीं लगता। सत् की श्रद्धा के लिये तो तत्त्वार्थश्रद्धान होवे किस प्रकार? और विरुद्ध श्रद्धा मिटे किस प्रकार? मोक्षमार्गप्रकाशक में आता है।

दर्शन से रहित हैं, वे वंदन योग्य नहीं हैं;.. यहाँ सिद्धान्त है, लो जिसे सर्वज्ञ परमात्मा ने दिगम्बर धर्म में जो मुनिपना कहा, दर्शन। है न? भावलिंग अन्तर तीन कषाय का अभाव; बाह्य में नग्नदशा और व्यवहार में पंच महाव्रतादि के विकल्प, वह जैनदर्शन

है अथवा दर्शन निश्चित है। अन्दर में ऐसे की श्रद्धा रागरहित ऐसे रहने की श्रद्धा अन्दर में, उसका नाम सम्यग्दर्शन है। स्वभाव सन्मुख की श्रद्धा, ऐसा। ऐसी श्रद्धा से रहित है, फिर चाहे तो बड़ा महात्मा, आचार्य, उपाध्याय आदि नाम धरावे। **वंदन योग्य नहीं हैं;...** ऐसा है, पहले से यह शुरु किया है। कहो, शान्तिभाई! यह सब सत् का आग्रह नहीं होगा? सत्य तो यह है, भाई! सत्य कोई दो होते हैं? 'एक होय तीन काल में परमार्थ का पन्थ।' सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ वीतराग ने कहा हुआ परम्परा का मार्ग, ऐसा सम्यग्दर्शन नाम कान से सुना हो कि ऐसा सम्यग्दर्शन। ऐसे जीवों को, सम्यग्दर्शनरहित प्राणी हैं, उन्हें वन्दनयोग्य नहीं है। आहा..हा..! कहो, समझ में आया? **ण वंदिव्वो** स्पष्ट है या नहीं? आहा..हा..! **दर्शनहीन की वंदना मत करो।** लो, जिसे सम्यग्दर्शन का भान भी नहीं और देव-गुरु-शास्त्र की विपरीत श्रद्धा है और भले व्रतादि क्रिया बाहर में दिखायी दे, परन्तु वह तो दर्शनरहित है। वह वन्दनयोग्य नहीं है। कहो, समझ में आया? और उसका आदर करे तो मिथ्या श्रद्धावाला है और उसका आदर करे तो मिथ्या श्रद्धा का पाप लगता है। करे, करावे और अनुमोदे, तीनों पाप का फल है।

जिसके दर्शन नहीं है, उसके धर्म भी नहीं है,... जिसे सम्यग्दर्शन नहीं। वस्तु भगवान आत्मा अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु चैतन्यध्रुव की अन्तर श्रद्धा नहीं; पर्यायबुद्धि है, रागबुद्धि है, संयोगबुद्धि है—ऐसे जीव सम्यग्दर्शनरहित हैं। उनमें धर्म नहीं। **जिसके दर्शन नहीं है, उसके धर्म भी नहीं है,..** मूल बिना '**मूलम नास्ति कुता शाखा**' जिसका मूल नहीं उसे शाखा या फल नहीं होते। समझ में आया? जिसके दर्शन नहीं है, उसके धर्म भी नहीं है। चाहे तो बारह व्रत और महीने-महीने खमण के पारणा, नग्न मुनि (हो) 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो', तो भी वह मिथ्यादृष्टि है, कहते हैं। आहा..हा..! गजब कठिन काम। **मूलरहित वृक्ष के स्कन्ध, शाखा, पुष्प फलादिक कहाँ से होंगे?** लो, जिसका मूल ही नहीं। सम्यग्दर्शन ही नहीं। समझ में आया? पर से धर्म होगा, व्यवहार से, पुण्य से, क्रिया करते-करते धर्म होगा, निमित्त से लाभ होगा—ऐसी मान्यता है, वह तो दर्शनरहित मिथ्यादृष्टि है। चाहे तो मानधाता बड़ा त्यागी हो तो भी वह वन्दन योग्य नहीं है, ऐसा कहते हैं। आहा..हा..! गजब!

मुमुक्षु : कड़क स्वभाव......

पूज्य गुरुदेवश्री : कड़क है। ऐसी वस्तु है। कड़क कहो या सरल कहो, मार्ग यह है। कहो सेठी! अब मुनि मानकर आहार-पानी लेने का (करे) उसमें बड़ा कहाँ? श्रद्धा का भान नहीं, सम्यग्दर्शन की खबर नहीं।

मुमुक्षु : वेश देखकर वेश में क्या है?

पूज्य गुरुदेवश्री : वेश देखकर, वेश में क्या है? धूल।

मुमुक्षु : ऐसा माने।

पूज्य गुरुदेवश्री : मानता है। क्या माने? उसके लक्षण हैं, वह दिखता नहीं कि यह कर्ताबुद्धि है, इसे मैं करूँ तो यह हो, इसे करूँ तो ऐसा हो। सदोष आहार लेते हैं, इत्यादि भाव हैं और मानते हैं कि मुनि हैं तो मिथ्यात्व का भाव है - ऐसा है, भाई! इस दर्शनपाहुड़ में तो।

मुमुक्षु : पहले से खोटा......

पूज्य गुरुदेवश्री : पहले से ही खोटा है, उसे खोटा सिद्ध किया है। प्रसिद्ध करके खोटा सिद्ध किया है। ऐसा है, भाई!

जिसके दर्शन नहीं है, उसके धर्म भी नहीं है, क्योंकि मूलरहित वृक्ष के स्कन्ध,... मूल ही नहीं हो वहाँ फिर स्कन्ध फला है, शाखा-डाली निकली है, पुष्प हुए हैं, फल हुए हैं—यह कहाँ से होगा? आहा..हा..! यह व्रत लिये और तप करे, इसलिए उसे सम्यग्दर्शन होगा? कि नहीं। वह व्रत-तप है ही नहीं। सम्यक् मूल न हो, वहाँ व्रत-तप कैसे? आहा..! **इसलिए यह उपदेश है कि जिसके धर्म नहीं है, उससे धर्म की प्राप्ति नहीं...** भाषा देखो! पहले ऐसा कहा कि **जिसके दर्शन नहीं है, उसके धर्म भी नहीं है,...** जिसे दर्शन-समकित नहीं, उसे धर्म भी नहीं... जिसे धर्म नहीं उससे धर्म की प्राप्ति नहीं... उसके पास सुनकर लाभ मिले, ऐसा है नहीं—ऐसा कहते हैं। सुनने जाऊँगा, सुनने जाऊँगा तो मिलेगा, इससे इनकार करते हैं, देखो! जिसकी श्रद्धा में खोट (विपरीतता) ही है।

मुमुक्षु : वह तो भगवान के शास्त्र....

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान के शास्त्र कहाँ हैं? उसे कहाँ भान है? समझ में आया?

यह तो भाई! वीतराग त्रिलोकनाथ परमात्मा के मुनीम होकर बात करें और करे खोटी। दिवाला निकालने की बात करे। उनसे धर्म की प्राप्ति नहीं है। वन्दन योग्य नहीं है। क्योंकि उनसे धर्म की प्राप्ति नहीं है, इसलिए आदर करनेयोग्य नहीं है। आहा..हा..! गजब काम।

फिर धर्म के निमित्त उसकी वंदना किसलिए करें? देखो! ऐसे आत्माओं को धर्म के कारण से आदर कैसे करें? **ऐसा जानना।** ऐसा यहाँ कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं। ऐसा यहाँ जानना। कहो, समझ में आया?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : इसमें अर्थ किया है। इन्होंने किया है न? यह कहाँ घर का किया है? **दंसणमूलो धम्मो** यह शब्द तो मूल पाठ में है। सम्यग्दर्शन मूल धर्म है। **उवइट्ठो जिणवरेहिं सिस्साणं** जिनवरों ने शिष्य को उपदेश किया है। **तं सोऊण सकण्णे** यह बात सुनकर हे सकर्ण! हे कानवाले-सुननेवाले! ऐसा कहते हैं। **दंसणहीणो ण वंदिव्वो** पाठ है या नहीं? ऐई! देवीचन्दजी! आहा..हा..! दुनिया को तो ऐसा लगे। सब लाखोंपति-करोड़ोंपति मानते हों और ये सब लोग पचास-पचास हजार एकत्रित होते हों। अब वह कहे कि यह वन्दे नहीं, फट-फट हो। उसे धर्म की श्रद्धा नहीं, इसलिए वन्दन नहीं करते। ऐसे महामुनि त्यागी हुए, परन्तु कौन मुनि था? अभी सम्यग्दर्शन का ठिकाना नहीं। समझ में आया? आहा..हा..! देह की क्रिया जड़, उसके कर्ता हो। दया, दान, व्रत के परिणाम से मुझे धर्म हो, यह करते-करते—व्यवहार करते-करते हमारी निश्चय की शुद्धि हो, ऐसा माननेवाले समकित से रहित मिथ्यादृष्टि हैं। उनसे धर्म प्राप्त नहीं होता तो उनका आदर करके क्या करना? ऐसा कहते हैं। यह तो जवाबदारी आयी, सेठी! अभी तक सब गड़बड़ की है। यहाँ जवाबदारी है।

मुमुक्षु : आहार शुद्ध, मन शुद्ध, वचन शुद्ध.....

पूज्य गुरुदेवश्री : भाई! वहाँ मुख्य प्रमुख व्यक्ति हो तो आहार-पानी देना पड़े। तिष्ठ, तिष्ठ... बनाया उनके लिये और (बोले ऐसा कि) आहार शुद्ध, वचन शुद्ध।

मुमुक्षु : आहार शुद्ध, मन शुद्ध, वचन शुद्ध.....

पूज्य गुरुदेवश्री : काय शुद्ध, वचन शुद्ध, यह झूठ बोलता है और उस झूठे को

अनुमोदन करे और झूठे का अनुमोदन ले, ऐसी बात है, सेठी! देखो। आहा..हा..! मार्ग तो ऐसा है, बापू!

अब, यहाँ धर्म का तथा दर्शन का स्वरूप जानना चाहिए। अब स्वयं थोड़ा लिखते हैं। धर्म का और दर्शन का। सम्यग्दर्शन नहीं, यहाँ दर्शन की सामान्य बात है। जैनदर्शन। उसका स्वरूप जानना चाहिए। **वह स्वरूप तो संक्षेप में ग्रन्थकार ही आगे कहेंगे,..** ग्रन्थकार स्वयं उसका स्वरूप कहेंगे। **तथापि कुछ अन्य ग्रन्थों के अनुसार यहाँ भी दे रहे हैं–..** दूसरे ग्रन्थ के अनुसार थोड़ा यहाँ कहते हैं। **'धर्म' शब्द का अर्थ यह है कि जो आत्मा को संसार से उबारकर सुखस्थान में स्थापित करे, सो धर्म है..** लो! धर्म उसे कहते हैं कि आत्मा, संसार अर्थात् दु:ख की दशा, उससे उद्धार करके... उदयभाव संसार दु:खदशा है, उससे उद्धार करके-अभाव करके सुखस्थान में स्थापित करता है। आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा में स्थापित करे, उसे धर्म कहते हैं। लो, यह धर्म की व्याख्या।

'धर्म' शब्द का अर्थ यह है कि... इसका अर्थ ऐसा है कि **जो आत्मा को संसार से उबारकर...** यह सिद्ध करते हैं कि आत्मा को संसार है। आत्मा की पर्याय में राग-द्वेष, मिथ्यात्व, वह दु:खरूप दशा है, वह संसार है। आत्मा की वर्तमान दशा में अनादि अज्ञानी को मिथ्यात्व और राग-द्वेषभाव है, यह उसकी संसारदशा है। ऐसे मिथ्यात्व और राग-द्वेष में से उद्धार करके स्वरूप में स्थापित करे, अन्तर अनन्त ज्ञानादि स्वभाव भगवान आत्मा का, उसमें स्थापित करे, उसे धर्म कहते हैं। ध्रुव के लक्ष्य से एक का व्यय करके एक का उत्पाद करे, उसे धर्म कहते हैं। समझ में आया? यह तो गजब व्याख्या है। यह धर्म की व्याख्या हुई।

और दर्शन अर्थात् देखना। दर्शन की व्याख्या करते हैं। दो बात करते थे न? **यहाँ धर्म का तथा दर्शन का स्वरूप जानना चाहिए।** धर्म की व्याख्या यह की। संसार अर्थात्? आत्मा की पर्याय में मिथ्यात्व / विपरीत अभिप्राय और राग-द्वेष (होवे), वह संसार है। उसे मिटाकर और वस्तु आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा में स्थापित करे, ऐसी दशा को धर्म कहने में आता है। कहो, समझ में आया? **और दर्शन अर्थात् देखना।** अब दर्शन की व्याख्या। **और दर्शन अर्थात् देखना।** देखने का नाम दर्शन है। **इसप्रकार धर्म**

की मूर्ति दिखायी दे, वह दर्शन है... वीतराग प्रतिमास्वरूप मुनि, भावलिंगी। बाह्य में नग्नदशा, अन्तर में वीतराग मुद्रा। जिसे विकल्प की वृत्ति उठे, उसका वह कर्ता नहीं – ऐसा वीतरागभाव, ऐसा जो दर्शन। अभ्यन्तर और बाह्य ऐसा जो दर्शन।

इसप्रकार धर्म की मूर्ति दिखायी दे, वह दर्शन है तथा प्रसिद्धि में जिसमें धर्म का ग्रहण हो, ऐसे मत को 'दर्शन' कहा है। बाहर में जैनदर्शन, जैनधर्म—ऐसे प्रसिद्धता में धर्म का ग्रहण हो, ऐसे मत को दर्शन कहते हैं। **लोक में धर्म की तथा दर्शन की मान्यता सामान्यरूप से तो सबके हैं,..** साधारण धर्म–धर्म तो सब करते हैं न? और दर्शन–हमारा मत सच्चा... हमारा मत सच्चा... हमारा मत सच्चा... ऐसा तो सब करते हैं। कोई ऐसा कहता है कि हमारा दर्शन मिथ्या? **लोक में धर्म की तथा दर्शन की मान्यता सामान्यरूप से तो सबके हैं, परन्तु सर्वज्ञ के बिना..** यहाँ से बात है। **यथार्थ स्वरूप का जानना नहीं हो सकता;..** पहली सर्वज्ञ की सिद्धि करते हैं। जिसने तीन काल तीन लोक ज्ञान में जाने नहीं, ऐसे सर्वज्ञ के अतिरिक्त आत्मा और धर्म की बातें करे, वह सब बातें उसकी कल्पित और मिथ्या होती है। जिस मत में सर्वज्ञ होते हैं, उसका इसे निर्णय करना चाहिए। समझ में आया?

सर्वज्ञ के बिना यथार्थ स्वरूप का जानना नहीं हो सकता; परन्तु छद्मस्थ प्राणी अपनी बुद्धि से अनेक स्वरूपों की कल्पना करके.. देखो! यह **अन्यथा स्वरूप स्थापित करके उनकी प्रवृत्ति करते हैं..** जाना नहीं और कहे ऐसा होता है, ऐसा होता है। वे तो अन्यथा प्रवृत्ति करते और कराते हैं। इसलिए वह धर्म नहीं है। देखो! पहले सर्वज्ञ परमात्मा कौन हैं, ऐसा सिद्ध करके, उन्होंने देखा हुआ – कहा हुआ, वह मार्ग सत्य है। समझ में आया?

सर्वज्ञ के बिना यथार्थ स्वरूप का जानना नहीं हो सकता;.. सर्वज्ञ के बिना यथार्थ स्वरूप में जानने में नहीं आ सकता। **परन्तु छद्मस्थ प्राणी अपनी बुद्धि से अनेक स्वरूपों की कल्पना करके अन्यथा स्वरूप स्थापित करके उनकी प्रवृत्ति करते हैं और जिनमत सर्वज्ञ की परम्परा से प्रवर्तमान है,..** वीतराग मार्ग तो सर्वज्ञ की परम्परा से प्रवर्तता है। समझ में आया? **सर्वज्ञ की परम्परा से प्रवर्तमान है,..** परमेश्वर ने कहा, वह गणधर ने जाना, अनुभव किया, उनकी परम्परा से जो अनादि का मार्ग है, वह दिगम्बर

सम्प्रदाय में चला आ रहा है। अन्यत्र वह मार्ग है नहीं। **इसलिए इसमें यथार्थ स्वरूप का प्ररूपण है।** सर्वज्ञ की परम्परा से जो मार्ग आया, उसमें देव का, गुरु का, शास्त्र का, तत्त्व का, धर्म का, मोक्षमार्ग का वास्तविक स्वरूप का कथन उसमें है, अन्यत्र है नहीं। कहो, समझ में आया?

वहाँ धर्म को निश्चय और व्यवहार – ऐसे दो प्रकार से साधा है। धर्म के दो प्रकार : निश्चय और व्यवहार। **उसकी प्ररूपणा चार प्रकार से है–...** सर्वज्ञ के मार्ग में चार प्रकार के धर्म के नाम के कथन हैं। चार प्रकार से कथन हैं। **प्रथम वस्तुस्वभाव,...** चार प्रकार में पहला वस्तुस्वभाव धर्म। भगवान आत्मा... जो वस्तु, उसका स्वभाव, वह धर्म। आत्मा का स्वभाव वस्तु है, उसका स्वभाव, ज्ञान, दर्शन और आनन्द। उस ज्ञान, दर्शन और आनन्द का प्रगट होना, वह धर्म है। समझ में आया?

प्रथम वस्तुस्वभाव,.. धर्म। एक। यह स्वभाव तो भगवान ने देखा, जाना–वैसा कहा वहाँ हो। अज्ञानी में कभी हो नहीं सकता। **उत्तम क्षमादिक दस प्रकार,..** धर्म। दूसरा। धर्म की व्याख्या दूसरी। उत्तम—सम्यग्दर्शनसहित सहनशीलता, क्षमा आदि की वीतरागता वह दस प्रकार का धर्म। वह दूसरे धर्म की व्याख्या है। **सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप..** तीसरी व्याख्या। धर्म की तीसरी व्याख्या। देखो! यह सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र, वह तीन भी धर्म। आत्मा आनन्द और ज्ञान की मूर्ति चैतन्य प्रभु में अन्तर्मुख होकर दर्शन–प्रतीति होना और अन्तर्मुख का ज्ञान होना और उसमें रमणता, वह सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र तीन को धर्म कहने में आता है। तीनों को धर्म कहने में आता है। तीनों को धर्म कहते हैं। वैसे तो चारित्तं खलु धम्मो; और धर्म का मूल सम्यग्दर्शन। यहाँ तो तीनों धर्म हैं। सम्यग्दर्शन स्वभाव धर्म है न? सम्यग्ज्ञान उसका धर्म है और सम्यक्चारित्र वीतरागी पर्याय भी धर्म है। तीनों धर्म है। वस्तु का स्वभाव है, ऐसी दशा प्रगट हुई है। कहो, समझ में आया?

और चौथे जीवों की रक्षारूप ऐसे चार प्रकार हैं। लो! जीव की रक्षारूप अर्थात् इसमें जीव स्वयं आया न?

मुमुक्षु : ....अपनी रक्षा........

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वयं। दूसरी किसकी रक्षा ? ऐई! अपने जीव की राग से रक्षा करना, वह धर्म है। राग उत्पन्न होने नहीं देना।

मुमुक्षु : दूसरे जीव की रक्षा.....

पूज्य गुरुदेवश्री : दूसरे जीव का विकल्प, वह व्यवहार। निश्चय यह। स्वयं जीव में है या नहीं जीव ? उसकी रक्षा अर्थात् क्या ? जिसका स्वरूप ज्ञान-आनन्द आदि है, उसकी रक्षा। राग की रक्षा नहीं, व्यवहार की रक्षा नहीं। दया, दान, व्रत आदि विकल्प, वह तो हिंसा है। आहा..हा.. !

मुमुक्षु : जीव को रागस्वरूप माने, वह रक्षा नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : रागस्वरूप, आत्मा को रागस्वरूप माने तो मिथ्यात्व होता है।

मुमुक्षु : रक्षा नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : पाप की रक्षा होती है।

अपना आत्मा ज्ञान और आनन्दस्वरूप है, वैसी उसकी उत्पत्ति होना और दूसरे का आत्मा भी ज्ञानमय है, ऐसी ज्ञानमय उत्पत्ति होना, उसका नाम जीव की रक्षा और धर्म है। आहा..हा.. !

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : एक तो धर्म का प्रकार यह कि वस्तु का स्वभाव है, वह धर्म। उसी-उसी को दस प्रकार सम्यग्दर्शनसहित क्षमा, वह भी एक धर्म; तीसरा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र वीतरागी पर्याय स्वभाव में ध्रुव के आश्रय से प्रगट होना। ध्रुव चैतन्यबिम्ब भगवान, नित्य सिद्धरूप वस्तु त्रिकाल शाश्वत्। उसके आश्रय से होनेवाला सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह धर्म; और उसके आश्रय से होनेवाली रागरहित की अहिंसा स्वभाव की उत्पत्ति, उसका नाम धर्म। कहो, समझ में आया ?

ऐसे चार प्रकार हैं। वहाँ निश्चय से सिद्ध किया जाय, तब तो सबमें एक ही प्रकार है,.. देखो! चारों में एक ही प्रकार है। शुद्धता। आहा..हा.. ! निश्चय से चार वस्तु को सिद्ध करके **सबमें एक ही प्रकार है, इसलिए वस्तुस्वभाव का तात्पर्य तो जीव नामक वस्तु की परमार्थरूप दर्शन-ज्ञान-परिणाममयी चेतना है..** देखो! जीव

नामक पदार्थ ऐसा भगवान आत्मा, उसका परमार्थरूप दर्शन-ज्ञान ऐसे परिणाम, श्रद्धा-ज्ञान के ऐसे परिणाम, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के परिणाम, वह पहला वस्तु का स्वभाव, वह धर्म है। राग और पुण्य आदि कहीं वस्तु का स्वभाव नहीं है। कहो, समझ में आया?

निश्चय से सिद्ध किया जाय, तब तो सबमें एक ही प्रकार है, इसलिए वस्तुस्वभाव का तात्पर्य तो जीव नामक वस्तु की परमार्थरूप दर्शन-ज्ञान-परिणाममयी चेतना है.. भगवान आत्मा दर्शन-ज्ञान का पिण्ड है। उसमें एकाग्रता (होना), ऐसी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की चेतना, वह परिणाम, वह धर्म। ज्ञान-चेतना वह धर्म है। समझ में आया? वस्तु का स्वभाव परमार्थ, ऐसा कहा न? देखो! **दर्शन-ज्ञान-परिणाममयी चेतना है..** वह वस्तु का स्वभाव है। जानना-देखना ऐसा जो आत्मा का स्वभाव, उसे परिणाम में प्रगट करना। देखने-जानने के परिणाम, श्रद्धा-ज्ञान और शान्ति, वह चेतना के परिणाम, वह धर्म है। रागादि, वह चेतना का परिणाम, वह चेतना की क्रिया आयी, सबेरे आया था। चेतना की क्रिया। राग की या दया-दान, पर की दया-दान की क्रिया वह तो जीव की क्रिया ही नहीं।

मुमुक्षु : व्यापक का व्याप्य नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं। आहा..हा..! समझ में आया? इस श्रुत पंचमी से अष्टपाहुड़ शुरु होता है। सब छनावट होती है। किसी की लिहाज रखी जाये या किसी की शर्म से दूसरा हो, वह यह वस्तु नहीं है कि दुनिया के डर से अधिक लोग मानें और थोड़ा मानें और न मानें, इसलिए सत् की संख्या न हो, इसलिए सत् दूसरा हो जाये, ऐसा है नहीं। आहा..हा..! लोगों को बाहर की प्रवृत्ति के परिणाम पर पूरे धर्म का माप है। यहाँ तो कहते हैं कि वस्तु का स्वभाव परमार्थरूप चेतना, ऐसा ज्ञान में चेताना-श्रद्धा-ज्ञान के परिणाम से—ऐसा चेतना परिणाम, वह धर्म है। वह मोक्ष का मार्ग है।

मुमुक्षु : ज्ञान चेतना से....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। ज्ञानस्वरूप आत्मा है। उसमें चेतना अर्थात् एकाग्र होना। वह ज्ञान की चेतना। उसमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों उसमें आ गये। यहाँ तो अभी पहली व्याख्या करते हैं। वस्तुस्वभाव धर्म की व्याख्या। फिर दूसरी करेंगे। उसमें भी चेतना के परिणाम ही हैं। ऐसा सिद्ध करेंगे। आहा..हा..! समझ में आया?

वस्तुस्वभाव, उसे तो जीव भगवान आत्मा, वह वस्तु का परमार्थ दर्शन-ज्ञान, देखने-जानने का जिसका स्वभाव, उसमें एकाग्र होने पर जो चेतना दर्शन-ज्ञान-परिणति हो, वह वस्तु का स्वभाव और उसे धर्म कहने में आता है। शरीर की क्रिया नहीं; दया, दान के विकल्प, वह धर्म नहीं। समझ में आया ?

मुमुक्षु : सहकारी.....

पूज्य गुरुदेवश्री : सहकारी का अर्थ होवे वह हो। सहकारी कारण यहाँ कहाँ है ? उसके घर में रहा। एक-दूसरे में तो अभाव है। सहकारी कारण का तो अभाव है।

मुमुक्षु : साथ में होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : होवे तो सब पूरी दुनिया होती है। लोकालोक है, यहाँ आ जाता है ? लोकालोक है। केवलज्ञान में ज्ञात हो, वह लोकालोक ज्ञान में आ गया ? रागादि सब हैं। हो, वह कहीं आत्मा का धर्म तो चेतना अन्दर परिणमना चैतन्य शुद्ध से, वह धर्म है। शान्तिभाई ! आहा..हा.. !

मुमुक्षु : ऐसा जैन का स्वभाव है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा जैन का, वस्तु का स्वभाव ऐसा है, ऐसा कहते हैं। जैन का नाम ही कहाँ लिया ? वस्तु जीव है, उसका परमार्थस्वभाव ही जानना-देखना ऐसे चेतनारूप परिणमना, वह धर्म है। ऐसा ही वह परमार्थ है। भगवान ने कहा, जाना और कहा है। वह वस्तु ही ऐसी है। जानन-देखन आनन्द प्रभु ! उसकी अन्तर्दृष्टि करके जानन, देखन और आनन्द के, चेतना के परिणाम प्रगट हों, उसे यहाँ वस्तु का स्वभाव धर्म कहने में आता है। कहो, समझ में आया ?

और वह चेतना सर्व विकारों से रहित.. वह चेतना सर्व विकारों से रहित.. देखो ! **शुद्ध-स्वभावरूप परिणमित हो, वही जीव का धर्म है..** लो ! राग और विकल्प से रहित शुद्ध चेतना हो, वह जीव का स्वभाव और धर्म है। अस्ति-नास्ति कहा। लो ! **दर्शन-ज्ञान-परिणाममयी चेतना है और वह चेतना सर्व विकारों से रहित..** दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, नामस्मरण विकल्प है, वह तो विकार है। आहा..हा.. ! **सर्व विकारों से रहित शुद्ध-स्वभावरूप परिणमित..** भगवान पवित्र शुद्ध है, त्रिकाल शुद्ध

है। उसका परिणमन शुद्ध होना, वह धर्म है। दूसरी शैली आती है न यहाँ तो! समयसार की शैली और... बात तो वह है परन्तु दूसरे ढंग से बात है। आहा..हा..! ऐई! सुजानमलजी!

मुमुक्षु : कड़क है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कड़क। कड़क नहीं। जैसा है, वैसा है। कड़क तो अतिरेक कहलाता है। ऐसा स्वभाव.. आहा..हा..!

मुमुक्षु : मार्ग बिगड़ गया, इसलिए कड़क बात...।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसलिए लगता है। लोगों को... इस प्रकार से माना है न कि यह मानो भगवान की भक्ति करते हैं और यात्रा करते हैं, पूजा करते हैं, यह सामायिक, प्रोषध, प्रतिक्रमण करते हैं, इसलिए धर्म। यह इनके माने हुए हैं। ये तो विकल्प हैं, भाई! यह तो शुभराग है। उस राग से, विकार से रहित शुद्ध चेतना का परिणमना, वह धर्म है। आहा..हा..! समझ में आया? वीतराग धर्म की यह व्याख्या। भाई!.... इसे रुचेगी नहीं ऐसा। इसने दूसरा रचा है न! फिर बारम्बार जब हो, तब ऐसा लगता है कि भाई! मार्ग तो यह है। ऐई! भाई! देखो! यह ऐसा है। स्त्रियों की बातें! धीरे-धीरे बैठेगी। नहीं रुचे तो यहाँ से चले जायेंगे। रुचेगी तो फिर वहाँ और थोड़ा-थोड़ा रुच गया। यह मार्ग तो कोई दूसरा लगता है। आहा..हा..!

इस देह को भूल जाओ, कहते हैं। यह तो मिट्टी जड़ है। विकल्प उठे, उसे भूल जाओ क्योंकि वह तो विकार है। भूलरहित स्वभाव जो त्रिकाल आनन्द और ज्ञानमूर्ति है, उसका उसरूप से परिणमन होना, विकाररहित स्वभाव शुद्धतासहित। शुद्धतासहित और विकाररहित, ऐसा कहा।

मुमुक्षु : महाराज! भूल जाओ ऐसा आप कहते हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान को अन्दर याद करो। अन्दर परमात्मा आनन्दस्वरूप है, उसे स्मरण करो, इसे भूल जाओ, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : यह तो बात-बात में..... क्रिया कुछ नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह क्रिया नहीं आयी? भगवान आनन्दमूर्ति को याद करो।

जिसका विस्मरण चलता है, उसका स्मरण करो; और जिसका स्मरण चलता है, उसका विस्मरण करो। पण्डितजी ! आहा..हा.. !

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : मांगलिक में बहुत जगह कहा है। सबेरे मांगलिक आता है न ?

अनादि भगवान आत्मा शुद्ध चिदानन्द आनन्द है, उसका इसे विस्मरण है; और राग-द्वेष तथा मिथ्या अभिप्राय की इसे यादगिरी और स्मरण है। यह विस्मरण है भगवान आत्मा का, उसे स्मरण में लाना। स्मरण कब हो ? उसे पकड़कर, अवाय करके-निर्णय करके और धारणा की हो तो स्मरण होता है। ज्ञानानन्दस्वरूप चिदानन्द प्रभु, चैतन्य के स्वभाव से अकेला भरा हुआ, उसका अवग्रह करके, निर्णय करके अन्दर धारण किया हो कि ऐसा स्वरूप है। उसका स्मरण करना और अनादि का विकार का स्मरण है, उसे विस्मरण करना। कहो, समझ में आया ?

देखो ! **जीव नामक वस्तु की परमार्थरूप दर्शन-ज्ञान-परिणाममयी चेतना है..** वह शुद्ध कहा। उस शुद्ध का परिणमन है। राग है, वह तो विकार है। वह शुद्ध का परिणमन नहीं। आहा..हा.. ! पंच महाव्रत के परिणाम, पर की दया का भाव, वह सब विकार है। उस विकाररहित शुद्ध चैतन्य का परिणमन, विकाररहित (परिणमन हो), उसे शुद्ध चेतना धर्म, वस्तु का स्वभाव कहते हैं। आहा..हा.. ! बहुत कठिन काम। लोगों में इतना सब बाहर का ऐसा हो.. हो.. हो हा... हो हा... (हो गयी है कि) यह बात बैठना कठिन पड़ती है। यह तो एकान्त है, परन्तु कोई साधन-फाधन है ? विकार साधन और निर्विकार साध्य ? ऐसा नहीं हो सकता। यहाँ तो विकाररहित ही कहना है, वहाँ फिर विकार साधन कहाँ से आया ? ऐसा कहते हैं।

वस्तु चैतन्य का स्वभाव भगवान, त्रिकाल, सर्व काल में शाश्वत् शुद्ध। अपने तीन बोल आये थे न ? अन्तः, चिर, विशद्, लसत्... चार बोल थे। अन्तः, यहाँ झुकना है न ? ऐसा कहते हैं। यहाँ ऐसे झुकना है न ? ऐसे झुकना है तो वह झुका हुआ असंख्य प्रदेशी अन्दर एकरूप है। और फिर... समझ में आया ? चिर सर्वकाले - ऐसा ही है वह। शाश्वत्। सर्व काल में ज्ञान-आनन्दमय वस्तु, ऐसी की ऐसी है। फिर विशद—सर्व काल

शुद्ध है। भाव। यह भाव आया। सर्व काल शुद्ध है। लसत्। सर्व काल पृथक् है। गजब अर्थ निकाला है!

मुमुक्षु : सर्व काल और लसत्।

पूज्य गुरुदेवश्री : चारों में सर्व है। समझ में आया? यह उसका स्वभाव ही ऐसा है, कहते हैं। तीनों काल अन्तः असंख्य प्रदेश का एकरूप, उसमें ऐसी की ऐसी स्थिति रहे, ऐसी वस्तु शाश्वत् है। काल रह गया अन्दर त्रिकाली। और उसका शुद्धत्वभाव, वह उसका भाव है, और उसका प्रत्यक्ष होना, वह प्रत्यक्ष त्रिकाल, प्रत्यक्ष हो, ऐसा उसका प्रत्यक्ष गुण है, ऐसा उसका स्वभाव है। उस स्वभाव का उस प्रकार से चैतन्य का शुद्धरूप से परिणमन होना, द्रव्य के आश्रय से शुद्ध का परिणमन होना, पर के आश्रय से विकाररहित परिणमन होना, उसे चेतनारूप धर्म कहने में आता है। देवीचन्दजी! इसमें कोई शंका को स्थान ही नहीं है। क्यों होगा और कैसे होगा? (ऐसा नहीं है)। आहा..हा..!

मुमुक्षु : साधन नहीं होगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : साधन-फाधन। यह स्वयं साधन है। यह तो सबेरे बात चलती है। आहा..हा..! कर्ता से, साधन-करण भिन्न नहीं हो सकता। यह तो सबेरे आता है। अभी आयेगा उसमें। आहा..हा..! करनेवाला भगवान आत्मा, उसके स्वभाव का साधन भी स्वयं ही है। उसे पर की तो अपेक्षा है ही कहाँ? स्वतन्त्ररूप से करे, उसका साधन, स्वतन्त्ररूप से साधे, वह साधु। पर की अपेक्षा रहे, उसमें स्वतन्त्र कहाँ रहा? आहा..हा..!

मुमुक्षु : साधे कौन?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह अनेकान्त है। स्व साधन से होता है और पर साधन से नहीं होता। कहीं कहा हो तो वह व्यवहार से कथन है। इसलिए पर से नहीं होता, ऐसा अनेकान्त है। लो, अभी एक बात ली। दूसरी लेंगे। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन-२ गाथा-२ बुधवार, ज्येष्ठ शुक्ल ६, दिनांक १०-०६-१९७०

नोट - इस प्रवचन में जितना समझ में न आया हो, वह नहीं लिखा है। मुमुक्षुओं को सुनने में ख्याल आवे तो रिक्तस्थान भर लेने की प्रार्थना है।

शुद्ध ज्ञान और आनन्दस्वरूप है, ऐसा ही उसका शुद्ध ज्ञान और आनन्द की (अवस्था प्रगट हो), उसका नाम शुद्ध चेतनाधर्म कहने में आता है। कल तो यह आ गया था।....कहते हैं चार प्रकार कहे न ? भाई! प्रथम तो वस्तुस्वभाव, वह धर्म। अर्थात् क्या ? वस्तुस्वभाव, वह धर्म। **वत्थु सहाओ धम्मो**। यह आता है न ? स्वामी कार्तिकेय में। अर्थात् क्या ? वस्तु का स्वभाव वह धर्म (अर्थात् क्या) ? यह आत्मा वस्तु है, उसका ज्ञान, आनन्द, आदि श्रद्धा शील शुद्धभावरूप भाव है, त्रिकाल। आत्मा वस्तु है, उसका त्रिकाली शुद्ध श्रद्धा, ज्ञान, आनन्द, शान्ति इत्यादि शुद्धभाव है, उस शुद्धभाव का शुद्धरूप परिणमन होना। समझ में आया ? वह वस्तु का स्वभाव।

वस्तु-आत्मा। उसका स्व-भाव कायमी ज्ञान, आनन्द और शान्ति वीतरागभाव, उसका शुद्धरूप से परिणमना, शुद्धभाव है, ऐसा उसका परिणमना, उस प्रकार से होना। द्रव्य के आश्रय से सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि के सभी गुणों का शुद्धपरिणमन होना, उसका नाम वस्तुस्वभाव शुद्धचेतना परिणमन धर्म कहते हैं। सेठी! समझ में आया या नहीं ? कान्तिभाई!

और वह चेतना। भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप में-अन्तर में चेते। उसका आनन्दस्वरूप है। चैतन्य आनन्दमूर्ति आत्मा है। आनन्द का स्थान, वह आत्मा है। उस आनन्द का धाम स्वभाव, वह शुद्ध है। उसका आश्रय लेकर शुद्धरूप से वर्तमान में व्यक्तपने-प्रगटरूप से शुद्ध परिणमन का होना, उसे यहाँ चेतनापरिणाम धर्म कहने में आता है। वह 'चेतना सर्व विकारों से रहित...' वह चेतना की अस्ति से बात की। अब नास्ति से (कहते हैं) उसमें दया, दान, व्रतादि के विकल्प जो विकार है, उनसे रहित वह चेतना है। उसका नाम वस्तु के स्वभाव का धर्म कहते हैं।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह विकाररहित में से निकाला है। कल बोले नहीं थे ? ....दया,

दान, व्रत के परिणाम पृथक् हैं, इसलिए पृथक् हो सकते हैं। यह तुम्हारा बोलता है। समझ में आया ? ...तैयार तो हो थोड़ा-थोड़ा। कुछ (कान में) तो पड़े। अभी छोटी उम्र में से ऐसी बात कान में पड़े तो भाग्यशाली है। लालचन्दभाई नहीं कहते ? क्या कहलाता है जामनगरवाला लालन। लालन कहते थे वहाँ, ...हमें इतनी उम्र में मिलता है और तुम्हें छोटी उम्र में मिला, ऐसा कहते थे। चातुर्मास था न ? ...वहाँ थे। हमें इतनी उम्र में यह बात मिली, पहले हमें नहीं मिली थी। छोटे-छोटे सब थे। तुम्हें तो इतनी छोटी उम्र में मिली। तुम भाग्यशाली ! लालन थे, नहीं ? ....वहाँ घर था।

कहते हैं, वस्तु का स्वभाव, उसे भगवान ने धर्म कहा है। अर्थात् क्या ? वस्तु अर्थात् आत्मा। उसमें बसी हुई शक्तियाँ अर्थात् शुद्धभाव। त्रिकाली। ज्ञान, आनन्द वीतरागता, स्वच्छता, प्रभुता ऐसे जो अनन्त गुण। वस्तु शक्तिवान और यह सब शक्तियाँ शुद्धभाव, वही वस्तु का धर्म है, परन्तु वह धर्म है, वह प्रगटरूप से कब हो ? ऐसा कहते हैं। वह तो त्रिकाली है। उस त्रिकाली धर्म का अन्तर आश्रय लेकर जो शुद्धरूप से दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि में अनन्त गुण का शुद्ध परिणमन होता है, उस शुद्ध चेतना को धर्म कहने में आता है। यह जैनधर्म। यह जैनधर्म है।

वह चेतना सर्व विकारों से रहित.. इसमें आ गया। ये जितने विकल्प हैं। दया, दान, व्रत, तप, भक्ति, पूजा आदि विकल्प, वह विकार है। उस विकाररहित और चेतना के स्वभाव सहित का परिणमना, ऐसी चेतना को जैनधर्म अथवा मोक्ष का मार्ग कहते हैं। समझ में आया ? मन्दिर, यात्रा वह तो उसके कारण हो। उसमें लक्ष्य जाये, उसे शुभभाव कहते हैं। शुभभाव हो। शुभभाव व्यवहारधर्म कहने में आता है। वह भी निश्चयधर्म होवे तो (कहने में आता है)। समझ में आया ?

आत्मा वस्तु है, शुद्धभाव स्वभावभाव है। वस्तु है, वह स्वभाववाली है और भाव स्वभाव है वह शक्तियाँ, स्वभाव, सत्व, गुण वह त्रिकाल शुद्ध है। उस शुद्ध का गुण और द्रव्य, उसका अन्तर आश्रय लेकर परिणाम में, वर्तमान पर्याय में शक्ति में से व्यक्तता शुद्धपरिणमन हो, उसे चेतना शुद्ध परिणाम धर्म कहते हैं। यह तो सहजता से हो ऐसा है, समझ में आये ऐसा है। सुजानमलजी ! यह तो सादी भाषा है। इसमें कोई संस्कृत और व्याकरण पढ़ा हो, ऐसा कुछ नहीं है। यह धर्म। जैनधर्म अनादि का है। देखो ! अमुक

आधार से है, परन्तु वह धर्म है कहाँ, वह तो कहे ? पर का आधार देते हैं, आत्मा का नहीं। यहाँ तो जैनधर्म आत्मा में है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? वे ऐसा कहते हैं, अहो! जैनधर्म सूक्ष्म है... परन्तु जैनधर्म अर्थात् क्या ? वह जैनधर्म पर्यायरूप प्रगटे, उसे धर्म कहते हैं, वह प्रगटे परन्तु वह जो प्रगटता है, वह सब शक्तिरूप गुण है और गुण का धारक एकरूप द्रव्य है। ऐसा निर्णय करे, उसके आश्रय से शुद्ध होता है। समझ में आया ?

वस्तु, ऐसा कहा न ? वस्तुस्वभाव। वस्तु आत्मा है, वह एक है। वस्तु, उसका स्वभाव अर्थात् भाव। ज्ञान, दर्शन आदि अनन्त-अनन्त गुण, यह उसका भाव। यह धर्म अर्थात् उसका त्रिकाली तो धर्म है परन्तु जब पर्याय में उसका लक्ष्य करके प्रगट हो, तब उसे शुद्ध का भान हुआ, तब वह शुद्ध कहने में आता है। शुद्ध की परिणति हुई, तब उसे त्रिकाल शुद्धभाव है, यह उसका स्वभाव है, ऐसी प्रतीति और अनुभव में आया, उस परिणाम को धर्म कहते हैं। समझ में आया ? यह एक बात हुई। अब दूसरी। दूसरा धर्म। कहते हैं कि यह की यह बात, परन्तु दूसरे प्रकार से।

और, बहुरी अर्थात् अथवा। ऐसा। अथवा। **उत्तम क्षमादिक दश प्रकार कहने का..** उत्तम क्षमा दशलक्षणी पर्व में आती है न ? उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, सरलता, निर्लोभता, ब्रह्मचर्य आदि उत्तम धर्मदशा। यह उत्तम क्षमा आदि दश धर्म। **कहने का तात्पर्य यह है कि आत्मा क्रोधादि कषायरूप न होकर..** देखो! यह वापस यहाँ लिया। क्रोध, मान, माया, आदि विकल्परूप न होवे। **अपने स्वभाव में स्थिर हो, वही धर्म है,..** दूसरे प्रकार से कहा, उसके साथ मिलाते हैं। वस्तु तो एक ही है। समझ में आया ?

आत्मा में क्षमा आदि चारित्रगुण तो त्रिकाल है। उस त्रिकाल गुण की परिणति होकर जो उत्तम क्षमादि पर्याय में आवे, वह पर्याय-परिणति निर्मल है और क्रोधादि के विकार से रहित है। यह तो नास्ति से समझाया। उसमें जब ऐसा कहा, चेतनाधर्म है, वह सर्व विकार से रहित है। यहाँ उत्तम क्षमादि कहा, इसलिए उसके सामने क्रोधादि से रहित है, ऐसा कहकर उत्तम क्षमादि परिणति जीव का भाव—चेतना, उसे धर्म कहते हैं। उत्तम क्षमा धर्म भी यही कहा। दूसरा धर्म कहीं बाहर की क्षमा की, ऐसा है नहीं। समझ में आया ?

उत्तम क्षमादिक। उसमें आया, आदि दश प्रकार कहने से। क्रोधादि कषायरूप

आमने-सामने लेना। क्षमा के सामने क्रोध; निर्मान के सामने मान; सन्तोष के सामने लोभ। ऐसे कषायरूप आत्मा न हो। विकार की क्रोध, मान, माया, लोभरूप से आत्मा न हो। अपने स्वभाव में स्थिर हो। वह (विकार) न हो, वह तो अविकार हो जायेगा। भगवान आत्मा अकषायस्वभाव स्वरूप है, अकषायस्वभाव स्वरूप है, ऐसे अकषायस्वभाव में अपने में स्थिर हो। अपने स्थिर हो, वही धर्म है। यह दशलक्षणी धर्म। समझ में आया? ऐसा जैनधर्म। यह जैनधर्म है।

यह भी शुद्ध चेतनारूप ही हुआ। कहते हैं, वह भी शुद्ध चेतना (स्वरूप है)। शुद्धस्वभाव भगवान आत्मा, त्रिकाल शुद्धभावरूप, उस शुद्ध का आश्रय लेकर जो शुद्ध चेतनारूप परिणमन हुआ, वह भी दशलक्षण धर्म शुद्ध चेतनारूप हुआ। दशलक्षण धर्म, वह शुद्ध चेतनारूप ही हुआ, उससे कोई दूसरी जाति नहीं है। समझ में आया? जैनधर्म कहाँ रहता होगा? मन्दिर में? पालीताणा में? या अन्यत्र? सम्मेदशिखर में? कहाँ रहता होगा दिलीप?

मुमुक्षु : अन्दर आत्मा में है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आत्मा में है। एकदम बोलता है। कहो, समझ में आया?

भगवान आत्मा, उसका दशलक्षणी धर्म-उत्तम क्षमा आदि। वह धर्म कहीं बाहर से नहीं आता। अन्दर में स्वभाव है, उसके आश्रय से उसका परिणमन होता है और नास्ति से कहें तो क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रतिकूलता आदि का उसमें अभाव है। समझ में आया? यह धर्म है। जैनधर्म। यह दशलक्षणी पर्व आत्मा की पर्याय में रहता है, कहीं बाहर में नहीं रहता। आहा..हा..! समझ में आया?

और, अब तीसरा, तीसरा धर्म **दर्शन-ज्ञान-चारित्र कहने का तात्पर्य यह है कि..** सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र जो मोक्ष का मार्ग, वह धर्म। ऐसा कहा अर्थात् कि **तीनों एक ज्ञानचेतना के ही परिणाम हैं,..** आहा..हा..! पहली कर्मचेतना, जो दया, दान, व्रत या देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का विकल्प, राग, वह तो कर्मचेतना है, वह कहीं धर्म चेतना नहीं। आहा..! ज्ञानचेतना नहीं। क्या कहा? **दर्शन-ज्ञान-चारित्र कहने का..** सम्यग्दर्शन वह क्या है? ज्ञानचेतना। ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा, उसकी अन्तर की एकाग्रता, ज्ञान का चेतना, ज्ञान में एकाग्र होना। ज्ञान का अनुभव होना, वह सम्यग्दर्शन,

ज्ञानचेतना है। सम्यग्ज्ञान, वह ज्ञानचेतना है और चारित्र—स्वरूप में स्थिरता, वह भी ज्ञान की एकाग्रतारूपी चारित्र है। समझ में आया?

दर्शन–ज्ञान–चारित्र कहने का तात्पर्य यह है कि तीनों एक ज्ञानचेतना के ही परिणाम हैं,.. परिणाम हैं। पर्याय है न? धर्म तो परिणाम लेना है न? लड़कों का परिणाम आता है, वह होगा यह? लड़कों को नहीं आता? क्या परिणाम आया? यहाँ तो परिणाम अर्थात् उसकी पर्याय। उसकी वर्तमान दशा में जो सम्यक्‌शुद्ध चैतन्यभाव है, उसकी अन्तर श्रद्धा, वह भी ज्ञानचेतना के परिणाम हुए। राग चेतना और हर्ष चेतना के वे परिणाम नहीं। समझ में आया? इसलिए कर्मफल और कर्मचेतना नहीं। **तीनों एक ज्ञानचेतना के ही परिणाम हैं,..** आहा..हा..!

भगवान आत्मा अकेला ज्ञानस्वभाव, असाधारण स्वभाव, वह वस्तु स्वयं। ज्ञानवस्तु, चेतनस्वभाव, उसकी अन्तर एकाग्रता, वह ज्ञानचेतना है। वह सम्यग्दर्शन ज्ञानचेतना है। ज्ञान की एकाग्रता की प्रतीति। सम्यग्ज्ञान भी ज्ञानचेतना है। ज्ञान का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष; और ज्ञान में रमणता, वह ज्ञान की रमणता, वह भी ज्ञानचेतना है। कहो, समझ में आया? **वही ज्ञानस्वभावरूप धर्म है..** लो! **वही..** उसमें चेतना कहा था न? **यह भी शुद्ध चेतनारूप ही हुआ।** ऐसा कहा था। इसे कहा, **वही ज्ञानस्वभावरूप धर्म है...** ज्ञानचेतना है न? ज्ञानस्वभावरूप धर्म है। भगवान आत्मा ज्ञानस्वभाव, उसमें एकाग्र हो, स्वसंमुख में एकाग्र हो तो परिणति / अवस्था प्रगटे, वह शुद्ध ज्ञानचेतना स्वभाव है। गजब बात! हिम्मतभाई! ऐसा था कहीं वहाँ? नहीं? आहा..हा..!

तीन बातें हुईं। वस्तुस्वभाव, वह धर्म; उत्तम क्षमादि धर्म; सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र परिणाम, वह धर्म। इन तीन की व्याख्या हुई। अब एक व्याख्या—जीव की रक्षा, वह धर्म, यह बाकी रहा। ऐसा है। कहते हैं, जीव की रक्षा, वह धर्म। अर्थात् क्या?

जीव की रक्षा कहने से **अपनी या पर की..** देखो! अपने में और पर में। **जीव क्रोधादि कषायों के वश होकर अपनी या पर की पर्याय के विनाशरूप मरण तथा दुःख संक्लेश परिणाम न करे – ऐसा अपना स्वभाव..** देखो! आत्मा को आत्मा में शुभ और अशुभ विकल्प नहीं करना, यह जीव की रक्षा है।

मुमुक्षु : अशुभ की बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों की। **पर्याय के विनाशरूप मरण...** कषायों के वश होकर। **पर्याय के विनाशरूप मरण तथा दु:ख संक्लेश परिणाम न करे...** दोनों... दोनों। दु:ख के संक्लेश परिणाम और पर्याय के विनाशरूप मरण कहा न ? पर्याय में शुभ-अशुभ संकल्प है, वही पर्याय का मरण है। समझ में आया ?

भयंकर भावमरण आया है न ? 'तू क्यों भयंकर भावमरण प्रवाह में चकचूर है।' आता है न श्रीमद् में। सोलह वर्ष में कहा है। 'तू क्यों भयंकर भावमरण....' अर्थात् शुद्ध चैतन्य के आनन्द का जीवन, ऐसा इसका जीवन है, उसमें राग और द्वेष की उत्पत्ति करना, वह जीव की शान्ति का मरण / व्यय होता है। उसका उत्पाद होना चाहिए, आनन्द और शान्ति का उत्पाद होना चाहिए। उसके बदले राग-द्वेष के परिणाम से उसका व्यय होता है, वह इसका मरण है। आहा..हा.. ! समझ में आया ?

जीव की रक्षा। भगवान आत्मा अपने स्वभाव की रक्षा और परजीव के स्वभाव की रक्षा। यह तो पर, पर का कर्ता है और आत्मा, आत्मा की करे। अपने या पर की **क्रोधादि कषायों के वश होकर...** विकल्प जो है, चाहे तो शुभ हो या अशुभराग हो, उसके वश होना, वही चैतन्य के शुद्ध निर्मल पर्याय का मरण है। हिम्मतभाई ! समझ में आया ?

यह विचार आया था। इन्द्रों ने द्वारिका रची न ? द्वारिका। जहाँ तीर्थंकर बसते हैं, उसे रचते हैं, तब मणिरत्न के मन्दिर बनाते हैं। इसमें आयेगा। मणिरत्न के मन्दिर बनाते हैं। मन्दिर, घर। तीर्थंकर आनेवाले हैं न ! इसलिए देव पहले से आकर द्वारिका की रचना की। सोने के गढ़, मणिरत्न के कंगूरे। महल और दूसरे मकान। ऊँचे-ऊँचे। ऐसे ऊँचे... इसमें आयेगा। तीर्थंकर होते हैं न !... अरिहन्त का निरूपण चौदह गाथा में किया। नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव।....इत्यादि।

'प्रथम तो गर्भ कल्याणक होता है। गर्भ में आने से छह महीने पहले इन्द्र का भेजा हुआ कुबेर जिस राजा की रानी के गर्भ में तीर्थंकर आयेंगे, उसके नगर की शोभा करता है।' है ? कितनी गाथा है ? ४१। ४१ गाथा। इन्द्र आकर करे... यहाँ अपने तो यह लेना है। 'रानी के गर्भ में आयेंगे, रत्नमयी, स्वर्णमयी मन्दिर रचे।' मकान। द्वारिका को इन्द्रों ने रचा, हों ! भगवान आनेवाले हैं। इसमें कथन इस प्रकार से है। उसमें आया, बलभद्र पूछते हैं, उसमें ऐसा लिखा है, बलभद्र पूछते हैं। यह द्वारिका नगरी... है तो इसकी स्थिति कितनी ?

ऐसा पूछते हैं।....बलभद्र, भगवान को पूछते हैं, यह नगरी... समुद्र में नगरी की, उसकी स्थिति कितनी? ऐसा आता है, हों! ....कहाँ आया? भावपाहुड़ में आता है न? कितनी गाथा? ५०। बराबर है ५०वीं गाथा का भावार्थ है। देखो!

पहले की तरह इसकी कथा संक्षेप से इस प्रकार है—नौवें बलभद्र में श्री नेमिनाथ तीर्थंकर से पूछा कि हे स्वामिन्! भावार्थ की पहली लाईन है भावार्थ की, भाई! वहाँ श्वेताम्बर में ऐसा आता है कि गजसुकुमार श्रीकृष्ण के भाई... इस द्वारिका के श्मशान में प्रभु! आपकी उपस्थिति... भगवान... ऐसा प्रश्न किया है। यहाँ यह पूछा है, देखो! **बलभ्रद ने श्री नेमिनाथ तीर्थंकर से पूछा कि हे स्वामिन्! यह द्वारिकापुरी समुद्र में है, इसकी स्थिति कितने काल तक है? तब भगवान ने कहा कि रोहिणी का भाई द्वीपायन तेरा मामा....** बलभद्र के मामा होते है। **बारह वर्ष पीछे मद्य के निमित्त से क्रोध करके इस पुरी को दग्ध करेगा।** इसमें ऐसा है। इसमें ऐसा लिया है,... विषय लेते हुए मरकर अग्निकुमार हुए, उसने जलाया, ऐसा लिखा है उसमें, देखो! यहाँ तो स्पष्ट लिखा है, द्वारिका उसके कारण जली, ऐसा लिखा है। भगवान को बलभद्र ने कहा, इस द्वारिका की स्थिति बारह वर्ष की। सोने के गढ़ और मणिरत्न के कंगूरे... स्थिति बारह वर्ष की। आहा..हा..! मिट्टी के मकान नहीं थे, पत्थर के नहीं थे। नाशवान चीज़ है, बापू! क्या हो? समझ में आया?

यहाँ कहते हैं, अहो! जीव की रक्षा। भगवान आत्मा आनन्द और ज्ञान के स्वभाववाला जिसका जीवन, अस्ति-टिकना है, ऐसे ज्ञान और आनन्द में टिके, वह जीव की रक्षा है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? यह ऐसा मार्ग है। वीतराग परमात्मा... शुभभाव हुआ, वह भी जीव में शान्ति का मरण है, ऐसा कहते हैं। आहा..! जीव की रक्षा नहीं। आहा..हा..! भगवान आत्मा, पुण्य-पाप के विकल्प रहित आत्मा शुद्ध चैतन्य के आश्रय से निर्मल परिणति, अरागी-वीतरागी करे, वह जीव की अहिंसा और उसने जीव की रक्षा की। शान्तिभाई! ऐसा मार्ग है। अरे! दुनिया को कहाँ जाना है?

यह अहिंसा है। राग की अनुत्पत्ति और वीतराग स्वभाव की उत्पत्ति, यह जीव की रक्षा है। भगवान आत्मा वीतरागस्वरूप ही है। वीतराग—अकषायस्वभाव है। अकषाय-स्वभाव कहो या वीतरागस्वभाव कहो (दोनों एकार्थ हैं)। ऐसा जो आत्मस्वभाव, उसमें

से वीतरागता की उत्पत्ति होना, शान्ति की-सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की वीतरागी पर्याय की उत्पत्ति होना, वह जीव का स्वभाव, ऐसा रखा, उसका नाम जीव की रक्षा है। समझ में आया? लोग एकान्त... एकान्त करते हैं... भगवान! आहा..हा..! है, वह धर्म सत्य ही है, भाई! तुझे खबर नहीं। अन्य रवेड़े चढ़ गया है न? रवेड़े समझे न? दूसरे (रास्ते)। इसलिए ये बातें इसे एकान्त लगती है। बापू! वस्तु ही ऐसी है।

भगवान आत्मा शुद्धभाव, शुद्धभाव, शुद्धभाव ऐसा जो अन्दर स्वभाव है, उसमें से शुद्धभाव की परिणति, शक्ति में से व्यक्तता प्रगट हो, वह जीव की रक्षा है। वह भी शुद्ध चेतना परिणाम ही आया। आहा..हा..! समझ में आया? ....कौन करता है? ऐ..! यह वहाँ बहुत मन्दिर, मकान करता है। बाँकानेर में दरबार के साथ बैल की तरह जुड़ता था। यह और तुम दो व्यक्ति जाते थे न वहाँ? मकान बनाने। वह भी होशियार था और यह भी... क्या कहलाता है? इंजीनियर न? इंजीनियर... इंजीनियर। दो व्यक्ति। वह भी ऐसा होशियार था, हों! ऐसे हो और ऐसे हो। ....ऐसे दीनदयाला भिखारी जैसा है।

यहाँ तो कहते हैं, जीव की रक्षा कहने से ऐसा जानना कि जीव अपने और पर को विकारी कषाय के वश, पर्याय-निजपर्याय का विनाश होना, वह मरण है और उसका दुःख क्लेश परिणाम, वह न करना, ऐसा अपना स्वरूप। दुःख-क्लेश परिणाम, वह दुःख अर्थात् वह शुभ-अशुभभाव दोनों दुःख हैं और वे दोनों संक्लेश परिणाम ही हैं। संकल्प दुःख है न! आहा..हा..! समझ में आया? अरे! इसे बैठा तो सही। बात को अन्दर से बैठा कि यह आत्मा वह क्या है? उसका स्वभाव अन्दर महाप्रभु है। ऐसे अनन्त-अनन्त स्वभाव का धारक भगवान है। ऐसे स्वभाव की रक्षा रखना अर्थात् पर्याय में; वस्तु तो रक्षित है ही, परन्तु उसकी पर्याय में (रक्षा करना)। अवस्था में कहा न? राग-द्वेष से मरण न होना, और राग-द्वेष रहित होकर स्वभाव के आश्रय से शान्ति, आनन्द की अवस्था का होना, वह जीव की रक्षा है। दुःखरूप न होना, आनन्दरूप होना, वह जीव की रक्षा है। क्योंकि जीव का स्वभाव आनन्द है। आहा..हा..! रतिभाई! ऐसा मार्ग है।

जीव का स्वभाव जैसा है, वैसी परिणति में-पर्याय में उसे कार्य में / पर्याय में उसे कार्य। यह वस्तु ऐसी है। समझ में आया? आहा..हा..! हो, रागादि हो परन्तु वह वस्तु है। राग होता है भले शुभ, परन्तु वह शान्ति का तो मरण है। अपना अविकारी-अविकारी

स्वभाव... आहा..हा.. ! ज्ञानी को तो राग होने पर चोट लगती है। आता है न ? पंचाध्यायी में आता है। पंचाध्यायी में, चोट लगती है (ऐसा आता है)। धर्मी जीव को तो जहाँ राग होता है, वहाँ दु:ख (लगता है)। पंचाध्यायी में है। दु:ख... सन्धि का दृष्टान्त दिया है। सन्धिवा होता है न ? सांधे, सांधा (जोड़) दु:खे। पैर के जोड़, अंगुलियों के जोड़। आहा..हा.. ! जोड़ होते हैं न ? जड़ के जोड़। जहाँ जोड़ होते हैं.. हड्डियाँ रचित हैं न ? सांध है, वहाँ जोड़-जोड़ में दु:खे, ऐसा पाठ है। आहा..हा.. ! भान है, तथापि जहाँ... आहा..हा.. ! मचक खा जाता है जहाँ। राग और शुभ-अशुभभाव। सहमने की तरह दु:खी है। आहा..हा.. ! समझ में आया ?

ऐसे राग और दु:ख और परलक्ष्यी वृत्तियों का उत्पन्न होना, वह मरण है। उससे रक्षा करना, उसका नाम जीवन है। आहा..हा.. ! कैसी व्याख्या ? यह तुम्हारे पढ़ने में पुस्तकों में आता होगा ? विद्यालय में नहीं आता ? वाड़ा में भी नहीं चलता। आहा..हा.. ! यह तो केवलज्ञानी का विद्यालय है। सर्वज्ञ होने का विद्यालय है। समझ में आया ? क्योंकि इसका स्वभाव ही सर्वज्ञस्वभाव है। उस स्वभाव की प्रतीति, ज्ञान में रमणता से रखना, उसका नाम जीव की रक्षा और उसका नाम धर्म है। आहा..हा.. ! वे कहते हैं पर की रक्षा (करो), परजीव की दया पालो, वह तुम्हारा धर्म है। कौन पाले ? भगवान ! पर की पर्याय कौन करे ? बहुत अन्तर। इसलिए लोगों को ऐसा लगे, हों ! क्या कहलाता है ? अमिलनसार जैसा लगे, अमिलनसार। अमिलनसार हैं, ये सोनगढ़वाले अमिलनसार हैं। किसी के साथ मेल नहीं खाता। यह कहते हैं कितने ही, हों ! अरे ! भगवान ! आत्मा के स्वभाव के साथ दूसरे को मेल-विचार, यह होता ही नहीं। आहा..हा.. !

ऐसे परिणाम नहीं करना, ऐसे क्रोधादि के परिणाम और दु:ख के परिणाम नहीं करना। **ऐसा अपना स्वभाव ही धर्म है। इस प्रकार शुद्ध द्रव्यार्थिकरूप निश्चयनय से साधा हुआ धर्म एक ही प्रकार है।** चारों प्रकार एक ही प्रकार है। समझ में आया ? आहा..हा.. ! द्रव्यार्थिकनय कहा, शुद्धद्रव्यार्थिक। अकेला द्रव्य जो शुद्ध चैतन्य, उसकी दृष्टि करके जो परिणाम उत्पन्न हो। ये चारों ही प्रकार एक ही रूप हैं। उनमें कोई दूसरा प्रकार (नहीं है)। उस व्यवहार के अनेक रूप स्थापना था न ? इसलिए एक रूप। **साधा हुआ धर्म एक ही प्रकार है।** आहा..हा.. !

तथा, **व्यवहारनय पर्यायाश्रित है..** देखो! पहले में द्रव्यार्थिक लिया। वस्तु, वस्तु भगवान द्रव्य, एक समय की पर्याय द्रव्य के आश्रय से होती है। **व्यवहारनय पर्यायाश्रित है इसलिए भेदरूप है,..** भेद हुआ न? पर्याय एक अंश है, वह भेद है। त्रिकाली द्रव्य है, वह अभेद है। समझ में आया? **व्यवहारनय पर्यायाश्रित है...** अर्थात् क्या? आत्मा की एक समय की जो पर्याय है, वह व्यवहार हुआ। भेद पड़ा न? और त्रिकाली द्रव्य वस्तु ध्रुव है, वह द्रव्यार्थिक का विषय है। इसलिए जिस ज्ञान में द्रव्य प्रयोजन है, ध्येय का, और इसमें-व्यवहारनय में पर्याय का विषय है। पर्यायभेद का विषय है। आहा..हा..! **इसलिए भेदरूप है,..**

व्यवहारनय से विचार करें तो जीव के पर्यायरूप परिणाम अनेक प्रकार हैं.. आहा..हा..! दया, दान, व्रत, भक्ति, तप आदि के विकल्प अनेक प्रकार से पर्यायाश्रित हैं। **इसलिए धर्म का भी अनेक प्रकार से वर्णन किया है।** लो! व्यवहार से अनेक प्रकार के विकल्पों का वर्णन किया। दया और दान, व्रत और तप और भगवान की भक्ति, यात्रा ऐसे विकल्प की पर्याय अनेक प्रकार, उसे व्यवहारधर्मरूप से कहा है।

वहाँ (१) प्रयोजनवश एकदेश का सर्वदेश से कथन किया जाये सो व्यवहार है,.. व्यवहार की व्याख्या की है। एक अंश है, नि:शंक आदि एक गुण आया। जैसे अंजन चोर। भगवान की श्रद्धा करके यहाँ काटा न? क्या कहलाता है? छींका... छींका.. छींका। नि:शंक भगवान के नाम से... वह समकित नहीं था, हों! व्यवहार समकित भी नहीं था, परन्तु निश्चय सम्यक्त्व का आरोप व्यवहार में देकर और व्यवहार समकित का आरोप एक अंश का देकर सर्व समकित है, ऐसा कह दिया। वह एकदेश में सर्वदेश का व्यवहार किया। उसे इतना, इतना है ऐसा वहाँ जानना, वह निश्चय है। एकदेश का आरोप करना कि समकिती, वह व्यवहार है। समझ में आया? यह आगे आयेगा।

वहाँ (१) प्रयोजनवश एकदेश का सर्वदेश से कथन किया जाये सो व्यवहार है, (२) अन्य वस्तु में अन्य का आरोपण अन्य के निमित्त से और प्रयोजनवश किया जाये वह भी व्यवहार है,... इसका स्पष्टीकरण आगे आता है, हों! इसका स्पष्टीकरण किया है, ५५ पृष्ठ पर स्पष्टीकरण है। ५५ पृष्ठ पर, ५६ पृष्ठ पर है (नयी आवृत्ति में ४४ पृष्ठ देखो)। व्यवहार नय के दो अर्थ हैं। **प्रयोजन साधने को किसी वस्तु**

को घट कहना, वह तो प्रयोजनाश्रित है। घट कहना। फिर चाहे तो प्याला हो, लकड़ी हो, उसे घट कहना। **किसी अन्य वस्तु के निमित्त से घट में अवस्था हुई, उसको घटरूप कहना...** घड़े में लाख चौपड़ी हो, मिट्टी लगायी हो। उसे भी पूरा घट कहने में आता है। वह निमित्ताश्रित है। **इस प्रकार विवक्षित सर्व जीव-अजीव वस्तुओं पर लगाना।** समझ में आया?

अन्य वस्तु में अन्य का आरोपण अन्य के निमित्त से और प्रयोजनवश किया जाये, वह भी व्यवहार है,.. यहाँ तो धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है, उसे सिद्ध करने के लिये यह सब बात बताते हैं। समझ में आया? व्यवहार से कथन किया हो, उसे उस प्रकार से जानना। निश्चय से स्व-आश्रित किया हो, उसे उस प्रकार से जानना। दोनों का खिचड़ा इकट्ठा नहीं करना, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? यह कल कहा था, नहीं? ....सबेरे में। निश्चय और व्यवहारनय। निश्चय और व्यवहारनय के बिना कोई सूत्र का अर्थ नहीं हो सकता। शास्त्र में जितने शब्द और उनका अर्थ नय के बिना नहीं हो सकता, परन्तु यह किस नय का कथन है, इसके ज्ञान बिना एक ही हाँके कि यह भगवान ने कहा, इसलिए सच्चा। यह निश्चय है, ऐसा नहीं। समझ में आया?

इसलिए यहाँ कहते हैं... यह व्यवहार किसलिए बताते हैं? कि यह व्यवहार इस प्रकार से होता है, इसलिए सच्चा है, ऐसा नहीं। उसे ऐसा व्यवहाररूप से जानने में, कहने में आता है। देव, गुरु-धर्म की श्रद्धा का राग, उसे धर्म कहे, समकित कहे, वह नहीं, परन्तु निश्चय स्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन हुआ, उसके साथ ऐसा विकल्प है, उसे सम्यक्त्व कहते हैं, ऐसा व्यवहार से कहा। वह ऐसा है नहीं, ऐसा जानना। समझ में आया? आहा..! गजब बात यह।

वहाँ वस्तुस्वभाव कहने का तात्पर्य तो निर्विकार चेतना के शुद्धपरिणाम के साधकरूप, (३) मंदकषायरूप शुभ परिणाम है.. शुभ चाहिए। शुभपरिणाम। क्या कहा? जो पहले कहा था कि वस्तुस्वभाव (वह) धर्म। वह धर्म आत्मा के शुद्ध चैतन्य के ज्ञान-दर्शन-आनन्द के परिणाम, वह धर्म है। ऐसा निश्चय धर्म हो, वहाँ **निर्विकार चेतना के शुद्धपरिणाम..** बस। उसके साधनरूप वह व्यवहार कहा। साधक अर्थात् उस

प्रकार का वहाँ विकल्प उस जाति का होता है, उसे व्यवहार से साधक कहा है। ऐसा बताते हैं कि ऐसी चीज़ हो, वहाँ ऐसा होता है।

मंदकषायरूप शुभ परिणाम.. इस शुभभाव को भी धर्म व्यवहारनय से कहने में आता है। नहीं है, उसे कहना, उसका नाम व्यवहार है। आहा..हा..! ऐसी बात है। समझ में आया? एक ही लकड़ी से हाँके, ऐसा नहीं होता, कहते हैं। भाई! शुद्ध द्रव्य के आश्रय से जो दशा हो, वह सच्ची श्रद्धा और सच्चा ज्ञान और सच्चा भाव है, परन्तु उसके साथ-साथ में ऐसा भाव हो, उसे व्यवहारधर्म कहने में आता है। वह है, ऐसा कहने में आता है। उससे यह होता है और वह परमार्थ धर्म है, ऐसा व्यवहार नहीं कहता। समझ में आया? ऐसा निमित्तपना वहाँ होता है, उसका ज्ञान कराने के लिये उसे साधक और उसके साथ ऐसा भाव हो, उसका ज्ञान कराते हैं। अर्थ में बड़ा अन्तर है। विवाद उठाते हैं।

तथा जो बाह्यक्रियाएँ हैं, उन सभी को व्यवहारधर्म कहा जाता है। शुभभाव को व्यवहारधर्म कहने में आता है और देह की क्रिया हो, उसे व्यवहारधर्म का निमित्त है, इसलिए कहा जाता है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? निश्चय तो शुद्ध भगवान आत्मा परम पवित्र आनन्द का धाम, उसके आश्रय से उसमें दृष्टि देकर जो शुद्धपरिणमन होता है, वह शुद्धचेतनापरिणाम, वह एक ही धर्म है। धर्म तो वह है। उसके साथ राग की मन्दता का शुभभाव व्यवहार साधकरूप से कहने में आवे, उसे भी धर्म कहा जाता है और उसके देह की क्रिया ऐसी ही होती है। भगवान की भक्ति के समय शुभभाव है, उसे व्यवहारधर्म कहा जाता है। उस समय स्वाहा... ऐसे हाथ की क्रिया होती है। असद्भूतव्यवहारनय... असद्भूत उपचार है। वह तो अत्यन्त असद्भूत बाह्य। ....आहा..हा..! ....परन्तु वह निश्चय होता है, उसे ऐसा कहने में आता है। जहाँ निश्चय नहीं, उसे तो ऐसा व्यवहार शुभ और क्रिया को व्यवहार कहने में नहीं आता।

मुमुक्षु : व्यवहार को व्यवहार नहीं कहा जाता?

पूज्य गुरुदेवश्री : जगे बिना व्यवहार कहना किसे? समझ में आया? निश्चय कहा न? साधक है अर्थात्? निश्चय शुद्ध चेतनापरिणाम है, ऐसा कहा न? **शुद्धपरिणाम के साधकरूप,..** परिणाम है। ऐसा बताने में यह साधक है, यहाँ तो ऐसा कहते हैं।....देखो! यहाँ तो **निर्विकार चेतना के शुद्धपरिणाम..** है। है न? पण्डितजी! ....अष्टपाहुड़ रह

गया, वह रह गया, अभी तक। समझ में आया उसमें? वस्तुस्वभाव के साथ व्यवहार मिलाया। वस्तुस्वभाव का धर्म, उसके साथ व्यवहार की बात की। अब रत्नत्रय का धर्म, उसके साथ व्यवहार की बात करते हैं। समझ में आया?

रत्नत्रय का तात्पर्य स्वरूप के भेद दर्शन–ज्ञान–चारित्र.. अभेद सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र। ध्रुव चैतन्य भगवान को अवलम्बन कर हुआ दर्शन–ज्ञान–चारित्र, वह तो निश्चय–सच्चा धर्म, सच्चा मोक्ष का मार्ग है परन्तु साथ में **भेद दर्शन–ज्ञान–चारित्र..** भेदरूप दर्शन–ज्ञान, चारित्र विकल्प। देव–गुरु–शास्त्र की श्रद्धा, नवतत्त्व की श्रद्धा, जीवादि का व्यवहार ज्ञान और व्रतादि के विकल्प। **दर्शन–ज्ञान–चारित्र तथा उनके कारण बाह्य क्रियादिक हैं,..** तीन बातें ली हैं।

एक तो भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यद्रव्य, उसकी दृष्टि होकर सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र हुआ, वह सच्चा। उसके साथ व्यवहार का विकल्प उठे, वह व्यवहार। उसके साथ देह की क्रिया भी विनय की देव–गुरु के साथ वर्ते आदि, उस क्रिया को भी व्यवहार असद्भूतनय से धर्म कहने में आता है। कहो, सेठी! इसमें कितना लिखा है! ये पण्डित जयचन्दजी तुम्हारे गाँव के हैं। समझ में आया?

बाह्य क्रियादिक हैं, उन सभी को व्यवहार धर्म कहा जाता है। अब रहा अन्तिम।

(४) जीवों की दया कहने का तात्पर्य यह है कि क्रोधादि मंदकषाय होने से.. लो, मन्द के शुभभाव हैं, हों! **अपने या पर के मरण, दुःख, क्लेश आदि न करना;..** शुभभाव। वे न करना, वह निश्चय। **जीवों की दया कहने का तात्पर्य यह है कि क्रोधादि मंदकषाय होने से अपने या पर के मरण, दुःख, क्लेश आदि न करना; उसके साधक समस्त बाह्यक्रियादिक को धर्म कहा जाता है।** मन्द भी धर्म, ऐसा शुभराग भी धर्म और बाह्यक्रिया वह धर्म। **क्रोधादि मंदकषाय होने से..** शुद्धपरिणाम हैं, वह जीव की दया, वह निश्चय। यह व्यवहार दया। **क्रोधादि मंदकषाय होने से अपने या पर के मरण, दुःख, क्लेश आदि न करना;..** व्यवहार, हों! यह व्यवहार। **उसके साधक..** बाह्य क्रियादि। देह की क्रिया, वाणी की क्रिया। उसे भी व्यवहार से धर्म

कहने में आता है। काया, मन के परिणाम और शुद्धपरिणाम तीनों साथ में लिये हैं। समझ में आया?

इसप्रकार जिनमत में निश्चय–व्यवहारनय से साधा हुआ धर्म कहा है। लो! वीतरागमार्ग में तो निश्चय से तो स्व का साधन, वह धर्म और साथ में विकल्प, निमित्त और क्रिया (होवे), उसे भी व्यवहार से धर्म, इस प्रकार जिनमत में कहा गया है। समझ में आया?

वहाँ एकस्वरूप अनेकस्वरूप कहने में स्याद्वाद से विरोध नहीं आता,.. ऐसा कहते हैं। एक ओर कहना कि स्वरूप जो शुद्ध चैतन्य, उसकी एकरूप श्रद्धा, ज्ञान, एकरूप दशा, वह धर्म और फिर विकल्प और अनेक प्रकार के आवें, वह भी व्यवहारधर्म। यह क्या? अनेकपना है, वह व्यवहार है; एकपना, वह निश्चय है। ऐसा वहाँ होता है, इसलिए चैतन्य में निश्चय को विरोध नहीं आता। साथ में होता है, रह सकता है। मिथ्यात्व का भाव साथ में रहे और समकित का भाव साथ में रहे, ऐसा यह नहीं है। यह तो स्वभाव के ऐसे विकल्पों की मर्यादा वहाँ रह सकती है। तथापि निश्चय के स्वरूप का भान भी वहाँ रह सकता है, इससे स्याद्वाद में दोनों में विरोध नहीं आता। पहला व्यवहार से कहा, यह निश्चय से कहा, इसलिए इसमें विरोध है नहीं।

मुमुक्षु : दोनों में सच्चा धर्म कौन सा?

पूज्य गुरुदेवश्री : धर्म यह निश्चय एक ही सच्चा। यह बात तो पहले की है। सच्चा तो एक ही है परन्तु आरोपित निमित्त से कथन व्यवहार को बतलाने के लिये यह बात भी शास्त्र में आती है। इसलिए यह विरोध नहीं है। धर्म की विरुद्ध बात है, वह पर्याय, परन्तु उस पर्याय के काल में निश्चयधर्म नहीं हो सकता, ऐसा नहीं है। एक ओर अनेकपना एकसाथ रह सकता है, इसमें विरोध नहीं है, ऐसा सिद्ध करना है। समझ में आया? विरोध नहीं है। **कथञ्चित् विवक्षा से सर्व प्रमाणसिद्ध है।** लो! **ऐसे धर्म का मूल दर्शन कहा है,..** ऐसा निश्चय और व्यवहार, इन सब धर्म का मूल तो सम्यग्दर्शन है। इसकी विशेष व्याख्या आयेगी..... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन-३ गाथा-२ गुरुवार, ज्येष्ठ शुक्ल ७, दिनांक ११-०६-१९७०

अष्टपाहुड़, दर्शनपाहुड़ का अधिकार चलता है। दूसरी गाथा का भावार्थ चलता है, यहाँ से देखो, फिर से **ऐसे धर्म का मूल दर्शन कहा है,..** है ? ऊपर इस दूसरी गाथा के अर्थ का भावार्थ है।

इस गाथा में धर्म का मूल दर्शन, सम्यग्दर्शन अथवा दर्शन-ज्ञान-चारित्रसहित के आचरण की मूर्ति, वह दर्शन। **ऐसे धर्म का मूल दर्शन कहा है, इसलिए ऐसे धर्म की श्रद्धा, प्रतीति, रुचिसहित आचरण करना..** देखो! सर्वज्ञ ने कहा हुआ आत्मा आदि का धर्म। उसकी श्रद्धा, उसकी प्रतीति, उसकी रुचिसहित **आचरण करना..** लो, पहला तो यह आया।

मुमुक्षु : आचरण करना अर्थात्....

पूज्य गुरुदेवश्री : श्रद्धा / प्रतीति, रुचिसहित आचरण करना, ऐसा। समझ में आया ? वजन उन तीन का है। श्रद्धा, धर्म का मूल सम्यग्दर्शन अथवा दर्शन, उसकी श्रद्धा, उसकी प्रतीति, उसकी रुचिसहित आचरण करना। वही **दर्शन है,..** लो, इसका नाम दर्शन है। **यह धर्म की मूर्ति है,..** देखो! सम्यग्दर्शन, ज्ञानसहित का चारित्र, ऐसा जो आत्मा मूल, वह धर्म की मूर्ति है। अन्तर आत्मा का सम्यग्दर्शन अनुभव, उसका ज्ञान, उसका आचरण—ऐसा जो मुनि, उसे यहाँ दर्शन अर्थात् धर्म की मूर्ति कहकर उसे दर्शन कहा है। समझ में आया ?

इसी को मत(दर्शन) कहते हैं और यही धर्म का मूल है.. इसे मत भी कहा जाता है। जैन का मत अर्थात् वीतरागी सम्यग्दर्शन, वीतरागी सम्यग्ज्ञान, वीतरागी आचरण इस सहित की नग्न मुद्रा को जैन का मत कहने में आता है। वीतराग का मत अर्थात् जैनदर्शन। समझ में आया ? **तथा ऐसे धर्म की प्रथम श्रद्धा, प्रतीति, रुचि न हो..** देखो! ऐसा आत्मा भगवान ने कहा हुआ ऐसा आत्मा, उसकी रुचि, श्रद्धा और प्रतीति न हो **तो धर्म का आचरण भी नहीं होता।** बराबर है ? ऐसा जो धर्म, वीतराग जैनदर्शन; जैनदर्शन, वह अन्तर आत्मा की सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रवाली जैनमूर्ति, जैन

का स्वरूप-मुनि। वह जैनदर्शन, वह जैन का मत। ऐसे आत्मा की, ऐसे धर्म की जिसे अभी श्रद्धा, रुचि, प्रतीति नहीं तो उसके आचरण नहीं हो सकते। ऐसा है या नहीं ? सेठी ! कहाँ है ?....

ऐसे धर्म की प्रथम श्रद्धा, प्रतीति, रुचि न हो तो धर्म का आचरण भी नहीं होता। जैसे वृक्ष के मूल बिना.. वृक्ष के मूल बिना। **स्कंधादिक नहीं होते। इसप्रकार दर्शन को धर्म का मूल कहना युक्त है।** दर्शन को मूल का धर्म कहना बराबर है। जो मुनि है, जैन मुनि, जिसे आत्मा का अनुभव है। सम्यग्दर्शन है, ज्ञान, आचरण-चारित्र है, उसे अन्दर व्यवहार का विकल्प (होवे) और बाह्य में नग्नदशा। यह पूरा जैनदर्शन का निश्चय और व्यवहाररूप है। ऐसे स्वरूप की जिसे श्रद्धा, प्रतीति और रुचि नहीं है, उसे सच्चा आचरण नहीं हो सकता। **ऐसे दर्शन का सिद्धान्तों में जैसा वर्णन है, तदनुसार कुछ लिखते हैं।** शास्त्र में इस दर्शन का स्वरूप है, वह कुछ यहाँ कहने में आता है। आगे शास्त्रकार स्वयं कहेंगे। यहाँ कहते हैं, मैं थोड़ा-सा कहूँगा। लो !

वहाँ अंतरंग सम्यग्दर्शन तो जीव का भाव है,... यहाँ से शुरु किया। यह अन्तरंग सम्यग्दर्शन है अर्थात् शुद्ध आत्मा अनन्त गुण का पुंज ऐसा चेतन, उसके सन्मुख की श्रद्धा सम्यग्दर्शन, वह जीव का भाव है, जीव की पर्याय है। सम्यग्दर्शन, अन्तरंग सम्यग्दर्शन वह जीव की पर्याय है, जीव का भाव है। **वह निश्चय द्वारा उपाधिरहित...** देखो ! सम्यग्दर्शन सत्य निश्चयदृष्टि से देखो तो उसमें राग और विकल्प की उपाधि नहीं है। ऐसा निरुपाधि सम्यग्दर्शन का स्वरूप है। कहो, समझ में आया ?

निश्चय द्वारा उपाधिरहित शुद्ध जीव का साक्षात् अनुभव होना... लो, यह सम्यग्दर्शन, उसकी व्याख्या यह है। पहले उपाधि से रहित, यह नास्ति से कहा। विकल्प आदि, मन आदि, राग की उपाधि, वह सम्यग्दर्शन में है ही नहीं। तब है क्या ? शुद्ध जीव परम वीतरागस्वभाव की मूर्ति ऐसा जीव, उसका **साक्षात् अनुभव होना...** प्रत्यक्ष ज्ञान और मति-श्रुतज्ञान में वेदन आना। सम्यक् मति-श्रुतज्ञानसहित का अन्दर वेदन आना, अनुभव (होना)। **ऐसा एक प्रकार है।** लो ! दर्शन का यह एक प्रकार है, ऐसा कहते हैं। दर्शन के प्रकार में तो दर्शन, ज्ञान, चारित्रसहित आचरण सब लेना है, परन्तु यह एक दर्शन का पहला यह प्रकार है। बराबर है ? दर्शन का यह एक प्रकार है। एक ही प्रकार है, ऐसा

कहा है न? दर्शन है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रसहित के आचरणवाला जो आत्मा, उसे जैनदर्शन और जैनमत कहने में आता है।

मुमुक्षु : ......

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं। दर्शन का एक प्रकार यह, ऐसा। दर्शन का एक प्रकार यह। दर्शन अर्थात् कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र आचरणसहित जिनमुनि की वीतरागीदशा, वीतरागीदर्शन वह जैनदर्शन। उसमें उसका सम्यग्दर्शन एक प्रकार है, ऐसा कहते हैं। सम्यग्दर्शन का दूसरा प्रकार है, ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया? पहले तो कहा है न ऊपर? **ऐसे धर्म का मूल दर्शन कहा है, इसलिए ऐसे धर्म की श्रद्धा, प्रतीति, रुचिसहित आचरण करना ही दर्शन है,..** ऐसा आया था न? ऊपर आया था। **धर्म का मूल दर्शन कहा है,..** अब दर्शन अर्थात् अकेला समकित, ऐसा नहीं है। **ऐसे धर्म की श्रद्धा, प्रतीति, रुचिसहित आचरण करना ही दर्शन है,..** उस दर्शन के प्रकार में यह सम्यग्दर्शन एक प्रकार है।

मुमुक्षु : धर्म का मूल दर्शन लिया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह पूरा लिया है यहाँ। दर्शन, ज्ञान और चारित्र सिद्ध करना है न? वह सब धर्म पूरा। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रसहित है, वह पूरा धर्म का मूल है। वस्तु का स्वरूप का मूल है। यहाँ दर्शन ऐसा लिया है। उसमें सम्यग्दर्शन वह मूल है, वह वापस अलग बात है। समझ में आया? यहाँ तो दर्शन उसे ही कहा न? आगे कहेंगे और बहुत जगह (आता है)। सिद्धान्तरूप से सम्यग्दर्शन कहना है, परन्तु सम्यग्दर्शन की प्रतीति में ऐसा दर्शन होता है, ऐसा कहते हैं। भाई! सम्यग्दर्शन, वह धर्म का मूल, परन्तु वह सम्यग्दर्शन (वह) किस दर्शन की प्रतीति? ऐसे दर्शन की प्रतीति। सम्यग्दर्शन, ज्ञान-चारित्रसहित का जो जैनदर्शन है, उसकी प्रतीति, वह सम्यग्दर्शन है। उसका नाम दर्शन, ऐसा। ऐसे दर्शन की प्रतीति-श्रद्धा, वह एक सम्यग्दर्शन। यह दर्शन का एक प्रकार, ऐसा। समझ में आया? बोधपाहुड़ में आया है न?

अंतरंग सम्यग्दर्शन तो जीव का भाव है, वह निश्चय द्वारा उपाधिरहित शुद्ध जीव का साक्षात् अनुभव होना ऐसा एक प्रकार है। दर्शन में का एक प्रकार यह

है। समझ में आया? ज्ञान, चारित्रसहित का पूरा जैनदर्शन है न! पूरा जैन वीतरागस्वरूप ही आत्मा है और वीतरागस्वरूप जैनदर्शन अर्थात् वास्तविक वीतरागस्वरूप, उसकी प्रतीति, ज्ञान और आचरण (होना), उसका नाम जैनदर्शन अथवा जैनमत है। समझ में आया? उसकी प्रतीति अन्दर में आना, सम्यग्दर्शन, उसका नाम सम्यग्दर्शन निरुपाधि तत्त्व। अर्थात् क्या कहा?

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र पूरी वस्तु, वह दर्शन। अब पूरा दर्शन और उसकी जो प्रतीति। उसकी प्रतीति में स्वभाव की प्रतीति आयी और संवर, निर्जरा कैसे होते हैं, उसकी प्रतीति आयी। चारित्र कैसा (होता है), उसकी प्रतीति आयी और जैन का ज्ञान अर्थात् आत्मा का ज्ञान कैसा होता है, उसकी प्रतीति आयी। दर्शन की प्रतीति, ज्ञान की प्रतीति और उसका आचरण-चारित्र की प्रतीति। भाई! आहाहा! यहाँ लिया है न! परन्तु उस प्रतीति में किसके आश्रय से सब प्रतीति आयी? उसे यह जैनमत कहा है न? ऊपर देखो न! **इसी को मत(दर्शन) कहते हैं..** मत कहो, जैनदर्शन कहो, परन्तु वह जैनदर्शन अर्थात् यहाँ सम्यग्दर्शन, ऐसा जो दर्शन है, उसकी जो श्रद्धा, वह सम्यग्दर्शन है। उसका मूल है। समझ में आया? यह धर्म का मूल है। चारित्रधर्म - पूरा धर्म वहाँ खड़ा होता है न! मोक्षमार्ग चौथे में तो उपचार से है। उपचार से मोक्षमार्ग है, व्यवहार से। पूरा जैनदर्शन अर्थात् जैनपना प्रगट हुआ जहाँ, वीतराग ऐसा स्वभाव ही उसका है, ऐसी प्रतीति, ज्ञान, वीतरागता पर्याय में प्रगटी है, उसे जैनदर्शन कहने में आता है।

मुमुक्षु : उन्हीं की बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ तो मुनि की ही बात मुख्य है। मुनि को ही दर्शन कहा है। मुनि का दर्शन, वह जैनदर्शन। आहाहा! समझ में आया? यह तो अन्य दर्शनों में, जैन में सब भाग पड़े थे न? उन्हें भिन्न करने को यह बात की है। समझ में आया? वस्त्रसहित के वेषवाले वे श्रद्धा-ज्ञानवाले हैं और वे जैनदर्शन हैं, ऐसा नहीं है। ऐसा सिद्ध करने के लिए यह बात ली है। समझ में आया? वस्त्रवाले और वस्त्रसहित साधुपना माननेवाले और उनके लिंग आदि, वह जैनदर्शन है ही नहीं। जैनदर्शन वस्तु का स्वभाव है और उस स्वभाव का भान, ज्ञान और वर्तन-आचरण हुआ, उसे यहाँ दर्शन कहकर उसे जैन का मत कहने में आया है। उसका नाम जैनदर्शन। ऐई... देवानुप्रिया! देखो! यह पण्डितजी प्रश्न

करते हैं। यह चलता है दर्शन का अधिकार। समकित का मूल, फिर यह... कहाँ से निकाला ? ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : पूरा मत.. ऊपर आया न, इसलिए फिर से पढ़ा। यह कल पढ़ा गया था। **ऐसे धर्म का मूल दर्शन कहा है, इसलिए ऐसे धर्म की श्रद्धा, प्रतीति, रुचिसहित आचरण करना ही दर्शन है,..** है या नहीं ऊपर ? **यह धर्म की मूर्ति है, इसी को मत (दर्शन) कहते हैं और यही धर्म का मूल है..**

मुमुक्षु : मत इससे अलग।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह मत, यही गुण है, यही वस्तु है। गुणीपना यही मूल है, यही धर्म है, यही जैनदर्शन है, दर्शन का मूल यह है। पण्डितजी तर्क करे, उसमें थोड़ी गहराई होती है। कहो, समझ में आया ? दर्शन की व्याख्या आगे बहुत आयेगी। बोधपाहुड़ में दर्शन आता है या नहीं ? .... दर्शन का स्वरूप, लो, यह आया। बोधपाहुड़ की १४वीं गाथा। देखो !

दंसेइ मोक्खमग्गं सम्मत्तं संजमं सुधम्मं च।
णिग्गंथं णाणमयं जिणमग्गे दंसणं भणियं।।१४।।

अब तो इसमें सरल होता है।

मुमुक्षु : अलग प्रकार आते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं। अलग कुछ नहीं आते। यह सब अपेक्षाएँ। अन्दर आत्मा के आश्रय से सम्यग्दर्शन हो, उस सम्यग्दर्शन में ऐसी सब प्रतीति उसमें आ जाती है। सब—ज्ञान की, चारित्र की। ऐसा चारित्र होता है, ऐसा ज्ञान होता है, ऐसी वीतरागता होती है, यह सब सम्यग्दर्शन में प्रतीति (आ जाती है) और ये तीनों इकट्ठे होकर जैनदर्शन कहने में आता है।

मुमुक्षु : उसकी प्रतीति....

पूज्य गुरुदेवश्री : उसकी प्रतीति। जैनदर्शन का एक भाग हुआ। है न, देखो न ! यहाँ तो दर्शन की व्याख्या ही यह की है। देखो ! बोधपाहुड़ की १४वीं गाथा।

दंसेइ मोक्खमग्गं सम्मत्तं संजमं सुधम्मं च।
णिग्गंथं णाणमयं जिणमग्गे दंसणं भणियं।।१४।।

देखो! *अर्थ* – **जो मोक्षमार्ग को दिखाता है, वह 'दर्शन' है। मोक्षमार्ग कैसा है ? सम्यक्त्व अर्थात् तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षण सम्यक्त्वस्वरूप है, संयम अर्थात् चारित्र-पंच महाव्रत, पंच समिति, तीन गुप्ति – ऐसे तेरह प्रकार चारित्ररूप है, सुधर्म अर्थात् उत्तमक्षमादिक दशलक्षण धर्मरूप है, निर्ग्रन्थरूप है, बाह्य-अभ्यंतर परिग्रह रहित है, ज्ञानमयी है, जीव अजीवादि पदार्थों को जाननेवाला है। यहाँ 'निर्ग्रन्थ' और 'ज्ञानमयी' ये दो विशेषण दर्शन के भी होते हैं, क्योंकि दर्शन है, सो बाह्य तो इसकी मूर्ति निर्ग्रन्थ है और अंतरंग ज्ञानमयी है। इसप्रकार मुनि के रूप को जिनमार्ग में 'दर्शन' कहा है तथा इसप्रकार के रूप के श्रद्धानरूप सम्यक्त्व स्वरूप को 'दर्शन' कहते हैं।** देखो! ऐसे का श्रद्धान, उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। समझ में आया? यह तो बहुत समय से पढ़ा नहीं था न? चेतनजी!

यहाँ तो आत्मा... जैनदर्शन, वह सम्प्रदाय नहीं—ऐसा सिद्ध करना है। वह वस्तु का स्वरूप है। आत्मा अत्यन्त वीतरागस्वरूप है। उसका द्रव्य ही वीतरागस्वरूप है। अर्थात् जिनस्वरूप है। ऐसे वीतरागस्वरूप का सम्यग्दर्शन-प्रतीति, ऐसे वीतरागस्वरूप का ज्ञान, ऐसे वीतरागस्वरूप का आचरण-चारित्र वीतरागी, उसकी मूर्ति नग्न दिगम्बर बाहर में होती है। निमित्तपना उसे नग्न दिगम्बर होता है। उपादानपना ऐसा सम्यग्दर्शन-ज्ञान, उसे जैनदर्शन और जैनदर्शन की मूर्ति कहने में आता है। आहाहा! समझ में आया?

ऐसा आत्मा, उसका दर्शन-ज्ञान और चारित्र ऐसा जो मार्ग दिखाता है कि मार्ग ऐसा है। उस मार्ग की अन्तर में सम्यक् प्रतीति। उसमें आत्मा की प्रतीति आ गयी, उसका ज्ञान जैनदर्शन में कैसा होता है, उसकी प्रतीति आ गयी, जैनदर्शन का चारित्र जो दर्शन है, वह चारित्र, उसकी प्रतीति आ गयी और ऐसे जैनदर्शन के चारित्र की प्रतीति के काल में अट्ठाईस मूलगुण के विकल्प की ही मर्यादा होती है, उसकी प्रतीति आ गयी। आचरण की। संवर, निर्जरा की आ गयी, आस्रव की आ गयी। समझ में आया? और उसे निमित्तरूप से संयोगमात्र नग्न शरीर-अजीव का ही होता है, ऐसे अजीव की भी उसमें प्रतीति आ गयी।

यह तो आचार्य कुन्दकुन्दाचार्य अर्थात्! आहाहा! हैं? आहाहा! गजब इनकी शैली! इनकी जगत के समक्ष रखने की पद्धति अलौकिक है! वृन्दावनदास ने कहा—'न हुए, न होंगे, न होसि' यहाँ तक कह दिया। ऐसे, इस प्रकार के नहीं होंगे, ऐसा। आहाहा! समझ में आया?

अब पहली बात तो यह ली है कि **वहाँ..** जैनदर्शन के स्वरूप में। सम्यग्दर्शन, संयम, ज्ञान, चारित्र की मूर्ति और बाह्य में नग्नदशा, ऐसा जो जैनदर्शन अर्थात् दर्शन की मूर्ति, ऐसे दर्शन की व्याख्या अब मैं कुछ करूँगा। आचार्य तो करेंगे ही परन्तु मैं थोड़े-सी करूँगा। उसमें **अंतरंग सम्यग्दर्शन तो जीव का भाव है,..** वह भाव कैसा है? **निश्चय द्वारा उपाधिरहित..** जिसमें विकल्प, राग और मन का संग जिसमें नहीं है। ऐसा चेतनद्रव्य, उसकी अन्दर प्रतीति। समझ में आया? उस प्रतीति में जैनदर्शन की प्रतीति उसमें आ गयी। वीतरागभाव का सम्यक्, वीतराग का ज्ञान और वीतरागी चारित्र, यह उसमें आ गया। समझ में आया? अभी चर्चा आयी थी। ऐसा कहे, चारित्र होवे तो सम्यग्दर्शन होगा। ऐसा नहीं होता। सम्यग्दर्शन-ज्ञान न हो, उसे चारित्र कहेंगे, उसे नहीं होता।

मुमुक्षु : मुनि को नहीं होता।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं होता। स्वरूपाचरण ही होता है। तब कहे, चारित्र की तो बात भी नहीं परन्तु चारित्र के ज्ञान की बात भी नहीं, उसने लिखा है। ऐसा नहीं। ज्ञान होता है।....चारित्र की तो गन्ध भी वहाँ नहीं परन्तु चारित्र के ज्ञान की बात भी उसमें नहीं ली। ऐसा नहीं है। समझ में आया?

चारित्र अर्थात् संवर का स्वरूप। उसकी श्रद्धा सम्यग्दर्शन में आ जाती है। उसका ज्ञान उसमें आ जाता है। ज्ञान और श्रद्धा न आवे, ऐसा नहीं है। समझ में आया? यह है। भाई ने लिखा है, जैन-संदेश में है। बनावटी रह गया। कल बात की थी। वस्तुस्थिति जैसी है, वैसी उसे जानना चाहिए। घर का कुछ नहीं डालना चाहिए। समझ में आया? सिद्ध में चारित्र नहीं, ऐसा कहते हैं सिद्ध में चारित्र नहीं। स्वरूपाचरणचारित्र पूर्ण सिद्ध में है। उसके सामने चर्चा रतनचन्दजी ने (की है) रतनचन्दजी कहे, है और यह कहे, नहीं। यह .... विवाद। भाई! तत्त्व क्या है?

भगवान आत्मा, वस्तु ऐसा आत्मा, उसमें जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र लिये न? उन तीन की पर्याय का पिण्ड यहाँ अन्दर समकित, श्रद्धा की पर्याय का पिण्ड तो अन्दर श्रद्धा है। ज्ञानपर्याय का पिण्ड तो अन्दर ज्ञान है। उस चारित्र की पर्याय का पिण्ड तो अन्दर चारित्र गुण है। समझ में आया? जिसने सम्यग्दर्शन की प्रतीति आत्मा की करी, उसकी प्रतीति में जैनदर्शन का पूरा स्वरूप प्रतीति में आ जाता है। (भले) चारित्र नहीं होता परन्तु चारित्र कैसा होता है - ऐसी उसमें प्रतीति सम्यग्दर्शन में आ जाती है। समझ में आया?

मुमुक्षु : हमें सब आ जाये?

पूज्य गुरुदेवश्री : आचरण नहीं। आचरण तो चारित्र है। ज्ञान आ जाता है। चारित्र, जो सम्यक्‌चारित्र की यहाँ बात नहीं। चारित्र, सम्यग्दर्शन-ज्ञानसहित का चारित्र। वीतरागता दूसरी चीज़! ऐसा सब जैनदर्शन की प्रतीति में (आ जाता है)। इसलिए दर्शन की प्रतीति में यह आ जाता है। आहाहा! जैनदर्शन का मत ही यह है कि इन तीन पूर्वक पूरा। दर्शन-ज्ञान-चारित्र। क्योंकि वस्तु स्वयं ऐसी है। वस्तु स्वयं ऐसी है, वीतरागस्वरूपी। उसकी श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र जो गुण हैं, उनमें यह सब इसी प्रकार की चारित्र की पर्याय का पिण्ड है। इस प्रकार के सम्यग्ज्ञान की पर्याय का पिण्ड है। इस प्रकार की श्रद्धा-पर्याय का पिण्ड है। पूरे द्रव्य की इस प्रकार से जब प्रतीति हुई, तब उसमें जैनदर्शन पूरा कैसा है, यह सब प्रतीति उसमें आ जाती है। क्या कहा? भाई! समझ में आया? अन्दर दर्शन, ज्ञान, चारित्र में वह सब है। पूरा परमात्मा होने का जो उपाय है, मोक्षमार्ग '**मोक्खमग्गं**' आया न? '**मोक्खमग्गं**' यह मोक्षमार्ग जो है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्‌चारित्र, ऐसी अनन्त पर्यायें, अनन्त पर्यायें गुण में पड़ी हैं। उसके गुण की, द्रव्य की जहाँ प्रतीति हुई तो ये सब दर्शन-ज्ञान-चारित्र की जैनमार्ग की प्रतीति उसमें आ जाती है। उसका चारित्र नहीं आता। सम्यग्दर्शन में उसका चारित्र नहीं परन्तु चारित्र कैसा (होता है), उसकी प्रतीति आ जाती है। उसका ज्ञान जो पूर्ण ज्ञान है, वह इसमें नहीं आता, परन्तु उसका ज्ञान का जो ज्ञान, ऐसा ज्ञान ऐसा होता है, उसका ज्ञान इसमें आ जाता है। आहाहा! समझ में आया?

ऐसा एक प्रकार है। ऐसा आया न? इसलिए भाई ने प्रश्न उठाया न! सम्यग्दर्शन का दूसरा प्रकार है? ऐसा नहीं। दर्शन में का एक यह प्रकार। दर्शन है, वह तो दर्शन, ज्ञान,

चारित्र की पूरी मूर्ति है, उसे पूरा मोक्षमार्ग, दर्शन कहने में आता है। समझ में आया? गजब! यह अष्टपाहुड़ चला। पढ़े तो सही। ऐसा स्पष्टीकरण पहले (आया) नहीं था। यह मार्ग ऐसा है। बापू! मूल मार्ग ही वहाँ से शुरु होता है। पूरा। वस्तु का, हों! वस्तु का। वस्तु की पूर्ण प्रतीति, वस्तु का ज्ञान और वस्तु का आचरण–चारित्र, तीन होकर मोक्षमार्ग हैं। मोक्षमार्ग, वह दर्शन है। उसकी मूर्ति विकल्पवाली, व्यवहार नग्न, वह जैनदर्शन। व्यवहार में निश्चय का आरोप है उस पर। समझ में आया? जिसे ऐसी प्रतीति नहीं, और जिसे वस्त्रसहित के संयोगवाले अजीव का भाव और यहाँ उसे रखने का भाव (होवे), उसे तो जैनदर्शन की एक भी प्रतीति की खबर नहीं है, ऐसा कहते हैं।

जिसे ऐसा आत्मा एक समय में पूर्ण नाथ, पूर्ण अनन्त ऐसे तो गुण अभेद... अभेद... अभेद ऐसी चीज़। उसकी अन्तर में उसका आश्रय होकर प्रतीति हुई, उस प्रतीति में पूरा जैनदर्शन का क्या रूप है अर्थात् आत्मदर्शन का क्या रूप है अर्थात् मोक्षमार्ग का क्या स्वरूप है, वह प्रतीति उसमें आ जाती है। पूरा मोक्षमार्ग प्रगट नहीं होता परन्तु मोक्षमार्ग का क्या स्वरूप है, उसकी प्रतीति उसमें आ जाती है। समझ में आया? उस समय इन्होंने पाहुड़ शुरु किया है। कहो, समझ में आया?

निश्चय द्वारा उपाधिरहित.. वस्तु स्वयं ही द्रव्यस्वभाव उपाधि से रहित है और उस द्रव्यस्वभाव की जो पूर्ण प्रतीति–सम्यग्दर्शन, उसका ज्ञान और उसका चारित्र, वह भी उसके पूर्ण... पूर्ण ऐसा द्रव्य, उसकी श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र की योग्यता का वह ठिकाना, उसके अन्दर योग्यतावाला विकल्प, अट्ठाईस मूलगुण और बाह्य नग्नदशा, यह जैनदर्शन का अभिप्राय और दर्शन, निश्चय और व्यवहार यह है। पण्डितजी! आहाहा! सेठी!

ऐसा अनुभव... अब सम्यग्दर्शन की व्याख्या करते हैं। मूल तो सम्यग्दर्शन इसमें मूल है परन्तु दर्शन यह; उसका मूल सम्यग्दर्शन। यह दर्शन है धर्म का मूल। मूल वस्तु, परन्तु उसका मूल वापस सम्यग्दर्शन है। पहले सम्यग्दर्शन होता है न। यहाँ दर्शन तो पूरा तीन होकर है। पूरा जैनदर्शन। उसका मूल। मूल तो यह तीन होकर है, परन्तु उसमें पहले यह–सम्यग्दर्शन प्रगटता है।

ऐसा अनुभव अनादिकाल से मिथ्यादर्शन नामक कर्म के उदय से अन्यथा हो रहा है। यहाँ गड़बड़ करते हैं। भगवान आत्मा अपने स्वसन्मुख का सम्यक् और

अनुभव करता नहीं, तब उसकी दशा में मिथ्यात्वभाव होता है और उस मिथ्यात्वभाव में मिथ्यात्वकर्म का निमित्तपना होता है, इतना सिद्ध करना है। वह अनुभव अनादि काल से **मिथ्यादर्शन नामक कर्म के उदय से अन्यथा हो रहा है।** राग का अनुभव है। वीतरागस्वभाव का अनुभव नहीं। अनादि से राग का अनुभव है, वह मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञान है। समझ में आया?

मिथ्यादर्शन नामक कर्म का उदय तो निमित्त है। उसमें यहाँ परिणति अन्यथा हो गयी है। निमित्त के वश होकर। स्वभाव के वश होकर जो दर्शन-अनुभव होना चाहिए, स्वभाव के वश होकर अनुभव होना चाहिए, वह निमित्त के वश से अनुभव की विपरीत पर्याय—राग के अनुभव की हो गयी है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? आत्मा वीतरागस्वरूप है,....

इसमें पंखा-बंखा, हवा नहीं खायी जाती। पुस्तक से हवा नहीं खायी जाती। यह सुनने जाए, तब गर्मी का ख्याल भी नहीं रहता कि गर्मी है या नहीं? समझ में आया? पुस्तक से हवा नहीं खायी जाती। पुस्तक सुनने की चीज़ है। इससे हवा नहीं खायी जाती, असातना होती है। समझ में आया?

मुमुक्षु : प्रतिकूलता सुहाती नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रतिकूलता सुहाती नहीं तो मिथ्यात्व का सेवन क्यों (चलता है)? उसके सेवन में तो बड़ी प्रतिकूलता आयेगी.... भाई! विपरीत श्रद्धा के फल में तो अनन्त प्रतिकूलता (आयेगी), निगोद आदि की दशा (आयेगी)। आहाहा! थोड़ी प्रतिकूलता सुहाती नहीं और बहुत प्रतिकूलता के कारण का सेवन करता है, इसकी तुझे कुछ खबर नहीं पड़ती, ऐसा कहते हैं। आहाहा! अरे! कहाँ निगोद का अवतार और कहाँ रौरौव नरक का नारकी का अवतार। बापू! यह बात रूप से इसे नहीं लेना चाहिए, भावरूप से ख्याल में (लेना चाहिए)। ओहोहो! भगवान आत्मा कहाँ कहाँ था? अपने स्वरूप के अनुभव बिना, कहते हैं कि यह राग और आकुलता के अनुभव में था। मिथ्या अनुभव अर्थात् अज्ञान का अनुभव था। यह स्वयं ने किया है, कर्म का तो उसमें निमित्त है। समझ में आया?

निगोद के एक शरीर में अनन्त जीव। आस्थारूप से ख्याल में ले तो इसे ऐसा आ

जाए। यह बात नहीं, वस्तु का स्वरूप है। समझ में आया? एक शरीर में अनन्त जीव। श्वास एक, आयुष्य एक, आहार एक। कहते हैं कि आत्मा के अनुभव बिना मिथ्यात्वकर्म के निमित्त के वश हुआ अनुभव से विपरीत पर्याय को प्राप्त है। आहाहा! समझ में आया?

अनादिकाल से मिथ्यादर्शन नामक कर्म के उदय से अन्यथा हो रहा है। सादि मिथ्यादृष्टि के उस मिथ्यात्व की तीन प्रकृतियाँ सत्ता में होती हैं.. सादि मिथ्यादृष्टि के उस मिथ्यात्व की तीन प्रकृतियाँ सत्ता में होती हैं.. क्या कहते हैं? एक मिथ्यात्व प्रकृति के तीन टुकड़े हो जाते है। सादि मिथ्यादृष्टि को। आत्मा का ज्ञान और अनुभव होने के बाद वापस गिरकर राग का अनुभव करता है, तब उस मिथ्यात्व प्रकृति के उसे तीन टुकड़े होते हैं। समझ में आया? **सादि मिथ्यादृष्टि के उस मिथ्यात्व की तीन प्रकृतियाँ सत्ता में होती हैं..** अनादि (मिथ्यादृष्टि) को एक ही होती है। मिथ्यात्व। अनादि जीव जो है अनुभवरहित अनादि का, उसे तो अकेली मिथ्यात्व प्रकृति ही है और मिथ्यात्वभाव है परन्तु जो सादि मिथ्यादृष्टि है, अनुभव से गिर जाता है, पड़ गया है। आ गया है, वह पड़ गया है, उसे तीन प्रकृति सत्ता में होती है।

मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति.. तीन **उनकी सहकारिणी अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ के भेद से..** लो, ठीक। उनकी सहकारिणी। इन तीन प्रकृतियों के साथ में क्रोध, मान, माया (लोभ) अनन्तानुबन्धी के, हों! महासंसार का कारण। स्वरूप का अनाचरण, ऐसा अनन्तानुबन्धी का भाव, उसके भेद से **चार कषाय नामक प्रकृतियाँ हैं। इसप्रकार यह सात प्रकृतियाँ ही सम्यग्दर्शन का घात करनेवाली हैं;..** लो, यहाँ तो सात कहते हैं। अर्थात् ....कहे, देखो! सात में चार है, तीन है, वे दर्शन की प्रकृति है और चार हैं, वे चारित्र मोह की प्रकृति है। अनन्तानुबन्धी चार चारित्र मोह की प्रकृति है। उनका अभाव होने पर चारित्र का अंश न प्रगटे तो चारित्र की अनन्तानुबन्धी गयी किस प्रकार? स्वरूपाचरण चौथे गुणस्थान में प्रगट होता है। आहाहा! इसका बड़ा विवाद। नहीं, ऐसा माने वे आचार्य को मानते नहीं, वे मिथ्यादृष्टि हैं। यहाँ का लिखे, उसके सामने, हों! उसके सामने। हमारे सामने कुछ नहीं। यह तो मक्खनलालजी के सामने। मक्खनलालजी कहे, होता है। तब वे कहें, नहीं। शास्त्र का, आचार्य का कहीं आधार नहीं है। आचार्य कहते हैं, यह प्रकृति दर्शन की है। तुम कहते हो कि चारित्र की

है। ....तुम होते नहीं, जाओ। अरे! भगवान! इतना सब जोर करते हैं। बहुत जोरदार भ्रमणा, भाई!

भगवान आत्मा अनुभव में तो सम्यग्दर्शन की पर्याय और चारित्र में स्वरूप के आचरण की पर्याय और आनन्द की सब अनुभव में शामिल होती है। उस अनुभव से विरुद्ध में अनादि का मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी चार हैं। और गिरे हुए को तीन और चार सात होती है। समझ में आया?

इसलिए इन सातों का उपशम होने से पहले तो इस जीव के उपशमसम्यक्त्व होता है। वह जीव कहते हैं। इन सात का सादिवाले को उपशम होता है। अनादिवाले को मिथ्यात्व का उपशम (होता है)। **इस जीव के उपशमसम्यक्त्व होता है।** पहला उपशम होता है न अनादि का? पहला क्षायिक नहीं होता।

इन प्रकृतियों का उपशम होने का बाह्य कारण सामान्यतः.. अब बाह्य कारण रखा। अन्तरंग कारण तो पुरुषार्थ की जागृति है और निमित्तकारण कर्म। बाह्य कारण यह। निमित्तकारण कर्म का अभाव होना। पुरुषार्थ की जागृति, वह अन्दर शुद्ध उपादान का कारण। अन्तरंग कारण कर्म की प्रकृति का अभाव। बाह्य कारण ऐसे निमित्त। उनके कारण सम्यक्त्व होता है, ऐसा सिद्ध करना है।

मुमुक्षु : बाह्य कारण....

पूज्य गुरुदेवश्री : आता है न! अब आता है, आता है। देखो! चार बोल लेंगे। देखो!

बाह्य कारण सामान्यतः द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव हैं, उनमें प्रधान द्रव्य में तो साक्षात् तीर्थंकर के देखनादि.. द्रव्य में वापस मुख्य प्रधान यह। दूसरा द्रव्य तो निमित्त में हो... **द्रव्य में तो साक्षात् तीर्थंकर के देखना..** अन्तर में तो पुरुषार्थ स्वभावसन्मुख करे, तब अन्तर की प्रकृति का अभाव होता है और बाह्य निमित्त ऐसे होते हैं। उनके कारण होता है—ऐसा कहना, वह व्यवहार है। समझ में आया?

क्षेत्र में समवसरणादिक प्रधान हैं,.. समवसरण, गणधर आदि के स्थान, तीर्थंकरों के... स्थान, वे सब क्षेत्र निमित्त हैं। जीव स्वभाव-सन्मुख होकर (पुरुषार्थ) करे,

उस काल में यह क्षेत्र था, उससे यह कुछ अलग है, इसलिए उसे सम्यक्त्व का बाह्य कारण कहने में आता है। समझ में आया? **काल में अर्द्धपुद्गलपरावर्तन संसार भ्रमण..** लो, इसका भी उन्हें विवाद है। खबर है ? क्या ? इतने अधिक संसार को मानते नहीं। जब-जब पुरुषार्थ करे तब... पूरे पुद्गल में से आधा रहे तब... अनादि संसार में अर्द्धपुद्गल (परावर्तन) रहे, तब समकित हो सकता है, ऐसा नहीं। ....सम्यग्दर्शन पाने की योग्यता अर्द्धपुद्गल संसार भगवान ने यदि देखा हो, तब होता है। उसकी स्थिति इतनी हो तब। तब उसे इतना काल रहता है। होता है स्वभाव के आश्रय से, परन्तु उसे अर्द्धपुद्गल (परावर्तन) संसार (रहे), तब वह प्राप्त करता है। ऐसा वह निमित्त है। उसे निमित्त कहने में आता है। उपादान तो अपना है। बाह्य कारण कहा न ? उसे बाह्य कारण कहा। अर्द्धपुद्गलपरावर्तन हुआ, यह बाह्य कारण है। यह स्वभाव (सन्मुख का पुरुषार्थ) करे, तब बाह्य कारण को निमित्त कहने में आता है, ऐसा है। उसे कहने जाए कि यह अर्द्धपुद्गल है या नहीं ? स्वभावसन्मुख होवे और सम्यग्दर्शन प्राप्त करे तो उसे अर्द्धपुद्गल (परावर्तन) संसार बाकी रहा हो, ऐसा इसे ज्ञान में आवे। समझ में आया ? वहाँ इसे इतना रहा, ऐसा। इतना अर्थात् अब ऐसा नहीं, परन्तु अर्द्धपुद्गल इसे था इतना। अब तो एक या दो भव में ही इसका कल्याण हो जाएगा। समझ में आया ? और कोई गिरे तो अर्द्धपुद्गल (परावर्तन) रहे, यह ज्ञान कराया।

तथा भाव में अध:प्रवृत्त करण आदिक हैं। लो। यह सम्यग्दर्शन में निमित्त है, इतना। उपादानकारण तो अन्दर अपने आत्मस्वभाव सन्मुख के परिणाम हैं। आत्मस्वभाव सन्मुख परिणाम, वही यथार्थ कारण है। समझ में आया ? ऐसा होवे उसे परिणाम... पाने के समय तो उसका अभाव करना है।

(सम्यक्त्व के बाह्य कारण) विशेषरूप से तो अनेक हैं। उसे बहुत प्रकार से निमित्तपना आता है। सम्यग्दर्शन होने के काल में... **उनमें से कुछ के तो अरिहंत बिम्ब का देखना,..** लो, भगवान के बिम्ब को देखकर भी कोई समकित स्वसन्मुख होकर प्राप्त करे, तब अरिहन्त का बिम्ब था, उसे निमित्तरूप से कहा जाता है। **कुछ के जिनेन्द्र के कल्याणक आदि की महिमा देखना,..** भगवान का जन्म कल्याणक, दीक्षा कल्याणक, केवल (ज्ञान) कल्याणक (देखकर होता है)। **कुछ के जातिस्मरण,..** किसी को

जातिस्मरण निमित्त होता है। जातिस्मरण इसके लिए होता है, ऐसा नहीं। होता है, उसे किसी को जातिस्मरण हुआ उसमें से, ओहो! यह अविनाशी भगवान ऐसा का ऐसा है। जो वहाँ था, वह यहाँ हूँ। ऐसा स्मरण में स्वभावसन्मुख होकर अनुभव करे तो निमित्त कहलाये। समझ में आया?

कुछ के वेदना का अनुभव,.. नारकी आदि। बहुत वेदना होती है न? उस वेदना में लक्ष्य जाए... आहाहा! अरे! यह वेदना! वेदना... भाव हुआ, ऐसा विचार होने पर स्वभाव सन्मुख हो जाए तो वेदना को निमित्त कहा जाता है। वैसे तो वेदना अनन्त बार हुई, परन्तु फिर भी कुछ हुआ नहीं। रौ-रौ नरक में अनन्त बार गया। परन्तु जब इसका लक्ष्य वेदना पर था, ऐसा उसमें से स्वसन्मुख हुआ, इसलिए जातिस्मरण को बाह्य निमित्त और बाह्य कारण कहने में आता है।

कुछ के धर्म श्रवण.. लो, भगवान की वाणी कान में पड़ने पर कितनों को ऐसा होता है, ओहो! यह मार्ग! वीतराग... भाव। ऐसा भगवान ने जहाँ कहा... एकदम... धर्म श्रवण निमित्त कहने में आता है। वैसे तो अनन्त बार (अरिहन्त के पास गया परन्तु) होवे तो उन्हें निमित्त कहने में आता है। होवे तो उन्हें निमित्त कहना, ऐसा यहाँ से लेना।

मुमुक्षु : न होवे तो कार्य हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा कारण-फारण नहीं है। कारण तो यहाँ है। कारणपरमात्मा तो अन्दर है, उस कारण को पकड़ने से कार्य होता है, तब ऐसे बाह्य कारण तो, वहाँ से लक्ष्य छोड़ा था, उसे बाह्य कारण कहने में आता है।

मुमुक्षु : कार्य होवे तो कारण कहलाये न?

पूज्य गुरुदेवश्री : ....कारण किसका? किसे प्राप्त करे? कौन प्राप्त करे? कारण तो प्राप्त करे-अन्दर में जाए इतना। ध्रुव की दृष्टि करे, उसने कारण को प्राप्त किया, भगवान आत्मा को प्राप्त किया। इसलिए बाहर के निमित्त के ऊपर से लक्ष्य छूटा था, उसकी बात की जाती है। ....यहाँ से लक्ष्य छूटा था और यहाँ गया तब... अन्तर कारण कर्म का अभाव है। अन्तर में... मूल अभ्यन्तर कारण स्वसन्मुख के परिणाम हैं। ....अन्तर सन्मुख होवे और ....था। यह नरक! यह दुःख? क्या है यह? कहीं नजर डाली पड़े नहीं क्षेत्र में। जाना

कहाँ ? काल की नजर पड़े नहीं। इस वेदना का काल... पहले नरक में दस हजार वर्ष की (आयु में) नारकी के स्थान में (रहे)। यहाँ एक अठारह डिग्री की धूप आवे वहाँ घबराता है। यह तो पहले नरक के नारकी में अनन्त डिग्री का ताप है।

मुमुक्षु : ......

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सन्मुख होवे, तब उसे निमित्त कहने में आता है। वह कोई बाधक नहीं है। यह बात नहीं यहाँ। अनन्त डिग्री, हों! यहाँ तो अठारह हो और बीस हो, वहाँ चिल्लाने लगता है। लोग मर गये, इज्जत मर गयी, ढोर मर गये। क्या कहते हैं ?....

कहते हैं, उस ओर की... होवे, फिर अन्तर सन्मुख हुआ हो, इसलिए वह बाह्य कारण कहने में आता है। उससे अन्दर में जाता है, ऐसा नहीं है। पहले यह, तब उसको बाह्य कारण कहने में आवे। होवे, उसका अर्थ निमित्त कब कहलाये, ऐसा यहाँ कहना है। होवे, वह दूसरी चीज़ है परन्तु उसे बाह्य कारण कब कहने में आवे ? अन्तर सन्मुख के परिणाम होकर किया, तब उस समय का लक्ष्य उसमें से हुआ था... उपचार करना, वेदना का उपचार करना... यहाँ होवे तो। द्रव्य होवे तो दृष्टि हो। पण्डितजी!

तीन लोक का नाथ चैतन्य भगवान अनन्त-अनन्त स्वभाव की शक्ति का सागर एकरूप है। वह है, कथंचित् हो। अर्थात् उस पर दृष्टि जाए तो समकित हो... है न ? उसमें से पर्याय आती है न। होती है, निमित्त दूसरा होता है, कोई भी हो। अन्दर की दृष्टि करे, तब होता है। तब बाह्य कारण उस समय कौन था, उसका ज्ञान कराया है। ....किया हुआ कार्य द्रव्य के आश्रय से वह कृतज्ञपना है। वह कृतज्ञ है नहीं, ऐसे कारण अनन्त बार हुए। क्यों नहीं हुआ। उससे होता है ? वेदना अनन्त बार हुई, जातिस्मरण अनन्त बार हो गया है, भगवान को अनन्त बार देखा है।

मुमुक्षु : प्रेरक....

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रेरक अर्थात् क्या ? दोनों, यह तो निमित्त की दशा के प्रकार हैं। दूसरे के कार्य में सहायक हो, उसका कोई प्रकार है नहीं।

मुमुक्षु : सहकारी कहलाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : सहकारी शब्द नहीं कहा जाता। सहकारी अर्थात् साथ में होवे

तब। सह-कारी अर्थात् साथ में होता है। सहकार, सहकार कहा न? अनन्तानुबन्धी... सहकारी का अर्थ क्या हुआ? मिथ्यात्व की प्रकृति के साथ में अनन्तानुबन्धी... साथ में रहनेवाली, उस काल में साथ में हो, उसका नाम सहकारी। सह का अर्थ है, ऐसा ख्याल है।...वस्तु ऐसी है। उस वस्तु का पुकार उसके घर का है। बाहर का कहाँ है यह? समझ में आया?

....सुनते तो सब हैं, क्यों प्राप्त नहीं हुए? प्राप्त के काल में ऐसा श्रवण होकर विचार आया और उसमें अन्दर में गया, तब श्रवण का निमित्त कहने में आवे। **कुछ के देवों की ऋद्धि का देखना..** देव की ऋद्धि देखे, ठीक। देव की ऋद्धि... स्वयं नौवें ग्रैवेयक अनन्त बार जा आया है। देव की ऋद्धि। उससे कैसी ऋद्धि, समझे न? वे तो देवलोक में हैं, नीचे उतरते नहीं। उन्हें देख सकते नहीं। देव की ऋद्धि अर्थात् क्या? इसने ऐसे देखा अन्दर... आहाहा! अन्तर में उतरा तब, वह बाह्य कारण कहने में आता है।

इत्यादि बाह्य कारणों द्वारा मिथ्यात्वकर्म का उपशम होने से.. देखो! ऐसे निमित्त से अन्तर के उपादान मिथ्यात्व का उपशम होने से अन्तर में सम्यग्दर्शन के परिणाम शुद्ध उपादान से होने से, ऐसा लेना। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन-४ गाथा-२ शुक्रवार, ज्येष्ठ शुक्ल ८, दिनांक १२-०६-१९७०

दर्शन प्राभृत, यहाँ क्या कहा? मूल तो ऐसा कहते हैं कि '**दंसण मूलो धम्मो**' जिनवर ने शिष्यों को कहा। सम्यक्त्व मूल धर्म है और वह धर्म है, वह जिनवर का कहा हुआ है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रसहित वीतरागभाव और बाह्य नग्न मुद्रा, उसे यहाँ दर्शन-जिनदर्शन कहा है। ऐसे जैनदर्शन की प्रतीति सम्यग्दर्शन, वह मूल है। वह मूल है जैनधर्म का और उसका मूल सम्यग्दर्शन। उस सम्यग्दर्शन के बाह्य कारण थोड़े कहे।

उपशमसम्यक्त्व होता है। मिथ्यात्वकर्म का उपशम होने से उपशमसम्यक्त्व होता है। जानने की बात है। यह साधारण थोड़ी ले ली है। **तथा इन सात प्रकृतियों में छह का तो उपशम या क्षय हो और एक सम्यक्त्व प्रकृति का उदय हो, तब**

क्षयोपशम सम्यक्त्व होता है। समकित। जैनधर्म का मूल पहला मोक्षमार्ग, उसका मूल समकित है, वह सम्यक् आत्मा का अनुभव। भगवान सर्वज्ञ परमात्मा ने कहा ऐसा यह आत्मा, ऐसे आत्मा के सन्मुख होकर अन्तर के अनुभव में प्रतीति करना, उसका नाम धर्म की शुरुआत-सम्यग्दर्शन कहते हैं। कहो, सेठी! यह वीतराग का धर्म है।

तीर्थंकर परमेश्वर ने जो जैनधर्म कहा, वह तो चारित्र, दर्शन-ज्ञान-चारित्र का पूरा रूप, उसे जैनधर्म कहा है। उसका मूल वापस सम्यग्दर्शन। इन तीन में मूल सम्यग्दर्शन। उसकी प्रतीति होना। मुनि ऐसे, जैनधर्म ऐसा होता है। वीतराग परिणाम जिनके, वीतरागी परिणामी, ऐसा मुनियों का धर्म है, वह जैनधर्म, वह जैनदर्शन। उसकी अन्तर में प्रतीति होना। राग और पुण्य-पाप के विकल्प से रहित वह स्वरूप जिसका मोक्षमार्ग है, उसकी यहाँ अन्तर में प्रतीति शुद्ध चैतन्य के आश्रय से निरुपाधि-रागरहित सम्यग्दर्शन दशा होना, उसे प्रथम धर्म का मूल कहते हैं। कहो, समझ में आया? यहाँ से धर्म की शुरुआत होती है। देवचन्दजी! वीतराग का मार्ग यहाँ से शुरु होता है। यह सम्यग्दर्शन न हो तो उसे कुछ नहीं होता। उसका ज्ञान भी मिथ्या, उसके व्रत भी मिथ्या और (उसका) चारित्र भी मिथ्या।

कहते हैं कि प्रकृति सात है। उसकी एक प्रकृति का उदय रहे और छह जाए, उसे क्षयोपशम कहते हैं। उसमें अतिचार लगे, वह जानने की बात है। सात प्रकृति का सत्ता में से नाश होता है, उसे क्षायिक कहते हैं।

इसप्रकार उपशमादि होने पर जीव के परिणामभेद से तीन प्रकार होते हैं;.. उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक। **वे परिणाम अति सूक्ष्म हैं, केवलज्ञानगम्य हैं, इसलिए इन प्रकृतियों के द्रव्य पुद्गलपरमाणुओं के स्कंध हैं,..** वे अति सूक्ष्म हैं, यह जानने की बात ली है। **उनमें फल देने की शक्तिरूप अनुभाग है, वह अतिसूक्ष्म है, वह छद्मस्थ के ज्ञानगम्य नहीं है।** भगवान आत्मा के परिणाम सूक्ष्म केवलज्ञानगम्य है और अपने को अनुभूतिगम्य होते हैं।

मुमुक्षु : अनुभूतिगम्य होते हैं, वह अब आयेगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : अब आयेगा, परन्तु पहले से वापस (ऐसा मान ले कि) केवलीगम्य है, इसलिए नहीं जाने जा सकते, ऐसा नहीं है। **वे भी अतिसूक्ष्म हैं, वे भी**

केवलज्ञानगम्य हैं। तथापि जीव के कुछ परिणाम छद्मस्थ के ज्ञान में आने योग्य होते हैं, वे उसे पहिचानने के बाह्य-चिह्न हैं,.. अब बाह्य चिह्न की बात करेंगे।

मुमुक्षु : अब यहाँ जरा समझाने जैसा...

पूज्य गुरुदेवश्री : अब बाह्य चिह्न कहेंगे। **उनकी परीक्षा करके निश्चय करने का व्यवहार है...** क्या कहते हैं ? आत्मा पूर्ण ज्ञायक आनन्दस्वभाव का अन्तर अनुभव, प्रतीति अनुभव में होना, वह सम्यक्त्व है परन्तु वह सम्यग्दर्शन सीधे ज्ञात नहीं होता, कहते हैं। उसकी अनुभूति, जो आत्मा का ज्ञान होता है, वह अनुभूति उस सम्यग्दर्शन का बाह्य चिह्न है। सेठी !

मुमुक्षु : कठिन पड़े।

पूज्य गुरुदेवश्री : कठिन पड़े परन्तु... अन्तर स्वरूप भगवान आत्मा का भान होकर प्रतीति होना, वह प्रतीति होती है, उसे सम्यग्दर्शन (कहा जाता है) परन्तु सम्यग्दर्शन सीधे ज्ञात नहीं होता, कहते हैं। सूक्ष्म बहुत है। उसके साथ बाह्य लक्षण (होते हैं)। बाह्य क्यों ? - कि दर्शन है और ज्ञान जो है, (वह) दर्शन से भिन्न चीज़ है; इसलिए सम्यग्दर्शन को अनुभूति द्वारा जानना, वह व्यवहार और बाह्य चिह्न हुआ तो व्यवहार हुआ। कहते हैं न, देखो न !

वे उसे पहिचानने के बाह्य-चिह्न हैं, उनकी परीक्षा करके निश्चय करने का व्यवहार है - ऐसा न हो तो छद्मस्थ व्यवहारी जीव के सम्यक्त्व का निश्चय नहीं होगा और तब आस्तिक्य का अभाव सिद्ध होगा,.. आस्तिक्य / श्रद्धा का अभाव सिद्ध हो। **व्यवहार का लोप होगा - यह महान दोष आयेगा।**

मुमुक्षु : व्यवहार का लोप कहा।

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार, यह कौन सा व्यवहार ? यह व्यवहार अर्थात् आत्मा वस्तु है, उसका भान होकर प्रतीति हो, उस प्रतीति के साथ ज्ञान, अनुभूति हो। वेदन अनुभव आनन्द का (होता है)। उस अनुभूति द्वारा प्रतीति को जानने का नाम व्यवहार है।

मुमुक्षु : अनुभूति प्रत्यक्ष है।

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रत्यक्ष अनुभूति, वह ज्ञान की पर्याय है और दर्शन श्रद्धा की

पर्याय है। देवचन्दजी! सूक्ष्म बात है। इस श्रद्धा की पर्याय को ज्ञान की पर्याय द्वारा जानना, एक गुण की दशा को दूसरे गुण की (पर्याय द्वारा जानना), यहाँ तो इसका नाम व्यवहार है।

मुमुक्षु : राग नहीं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : राग-फाग की बात भी कहाँ है यहाँ ?

भगवान आत्मा सर्वज्ञ तीर्थंकरदेव केवलज्ञानी ने जैसा कहा, वैसा अनुभव में आना। समझ में आया ? अभी यह धर्म की पहली बात की बात। धर्म, यह धर्म। बाकी धर्म है नहीं। बाकी दया, दान, व्रत, पूजा, भक्ति, वह शुभराग और पुण्य है; वह धर्म नहीं।

मुमुक्षु : कोई नहीं करेगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : करे, न करे, वह तो आये बिना रहेंगे ही नहीं। जाएगा कहाँ ? वीतराग कहाँ हो गया है ? आते हैं, वह अलग बात है परन्तु वह धर्म का रूप नहीं है। भगवान ने तो धर्म उसे कहा है कि रागरहित वस्तु चैतन्यमूर्ति पूर्ण आनन्द और ज्ञान का पिण्ड परमात्मा को जो प्रगट दशा हुई, उन सब शक्तियों का पिण्ड आत्मा है। ऐसे आत्मा के सन्मुख होकर प्रतीति, भानसहित अनुभवसहित होना, उसे भगवान प्रथम सम्यग्दर्शन और धर्म कहते हैं। आहाहा!

कहते हैं **व्यवहार का लोप होगा – यह महान दोष आयेगा। इसलिए बाह्य चिह्नों को आगम,..** बाह्य चिह्न द्वारा **आगम, अनुमान तथा स्वानुभव से परीक्षा करके निश्चय करना चाहिए।** अब अपने यहाँ तो बाह्य से कुछ नहीं लेना। वह तो एक जानने की बात है। क्या (कहते हैं) ?

मुख्य चिह्न तो.. मुख्य चिह्न तो यह है कि **उपाधिरहित शुद्ध ज्ञान चेतनास्वरूप आत्मा की अनुभूति है।** लो, सूक्ष्म बात है, भाई! इसने कभी धर्म का स्वरूप क्या, उसे अनुभव नहीं किया, माना नहीं। ऐसा का ऐसा बाहर में रखड़पट्टी कर-करके मानों बाहर से धर्म होगा, ऐसा अनादि से माना है। समझ में आया ? यह यात्रा करना, भक्ति करना, पूजा करना, नाम स्मरण करना, वह सब शुभराग और पुण्य है। शान्तिभाई! उस पुण्य से रहित अन्दर पवित्रता का पिण्ड आत्मा है। उसमें अन्दर में ज्ञान में, अनुभव में उसकी प्रतीति

होना। कहते हैं कि प्रतीति और अनुभूति पर्याय, दो गुण की पर्याय भिन्न है; इसलिए प्रतीति का अनुभूति, वह बाह्य लक्षण कहने में आता है। अरे... ! राग नहीं, शरीर आदि बाह्य निमित्त भी नहीं। पण्डितजी ! आहाहा !

मुमुक्षु : आज व्यवहार का दिन आया अवश्य।

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार अर्थात् ? व्यवहार की व्याख्या क्या ? एक पर्याय द्वारा दूसरी पर्याय को जानना, इसका नाम व्यवहार है। यहाँ इतनी बात है। ऐ... वजुभाई ! व्यवहार का समय आया अवश्य, कहते हैं।

मुमुक्षु : व्यवहार का दिन आया।

पूज्य गुरुदेवश्री : समय कहो या दिन कहो। भगवान ! जानने के लिये।

वस्तु पूरी है, उसकी प्रतीति-सम्यग्दर्शन तो अतिसूक्ष्म परिणाम है और वह निर्विकल्प परिणाम है। वह स्वयं अपने को नहीं जानता, स्वयं पर को नहीं जानता; इसलिए यहाँ छद्मस्थ को उस सम्यग्दर्शन पहिचानने का चिह्न अनुभूति (कहा है)। आनन्द का अनुभव होना, ज्ञान का वेदन-चेतना ज्ञान की अनुभूति होना, वह सम्यग्दर्शन का बाह्य चिह्न कहने में आता है। क्योंकि जहाँ-जहाँ अनुभूति होती है, वहाँ-वहाँ सम्यग्दर्शन होता है। और जहाँ-जहाँ सम्यग्दर्शन होता है, वहाँ-वहाँ अनुभूति होती ही है। धीरुभाई ! बहुत (सूक्ष्म) परन्तु यह वीतराग का मार्ग पूरा ऐसा है कि लोगों ने सुना भी नहीं। ऐसा का ऐसा मानकर बैठ गये कि हम वीतरागमार्ग में हैं। बापू ! वीतराग अर्थात् ?

उसका सम्यग्दर्शन अर्थात् वह कोई अलौकिक चीज़ है। कहते हैं, अलौकिक ! जहाँ सम्यक्त्व हुआ, अनन्त जन्म-मरण गये। चौरासी के अवतार में नरक और निगोद के भव करके भटकता है। ये सेठ और राजा वे सब दुःखी.. दुःखी.. दुःखी.. प्राणी हैं बेचारे। क्योंकि आत्मा के आनन्द का जहाँ स्वाद नहीं, वहाँ दुःख के स्वाद में भटक रहे हैं। जादवजीभाई ! सत्य होगा यह ? ये सब पैसेवाले दुःखी होंगे ? ऐई... जयन्तीभाई !

मुमुक्षु : दुःखी तो....

पूज्य गुरुदेवश्री : कहाँ दुःखी ? यहाँ तो शरीर मोटा स्थूल (होवे), लड्डू खाये, मौसम्बी का रस पीवे, जामुन खाये, क्या कहलाता है। गुलाबजामुन। घी में तले हुए लड्डू।

धूल भी नहीं, सुन न! यह तो खाने की इच्छा है, वही राग और दु:ख है। बाहर की चीज़ कहाँ... वह तो जड़ है, मिट्टी-धूल है। समझ में आया? यह कहाँ खा सकता है? उस चीज़ को देखकर राग करता है, उस राग को खाये-अनुभव करे। आकुलता में है। देवचन्दजी! दुनिया कहती है कि ओहो! इसे पैसा मिला, हाम, दाम, ठाम। खाये, पीये और मजा करे। धूल में भी मजा नहीं है, सुन न! मूर्ख! सब मूर्खाई में-अज्ञान में पड़े हैं।

यहाँ तो परमात्मा ऐसा कहते हैं कि आत्मा का सुख, वह आत्मा के अन्दर में है। उस अन्तर की दृष्टि करके जो आनन्द का वेदन होता है, उसमें ज्ञान का वेदन (होता है), उसके द्वारा प्रतीति है, उसे पहिचानना, इसका नाम बाह्य चिह्न से समकित को पहिचानना, ऐसा कहने में आता है। बहुत सूक्ष्म! आहाहा! समझ में आया?

वे चिह्न कौन से हैं सो लिखते हैं.. वह चिह्न किसे कहना? चिह्न कहो, लक्षण कहो। बाह्य। **मुख्य चिह्न तो..** मुख्य चिह्न यह है **उपाधिरहित शुद्ध ज्ञान चेतनास्वरूप आत्मा की अनुभूति है।** आहाहा! सम्यग्दर्शन का बाह्य मुख्य चिह्न यह है कि उपाधिरहित -राग जो कुछ शुभराग (होता है), वह भी उपाधि है। दया, दान, व्रत, तप का विकल्प - राग उठता है, वह उपाधि है। आहाहा! उस उपाधिरहित। भगवान आत्मा वीतरागस्वरूप आत्मा है, उस वीतरागस्वरूप की वीतरागी पर्याय की प्रतीति होना कि यह पूरा आत्मा वीतराग है, ऐसी पर्याय में प्रतीति होना, उसका लक्षण अनुभूति-अनुभव है। समझ में आया?

कैसा अनुभव? कि उपाधिरहित। आत्मा के अनुभव में उपाधि नहीं होती। उपाधि-राग हो, वह आत्मा का अनुभव नहीं है। शुद्ध ज्ञानचेतना। वह तो आत्मा के ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा, चैतन्य का पिण्ड प्रभु आत्मा का अनुभव, ज्ञान चेतना एकाग्र **आत्मा की अनुभूति है। यद्यपि यह अनुभूति ज्ञान का विशेष है,..** देखो! यह अनुभूति ज्ञान का प्रकार है, यह समकित का प्रकार नहीं है। **तथापि वह सम्यक्त्व होने पर होती है, इसलिए उसे बाह्य चिह्न कहते हैं।** देखो! आहाहा! आत्मा महाप्रभु वस्तु है, अनन्त गुण का पिण्ड सिद्धस्वरूपी है। जो सिद्ध भगवान हुए, वे तो पर्याय में-अवस्था में प्रगट हुए। वस्तु तो सिद्ध स्वरूप ही प्रत्येक का भगवान आत्मा है। ऐसा जो आत्मा, उसका अन्तर अनुभव होना। शुद्ध चेतना के परिणाम। ज्ञानचेतना के (परिणाम होना)। राग और राग का

फल, वह कर्म और कर्मफलचेतना की उपाधि से रहित है। ऐसा कहा न ? शुभ विकल्प उठता है, वह तो कर्मचेतना है, राग का अनुभव है और उसमें हर्ष का वेदन होता है, वह कर्मफल—राग का कार्य, उसका फल वेदन है दुःख का।

धर्म-सम्यग्दर्शन, धर्म का मूल, जैनदर्शन का जो मत है, वह तीन—दर्शन, ज्ञान, चारित्र का एकरूप है। उसका मूल सम्यग्दर्शन है। उसका बाह्य चिह्न अनुभूति के परिणाम हैं। कहो, वजुभाई ! कितना याद रखना इसमें ? कहते हैं। घर के-संसार के व्यापार में सिर नहीं फोड़ते ? हजारों वस्तुओं का याद रखते हैं। मोहनभाई ! धन्धा-व्यापार करे वहाँ, दो-पाँच दस लाख का धन्धा हो तो वहाँ कितना याद रखे। उसमें क्या ? यह तो अपनी चीज़ है। इसे कहाँ याद रखनी है ? यह तो है, ऐसा इसने जान लिया। समझ में आया ? आहाहा !

कहते हैं, समकित के बाह्य चिह्न, यद्यपि वह अनुभूति ज्ञान की पर्याय है, **तथापि वह सम्यक्त्व होने पर होती है,..** स्वरूप की प्राप्ति की प्रतीति, वह अनुभूति होती है तो समकित होता है। **इसलिए उसे बाह्य चिह्न कहते हैं।** इसलिए उसे बाह्य चिह्न कहा जाता है। चेतनजी ! अरे ! निज घर क्या है ? यह तो पर के घर में स्वामी होकर घूमा करता है। शरीर, वाणी और धूल-धमाका यह सब मिट्टी-धूल है, यह तो मिट्टी है, यह तो धूल है और पैसा, स्त्री, पुत्र सब परवस्तुएँ, पर है। उनका स्वामी होकर अनादि से घूमता है। जो इसका नहीं है, उसका स्वामी होकर घूमता है। ऐसा तो मूढ़ है, कहते हैं। रामजीभाई ! सत्य होगा यह ?

मुमुक्षु : बराबर है, प्रभु ! मूढ़ होकर ही घूमता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अपनी चीज़ अन्दर क्या है ? भगवान परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव ने आत्मा कहा, वह आत्मा क्या चीज़ है ? वह आत्मा शरीर नहीं, वाणी नहीं, कर्म नहीं। वह आत्मा पुण्य और पाप के विकल्प उठें, वह आत्मा नहीं। वह तो विकार है, आस्रवतत्त्व है। आहाहा ! सूक्ष्म स्वरूप भगवान का सूक्ष्म समकित और उसका सूक्ष्म अनुभूति चिह्न। आहाहा ! कहते हैं, **इसलिए उसे बाह्य चिह्न कहते हैं।**

ज्ञान तो अपना अपने को स्वसंवेदनरूप है;.. लो। **उसका रागादि विकाररहित शुद्धज्ञानमात्र का अपने को आस्वाद होता है..** क्या कहते हैं ? देखो ! सरस बात है।

अनादि से राग और पुण्य-पाप के विकार, विभाव का वेदन है, वह अधर्म का वेदन है। ज्ञेय... यह पैसे मेरे और यह शरीर मेरा, मैं इनका और पुण्य-पाप के भाव हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग, वासना के भाव दुःखरूप हैं। इनके अतिरिक्त दया, दान, व्रत, तप, और पूजा - भक्ति का विकल्प शुभराग है, वह दुःखरूप है। अरे! गजब बात है। उनका इसे वेदन है। अनादि का अज्ञानी को वेदन अनुभव में यह है। दुःख का वेदन है, वह दुःखी है। राजा दुःखी, रंक दुःखी, करोड़पति सेठ कहलावे, अरबोंपति सब दुःख की ज्वाला में सुलग गये हैं बेचारे। आहाहा! धीरुभाई!

मुमुक्षु : मोटर में बैठकर...

पूज्य गुरुदेवश्री : मोटर अर्थात्? वह तो जड़ है, धूल है। उस मोटर में बैठकर, देखो न, अभी नहीं हुआ? लाख रुपये की मोटर थी। पत्नी, पति दो। २५ वर्ष की पत्नी और २८ वर्ष का पति और लड़का तीनों मर गये। समाचार पत्र में आया था। लड़के को लाये थे... चारों व्यक्ति मर गये, लो... फोटो लाये थे। वह लड़का सवेरे दो-तीन दिन पहले (लाया था)। बड़ा अमलदार। इंजीनियर था। बड़ा वेतन है, लाख रुपये की मोटर। स्त्री २५ वर्ष की, २८ वर्ष का वह और एक लड़का - तीनों, और चौथा बैठा हुआ। तुम्हारी मोटर वहाँ जाती है, मुझे वहाँ आना है। चौथा दूसरा बैठा था। कोई। सब चारों मर गये। उनका लड़का छोटा था, डेढ़ वर्ष का। वह और उड़कर पड़ा तो ऐसे आगे, वह बच गया। यह दशा जड़ की है। यह मोटर, लो। उत्कृष्ट कहते थे, लाख रुपये की। ऐई! इंजीनियर! यह कोई कहता था कि मोटर बड़ी थी। समाचार पत्र में आया था। बड़ा वेतनदार होगा। पन्द्रह हजार का। उसमें धूल में भी कुछ नहीं है। लाख का वेतन हो या... आहाहा!

मुमुक्षु : यह तो मर गया उसका दृष्टान्त दिया। परन्तु अभी...

पूज्य गुरुदेवश्री : हजारों दुःखी दिखते हैं। बिना मरे, जीवित।

मुमुक्षु : हजारों लहर करते हैं, उसका कुछ नहीं, वह मर गया उसका दृष्टान्त...

पूज्य गुरुदेवश्री : जीवित कहते हैं न। यह कहाँ मर गये की (बात) है। यह तो दृष्टान्त दिया परन्तु जीवित सब दुःखी हैं। यह तो यहाँ कहते हैं, यहाँ क्या कहते हैं? देखो न।

ज्ञानमात्र का अपने को आस्वाद होता है.. इसके बिना अनादि का स्वाद किसका है, ऐसा कहा यहाँ तो। जब धर्म प्राप्त करे, धर्मी जब धर्म को प्राप्त करे, तब अन्दर में आनन्द का, ज्ञान के आनन्द का अन्तर का स्वाद आता है, क्योंकि आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द है। भगवान केवली को अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीतरागता और अनन्त आनन्द प्रगट होता है। केवली को (प्रगट होता है), वह कहाँ से आता है? बाहर से कहीं से आता है? अन्तर में आनन्द प्रभु आत्मा नित्यानन्द भगवान है। खबर नहीं होती। यह तो रंक होकर-भिखारी होकर चौरासी के अवतार में फिरता है।

कहते हैं कि अनादि का इसे अपने ज्ञान का स्वाद नहीं है। अर्थात् धर्म नहीं है। इसे अनादि का राग और द्वेष, पुण्य और पाप, ये मेरे इसका इसे अज्ञान का-राग का स्वाद है। उस स्वाद से अज्ञानी मूढ़ होकर चार गति में घूमता है। कहो, वजुभाई! ये सब मोटरवाले सुखी नहीं होंगे? दो-दो करोड़, तीन-तीन करोड़ रुपयेवाले कहते हैं। अभी गये लगते हैं, बापू! ऐई! यह कहते हैं, इनका काका बैठा है। ...यह उसमें जरा चतुर कहलाये न! इनकी भी माने नहीं। कौन माने? अनुकूल होवे तो हाँ करे। नहीं तो काका विचार करूँगा। धूल में भी नहीं। वह तो पूर्व का कोई पुण्य का योग होवे तो पाँच-पचास लाख, करोड़-दो करोड़ का संयोग दिखता है। उसमें इसके पास कहाँ आये थे? जड़ तो जड़ में रहे थे। पैसा जड़ में रहा है या चैतन्य में आया है? है? आहाहा! कुछ भान ही नहीं होता। पैसा, मकान, इज्जत, वह तो जड़ में जड़रूप होकर रहे हैं या आत्मा के होकर रहे हैं? आत्मा के होकर रहे तो वह चीज़ अरूपी हो जाए। वह तो सब रूपी है। मोहनभाई!

यहाँ तो आत्मा के स्वाद की बात करते हुए उससे उल्टे की बात अभी पहले चलती है। उस अनुभूति में आत्मा का स्वाद आता है, उससे पहिचान करावे (कि) इस आत्मा को सम्यग्दर्शन हुआ। समझ में आया? अनादि का विभाव का दुःख तो वेदन करता है। वह जब ज्ञान है, वह अपने में अपने को स्वसंवेदनरूप है। ज्ञान, वह अपने को अपना स्व-संवेदन है। राग का, पुण्य का वेदन था, वह तो आकुलता का दुःखरूप था। उसमें तो मिथ्याश्रद्धा थी। मिथ्याश्रद्धा को पहिचानने का यह चिह्न है। दुःख का वेदन, सुख नहीं। और सम्यग्दर्शन का चिह्न आत्मा की अनुभूति में ज्ञान का-ज्ञान का जानना।

ज्ञानस्वरूप आत्मा है, उसे परिणाम में ज्ञान के वेदन में लाना। ज्ञान का स्वसंवेदन

(होना) । स्व अर्थात् स्वयं से सं-प्रत्यक्ष । राग और निमित्त और मन की अपेक्षा रखे बिना आत्मा, आत्मा के अन्तर सीधे ज्ञान को प्रत्यक्षरूप से वेदे, उसका नाम अनुभूति कहने में आता है । वह अनुभूति सम्यग्दर्शन का बाह्य चिह्न है । देवचन्दजी ! आहाहा ! यह तो बाहर की बड़ी धमाल करे और माने कि इसमें मुझे कुछ धर्म हुआ । धूल भी नहीं, सुन न ! एक क्षण का धर्म तो अनन्त जन्म-मरण के नाश का भनकार देता है । अल्प काल में अब हम छूटे । मुक्ति... मुक्ति... मुक्ति के भनकार बजते हैं । समझ में आया ? उसे सम्यग्दर्शन का धर्म कहने में आता है । आहाहा ! गजब बात, भाई !

यह ज्ञान है, वह अपने को अपने से स्वसंवेदनरूप है । ज्ञान, ज्ञान से वेदन में आये । आत्मा का ज्ञान आत्मा के सन्मुख होकर आत्मा से ज्ञात हो, आत्मा से वेदन में आये । जिसमें राग, व्यवहार विकल्प की भी अपेक्षा नहीं है । आहाहा ! समझ में आया ?

उसका रागादि विकाररहित शुद्धज्ञानमात्र का अपने को आस्वाद होता है कि – 'जो यह शुद्ध ज्ञान है सो मैं हूँ... देखो ! आहाहा ! यह ज्ञानस्वरूप चैतन्य आत्मा है, उसका चैतन्य का पर से विमुख होकर, स्व से सन्मुख होकर और ज्ञान का ज्ञान को (वेदन हो), स्वयं स्वयं से वेदन में आये, ऐसा जो ज्ञानभाव, वह मैं हूँ । वेदन में आया जानने का और आनन्द का, उससे (ख्याल आया कि) अरे ! यह मैं । यह आत्मा वह मैं । राग, पुण्य और विकल्प, वह मैं नहीं—ऐसा यहाँ नहीं कहा । यह मैं (ऐसा अस्ति से कहा है) । आहाहा ! कहो, समझ में आया ?

भगवान आत्मा वस्तु है न ? उसमें आया है, 'अमर भारती' में (आया है) । किसी ने उससे पूछा होगा कि तुम्हारी मुक्ति सरल बहुत, हों ! उससे पूछा क्योंकि मरुदेवी को हाथी के हौदे मुक्ति हुई । एलाची को नाचते हुए हुई । किसी साधु का आता है, शास्त्र में आता है । खिचड़ी खाते-खाते, चावल खाते-खाते केवलज्ञान हो गया । क्योंकि संवत्सरी का अपवास नहीं कर सकता था । फिर आहार ले आया । आहार लेकर आया और साधु उसमें थूका, वह खाते-खाते (केवलज्ञान हुआ ऐसा आता है) । अरे ! केवलज्ञान (हुआ), तब उसका जवाब ऐसा दिया कि यह तो अन्तर की बात है । उसे कुछ बाहर की जरूरत नहीं है । ठीक ! अभ्यन्तर की ऐसी बात है । ऐसा सब खिचड़ा...

मुमुक्षु : ..... अंगूठा रखा था ।

पूज्य गुरुदेवश्री : अंगूठा रखा था ? किसमें ? सब बातें। क्या हो ? मार्ग की खबर नहीं होती। वीतराग परमात्मा यह तो केवलज्ञानी, जिन्होंने एक समय में तीन काल-तीन लोक जाने हैं। जिन्हें सौ-सौ इन्द्र वन्दन करते हैं, गणधर जिनके शिष्य हैं ! आहाहा ! उनका कहा हुआ मार्ग, बापू ! कोई अपूर्व है। लोगों को सुनने मिलता नहीं और मान लेते हैं बाहर से। ठगा जाएँगे, जिन्दगी चली जाएगी। आहाहा ! भव चला जाएगा। अनन्त गये उनमें का यह होगा। यदि इसका यथार्थ ज्ञान नहीं करे कि यह वीतरागमार्ग कोई दूसरी चीज़ है। समझ में आया ?

कहते हैं, **रागादि विकाररहित शुद्धज्ञानमात्र का अपने को आस्वाद होता है कि – 'जो यह शुद्ध ज्ञान है सो मैं हूँ और ज्ञान में जो रागादि विकार हैं, वे कर्म के निमित्त से उत्पन्न होते हैं, वह मेरा स्वरूप नहीं है'..** लो। दो बातें की हैं। पहला यहाँ अस्ति से लिया। ज्ञानस्वरूप जाननहार का प्रवाह, चैतन्य प्रवाह अन्दर नित्य बहता है। उसका ज्ञान होने पर (भान हुआ) कि यह आत्मा। और पुण्य का विकल्प-शुभभाव उठे, वह निमित्त की उपाधि है। वह मेरा स्वरूप नहीं है। ऐसे राग और आत्मा के बीच भेदज्ञान होकर आत्मा का भान और स्वाद आना, उसे यहाँ अनुभूति और अनुभव कहा जाता है। वह अनुभूति सम्यग्दर्शन के साथ होती है। क्या हो ? अरे ! जगत। काल चला जाता है। देखो।

इस प्रकार भेदज्ञान से.. इस प्रकार भेदज्ञान करके। ज्ञान की बात लेनी है न ! बाह्य चिह्न। **ज्ञानमात्र के आस्वादन को ज्ञान की अनूभूति कहते हैं,..** जो राग विकल्प है, चाहे तो दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा हो परन्तु वह राग है, वह कर्म के निमित्त की उपाधि है; स्वभाव नहीं। वह स्वभाव नहीं, वह मेरी जाति में भरी हुई चीज़ नहीं। निमित्त की उपाधि से उत्पन्न हुआ भाव, वह भिन्न है और मेरे स्वभाव से वेदन का भाव हुआ, वह मेरा स्वभाव है। आहाहा ! समझ में आया ? ऐसा भेदज्ञान करके **ज्ञानमात्र के आस्वादन को ज्ञान की अनूभूति कहते हैं,..** इस जानने के स्वभाव का अनुभव (होना), उसे ज्ञान का अनुभव-आत्मा का अनुभव (कहते हैं)। **वही आत्मा की अनुभूति है तथा वही शुद्धनय का विषय है।** लो, आहाहा ! गजब बात !

बाहर के अशुभपरिणाम घटकर शुभ में आने का भी इसे समय नहीं है। यह तो शुभ

हो तो भी उपाधि है। समझ में आया ? करना, ऐसा और इसमें लिखा है। पहले ऐसा का ऐसा शुद्ध नहीं हो सकता, इसलिए अशुभ को टालने का उपाय शुभ है और मन को शुभ संकल्प से रोकना, इसलिए अशुभ टलता है। कौन टले ? परन्तु टले भी क्या ? टले किस प्रकार ? शुभ और अशुभ दोनों जहाँ पर हैं, उसमें अशुभ टले और शुभ रहे, यह वस्तु कहाँ है ? समझ में आया ?

यह भान आठ वर्ष की बालिका को भी होता है और मेंढ़क को होता है। भगवान के समवसरण में तो मेंढ़क भी सुनने जाते थे। भान न हो तो बड़े राजा और सेठिया को न हो। भान होवे तो मेंढ़क को होवे, ऐसा कहते हैं। आत्मा है न, वह कहाँ पर की अपेक्षा रखी है कि ऐसा साधन हो और इतना हो तो होगा। ऐसा है ? जहाँ आत्मा हो, वहाँ होता है। आहाहा ! समझ में आया ? इसकी पद्धति की पद्धति तो पहले पकड़े कि पद्धति तो यह है। इस मार्ग के अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग नहीं है। आहाहा !

कहते हैं, भेदज्ञान करके। अन्तर में ज्ञानमात्र अर्थात् राग बिल्कुल नहीं, ऐसा ज्ञान चैतन्य का स्वभाव, उसकी अनुभूति (होवे) **वही आत्मा की अनुभूति है..** वह ज्ञान की अनुभूति, वही आत्मा की अनुभूति है, ऐसा। ज्ञान का अनुभव, वही आत्मा का अनुभव हुआ। दूसरी कुछ चीज़ नहीं। ज्ञानगुण से बात की है। समझ में आया ? **तथा वही शुद्धनय का विषय है।** वह शुद्धनय का विषय द्रव्यस्वभाव, उसमें से अभेद परिणति हो, वह शुद्धनय का विषय कहने में आता है। समझ में आया ? ऐसा धर्म वीतराग का। कहो, धीरुभाई ! तुम्हारे पिता तब यात्रा करके मौके से आये थे और यहाँ कहा कि वह पुण्य है, धर्म नहीं। हाय.. हाय..! शोर मचा गये। (संवत्) २००१ का वर्ष। भाई ! मार्ग ऐसा है, भाई ! इसे मूल धर्म की खबर नहीं। मूल धर्म वीतराग है और वीतराग धर्म में राग की कोई अपेक्षा नहीं आती है। नहीं तो राग की अपेक्षा आवे तो वह वीतराग धर्म नहीं है। यह तो वीतराग धर्म है। आहाहा ! समझ में आया ?

ऐसी अनुभूति से शुद्धनय के द्वारा ऐसा भी श्रद्धान होता है.. देखो ! इस ज्ञान के अनुभव के अनुभूति से शुद्धनय द्वारा... इस शुद्धनय द्वारा, ऐसा भी श्रद्धान होता है। **जो सर्व कर्मजनित रागादिकभाव से रहित..** सर्व कर्म, राग और कर्म का फल भावकर्म। कर्म जड़, उससे रहित; जड़कर्म के संयोग से प्राप्त चीज़ें – पैसा आदि, उनसे रहित और

संयोगी कर्म के लक्ष्य से हुआ विकार, पहला बीच में रहा कर्म, इस ओर आये रागादि तथा इस ओर बाहर फल आया, तीनों से रहित हूँ। आहाहा! समझ में आया?

सर्व कर्मजनित रागादिकभाव से रहित अनंत चतुष्टय मेरा स्वरूप है,.. लो, अरूपी है और रूप कहाँ से आया? वस्तु है या अवस्तु? वस्तु है। आत्मा पदार्थ है, तत्त्व है। यह जैसे जड़ है, वह वस्तु है। आया था न? अवस्तु आया था न? अरूपी है न, इसलिए लोगों को अवस्तु हो जाए। अरूपी है न। अरूपी भी पदार्थ है या नहीं? यह जड़ तो स्थूल है। समझ में आया? वह तो महासूक्ष्म। उसे भी जाननेवाला और उसे स्पर्श किये बिना (जाननेवाला), ऐसा वह चैतन्य पदार्थ जड़ को स्पर्श किये बिना जड़ को जाने, चैतन्य को स्पर्श कर चैतन्य को जाने। आहाहा! अड़कर, समझते हो? छूकर, स्पर्श कर। तुम्हारे क्या कहते हैं? छूकर।

भगवान आत्मा ज्ञान का स्वभाव, वह ज्ञान में रहकर ज्ञान को छूकर-स्पर्श कर जाने और ज्ञान, राग को और शरीर को स्पर्श किये बिना जाने, ऐसा वह तत्त्व महान चैतन्य पदार्थ है। वह मैं और रागादि भाव से भिन्न। **अनंत चतुष्टय मेरा स्वरूप है,..** ओहोहो! यह ज्ञान का वेदन आया, उसमें से जाना यह तो ज्ञान बेहद है, यह ज्ञानस्वभाव तो बेहद है। ऐसे दर्शन बेहद है, आनन्द बेहद है और वीर्य भी बेहद है। आहाहा! गजब भाई! ऐसे शरीर में छुपा हुआ, ढँक गया हुआ दिखता है। ढँका हुआ नहीं, वह तो खुला है। समझ में आया?

यह मैं, इस ज्ञान के अनुभव द्वारा जानने में आया कि रागादिरहित और ज्ञान की अनुभूति में ज्ञानसहित। यह ज्ञान प्रगट हुआ, वह पूरा ज्ञान, अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द, अनन्त वीर्य और अनन्त दर्शन, वह मेरा रूप है। कहो, समझ में आया? रागादि, पुण्य, दया, दान तो नहीं परन्तु एक समय की पर्याय मेरा पूर्णरूप नहीं। समझ में आया? पर्याय में ऐसा भरोसा आया कि मैं तो अनन्त चतुष्टयरूप हूँ। समझ में आया? पर्याय अर्थात् अनुभूति के ज्ञान की पर्याय में ऐसा आया कि यह वस्तु पूरी अनन्त चैतन्य ज्ञान, दर्शन का रूप पूर्ण अनन्त चतुष्टयरूप है। आहाहा! गजब।

अन्य सब भाव संयोगजनित हैं.. धर्मी को सम्यग्दर्शन होने पर अनुभूति से ऐसा जानने में आता है कि श्रद्धा में मेरा आत्मा पूर्ण स्वरूप है और यह सब मुझसे पर है, ये संयोगजनित भाव हैं। शुभ-अशुभ, दया, दान, व्रत, भक्ति के विकल्प उठते हैं, वे भी

संयोगजनित हैं, स्वभाव से उत्पन्न नहीं हुए हैं। आहाहा! कर्मजनित रागादि, लो! है न? अन्य सब भाव संयोगजनित हैं। यह कर्म से उत्पन्न हुए, निमित्त से उत्पन्न हुए शरीर, वाणी, कर्म, धूल, स्त्री, पुत्र, सब कर्म के निमित्त से हुई संयोगी चीज़ है और अन्दर में राग और द्वेष, पुण्य-पाप के भाव, वे संयोग के निमित्त से हुआ संयोगी भाव है। समझ में आया? वे मेरे स्वरूप में हैं नहीं। गजब बात, भाई!

स्त्री, पुत्र, शरीर भिन्न है, यह जँचता नहीं, उससे कहते हैं कि राग मुझसे भिन्न। उस राग से भिन्न और अनन्त चतुष्टयरूप, ऐसा जो ज्ञान में जानकर प्रतीति होना, उसका नाम अनुभूतिसहित का सम्यग्दर्शन कहलाता है। आहाहा! इसके बिना इसे ज्ञान सच्चा नहीं होता, इसे चारित्र-फारित्र, व्रत नहीं होते। अंकरहित शून्य होते हैं। आहाहा! **अन्य सब भाव संयोगजनित हैं..**

ऐसी आत्मा की अनुभूति, सो सम्यक्त्व का मुख्य चिह्न है। लो, समझ में आया? यहाँ समकित का लक्षण-चिह्न वर्णन करना है न! इस आत्मा का जहाँ अन्तरज्ञान का जानना, अनुभव करना, वेदन करना-अनुभूति (होना), वह समकित का बाह्य मुख्य चिह्न है। पहले बाह्य लिया था। (अब कहा), मुख्य चिह्न तो यह है। ऊपर लिया था कि बाह्य चिह्न। बाह्य चिह्न में भी यह मुख्य चिह्न है, ऐसा। प्रशम, संवेग आदि बहुत लक्षण आयेंगे। परन्तु यह उसका मुख्य चिह्न है। आहाहा!

यह मिथ्यात्व अनन्तानुबंधी के अभाव से सम्यक्त्व होता है, उसका चिह्न है;.. ज्ञान की अनुभूति, यह समकित का बाह्य चिह्न अर्थात् मुख्य चिह्न और बाह्य चिह्न है। बाह्य अर्थात् दर्शन की पर्याय से दूसरी, इसलिए बाह्य और सब लक्षणों में अनुभूति, वह मुख्य चिह्न है, क्योंकि उस ज्ञान के वेदन से, 'आत्मा पूरा है' ऐसा जानने में आता है। लिखा है बहुत। ऐई! सेठी! यह तुम्हारे गाँव में से लिखा है। पण्डित जयचन्दजी ने लिखा है। यह सब अर्थ गृहस्थ ने किये हैं। आत्मा है न! वहाँ गृहस्थ कहाँ आत्मा था। गृहस्थपना, वह आत्मा कहाँ? और आत्मा वह गृहस्थपने में कहाँ है? आत्मा तो आत्मा में है। गृहस्थपने का भाव और गृहस्थपने से रहित आत्मा है। आहाहा!

यह मिथ्यात्व अनन्तानुबंधी के अभाव.. विपरीत श्रद्धा और अनन्तानुबन्धी की अस्थिरता का अभाव, समकित हो वहाँ कठिन हो। **सम्यक्त्व होता है, उसका चिह्न**

है;.. लो। उस समकित का यह चिह्न है। **उस चिह्न को ही सम्यक्त्व कहना, सो व्यवहार है।** देखो! यह व्यवहार लेना सर्वत्र। यहाँ से शुरु करके (सर्वत्र लेना)। आहाहा! चिह्न को समकित कहना, वह व्यवहार। अनुभूति को समकित कहना, वह व्यवहार। क्योंकि समकित दूसरी पर्याय है और अनुभूति दूसरी पर्याय है। उसका उसे कहना, वह निश्चय और दूसरे के द्वारा उसे पहिचानना, वह व्यवहार है। अनुभूति, अनुभूति से निश्चय, परन्तु अनुभूति से समकित को पहिचानना, वह व्यवहार है। आहाहा! समझ में आया? लो, अब ऐसा व्यवहार। वे कहे, हमें व्यवहार करना या नहीं? दवा-बवा रोज...

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : अनुभूति के साथ समकित होता है और समकित के साथ ही अनुभूति होती है, ऐसा कहते हैं। आगे-पीछे होते नहीं, इसलिए तो चिह्न कहते हैं।

मुमुक्षु : प्रतीति, श्रद्धा....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो इस श्रद्धा का नाम है।

यहाँ तो चिह्न को समकित कहना, वह व्यवहार है। लो, ठीक! **उसकी परीक्षा सर्वज्ञ के आगम,..** ऊपर तीन बोल लिखे थे न? **आगम, अनुमान तथा स्वानुभव से परीक्षा करके निश्चय करना चाहिए।** ऊपर था। पहले पैराग्राफ में अन्तिम लाइन। उसमें अन्तिम था। फिर यह चिह्न कौन, ऐसा लिखा था।

अब कहते हैं, सर्वज्ञ के आगम। भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव ने कहे हुए शास्त्र, उनके आगम से परीक्षा करके निर्णय करना। अनुमान करके निर्णय करना और स्वानुभव प्रत्यक्ष करके। ठीक। ज्ञान का वेदन प्रत्यक्ष होता है, उसके द्वारा प्रमाण करना। ऐसे प्रमाण से उसका निर्णय करना। ऐसे प्रमाण से परीक्षा करके निर्णय करना, ऐसा कहते हैं। कहो, समझ में आया? यह सब थोड़े समय में एकदम समझ में आये, ऐसा नहीं है, हों! जयन्तीभाई! यह बहुत समय निकाले, तब मुश्किल से पकड़ में आये, ऐसा है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे! लड़के लेकर जानेवाले हैं। रहनेवाले कहाँ से? वह तो

टिकट मिला नहीं, इसलिए रहे हैं। वह कहता था, टिकट मिला नहीं। वह प्रसन्न हुआ। हमारे रहने का होगा। आहाहा!

इसी को निश्चय तत्त्वार्थश्रद्धान भी कहते हैं। देखो! अन्दर आत्मा के अनुभूति से हुई प्रतीति, ऐसे समकित को **निश्चय तत्त्वार्थश्रद्धान भी कहते हैं।** समझ में आया? और तत्त्वार्थश्रद्धान अलग तथा निश्चय समकित अलग, ऐसा नहीं है – ऐसा कहते हैं। तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं। कहते हैं, निश्चय भगवान आत्मा का पूर्ण रूप अनुभूति में आया और इससे प्रतीति को पहिचाना और उसे निश्चय समकित कहना तो उसे तत्त्वार्थश्रद्धान भी कहने में आता है।

वहाँ अपनी परीक्षा तो अपने स्वसंवेदन की प्रधानता से होती है.. लो, अपने को अपनी कैसे खबर पड़े? कहाँ अपने को स्वसंवेदन को मुख्य करके ज्ञात हो? ज्ञान के वेदन की अनुभूति से ज्ञात हो कि यह समकित है। समझ में आया? आहाहा! गजब। **और पर की परीक्षा तो पर के अंतरंग तथा पर के वचन व काय की क्रिया से होती है,..** पर भी उसके वचन, उसकी चेष्टा से ज्ञात हो कि ठीक, इसे यह दशा है। उससे उल्टा होवे तो उल्टी है, ऐसा भी ज्ञात होता है। आहाहा! कितना भरा है इस दूसरी गाथा में! लो! **यह व्यवहार है,..** लो, ठीक। पर के लिए जानना और अपना ज्ञान से जानना, यह सब व्यवहार है।

परमार्थ सर्वज्ञ जानते हैं। अत्यन्त सूक्ष्मता तो केवली जाने। पर्याय-पर्याय की विशेषता, वह तो केवलीगम्य है। **व्यवहारी जीव को सर्वज्ञ ने भी व्यवहार के ही शरण का उपदेश दिया है।** लो, यह एक गुण से दूसरे गुण को जानना, ऐसी व्यवहार की शरण भगवान ने भी कही है।

मुमुक्षु : आत्म?

पूज्य गुरुदेवश्री : परमात्मा सीधे ज्ञात नहीं होता। सम्यग्दर्शन की पर्याय प्रतीतिरूप बहुत सूक्ष्म अरूपी है। इसलिए ज्ञान का वेदन है, वह अनुभूति से ज्ञात होता है, इसलिए भगवान ने व्यवहार से जानने का कहा है, ऐसा शरण है; दूसरा कोई उपाय नहीं है। समझ में आया? उस ज्ञान की अनुभूति, वही व्यवहार। समकित का।

मुमुक्षु : ......

पूज्य गुरुदेवश्री : यह और अलग बात है। यह तो पर की अपेक्षा से पर का जानना कहना, वह व्यवहार, बस इतना। वह व्यवहार अर्थात् वास्तव में तो वह अभूतार्थ है। इसके अतिरिक्त भी दूसरा उपाय नहीं है। ज्ञान की पर्याय से यह है, इतना उसे लक्ष्य करना। बस, इतनी बात है। दूसरे का भी स्वरूप क्या है, आत्मा समकित दृष्टि ज्ञानी, उसे भी उसकी काया, वचन की प्रवृत्ति से जाने। समझ में आया?

मुमुक्षु : अनुभूति से....

पूज्य गुरुदेवश्री : ज्ञान से सीधे भी... प्रतीति को दो-तीन-चार बार कहा। सम्यग्दर्शन की पर्याय से ज्ञान की पर्याय अन्य है और एक से अन्य उससे जानना कहना, वह व्यवहार है। आहाहा!

मुमुक्षु : सीधे जानता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सीधे भी, सूक्ष्म है न। ज्ञान का जानने का स्व परप्रकाशक स्वभाव है। श्रद्धा का जानने का स्वभाव है? श्रद्धा तो एक अस्तित्वरूप है, बस इतना। ऐसा सिद्ध करना है। समझ में आया?

मुमुक्षु : तत्त्वार्थश्रद्धान वही....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो सब एक ही है न! तत्त्वार्थश्रद्धान (या) निश्चयसम्यक्त्व, यह सब एक ही बात है। एक तो इन्होंने विस्तार किया है। अनुभूति से ज्ञात होता है और तत्त्वार्थश्रद्धान भी उसे कहने में आता है। निश्चय सम्यक्त्व को तत्त्वार्थश्रद्धान भी कहने में आता है।

मुमुक्षु : ....चार वर्ष लगातार....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह नहीं। चार-चार घण्टे। परन्तु वह सब बात बाहर की। गप्प ही गप्प। वह प्रोफेसर है।

आहाहा! कितना सरस लिखा है! एक तो ऐसा कहा था कि प्रकृति का उपशम आदि सूक्ष्म है। पुद्गल के परिणाम हैं, इसलिए अति सूक्ष्म कहे। प्रतीति-सम्यग्दर्शन वह अति सूक्ष्म है, ऐसा कहा। ऐसा कहकर उसके बाह्य लक्षण (कहे, उसमें) मुख्य लक्षण

बाह्य में अनुभूति है। बाकी आगम से, अनुमान से, स्वसंवेदन से प्रमाण करना। उसमें यह मुख्य अनुभूति। जहाँ वेदन बदल गया, राग का वेदन आकुलतावाला था वहाँ शान्ति का वेदन हुआ। ऐसा ज्ञान द्वारा जाना और उस ज्ञान द्वारा यह समकित है, ऐसा जानना, वह व्यवहार है। समझ में आया ?

मुमुक्षु : सम्यग्दर्शन में शान्ति का अनुभव आवे।

पूज्य गुरुदेवश्री : आनन्द की अनुभूति। आनन्दानुभूति। यहाँ तो ज्ञान की कही न! ज्ञान के साथ आनन्द सम्मिलित है। वहाँ अनन्त गुण की पर्याय का वेदन है। सब शुद्ध।

यहाँ तो इतना कहते हैं कि वह तो परमार्थ सर्वज्ञ जाने। वह तो क्या कि सूक्ष्म पर्याय अत्यन्त एक समय की है, वह तो केवलज्ञान जाने परन्तु इस प्रकार से छद्मस्थ को अनुभूति द्वारा सम्यग्दर्शन की प्रतीति का भान सत्यार्थ रीति से होता है अर्थात् सच्चा होता है, ऐसा। व्यवहार से हुआ, इसलिए खोटा है, ऐसा नहीं। समझ में आया ? पर से हुआ, इसलिए खोटा है, ऐसा नहीं। वह तो पर से कहना है, इतना व्यवहार है। बाकी उससे ज्ञात हुआ है, वह तो बराबर ज्ञात हुआ है, ऐसा कहते हैं। व्यवहार, निश्चय को बतलाता है। आता है न ? भाई ! व्यवहार, निश्चय को बतलाता है, परन्तु निश्चय को बतलाता है, वह यथार्थ है। आहाहा ! सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को प्राप्त हो, वह आत्मा। भेद पाड़कर कहा, वह व्यवहार है। वास्तव में तो अभूतार्थ है। उससे जाना है, वह भूतार्थ है। समझ में आया ? भारी सूक्ष्म बात ऐसी। ऐसा मार्ग है। अनन्त जन्म-मरण के चक्र मिटें और अनन्त-अनन्त आनन्द आवे, यह मार्ग ही कोई अलौकिक है। ओहो !

दुःखी होकर चौरासी में डोलता है। देव के भव, नारकी के भव, निगोद के भव, आलू-शक्करकन्द के भव। एक शरीर में अनन्त (जीव)। ऐसे भव। जब तक मिथ्यात्व है, तब तक उस मिथ्यात्व में ऐसे भव करने की ताकत नहीं है। मनुष्यपना नहीं रहे। मनुष्यपना तो पच्चीस-पचास-सौ वर्ष हो, जितना आयुष्य हो उतना। उड़ जाएगा, एकदम यहाँ से निकल जाएगा। समझ में आया ? जन्म-मरण के दुःख, हों ! जिसे उनका नाश करना है, उसे इस आत्मा का सम्यग्दर्शन प्रगट करने से ही नाश हो ऐसा है। यह दूसरे किसी क्रियाकाण्ड से जन्म-मरण के दुःख का नाश नहीं होता। आनन्दस्वरूप आत्मा,

आनन्दस्वरूप आत्मा के अनुभव से मिथ्यात्व का नाश होता है और उससे सम्यग्दर्शन का भान होता है। समझ में आया?

अनेक लोग कहते हैं कि – सम्यक्त्व तो केवलीगम्य है, इसलिए अपने को सम्यक्त्व होने का निश्चय नहीं होता, इसलिए अपने को सम्यग्दृष्टि नहीं मान सकते? परन्तु इसप्रकार सर्वथा एकान्त से कहना तो मिथ्यादृष्टि है;.. ऐसा होता नहीं। जानने में आता है। समझ में आया? अमुक द्वारा, ज्ञान द्वारा, अनुभूति द्वारा, स्वाद द्वारा ज्ञात होता है। **सर्वथा ऐसा कहने से व्यवहार का लोप होगा, सर्व मुनि-श्रावकों की प्रवृत्ति मिथ्यात्वरूप सिद्ध होगी..** तो सबकी श्रद्धा खोटी, मिथ्यात्ववाले सब प्रवृत्ति करते हैं ऐसा माना जाएगा। सच्चे मुनि, सच्चे धर्मात्मा, समकिती तो कोई रहे नहीं इस हिसाब से। समझ में आया?

सब अपने को मिथ्यादृष्टि मानेंगे तो व्यवहार कहाँ रहेगा? इसलिए परीक्षा होने के पश्चात् ऐसा श्रद्धान नहीं रखना चाहिए कि मैं मिथ्यादृष्टि ही हूँ। मिथ्यादृष्टि तो अन्यमती को कहते हैं.. यह स्थूल बात। **और उसी के समान स्वयं भी होगा,..**

मुमुक्षु : अन्यमती अर्थात्...

पूज्य गुरुदेवश्री : अन्यमती अर्थात् बिल्कुल ज्ञान ही नहीं और भान ही नहीं, ऐसा अन्यमती हो, ऐसा कहते हैं। भान होने के पश्चात् उसे अन्यमतपना रहता नहीं। उसे जैन का मत-अभिप्राय का भान हो जाता है। इसलिए इसे निर्णय करके सम्यग्दर्शन का ऐसा स्वरूप है, ऐसा इसे निर्णय करना चाहिए। विशेष कहेंगे, लो!

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन-५ गाथा-२ शनिवार, ज्येष्ठ शुक्ल ९, दिनांक १३-०६-१९७०

यह दर्शनपाहुड़, इसकी दूसरी गाथा का भावार्थ। **दंसणमूलो धम्मो** इसकी यह सब लम्बी बात चलती है। आता है न, दूसरी गाथा? **दंसणमूलो धम्मो उवइट्ठो जिणवरेहिं सिस्साणं।** शिष्यों को, गणधर आदि को जिनवरदेव ने दर्शन मूल धर्म। दर्शन-सम्यग्दर्शन, ज्ञान-चारित्रसहित, वीतरागता के भावसहित, बाह्य की मुद्रा भी वीतरागता निर्ग्रन्थ

दिगम्बरदशा, ऐसा उसे मोक्षमार्ग अथवा उसे जैनदर्शन अथवा उसे जैनमत कहने में आता है। समझ में आया? उसका मूल वह स्वयं है और उसका मूल सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन बिना वह नहीं होता।

यहाँ सम्यग्दर्शन को पहिचानना किस प्रकार, यह बात चलती है। सम्यग्दर्शन, यह आत्मा पूर्ण शुद्ध आनन्द का धाम है—ऐसी अन्तर्मुख होकर अनुभव होकर दृष्टि होना, इसका नाम सम्यग्दर्शन है। इसका नाम धर्म की पहली सीढ़ी, धर्म की शुरुआत। उसे पहिचानने का मुख्य बाह्य चिह्न क्या? (क्योंकि) वह तो प्रतीति है। सम्यग्दर्शन तो प्रतीति है। प्रतीति को पहिचानने का साधन क्या? प्रतीति, प्रतीति को सीधे नहीं जानती। प्रतीति तो निर्विकल्प प्रतीति है, उसे अनुभूति अर्थात् आत्मा का स्वसंवेदन ज्ञान होने पर आत्मा स्व, उसका प्रत्यक्ष ज्ञान का वेदन होने पर, अनुभूति – आत्मा का अनुभव होता है, वह अनुभूति सम्यग्दर्शन का मुख्य बाह्य चिह्न है, ऐसी बात है। जरा सूक्ष्म है।

वस्तु जो है पूरा आत्मा, वह तो अनन्त पर्याय का पिण्ड, गुण और ऐसे अनन्त गुण का पिण्ड, वह आत्मा है। ऐसा अभेद आत्मा द्रव्य की दृष्टि। अपने यहाँ हुआ है न... ? द्रव्यदृष्टि। यह कहते हैं कि मुझे... कलकत्ता में कोई उनके हैं।

मुमुक्षु : द्रव्यदृष्टि, वह सम्यग्दृष्टि।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कहाँ से निकाला? वहाँ भी प्रश्न आया। वापिस यहाँ आया। कल कहता था... थानवाला ने किया था। वहाँ कोई पड़ोसी है। नया मुमुक्षु है। सम्यग्दृष्टि क्या? स्वभाव वह दृष्टि है।

मुमुक्षु : द्रव्य का अर्थ तो पैसा होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पैसा होता है, परन्तु धूल भी नहीं होता। रामजीभाई! कोई तुम्हारा पड़ोसी वहाँ रहता है... 'द्रव्यदृष्टि, वह सम्यग्दृष्टि।' खबर नहीं होती, द्रव्य अर्थात् क्या?

द्रव्य अर्थात् इस परमाणु को भी द्रव्य कहते हैं, धर्मास्ति को द्रव्य कहते हैं। उस द्रव्य की यहाँ बात नहीं है। पैसा तो बहुत द्रव्यों का पिण्ड है। एक-एक रजकण को द्रव्य कहा जाता है। ऐसे रजकण का पिण्ड पैसा विभाविक द्रव्य है, स्वाभाविक द्रव्य नहीं।

यहाँ आत्मा जो अन्दर चैतन्यमूर्ति, शरीर के रजकण इस मिट्टी से भिन्न और अन्दर

कर्म से भिन्न तथा पुण्य-पाप के विकल्पों की क्रियाकाण्ड का विभावभाव है, उससे भिन्न और एक समयमात्र की पर्याय जितना नहीं, उसे यहाँ द्रव्य कहा जाता है। उस द्रव्य की अन्तर्दृष्टि होना, इसका नाम सम्यग्दर्शन है। परन्तु उस सम्यग्दर्शन के साथ ज्ञान की अनुभूति (होती है)। ज्ञान है, ऐसा वेदन में आता है। अनादि का राग का और पुण्य के विकल्प का वेदन, आकुलता का अनुभव था, वह द्रव्य पर दृष्टि होने से ज्ञान में शान्ति और आनन्द का वेदन आता है। अनुभूति (होती है), वह अनुभूति वह सम्यग्दर्शन-प्रतीति का बाह्य अविनाभावी मुख्य लक्षण है। कितने विशेषण दिये ? बाह्य, मुख्य और अविनाभावी। क्या होगा यह सब ?

अर्थात् कि जहाँ-जहाँ आत्मा का भान, सम्यग्दर्शन होता है, वहाँ-वहाँ आनन्द की अनुभूति होती है और आनन्द की अनुभूति-वेदन हो, वहाँ-वहाँ सम्यग्दर्शन होता ही है, इस प्रकार एक-दूसरे को अविनाभाव अर्थात् इसके बिना यह नहीं और इसके बिना यह नहीं - ऐसा गिनकर वह सम्यग्दर्शन प्रतीति का लक्षण है, उसका यह अनुभूति बाह्य मुख्य लक्षण है। आहाहा ! ऐ... सेठी ! सब नया लगे ऐसा है। आहाहा ! वस्तु ऐसी है न ! एकदम चैतन्यस्वभाव, अस्ति जिसका अस्तित्व सत्तापना... यह सम्यग्दर्शन की पर्याय, केवलज्ञान की पर्याय, ऐसी पर्यायें तो श्रद्धागुण में ऐसी पर्याय अनन्त पड़ी हैं। ज्ञानगुण में केवलज्ञान की ऐसी अनन्त पर्यायें पड़ी हैं। ऐसा जो पूरा द्रव्य, ऐसा अनन्त गुण का एकरसरूप द्रव्य, इस प्रकार ही है न ! वस्तु इस प्रकार है, इसलिए इस प्रकार वस्तु का स्वीकार अन्तर्मुख दृष्टि में होवे, तब उसे ज्ञान के वेदन में भी अनुभूति में आनन्द का भी स्वाद आता है। आकुलता का जो स्वाद अनादि का था, वह दृष्टि बदली; इसलिए अनाकुलता का स्वाद भी साथ में आया। समझ में आया ? वजुभाई ! ऐसा है। आहाहा !

इसलिए यहाँ अनुभूति को प्रतीति के लक्षण के साथ इसे कहना, यह बाह्य है; इसलिए एक पर्याय दूसरी पर्याय को बतलाती है, इसलिए उसे व्यवहार कहा है और मुख्य क्यों कहा ?—कि सब गुण... गौण चिह्न बहुत हैं, यह कहेंगे। उनमें मुख्य चिह्न है तो वह होता ही है। परन्तु अनुभूति ज्ञान की पर्याय है, उससे दर्शन की पर्याय को बतलाना, वह व्यवहार है। आहाहा !

मुमुक्षु : सूक्ष्म बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सूक्ष्म बात है ? लो, पण्डितजी को सूक्ष्म बात लगती है। यह तो जयपुर के बड़े पण्डित हैं। यह भी अपने पण्डित हैं, प्रोफेसर सहारनपुर। इसमें पण्डित का कुछ काम नहीं है। यहाँ तो आत्मा की अन्तर्दृष्टि का काम है। आहाहा!

परम प्रभु की अन्तर्दृष्टि में भगवान अनन्त गुण की एकरूप वस्तु, महासत्ता, भेद किये बिना द्रव्य की दृष्टि होना अर्थात् ध्रुव में दृष्टि का प्रसार होना, इसलिए उस द्रव्यदृष्टि में प्रतीति-यह वस्तु अखण्ड है—ऐसी प्रतीति अभेद है, आनन्द है, शुद्ध है, ऐसी प्रतीति हुई, उसके साथ ज्ञान का अनुभव हुआ, ज्ञान का-गुण का अनुभव (हुआ)। प्रतीति का अनुभव परन्तु वह तो श्रद्धारूप हुई किन्तु ज्ञान का आत्म अनुभव कि ज्ञान यह है, राग का अनुभव छूटकर आत्मा के ज्ञान का अनुभव हो, उस अनुभूति को समकित का मुख्य बाह्य लक्षण कहा जाता है। कहो, समझ में आया ? इसके अतिरिक्त दूसरे लक्षण कौन-कौन हैं, यह सब वर्णन चलता है। समझ में आया ? वह आया है न ? ऐसा अन्यत्र कहीं नहीं है, हों! जैन वीतराग के अतिरिक्त ऐसा मार्ग (कहीं नहीं है)। इनके भाई का पुत्र आया है न ? अन्यत्र कहीं नहीं है, हों! रजनीश में या अमुक में और अमुक में सर्वत्र गप्प है।

मुमुक्षु : गप्प होती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसके लिये तो इसे कहा। धूल में महामिथ्यात्व का उसमें सब है। आहाहा! विपरीत तत्त्व की मान्यता, उसे ही यहाँ मिथ्यात्व कहते हैं। उसे विपरीत तत्त्व की कुछ (खबर नहीं है)। विपरीत क्या है, इसकी खबर नहीं है। विकल्प से शून्य हो जाओ। शून्य हो जाओ, तो जड़ हो जाओ, ऐसा।

यहाँ तो कहते हैं परमेश्वर त्रिलोकनाथ सर्वज्ञदेव (कहते हैं) भाई! तू परिपूर्ण वस्तु है न! परन्तु वस्तु न हो तो द्रव्य किस प्रकार कहना ? और वस्तु में शक्ति न हो तो वस्तु तो एक है और शक्ति तो अनन्त है। इसलिए उसे गुण कहने में आता है और उसके साथ का परिणमन होता है, उसे पर्याय कहने में आता है। अब यह तीन वस्तु तो वस्तु का स्वरूप ऐसा है। इस प्रकार वस्तु के अतिरिक्त कोई दूसरे प्रकार से कहे तो अत्यन्त विपरीत श्रद्धा और विपरीत मान्यता का वहाँ पोषण है। देवचन्दजी! चाहे तो जैन का साधु नाम धराकर इससे कुछ फेरफार कहे, वह सब मान्यता विपरीत है।

यहाँ कहते हैं **तत्त्वार्थश्रद्धान तो बाह्य चिह्न है**। यहाँ मुख्य नहीं लिया, भाई!

पहले में मुख्य लिया था। यह तो हो और सम्यग्दर्शन न भी हो। और अनुभूति हो और सम्यग्दर्शन न हो, ऐसा नहीं हो सकता। यह तो चिह्न हो और सम्यग्दर्शन न हो और सम्यग्दर्शन हो और यह हो। समझ में आया? ....इसमें तो सब फेरफार है, हों! इस कलिकाल में। मैंने कितनी ही जगह देखा, बहुत फेरफार है। इसके प्रमाण में भी अर्थ नहीं किया। देने जैसे स्थिति नहीं है, रखने जैसा नहीं है।

मुमुक्षु : कचरा घर में (नहीं रखा जाता)।

पूज्य गुरुदेवश्री : कचरा डालकर वापस किसी के घर में गिर जाए। किसी का कुछ। यह तो यह...

कहते हैं कि **तत्त्वार्थश्रद्धान तो बाह्य चिह्न है। जीव, अजीव,...** जीव है, वैसे अजीव भी जगत में चीज़ है। पाँच पदार्थ हैं। समझ में आया? जीव है, ऐसे अनन्त जीव हैं। इसके अतिरिक्त अजीव भी अनन्त हैं। परमाणु आदि। अजीव हैं, आस्रव है, पुण्य-पाप के भाव वे आस्रव हैं। दया, दान, व्रत का भाव, वह पुण्यास्रव है और हिंसा, झूठ, चोरी का भाव, वह पापास्रव है। वह आस्रव है। अर्थात् वह वस्तु में नहीं है और नया होता है। विकल्प उठते हैं, ऐसा तत्त्व है। वह आस्रव भी है और बन्ध है। वह आस्रव, उतना स्वभाव वहाँ अटका है। आया, उसे आस्रव कहा और अटका, उसे बन्ध कहा है। उस समय की अवस्था। समझ में आया? आहाहा! यह बात! पर्याय में पुण्य-पाप के विकल्प उठते हैं, उन्हें नवतत्त्व में जैसे हैं, वैसे इसे मानना चाहिए। समझ में आया?

मुमुक्षु : बहुत मेहनत।

पूज्य गुरुदेवश्री : मेहनत कुछ नहीं होती। सीधी बात है। जीव वस्तु है तो उसके अतिरिक्त दूसरी अजीव वस्तु है। यह जीव है, तब अजीव दूसरी चीज़ ही है। इसे जीव क्यों कहा? दूसरे अजीव हैं इसलिए। उन्हें अजीव क्यों कहा? कि उनसे भिन्न जीव है इसलिए; और अनादि से इसमें पुण्य और पाप के भाव होते हैं। ऐसे न हों तो वहाँ आनन्द का अनुभव होना चाहिए। वह आस्रवतत्त्व है, ऐसा इसे प्रतीति में आना चाहिए। समझ में आया?

बन्ध। पुण्य-पाप के भाव, चाहे तो दया, दान, व्रत का, तप का, अपवास का

विकल्प हो, वह परिणाम भी बन्ध है क्योंकि आत्मा अबन्धस्वरूप है, उसमें अटकी हुई वृत्ति है, इसलिए उसे बन्ध कहा जाता है। उसे इस प्रकार बन्ध है, ऐसा जानना चाहिए।

संवर। शुद्धस्वरूप जो त्रिकाल है, उसके आश्रय से आस्रव के परिणाम रुककर निर्मल शुद्ध परिणाम होते हैं, वह पर्याय है, शुद्धपर्याय है। नयी शुद्धता उत्पन्न होती है, अशुद्धता मिटती है, ऐसी संवरदशा भी है। यह संवर, यह संवर, हों! लोग मान बैठे कि ऐसे संवर कराया... वह संवर-फंवर नहीं है। आहाहा! समझ में आया? भगवान आत्मा... नवतत्त्व के भेदवाली श्रद्धा की अभी बात है न? यह संवरतत्त्व है। स्वरूप शुद्ध द्रव्यस्वभाव है, उसकी प्रतीति और उसका ज्ञान होने पर निर्मल शुद्धपर्याय (प्रगट होती है, वह संवर है।) समकित, वह भी एक संवर है। समझ में आया? वह संवर पर्याय है।

निर्जरा है। पहले शुद्धि नहीं थी और शुद्धि हुई, उस शुद्धि की अवस्था को निर्जरा कहने में आता है तो वह अवस्था है **और मोक्ष** पूर्ण शुद्ध अवस्था है। शुद्धता की शुरुआत, शुद्धता की वृद्धि और शुद्धता की परिपूर्णता। ऐसे तत्त्व होते हैं। न हो तो साधकपना और सिद्धपना कुछ साबित नहीं होता। समझ में आया? यह वस्तु की स्थिति बताते हैं। आहाहा! क्या करे? लोगों को तत्त्व का अभ्यास घट गया और बाहर का व्यर्थ का रह गया। सवेरे एक भाई आये थे न, (वे कहते थे) भगवान को केवलज्ञान हुआ, वह इस तपस्या और क्रिया करने से हुआ। फिर भले... पहले तो करे, तब होवे न? कहो, तपस्या की। अरे! बापू! तपस्या किसे कहना? रोटियाँ नहीं खायी, वह तपस्या नहीं है। खबर नहीं होती। अन्दर आत्मा के आनन्द में इतने लीन हो गये कि आनन्द के वेदन में आहार ग्रहण की वृत्ति ही उत्पन्न नहीं हुई और इससे उसे आहार का संयोग भी नहीं मिला। उसे लोग आहार नहीं लिया, नहीं खाया, उसे तपस्या कहते हैं। वह तप नहीं है।

अन्तर स्वरूप में इच्छा उत्पन्न हुए बिना, इच्छा का निरोध अर्थात् इच्छा उत्पन्न नहीं हुई और आनन्द की वीतराग अवस्था उत्पन्न हुई, उसे भगवान तप कहने में आता है। उस तप द्वारा भगवान को केवलज्ञान हुआ है। आहा! सेठी! वे कहें, बारह-बारह महीने हठ से करके सोवे नहीं, आहार खाया नहीं, ऐसा बोले। स्तुति बोले न पहली? स्तुति। शुरुआत में '...' ऐसा आता है। भूल गये। सवेरे बोलते थे। मैं तो कभी नहीं बोलता था। दूसरा पढ़ता था। समझ में आया? भगवान महावीर चैन से सोते नहीं, उन्होंने कुछ अन्न खाया नहीं,

पानी... पानी पीया नहीं, चैन से सोये नहीं। उन्हें सब दु:ख होगा। ऐसी व्याख्या लोग वहाँ सुनें। आहाहा! ऐ... मगनभाई!

मुमुक्षु : दया तो बहुत आती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यही... था? इनका काका यह धुनावे। आहार नहीं किया था, वह तो बाहर की चीज़ नहीं आने की थी, वह तो वहाँ रुकी हुई चीज़ ही थी। आनेवाली थी ही नहीं। इसलिए आहार छोड़ा, ऐसा कहना, वही मिथ्या भाव है। उसे इच्छा उत्पन्न नहीं हुई। क्यों? इच्छा हुई थी और रोकी, ऐसा नहीं। अतीन्द्रिय आनन्द के अन्तर में लवलीनता के कारण इच्छा उत्पन्न नहीं हुई, वह इच्छा का निरोध होकर अनिच्छुक आनन्दभाव की उत्पत्ति हुई, अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद की उत्पत्ति हुई, उसे भगवान 'तपयंति इति तप:' उसे तप कहने में आता है। इस तप की खबर नहीं होती। रोटियाँ नहीं खायी, इसलिए हमने रोटियाँ नहीं खायी, वह अपने उपवास (हो गया)। देवचन्दजी! ऐसा चलता है। आहाहा! भेड़ चलती है न... क्या कहते हैं? भेड़। भेड़ चलती है न, भेड़ एक के पीछे दूसरी चलती है परन्तु यह गिरेगी कुँए में जाकर, तो कहे सब कुँए में गिरो। गिरते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : महावीर का हवाला देते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : महावीर का हवाला कहा न! सवेरे कहा। बापू! सूक्ष्म बात है, बापू! तुमने सुना नहीं। आये थे। भगवान को तब तो पहले करना पड़े न? पहले व्रत, नियम सब क्रिया करे, तब केवलज्ञान होता है न! कहो, विकल्प करे, तब केवलज्ञान होता है? वह तो राग है।

यहाँ तो कहते हैं, भगवान को मोक्ष हुआ, वह संवर-निर्जरा द्वारा हुआ अर्थात् आत्मा पवित्र के आश्रय से शुद्धि हुई और शुद्धि की वृद्धि हुई, वह वृद्धि होने से पूर्ण शुद्धि हुई, इसका नाम मोक्ष है। ऐसा इसे श्रद्धा में आना चाहिए। आहाहा! समझ में आया? ऐसे सात तत्त्व हैं।

उनमें पुण्य और पाप को जोड़ देने से नव पदार्थ होते हैं। आस्रव के दो भाग कर दो, शुभ और अशुभ, तो नौ पदार्थ हुए। समझ में आया? **उनकी श्रद्धा अर्थात् सन्मुखता,..** श्रद्धा का अर्थ वस्तुस्वरूप नौ प्रकार है, उसके सन्मुख कि यह है ऐसी बुद्धि

और **रुचि अर्थात् तद्रूप भाव करना...** जैसा भाव है, वैसा श्रद्धा में लेना। यह सब शब्द वहाँ के-पंचाध्यायी के हैं। समझ में आया? **तथा प्रतीति अर्थात् जैसे सर्वज्ञ ने कहे हैं, तदनुसार ही अंगीकार करना...** यह प्रतीति। यह प्रतीति भी बाह्य है, ऐई! भाई! सम्यग्दर्शन की प्रतीति वह अन्तर का लक्षण और यह है, वह बाह्य लक्षण है। समझ में आया? यह बाह्य चिह्न की बात चलती है न? क्या होगा इसमें? ऐई! मोहनभाई! ऐसा सब मेहनत करके समझना है, परन्तु वस्तुस्थिति है, ऐसी इसके ज्ञान में तो आना चाहिए न! नहीं तो विपरीतता है और विपरीतता करानेवाले मिलें और प्रसन्न-प्रसन्न हो जाए कि आहाहा! गजब भाई, गजब भाई। समझ में आया?

जैन परमेश्वर वीतराग त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव की वाणी में ऐसा स्वरूप आया, इसके अतिरिक्त यह स्वरूप अन्यत्र कहीं नहीं हो सकता। अज्ञानी अपनी कल्पना से धर्म की निर्विकल्पता की, समाधि की बातें करे, वे सब जड़ हो जानेवाले हैं।

मुमुक्षु : इसकी अपेक्षा समयसार सरल है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सरल कुछ नहीं, यह भी सरल है। यह तो... ज्ञान है। ऐसा सब इसे जानना पड़ेगा या नहीं? नहीं जाने और ऊपर-ऊपर से जाने तो कोई दूसरी विपरीतता हो जाएगी। अकेला आत्मा... आत्मा... आत्मा। परन्तु आत्मा वह कैसा? एक व्यक्ति को पूछा था, (आत्मा) कैसा? पहले दिखायी दे लाल, फिर दिखायी दे सफेद। ऐसे के ऐसे। लाल दिखायी दे न? लाल... लाल, फिर सफेद हो जाए। वह तो जड़ है। वहाँ कहाँ आत्मा था? आहाहा!

कहते हैं **प्रतीति अर्थात् जैसे सर्वज्ञ ने कहे हैं, तदनुसार ही अंगीकार करना और उनके आचरणरूप क्रिया...** ....यह तो व्रतादि की क्रिया का विकल्प है न? **इसप्रकार श्रद्धानादिक होना सो सम्यक्त्व का बाह्य चिह्न है।** लो, देखो! श्रद्धा आदि, वहाँ प्रतीति भी साथ में आयी। परन्तु वह ज्ञान की प्रधानता की प्रतीति है। यह प्रतीति सम्यग्दर्शन की प्रतीति नहीं है। समझ में आया? यह तो पंचाध्यायी का कार्य है यह सब। सीधे-सीधा... **बाह्य चिह्न है।** क्या कहा? यह समकित का, प्रतीति रुचि श्रद्धा यह बाह्य चिह्न है क्योंकि जानने में आया न? कि यह ऐसा है, यह ऐसा है, यह ऐसा है। ज्ञान में वास्तव में तो ज्ञान की पर्याय है। यह प्रतीति, श्रद्धा की पर्याय है। समझ में आया?

अनुभूति की पर्याय तो वेदन की साथ में स्वाद आया वह (है), इसलिए उसे मुख्य कहा। इसे मुख्य नहीं परन्तु ऐसा बाह्य लक्षण (होता है)। ऐसा होता है, उसे ऐसा होता है। ऐसा होवे और यह न हो वह दूसरा, परन्तु ऐसा होवे उसे तो ऐसा होता ही है, इतना।

मुमुक्षु : एकतरफी।

पूज्य गुरुदेवश्री : एकतरफी। इसलिए उसे बाह्य लक्षण में... मुख्य लक्षण है, उसे मुख्य कहा। दोनों ओर। जहाँ अनुभूति होती है, वहाँ सम्यग्दर्शन होता ही है। सम्यग्दर्शन हो, वहाँ अनुभूति होती ही है। समझ में आया?

तथा प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य भी सम्यक्त्व के बाह्य चिह्न हैं। देखो! यह बाह्य चिह्न आया। प्रशम, इसकी व्याख्या करेंगे। **अनंतानुबंधी क्रोधादिक कषाय के उदय का अभाव, सो प्रशम है।** अनन्तानुबन्धी के उदय का अभाव, वह प्रशम और स्वरूपाचरण में स्थिरता। शान्ति की उतनी स्थिरता, वह प्रशम है। उसे प्रशम कहते हैं। कहो, यह स्वरूपाचरण। स्वरूपाचरण का विवाद उठता है न? देवचन्दजी! तुम्हारे यहाँ कहते हैं न? स्वरूपाचरण चौथे में नहीं होता। बड़ा विवाद उठाते हैं। यहाँ कहते हैं कि अनन्तानुबन्धी के अभाव से जो प्रशम होता है, वास्तविक प्रशम होता है, वह अन्दर स्थिरता का आचरण है। आहाहा! समझ में आया? परन्तु है वह समकित का बाह्य चिह्न। समकित का मूल लक्षण तो प्रतीति है। ये सब लक्षण, बाह्य चिह्न कहे जाते हैं। समझ में आया? इसकी अपेक्षा समयसार सरल पड़ता है, ऐसा (किसी ने) कहा। समयसार में तो बहुत बात चली है। बारम्बार आयी हो, इसलिए जरा संक्षिप्त में (आया हो) परन्तु इसका विस्तार किस प्रकार है, उसे समझे बिना इसे वास्तविक सम्यक्त्व में पकड़ में नहीं आता। समझ में आया?

वस्तु... देखो! पंचाध्यायीकार ने कितना स्पष्ट कर डाला! जितनी विपरीतता है, उसके सामने इतने सुलटे भाव इसे आना चाहिए न! इसके बिना विपरीतता निकलेगी कैसे? आहाहा! अभी तो चारों ओर धमाधम चली है। एक ओर अमरचन्दजी कहते हैं, एक ओर... रजनीश। धमाधम चलती है। ओहोहो! लोगों को, बेचारों को कुछ खबर नहीं होती।

मुमुक्षु : लोग कहें सोनगढ़वाले...

पूज्य गुरुदेवश्री : उन्हें जँचे ऐसा कहे। उन्हें यह समझ में न आये तो ऐसा न कहे, तब वे क्या कहे? सोनगढ़वाले... ऐसा न कहे वे? उनके वस्तु के स्वरूप में जो स्थिति है, जैसा है वैसा उन्हें ख्याल में न आवे और उससे यह दूसरा आवे, इसलिए उन्हें ऐसा ही लगे कि यह एक नया मार्ग निकाला। परन्तु मार्ग कहाँ? यह तो है और शास्त्र में भी है। मोक्षमार्गप्रकाशक में कहा है, नहीं कहा? यह नवीन उसे नहीं कहा जाता। समझ में आया? आता है या नहीं? किसमें? सातवें (अधिकार) में? सातवें में कहीं आता है। कितना पृष्ठ है? (पृष्ठ २२३)

यहाँ कोई कहे कि परम्परा छोड़कर नवीन मार्ग में प्रवर्तन करना योग्य नहीं है? यहाँ सब बात ली है।

उससे कहते हैं—यदि अपनी बुद्धि से नवीन मार्ग पकड़े तो योग्य नहीं है। जो परम्परा अनादिनिधन जैनधर्म का स्वरूप शास्त्रों लिखा है, उसकी प्रवृत्ति मिटाकर पापी पुरुषों ने बीच में अन्यथा प्रवृत्ति चलायी हो, उसे परम्परा मार्ग कैसे कहा जा सकता है? समझ में आया? **तथा उसे छोड़कर पुरातन जैनशास्त्रों में जैसा धर्म लिखा था, वैसे प्रवर्तन करे तो उसे नवीन मार्ग कैसे कहा जा सकता है?** सब उल्टा चला हो, उसे परम्परा कैसे कही जाए? कहते हैं। और नवीन किया हो और सच्चा हो, उसे नवीन कैसे कहा जाए? चेतनजी! सबकी सम्हाल पकड़ी है, लो!

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा ही होता है न! चेतनजी कहते हैं मोक्षमार्ग दो न माने, वह भ्रम है। यह कहते हैं कि मोक्षमार्ग दो माने, वह भ्रम है। इसके सामने वे कहते हैं। बात की तुलना जहाँ पक्षपात बिना सत्य के पक्ष से न हो, वहाँ ऐसा ही होता है। इसमें अनन्त काल ऐसा ही किया है न! तीर्थंकर के जीव ने ऐसा किया है या नहीं? तीर्थंकर तो बाद में हुए। इससे पहले उन्होंने सब ऐसा किया है, तीर्थंकर के जीव ने भी (ऐसा किया है)। आहाहा!

मुमुक्षु : महावीर के जीव ने....

पूज्य गुरुदेवश्री : महावीर के जीव ने स्वयं किया है। मारीचि, ऋषभदेव भगवान के समय में भरत का पुत्र (था)। सब विपरीतता की थी। भगवान की मौजूदगी में अन्य मत चलाया था। क्या हो?

मुमुक्षु : भगवान ने रोका नहीं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन रोके ? देव ने आकर रोका। दूसरों को रोका। नग्नपना था, उसमें हरितकाय खाते थे (तो कहा) –नहीं, ऐसा नहीं खाया जाता। वेष बदल डालो फिर खाओ, ऐसा कहा। विपरीत मार्ग... उसके पाप के उदय से ऐसा चलना हो, उसे क्या कहे ? ऐसे दो बड़े पन्थ पड़ गये। कोई देव आया नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : भगवान को आहार मिलता नहीं था तब....

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु क्या करे ? जहाँ आगे होनेवाला हो, उसे वहाँ रोके कौन ? न होनेवाला हो, उसे बनावे कौन ? ऐसी बात है।

यहाँ कहते हैं, अनन्तानुबन्धी का अभाव। उसका प्रशम। **उसके बाह्य चिह्न जैसे कि सर्वथा एकान्त तत्त्वार्थ का कथन करनेवाले अन्यमतों का श्रद्धान, बाह्यवेश में सत्यार्थपने का अभिमान करना,...** देखो! **पर्यायों में एकान्त के कारण आत्मबुद्धि से अभिमान तथा प्रीति करना, वह अनंतानुबंधी का कार्य है,...** क्या कहते हैं ? एक तो सर्वथा एकान्त तत्त्व के कहनेवाले। सर्वज्ञ के अतिरिक्त। द्रव्य ही माने, पर्याय न माने। पर्याय माने, द्रव्य न माने – इत्यादि। **अन्यमतों का श्रद्धान,...** यह अनन्तानुबन्धी का लक्षण है। अनन्त संसार का कारण ऐसी कषाय का यह लक्षण है तथा बाह्य वेष (अर्थात्) वीतराग के अतिरिक्त बाह्य नग्नमुनि का वेष। मुनि का, इसके अतिरिक्त दूसरा बाह्य वेष, उसमें सत्यार्थपने का अभिमान करना कि ऐसा ही होता है, ऐसा ही होता है। और पर्याय में एकान्त। इस शरीर में। यही मैं और इसकी क्रिया करनेवाला मैं, ऐसा अभिमान तथा शरीर की प्रीति करना, वह अनन्तानुबन्धी का कार्य है। समझ में आया ? अनन्त संसार के कारणरूप कषाय का यह कार्य है, ऐसा कहते हैं।

वीतराग के अतिरिक्त अन्यमत ने कही हुई तत्त्वों की श्रद्धा, और उनका कहा हुआ बाह्य वेष मानना और उसका अभिमान करना कि नहीं, ऐसा ही होता है। ऐसा ही वेष अभी तो ऐसा ही होता है। और शरीर में एकान्त से आत्मबुद्धि। यह अभिमान करना (कि) ऐसा शरीर हमारा, हमारा शरीर रूपवान, हमारा शरीर बलवान। कभी दवा की वह (गोली आदि) नहीं ली। ऐसा जो अभिमान, वह अनन्त संसार का कारण कषाय है।

और **पर्यायों में एकान्त के कारण आत्मबुद्धि से अभिमान तथा प्रीति करना...** शरीर में प्रेम करना। भगवान आत्मा का प्रेम छोड़कर इस जड़ परमाणु का जो दल, उसका प्रेम, वह अनन्तानुबन्धी का कार्य है। अनन्त संसार के बढ़नेरूप कषाय का वह कार्य है। आहाहा! समझ में आया?

वह जिसके न हो तथा किसी ने अपना बुरा किया तो उसका घात करना आदि मिथ्यादृष्टि की भाँति विकारबुद्धि अपने को उत्पन्न न हो तथा वह ऐसा विचार करे कि मैंने अपने परिणामों से जो कर्म बाँधे थे, वे ही बुरा करनेवाले हैं,... पूर्व में परिणाम से पाप बाँधे थे, उस पाप के कारण प्रतिकूल संयोग आता है। कोई दूसरा (प्रतिकूल नहीं है), वह तो निमित्तमात्र है – ऐसा विचार कर प्रशमभाव करे। समझ में आया? **अन्य तो निमित्तमात्र हैं...** दूसरा तो निमित्तमात्र है। पूर्व में मैंने पाप के परिणाम किये थे, उनसे पाप बँधा था, उसके कारण यह प्रतिकूल संयोग है। दूसरा कोई देने में समर्थ नहीं है।

मुमुक्षु : हमारे कर्म का जोर बहुत।

पूज्य गुरुदेवश्री : कर्म के जोर की कहाँ बात है? यहाँ तो पाप परिणाम होने पर उनसे परमाणु बँधते हैं, उसमें प्रतिकूल संयोग हुए। इतना निमित्त है। वह तो आनेवाला था, उसे यह निमित्त हुआ। प्रतिकूल संयोग को यह पाप प्रकृति निमित्त हुई। पाप प्रकृति को परिणाम निमित्त हुए। समझ में आया?

और **ऐसी बुद्धि अपने को उत्पन्न हो – ऐसे मंदकषाय है...** लो! **तथा अनंतानुबंधी के बिना अन्य चारित्रमोह की प्रकृतियों के उदय से आरम्भादिक क्रिया में हिंसादिक होते हैं, उनको भी भला नहीं जानता;...** धर्मी तो दूसरे हिंसादि के भाव हों, उन्हें भला नहीं जानता। परिणाम होते हैं, समकित है परन्तु अभी चारित्र नहीं है। हिंसा के परिणाम होते हैं, विषयवासना के परिणाम होते हैं, ऐसे युद्ध के भाव आते हैं। राजकुमार समकिती हो (तो ऐसे भाव आते हैं) परन्तु उन्हें भला नहीं जानता। समझ में आया?

हिंसादिक होते हैं, उनको भी भला नहीं जानता; इसलिए उससे प्रशम का

अभाव नहीं कहते। लो, इससे समकिती को प्रशम का अभाव है, ऐसा नहीं कहा जाता। युद्ध में खड़ा हो, विषयवासना के भाव आये हों, इसलिए उसे प्रशम नहीं है, ऐसा नहीं है। क्योंकि अन्दर में अनन्तानुबन्धी के अभाव का प्रशम प्रगट हुआ है और बाह्य में भी कोई प्रतिकूलता करे, उसके सन्मुख क्रोध नहीं करता। 'यह मुझे करता है' ऐसा मानकर नहीं करता। अस्थिरता का क्रोध आवे, वह अलग (बात है) 'यह मुझे प्रतिकूलता करता है' ऐसा नहीं मानता। पूर्व के मेरे पाप के परिणाम थे, वे बँधे और उनके कारण प्रतिकूलता है। प्रतिकूलता क्या, ज्ञेय है परन्तु वह आता है न, बोला जाता है न! एक बोल प्रशम कहा। समकिती का एक बाह्य लक्षण यह प्रशम भी है। इस प्रशम की व्याख्या की।

मुमुक्षु : सब व्याख्या लम्बी-लम्बी।

पूज्य गुरुदेवश्री : लम्बी नहीं। इसके अन्दर विस्तार से समझाने की पद्धति है। इस प्रकार से न समझे और आगे कुछ गड़बड़ कर दे तो गड़बड़ चलती जाएगी। समझ में आया? प्रशम, ऐसा माने कि ठीक! समकिती अर्थात् अब उसे जरा भी क्रोध का विकल्प का विकल्प आता ही नहीं। आवे तो वह समकिती नहीं, ऐसा नहीं है। समझ में आया? आहाहा! आगे एक जगह आता है। लो! कोई ऐसा माने कि समकित हो तो फिर चारित्र लेता ही है, त्याग करता ही है, नहीं तो समकित नहीं है। आता है अन्दर, इस ओर के पृष्ठ में कहीं है। नहीं, ऐसा नहीं है। अन्दर अनन्तानुबन्धी, जो अनन्त संसार का कारण... निमित्त से वह होता है, इसलिए यह निमित्त मुझे प्रतिकूल है, यह अनन्त संसार के कारण की कषाय है, ऐसी कषाय ज्ञानी को नहीं होती। समझ में आया?

मुमुक्षु : हमको आगे बढ़ना चाहिए। सम्यग्दर्शन की बात....

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु आगे बढ़ने में कहाँ तक बढ़े? उसे सहज बढ़े या ऐसा का ऐसा बढ़ जाए? हठ से व्रत ले? वह तो स्वरूप की स्थिरता का पुरुषार्थ जगे, तब उसे ऐसा विकल्प होता है कि यह आस्रव का-व्रत का विकल्प होता है। उस आस्रव को भी जहररूप जानता है। यह व्रत ले लिया, लो! इसलिए उसे चारित्र है। धूल भी नहीं है। मिथ्यात्व की पुष्टि करता है। व्रत का विकल्प मिथ्यात्वसहित है और उसे मानता है कि हम चारित्रवन्त हैं और हम आगे बढ़े हैं (किन्तु वास्तव में) नीचे गिरा है, उसके बदले बढ़े हैं, (ऐसा मानता है)। क्या कहा, समझ में आया? आत्मा निर्विकल्प-रागरहित की प्रतीति

और अनुभव नहीं है और यह व्रत लेकर बैठे, इसलिए हम आगे बढ़े हैं, (ऐसा मान लिया वह तो) अमुक का मिथ्यात्व का पोषण किया है। नव तत्त्व की विरुद्ध श्रद्धा का पोषण किया है। ऐसा है। वस्तु ऐसी है। जगत की हुई बलिहारी, इस बाह्यत्याग और बाह्यव्रत के ऊपर जगत का इतना झुकाव है, वह अनादि का है। यह तो ऐसा भी कहाँ है? नौवें ग्रैवेयक गया, ऐसा जो त्यागव्रत, अभी तो वैसा भी कहाँ है? उसकी भूमिका के योग्य व्यवहार चाहिए, वह व्यवहार भी कहाँ है? समझ में आया? मिथ्यादृष्टि का व्यवहार, हों!

यहाँ तो कहते हैं, भाई! वस्तु की स्थिति ऐसी है। उसे उस प्रकार से बराबर जानना और मानना पड़ेगा। आहाहा! यह तो स्वयं पण्डित जयचन्दजी लिख गये हैं। आगे आयेगा। शास्त्र में तो सब आयेगा। ....परन्तु यहाँ स्वयं संग्रह किया है, **दंसणमूलो धम्मो** मार्ग जो वीतराग है, दिगम्बरदशा और दिगम्बर अर्थात् राग के वस्त्र / विकल्परहित अन्तर वीतरागीदशा, निर्ग्रन्थस्वरूप, वह दर्शन है। वह जैनमत और वह जैनदर्शन है। उसकी प्रतीति, उस स्वरूप की प्रतीति, वह सम्यग्दर्शन है। उस सम्यग्दर्शन को पहिचानने के चिह्न की यह बात चलती है। समझ में आया? संसार में भी एक बात को विचारे तो मनुष्य उसके कितने पक्षों को लक्ष्य में लेता है या नहीं?

(२) संवेग – धर्म में और धर्म के फल में परम उत्साह हो, वह संवेग है... प्रशम, संवेग बोल आया है न? समकित का बाह्य लक्षण। धर्म में और धर्म के फल में परम उत्साह। ऐसे धर्म में उत्साह नहीं, फल में (नहीं), ऐसा नहीं है। सम्यग्दृष्टि का यह बाह्य चिह्न उत्साह होता है। वीर्य मन्द पड़ गया नहीं होता कि अरे रे! क्या करे? कहीं मार्ग सूझता नहीं। उत्साह भंग (होवे) ऐसा नहीं होता। धर्मी के वीर्य का उत्साह अन्दर होता है। समझ में आया? **धर्म में और धर्म के फल में परम उत्साह...** वापस परम उत्साह होता है। अकेला उत्साह नहीं। आता है न यह? उत्साह और उस प्रकार का आता है। उद्योग और उत्साह, नहीं आता?

मुमुक्षु : उत्साह...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह नहीं, यह तो मूल गाथा में आता है। उसमें–गाथा में। कहीं आता है। कुछ याद रहता है न कुछ। पूरी गाथा आती है। समकिती का धर्म में उत्साह होवे तो ऐसा होता है और मिथ्यात्व का उत्साह ऐसा होता है। यह है गाथा में, लो! यही आया।

चारित्रपाहुड़ की तेरहवीं गाथा। कहीं होगा। चारित्रपाहुड़ है या नहीं? उसकी तेरहवीं (गाथा) देखो।

ऐसे कारण सहित हो तो सम्यक्त्व छोड़ता है ह्न

उच्छाहभावणासंपसंससेवा कुदंसणे सद्धा।
अण्णाणमोहमग्गे कुव्वंतो जहदि जिणसम्मं।।१३।।

इसके सामने चौदहवीं-

उच्छाहभावणासंपसंससेवा सुदंसणे सद्धा।
ण जहदि जिणसम्मत्तं कुव्वंतो णाणमग्गेण।।१४।।

तेरहवीं गाथा। १३वीं गाथा। ऐ सेठी! तेरहवीं निकालो तो नींद उड़ जाए। *अर्थ* – **कुदर्शन अर्थात् नैयायिक, वैशेषिक,...** पाँच मत। तेरहवीं गाथा, चारित्रपाहुड़ की। **सांख्यमत, मीमांसकमत, वेदान्तमत, बौद्धमत, चार्वाकमत, शून्यवाद के मत इनके भेष...** इनके भेष **तथा इनके भाषित पदार्थ और श्वेताम्बरादिक जैनाभास इनमें श्रद्धा, उत्साह, भावना, प्रशंसा और इनकी उपासना व सेवा जो पुरुष करता है, वह जिनमत की श्रद्धारूप सम्यक्त्व को छोड़ता है,...** समझ में आया? यह तो वस्तु का स्वरूप ऐसा है, भाई! कोई पक्षपात की बात नहीं है। आहाहा! क्या हो? इसका उल्टा लेते हैं, चौदहवीं (गाथा)। देखो! **वह कुदर्शन, अज्ञान और मिथ्यात्व का मार्ग है।**

अर्थ – सुदर्शन अर्थात् सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र स्वरूप सम्यक्मार्ग में उत्साहभावना... देखो! **अर्थात् ग्रहण करने का उत्साह करके बारम्बार चिन्तवनरूप भाव और प्रशंसा अर्थात् मन-वचन-काय से भला जानकर स्तुति करना, सेवा अर्थात् उपासना, पूजनादिक करना और श्रद्धा करना, इस प्रकार जो पुरुष ज्ञानमार्ग से यथार्थ जानकर करता है, वह जिनमत की श्रद्धारूप सम्यक्त्व को नहीं छोड़ता है।** लो, चारित्र का आया। तेरहवीं हो गयी, लो! यह उत्साह का आया न? उत्साह। परम उत्साह है न? क्या कहा?

समकिती को धर्म और धर्म के फल में परम उत्साह होता है। बराबर धर्म ऐसा है और धर्म का फल बराबर केवलज्ञान और मोक्ष होने का ही है—ऐसा उत्साह होता है।

समझ में आया ? न्यालभाई में बीच में लिखा है। न्यालभाई ने। केवलज्ञान आदि की पर्याय का पिण्ड जो द्रव्य, उसे जहाँ श्रद्धा में कब्जे में कर लिया है, अब केवलज्ञान आयेगा ही। समझ में आया ? भगवान आत्मा केवलज्ञान की पर्याय, ऐसी तो अनन्त पर्यायें ज्ञानगुण में पड़ी हैं। ऐसे उस गुण को जहाँ अधिकार में श्रद्धा में ले लिया है, श्रद्धा ने अधिकार कर लिया है कि यह आत्मा ऐसा है। अर्थात् अब पर्याय अन्दर में है, वह प्रगटेगी ही। ऐसा धर्मी को उत्साह अन्दर में धर्म और धर्म के फल का होता है। कहो, समझ में आया ? उसे (ऐसा नहीं होता कि) क्या होगा ? ऐसी रोतलमावणी नहीं होता – ऐसा कहते हैं। यह हमारी काठियावाड़ी भाषा है। रोतलमावणी समझ में आता है ? काठियावाड़ी भाषा है। नहीं समझे ? स्त्री ऐसी होती है न ? रोतलमावणी जैसी ऐं... हुआ ही करे। पराधीन। समकिती ऐसा नहीं होता, यह कहते हैं। उसका शब्द तो होगा तुम्हारी हिन्दी में कुछ। हमारे रोतलमावणी कहते हैं, तुम्हारे दूसरा कुछ (होगा)। है ? आहाहा!

धर्म में और धर्म के फल में परम उत्साह हो, वह संवेग है... इसका नाम संवेग। आहाहा! भगवान आत्मा पूरा सम्यक् प्रतीति में जहाँ आया है, उसे उत्साह का क्या कहना! उसे उत्साह का भंग किसका हो ? समझ में आया ? कहा न यह १३-१४ गाथा। उत्साह होता है। अन्यमत के धर्म आदि में उत्साहवाला समकित को छोड़ता है। अपना वास्तविक धर्म है, उसमें धर्म और उत्साह होवे, वह समकित का रक्षण करता है। समझ में आया ? यह सब सुने हुए का यह सब विस्तार आता है। समयसार में समकित का सुना है न, उसका वस्तु का स्वरूप ऐसा है।

तथा साधर्मियों से अनुराग... अपने जैसे धर्मी हो, उनके प्रति उसे प्रेम होता है। उसे द्वेष नहीं होता। यह बढ़ गया, बड़ा आदमी और यह एक महिला और बढ़ गयी, उसे ऐसा नहीं होता। समझ में आया ? आठ वर्ष का लड़का बढ़ गया, लो! हम पिचहत्तर वर्ष के पीछे रह गये, ५०-५० वर्ष के अभ्यासी तो भी (पीछे रह गये), ऐसा नहीं होता। प्रेम होता है। ओहो! धन्य मार्ग... धन्य मार्ग! आत्मा के स्वभाव को प्राप्त (हुए), ओहो! अलौकिक बात है।

ऐसा चाहे वह बालक हो या स्त्री हो, अपनी पत्नी हो और स्वयं पति हो तथा पत्नी धर्म प्राप्त करे तो उसके प्रति उत्साह होता है। ऐसा नहीं होता कि यह स्त्री कुछ जानती नहीं,

यह बढ़ गयी। समझ में आया? साधर्मी हो, ऐसा उसे मानता है। समकिती हो स्वयं और उसकी पत्नी समकिती को साधर्मी मानता है। उसे उसके प्रति उत्साह होता है। समझ में आया? बाहर में शर्म होगी। कहेंगे, इसकी पत्नी से समझा और धर्म को प्राप्त हुआ।

श्रेणिक राजा, नहीं? रानी से धर्म को प्राप्त हुआ। नहीं? चेलना। उसे शर्म होती होगी? चेलना से धर्म को प्राप्त हुआ न? चेलना रानी। विवाह करके आयी तो कहे, अरे! राजन्! मुझे कहीं जिनवर के दर्शन, प्रतिमा, मन्दिर दिखायी नहीं देते। मुझे कहीं उत्साह नहीं होता। अरे! भगवान परमात्मा कहीं नहीं देखती! बाहर में, मन्दिर में। उदासीन हो जाती है। उसने राजा से बात की, यह कारण है। (राजा कहता है), बनाओ मन्दिर आदि बनाओ। दर्शन कर सकती हो। समझ में आया? .... (मुनि के) गले में सर्प डाला है, तेरे मुनि ऐसे होते हैं, उन्हें सर्प डाल आया हूँ। निकाल दिया होगा। जा, जा निकाला। (रानी कहती है) तुम्हें खबर नहीं, हमारे मुनि ऐसे नहीं होते। (राजा कहता है)—अरे! सर्प डाला हो और लाखों चींटियाँ निकाले बिना रहेंगे? चलो, चलो।

मुनि अन्तर आनन्द में झूलते थे। शरीर में लाखों चींटियाँ।... राजन! जैनधर्म के सन्त राग को जीतकर ऐसे होते हैं। आहाहा! समकित को प्राप्त हुए हैं, लो! ठीक! समझ में आया? उन्हें शर्म आती होगी? अरे! धर्म तो यह पहले से प्राप्त हो गयी है, मैं तो पीछे रहा। बाद में तीर्थंकर होंगे, लो!

मुमुक्षु : वे तो आगे बढ़ गये।

पूज्य गुरुदेवश्री : बढ़े कहाँ? भले बढ़े। उन्हें सन्तोष है। यह बढ़ी हुई हो तो पहले से उसे सन्तोष है। ऐसा नहीं कि इस स्त्री ने मुझे बराबर समझाया और साधर्मीरूप से। स्त्रीरूप से तो संसार में पति है। साधर्मीरूप से तू साधर्मी आत्मा है। मेरा आत्मा समकिती है, ऐसा ही साधर्मी आत्मा तुम हो। साधर्मीरूप से तुम्हें रखूँगा। आहाहा! समझ में आया?

परमेष्ठियों में प्रीति... पाँच परमेश्वर—अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु—इनके प्रति जिसे प्रेम हो। समझ में आया? अन्यत्र प्रेम नहीं हो। परमात्मा पूर्ण स्वरूप को प्राप्त और पूर्ण स्वरूप को साध रहे हैं—ऐसे आचार्य, उपाध्याय और साधु के प्रति समकिती को प्रेम है। समझ में आया? **वह भी संवेग ही है...**

तथा धर्म के फल में अभिलाषा नहीं करना चाहिए,... स्पष्टीकरण करते हैं।

इसे अनुराग नहीं कहना, अभिलाषा नहीं कहना। अनुराग और अभिलाषा नहीं कहना। **क्योंकि अभिलाषा तो उसे कहते हैं, जिसे इन्द्रियविषयों की चाह हो। अपने स्वरूप की प्राप्ति में अनुराग को अभिलाषा नहीं कहते।** लो! अपना स्वभाव, उसकी जो अभिलाषा-भावना, उसे राग नहीं कहते। ऐसी अभिलाषा तो अज्ञानी को भी होती है। समझ में आया?

(३) निर्वेद – इस संवेग में ही निर्वेद भी हुआ समझना, क्योंकि अपने स्वरूप रूप धर्म की प्राप्ति में अनुराग हुआ, तब अन्यत्र सभी अभिलाषा का त्याग हुआ,... अस्ति-नास्ति की है। **सर्व परद्रव्यों से वैराग्य हुआ,...** एक निजद्रव्य के प्रति दृष्टि-रुचि, इसके अतिरिक्त सब परद्रव्यों के प्रति रुचि का त्याग हो गया, वह निर्वेग। समझ में आया? इसमें आगे मोक्षपाहुड़ में आता है न? **'सदव्वादो सुग्गई' 'परदव्वादो दुग्गई'** स्वद्रव्य से सुगति-मुक्ति आदि प्राप्त होती है। आदि क्यों लिखा है? पद लिखा, रखा है। समझ में आया? ....**'कामद् मोक्षदं चैव'** और **'परदव्वादो दुग्गई'** परद्रव्य के लक्ष्य में जाएगा तो राग ही होगा। उससे आत्मा की गति-सुगति नहीं (होगी)। समझ में आया? **सभी अभिलाषा का त्याग हुआ, सर्व परद्रव्यों से वैराग्य हुआ, वही निर्वेग है।** अपने स्वरूप की अभिलाषा, वह संवेग; परद्रव्य की अभिलाषा का त्याग, वह निर्वेग। इस समकिती के ऐसे बाह्य लक्षण होते हैं। समझ में आया?

(४) अनुकम्पा – सर्व प्राणियों में उपकार की बुद्धि और मैत्रीभाव, सो अनुकम्पा है... इसका नाम अनुकम्पा है। सब प्राणियों में उपकारबुद्धि। एक का खण्ड अलग करके नहीं। भाई! अनन्तानुबन्धी के अभाव के भाव से उसे अनुकम्पा कही है न! सर्व प्राणियों में उपकार की बुद्धि, मैत्री भाव। **तथा मध्यस्थभाव...** तथा मैत्री भाव। उपकार की बुद्धि तथा मैत्री भाव, ऐसा। **सो अनुकम्पा है तथा मध्यस्थभाव होने से सम्यग्दृष्टि के शल्य नहीं है,...** किसी का विरोध नहीं है। अन्दर में विरोध नहीं, शल्य नहीं। अनन्तानुबन्धी का भाव गया है, मारनेवाले के लिये अन्दर कोई डंक रह जाए, ऐसा नहीं है। लड़का किसका? मारे कौन? ....उसे अन्दर में डंक नहीं होता। अज्ञानी तो डंक रखता है, उसने ऐसा किया था। एक बार भरी सभा में मेरा अपमान किया था। बराबर उसका सही अवसर में अपमान करूँ तो... कहलाये। यह ज्ञानी को नहीं होता है। शल्य

नहीं होती। समझ में आया? ...है। लड़ाई का कारण आवे और लड़ाई में जाए, विकल्प आवे परन्तु वह व्यक्ति के प्रति द्वेष नहीं है। समझ में आया? वह तो अस्थिरता का भाव आया था। अन्दर में तो मध्यस्थ है। आहाहा! वाह! परपदार्थ ज्ञेय है, उसमें इष्ट-अनिष्टपना है ही नहीं। इष्ट-यह ठीक-अठीक माना, वह तो मिथ्यात्वभाव है। समझ में आया? अनुकम्पा, मध्यस्थभाव।

किसी से बैरभाव नहीं होता,... यह सब पंचाध्यायी की बात है। **सुख-दुःख, जीवन-मरण अपना पर के द्वारा और पर का अपने द्वारा नहीं मानता है...** देखो! बन्धभाव। दूसरे को सुख के संयोग दूँ, वह मैं देता हूँ-ऐसा नहीं मानता। इसी तरह दूसरे को दुःख देता हूँ—ऐसा नहीं मानता तथा दूसरे मुझे सुख-दुःख के संयोग देते हैं—ऐसा नहीं मानता। समझ में आया? यह सब अनुकम्पा की व्याख्या चलती है। आहाहा! **सुख-दुःख, जीवन-मरण...** मैं पर को मार सकता हूँ या पर से मैं मरता हूँ—ऐसा नहीं है। देह, हों! देह। आत्मा को तो कहाँ मरण है? मैं पर की देह मार सकता हूँ, छोड़ दूँ, मेरे देह को वह छुड़ावे, प्राण (छुड़ावे)—ऐसा नहीं है। इतनी अनुकम्पा आत्मा में समभाव वर्तता है, लो!

तथा पर में जो अनुकम्पा है सो अपने में ही है, इसलिए पर का बुरा करने का विचार करेगा तो अपने कषायभाव से स्वयं अपना ही बुरा हुआ;... यह तो अपना ही नुकसान हो गया, अनुकम्पा अपनी ही गयी। **पर का बुरा नहीं सोचेगा, तब अपने कषायभाव नहीं होंगे, इसलिए अपनी अनुकम्पा ही हुई।** लो! प्रशम, संवेग, निर्वेद और अनुकम्पा चार बोल चले हैं। एक रहा - आस्था। समझ में आया? यह आखिरी व्याख्या (आयेगी)। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन-६ गाथा-२ रविवार, ज्येष्ठ शुक्ल १०, दिनांक १४-०६-१९७०

भावार्थ चलता है। **दंसणमूलो धम्मो** की व्याख्या चलती है। सम्यग्दर्शन का मूल लक्षण तो प्रतीति है, परन्तु यहाँ प्रतीति सीधी ज्ञात नहीं होती, इसलिए उसे अनुभूति को मुख्य चिह्न गिनने में आया है। समझ में आया? सम्यग्दर्शन, यह आत्मा की अनुभव में

प्रतीति होना। शुद्ध चैतन्यस्वभाव के सन्मुख होकर अनुभव होकर स्वसंवेदन होकर उसमें प्रतीति होना, वह सम्यग्दर्शन है। वह सम्यग्दर्शन पहिचाना किस प्रकार जाए? ऐसा इसमें चलता है। सीधे तो पहिचाना नहीं जाता। वह प्रतीतिरूप है। उसके साथ स्वसंवेदन अनुभूति होती है। आनन्द के स्वाद का अनुभव होता है और जहाँ अनुभूति होती है, वहाँ सम्यग्दर्शन होता है। सम्यग्दर्शन हो, वहाँ अनुभूति होती है—ऐसा गिनकर सम्यग्दर्शन का अनुभूति मुख्य बाह्य चिह्न कहा गया है। उसका प्रतीति लक्षण है, वह यह लक्षण नहीं है। दर्शन की पर्याय को अनुभूति की पर्याय से पहिचानना, उस प्रतीति के लक्षण से यह लक्षण दूसरे गुण की पर्याय है, इसलिए इसे बाह्य लक्षण कहा गया है परन्तु यह है मुख्य। यहाँ से चला आता है न? है यह मुख्य चिह्न। बाह्य में भी। क्यों?

जहाँ आत्मा की अनुभूति-स्वसंवेदन होता है, वहाँ सम्यग्दर्शन होता ही है और जहाँ सम्यग्दर्शन होता है, वहाँ अनुभूति होती ही है। इसके अतिरिक्त के दूसरे लक्षण को बाह्य चिह्न अकेला कहने में आया है।

प्रशम। अनन्तानुबन्धी के अभाव से समभाव-प्रशम दिखायी दे, वह बाह्य चिह्न है। क्यों? कि उस श्रद्धा का लक्षण प्रतीति है और यह है चारित्र की पर्याय। उपशम और यह उपशम सम्यग्दर्शन होवे, तब होता है और यह उपशम यों ही हो और सम्यग्दर्शन न हो। समझ में आया? इसलिए इसे बाह्य लक्षण गौणरूप से गिनकर लक्षण कहा गया है।

मुमुक्षु : यह तो बहुत कठिन लगता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कठिन नहीं है। यह तो जैसा है, वैसा इसे समझना पड़ेगा या नहीं? सम्यग्दर्शन सूक्ष्म है और प्रकृति के परिणाम भी उपशम और क्षयोपशम हो, वे भी पुद्गल के परिणाम सूक्ष्म हैं। तब इसे जानना किस प्रकार? यहाँ तो यह प्रश्न है। समझ में आया? और न ज्ञात हो और प्रतीति-निर्धार न हो तो सब ऐसा ही गिने कि हमारे समकित नहीं है, समकित नहीं है, मिथ्यादृष्टि है। तो हो गया। समझ में आया?

इसलिए यहाँ कहने में आया है कि मुख्य चिह्न तो इसका ज्ञान है-अनुभूति, उस ज्ञान की पर्याय द्वारा समकित को पहिचानना, यह व्यवहार हुआ। यह व्यवहार हुआ, क्योंकि दूसरे गुण की पर्याय द्वारा दूसरे गुण की पर्याय को पहिचानना, यह व्यवहार हुआ। परन्तु यह व्यवहार ऐसा होता है। सेठी!

मुमुक्षु : ....कहीं व्यवहार का....

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार अभूतार्थ होने पर भी... ऐई! .... व्यवहार तो तुम अभूतार्थ कहते हो। वह तो त्रिकाल की अपेक्षा से अभूतार्थ है। आश्रय की अपेक्षा से (अभूतार्थ है) परन्तु यह पर्याय जो है, वह ज्ञान में ज्ञेय यह आया आत्मा, यह ख्याल में आया, वह बराबर आया है। उस ज्ञान द्वारा समकित को-प्रतीति को पहिचानना, इसका नाम यहाँ व्यवहार कहने में आता है। समझ में आया? दूसरे गुण की पर्याय द्वारा दूसरे गुण की पर्याय को पहिचानना, यही व्यवहार और उस व्यवहार को भी भगवान ने कहा है। ऐसा तीन-चार जगह लिखा है।

मुमुक्षु : व्यवहार अर्थात् सच्चा नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : सच्चा नहीं अर्थात् वह प्रतीति का लक्षण नहीं, सम्यग्दर्शन का लक्षण नहीं, इसलिए सच्चा नहीं परन्तु साथ में होता है, इसलिए उसे अविनाभाव गिनकर मुख्य बाह्य लक्षण कहा गया है। ऐसा है। पण्डितजी!

मुमुक्षु : सम्यग्दर्शन होने से आदरणीय...

पूज्य गुरुदेवश्री : आदरणीय की बात यहाँ कहाँ है? यहाँ तो पहिचानने के लिये व्यवहार कहा।

(समयसार) आठवीं गाथा में कहा है कि व्यवहार से यह आत्मा दर्शन, ज्ञान, चारित्र को प्राप्त हो, वह आत्मा। ऐसे व्यवहार से द्रव्य को बतलाया, परन्तु वह व्यवहार आदरणीय है, ऐसा नहीं है। समझ में आया? उस व्यवहार से बतलाया कि यह आत्मा, जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र को प्राप्त हो, वह आत्मा, ऐसा व्यवहार कहा। तो व्यवहार तो अभूतार्थ है परन्तु उसके द्वारा वह जाना, तब उसे व्यवहार कहने में आया है। इसलिए अभूतार्थ होने पर भी, उसे छोड़कर जब जानता है, ज्ञायकमात्र आत्मा है, तब उस अभूतार्थ से भूतार्थ को जाना, ऐसा व्यवहार से कहने में आता है।

मुमुक्षु : बहुत लम्बा हो गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा है, वस्तु का स्वरूप ऐसा है। उसमें दूसरे प्रकार से कुछ (होवे ऐसा नहीं है)। समझ में आया? इसके लिये तो कितने पृष्ठ भरे हैं।

मुमुक्षु : इसकी अपेक्षा तो आप सरल कहते हो, आनन्द होवे तो समकित होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं। ऐसा होगा ? आनन्द होवे तो समकित हो, परन्तु वह आनन्द की पर्याय भिन्न है, समकित की पर्याय भिन्न है। इसलिए आनन्द होवे तो समकित हो, वे दोनों एक हैं ? इसलिए उसे बराबर बताना चाहिए कि यह व्यवहार है। ऐई ! समझ में आया ? शशीभाई ! समझ में आया या नहीं ? यह सब ऐसा सूक्ष्म आया है। समयसार में तो सीधा था। यह वही प्रकार है। उसे स्वयं को भान होता है या नहीं ? और भान न हो तो सन्देह रहा करे कि यह तो समकिती नहीं है। इसलिए हो गया। वह तो सब मिथ्यात्व है। मुनि का व्यवहार ही सब मिथ्यात्व में होगा। सेठी ! यह सब समझना पड़ेगा, ऐसा कहते हैं।

प्रशम लक्षण है, वह बाह्य है; मुख्य नहीं। मुख्य लक्षण अनुभूति है क्योंकि वह वहाँ होती ही है इसलिए (मुख्य है) और प्रशम हो, वहाँ समकित होता भी है और समकित न हो और प्रशम हो, इसलिए उस प्रशम को बाह्य मुख्य नहीं परन्तु गौण बाह्य चिह्न गिनने में आया है। लो ! इसे स्वयं को विश्वास होना चाहिए न ! किस प्रकार से विश्वास होगा ? समझ में आया ? ऐसे तो सम्यग्दर्शन के परिणाम तो सूक्ष्म केवलीगम्य हैं, ऐसा कहा। तब इसे गम्य किस प्रकार होंगे ? सेठी !

मुमुक्षु : मुख्य कारण क्या ?

पूज्य गुरुदेवश्री : मुख्य कारण नहीं, मुख्य चिह्न। यहाँ शब्द बदलना नहीं चाहिए।

आत्मा वस्तुस्वभाव का पिण्ड चैतन्य प्रभु की सावधानी अन्तर में होकर जो प्रतीति हुई, वह प्रतीति वह सम्यग्दर्शन का वास्तविक लक्षण है और वह प्रतीति है, वह तो निर्विकल्प है। वह नहीं जानती स्वयं को, नहीं जानती पर को। तब अब उसे-प्रतीति को ज्ञान में जानना किस प्रकार ? समझ में आया ?

यह आत्मा राग की एकता में था, तब वह दु:ख का वेदन था। मिथ्यात्व में। समझ में आया ? आनन्दस्वरूप होने पर भी राग का विकल्प है, सूक्ष्म में सूक्ष्म विकल्प, वह मैं हूँ या यह अस्तित्व पूरा है, वह प्रतीति में नहीं आया, इसलिए उसकी प्रतीति में यह राग मैं हूँ, ऐसा प्रतीति में आया। उस मिथ्यात्वभाव में राग का वेदन, वह दु:ख का है। अब

कहते हैं कि मिथ्यात्व जाकर (मिटकर) सम्यक्त्व हुआ, उसका लक्षण क्या? किस प्रकार पहिचानना?

तो कहते हैं कि जहाँ राग की एकता गयी, वहाँ स्वभाव की एकता हुई, तो रागरहित जो शुद्ध आनन्दस्वभाव है, उसमें एकता होने पर प्रतीति हुई, परन्तु प्रतीति सीधी ज्ञात नहीं होती, इसलिए आनन्द के वेदन से (जाना कि) यह आनन्द हुआ। वह पर्याय है प्रतीति से अलग, परन्तु यह आनन्द है-ऐसी प्रतीति हुई, उसे उसका ज्ञान व्यवहार से मुख्य बाह्य चिह्न से जानने में आता है। इतनी बात है। ऐ.. अमरचन्दभाई! ऐसा बहुत सूक्ष्म। समझ में आया? है?

ऊपर आया न? देखो न! उस ओर आया है। आठवें पृष्ठ पर। **उस चिह्न को ही सम्यक्त्व कहना, सो व्यवहार है।** आठवें पृष्ठ पर नीचे आया था। यह कुछ अलग होगा। यह पुराने की बात है। कहते हैं, देखो! **यह मिथ्यात्व अनन्तानुबंधी के अभाव से सम्यक्त्व होता है, उसका चिह्न है; उस चिह्न को ही सम्यक्त्व कहना, सो व्यवहार है। उसकी परीक्षा सर्वज्ञ के आगम, अनुमान तथा स्वानुभव प्रत्यक्ष प्रमाण इन प्रमाणों से की जाती है।** तीन प्रकार लिये हैं। यह बात अपने आ गयी है।

इसी को निश्चय तत्त्वार्थश्रद्धान भी कहते हैं। स्वरूप का अनुभव होकर प्रतीति हुई, उसे निश्चय तत्त्वार्थश्रद्धान भी कहा जाता है। अब व्यवहार तत्त्वार्थश्रद्धान है, वह बाह्य चिह्न है, ऐसा वापस कहा। यह निश्चय तत्त्वार्थश्रद्धान। समझ में आया? और इस ओर कहा, देखो! **वहाँ अपनी परीक्षा तो अपने स्वसंवेदन की प्रधानता से होती है और पर की परीक्षा तो पर के अंतरंग तथा पर के वचन व काय की क्रिया से होती है, यह व्यवहार है,...** देखो! ज्ञान से पर को जानना और ज्ञान से समकित को जानना, वह व्यवहार है। बहुत सरस स्पष्ट लिखा है। उसे स्वयं को विश्वास हो, उसका कोई उपाय है या नहीं? कहते हैं। समझ में आया?

परमार्थ सर्वज्ञ जानते हैं। क्योंकि पूर्ण पर्याय का लक्षण तो एकदम सर्वज्ञ जानते हैं। **अनेक लोग कहते हैं कि - सम्यक्त्व तो केवलीगम्य है, इसलिए अपने को सम्यक्त्व होने का निश्चय नहीं होता, इसलिए अपने को सम्यग्दृष्टि नहीं मान सकते। परन्तु इस प्रकार सर्वथा एकान्त से कहना तो मिथ्यादृष्टि है;...** ऐसा नहीं हो सकता।

उसके बाद है न ? इसलिए यहाँ अनुभूति से परीक्षा करना और दूसरे बाह्य लक्षण हैं, उनसे भी समकित को जानना, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? यह तो मूल चीज़ है। **दंसणमूलो धम्मो** इससे यह बात चलती है।

मुमुक्षु : इसलिए अनुभूति तत्काल हो जाती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : तत्काल हो जाती है परन्तु उस अनुभूति से समकित को जानना, यह भी व्यवहार हुआ। आहाहा! दूसरी पर्याय से दूसरी पर्याय को जानना, वही व्यवहार, उसे स्व से जानना, वह निश्चय।

मुमुक्षु : सविकल्प अवस्था में ज्ञात होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सविकल्प नहीं। उस काल में अनुभूति है, उस समय में उसे आनन्द का स्वाद है, इसलिए समकित है – ऐसा विचार करने से ज्ञात होता है। बाकी तो प्रतीति में आया ही है न कि यह तो वस्तु आनन्द ही है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात। समझ में आया ? राग की एकता में जो दुःख था, आकुलता थी, मिथ्यात्व में (ऐसा था)। वह मिटकर स्वभाव सन्मुख होकर सम्यक्त्व होने से वह आकुलता एकता की तो गयी। तब उसके स्थान में अनाकुलता आनन्द का आश्रय आयेगा या नहीं अन्दर से ? मूल यही वास्तविक लक्षण है, अनुभव, यही वस्तु है। आहाहा! समझ में आया ?

पश्चात् तो कहा, **तत्त्वार्थश्रद्धान तो बाह्य चिह्न है।** देखो! **तथा तत्त्वार्थश्रद्धान तो बाह्य चिह्न है।** यह तत्त्वार्थश्रद्धान कौन ? भेदरूप। पहले तत्त्वार्थश्रद्धान था, वह निश्चय। समझ में आया ?

मुमुक्षु : निश्चय का चिह्न व्यवहार।

पूज्य गुरुदेवश्री : निश्चय का चिह्न व्यवहार अर्थात् क्या ? पर पर्याय, इस अपेक्षा से व्यवहार। पर्याय है, वह तो उसकी–ज्ञान की निश्चय (पर्याय है) परन्तु उस ज्ञान की पर्याय द्वारा प्रतीति को पहिचानना, वह व्यवहार है। समझ में आया ? उससे उसे जानना, वह तो निश्चय है। उससे प्रतीति को जानना, वह व्यवहार। गजब बात! दास! ऐसा मार्ग है, भाई! धीरे से समझने योग्य बात है। समझ में आया ? कितना मर्म भरा है, देखो!

मुमुक्षु : ....सो निश्चय और प्रतीति को जानना व्यवहार।

पूज्य गुरुदेवश्री : ज्ञान को, ज्ञान को जानना, वह तो निश्चय हुआ परन्तु ज्ञान की पर्याय द्वारा प्रतीति को जानना, वह व्यवहार हुआ। आनन्द को जानना, वह ज्ञान की पर्याय से ज्ञात होता है परन्तु आनन्द में जानने का भाव-स्वभाव कहाँ है ? स्व-पर प्रकाशक शक्ति एक ज्ञान में ही है। बाकी दूसरी सब शक्तियाँ-गुण हैं, वे तो अस्तिरूप से अस्तित्वरूप से रही हुई है। सत्तारूप से। परन्तु स्वयं और पर को जानना, वह उनका स्वभाव नहीं है। इसलिए यहाँ ज्ञान प्रधान से ज्ञान को ज्ञान से जानना, यह निश्चय हुआ, वेदन। ज्ञान से प्रतीति को जानना, वह यहाँ तो व्यवहार हुआ।

भाई कहते हैं, यह बाहर का व्यवहार नहीं। यह क्रिया, दया, दान का व्यवहार, वह नहीं। दया, दान के परिणाम, यह व्यवहार, वह नहीं। यह तो अन्दर पहिचानने की अपेक्षा का व्यवहार हुआ। और क्या कहा ? ऐसा कि दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम जो हैं, उनसे पहिचानना, ऐसा रहा नहीं, वह वस्तु तो इसमें है ही नहीं। यह तो इसमें है। ज्ञान की अनुभूति और दर्शन की प्रतीति है। समझ में आया ? बहुत सूक्ष्म आया। ऐ... प्रवीणभाई ! मार्ग तो देखो न...

बापू ! वस्तु है या नहीं ? और वस्तु के स्वरूप का जहाँ अन्दर भान होकर प्रतीति हुई, वह प्रतीति तो सीधी ज्ञात हो, ऐसी नहीं है क्योंकि प्रतीति में जानने का स्वभाव नहीं है, वह प्रतीति स्व को नहीं जानती, वह प्रतीति पर को नहीं जानती। कुछ भी जानने की बात है, वह ज्ञान द्वारा ही ज्ञात होती है। पंचाध्यायी में एक जगह लिया है। किसी भी गुण की व्याख्या करनी हो, (वह) ज्ञान द्वारा (की जाती है)। उसका कारण है ज्ञान। यह प्रतीति, यह आनन्द वह सब ज्ञान द्वारा ही ज्ञात होता है, कहा जाता है। दूसरे किस प्रकार से होगा ? पंचाध्यायी ने बहुत सरस बात ली है। पंचाध्यायी का ही यह सब थोड़ा लिया है। यह बाह्य चिह्न, यह पंचाध्यायी में बात है। पहले समझ में आये ऐसा है, ऐसा मस्तिष्क में रखना।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार कहा न ! समझ में आया ? इस व्यवहार के अतिरिक्त दूसरा कोई सहारा नहीं है, इसलिए यह कहते हैं, सर्वज्ञ ने भी व्यवहार का आश्रय कहा है। अर्थात् क्या ? एक गुण की पर्याय दूसरे को जाने, वह (इसका अर्थ है)।

मुमुक्षु : वह सविकल्पदशा में आवे या निर्विकल्प में।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो सविकल्प होवे तो भी ज्ञान से प्रतीति को जानता है, विकल्प से नहीं। निर्विकल्प में तो खबर भी नहीं, वह तो स्वयं वेदन में है। समझ में आया? परन्तु सविकल्पता आयी, तब भी जानने से ज्ञान की पर्याय से प्रतीति ज्ञात होती है। विकल्प से तो है ही नहीं। वह प्रश्न है ही नहीं यहाँ। समझ में आया? ऐसा सूक्ष्म है। आहाहा!

तत्त्वार्थश्रद्धान बाह्य है। कहा न? रुचि, श्रद्धा और प्रतीति। प्रतीति भी ली है, देखो! यह अन्दर। वह प्रतीति बाह्य लक्षण है। उसकी जो मूल प्रतीति है, वह यहाँ नहीं। श्रद्धा, रुचि, प्रतीति। **जैसे सर्वज्ञ ने कहे हैं, तदनुसार ही अंगीकार करना और उनके आचरणरूप क्रिया...** शुभ विकल्प। **इसप्रकार श्रद्धानादिक होना, सो सम्यक्त्व का बाह्य चिह्न है।** यह पंचाध्यायी की शैली है। सीधा पंचाध्यायी पूरा पढ़ना कठिन पड़ता है। थोड़ा इसमें आया। इस प्रकार की शैली में (आया)। अब यहाँ तो अपने यहाँ तक आया है, देखो!

जीवादि पदार्थों में अस्तित्वभाव सो आस्तिक्यभाव है। यह बाह्य लक्षण है। प्रतीति अन्दर की है, वह तो निश्चय लक्षण है। यह पूरी वस्तु अखण्ड ऐसी है – ऐसी प्रतीति उसका निश्चय लक्षण है परन्तु यह आस्था होना कि 'यह है, जीव है, अजीव है, ज्ञानपर्याय है इत्यादि।' **जीवादि पदार्थों में अस्तित्वभाव, सो आस्तिक्यभाव है।** अस्तित्वभाव है, वह आस्तिक्यभाव है।

जीवादि पदार्थों का स्वरूप सर्वज्ञ के आगम से जानकर उनमें ऐसी बुद्धि हो कि जैसे सर्वज्ञ ने कहे वैसे ही यह हैं, अन्यथा नहीं हैं, वह आस्तिक्यभाव है। इस प्रकार यह सम्यक्त्व के बाह्य चिह्न हैं। तत्त्वार्थश्रद्धान, प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा, आस्था, ये सब बाह्य लक्षण हैं, क्योंकि पर्याय भिन्न है। यह पर्याय चारित्र की पर्याय ली है। समझ में आया? परन्तु प्रशम आदि में सम्यग्दर्शन होवे भी सही और न हो वहाँ ऐसे भाव होते हैं। अज्ञानी को भी, बाह्य; इसलिए उसे बाह्य लक्षण कहने में आया है और अनुभूति को अभ्यन्तर का मुख्य चिह्न कहने में आया है। समझ में आया?

यह कहीं बड़ी सभा का विषय नहीं है। बड़ी सभा अधिक हो। राजकोट में यह लगावे तो कहे, यह सब क्या है? वहाँ तो अमुक शैली चलती है। स्थूल में पकड़े नहीं, वहाँ और यह... एक तत्त्वार्थश्रद्धान निश्चय है और एक तत्त्वार्थश्रद्धान व्यवहार है। एक

आस्था अन्दर प्रतीति, वह निश्चय है और नौ की प्रतीति का लक्षण, उसका बाह्य लक्षण कहा है। परन्तु यह क्या कहते हैं ?

मुमुक्षु : घड़ीक में ऐसा, घड़ीक में ऐसा।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, घड़ीक में ऐसा नहीं। यह और ठीक कहते हैं। जिस अपेक्षा से पहले कहा था, उससे दूसरी अपेक्षा है। ऐसा इसका घड़ीक में ऐसा और घड़ीक में ऐसा। ख्याल आवे और देखता है न, भाई बोले तो यह भी बोले न। कहो, समझ में आया ? इसका पहले ख्याल तो करे कि यह इसकी विधि और यह इसकी पद्धति है। दूसरी पद्धति हो नहीं सकती।

और **सम्यक्त्व के आठ गुण हैं ह्न संवेग,...** मोक्ष की अभिलाष। क्योंकि स्वभाव की अभिलाषा, वह संवेग। **निर्वेद,...** बाह्य से हट जाना, राग आदि से हट जाना, वह निर्वेद। **निन्दा,...** ऐसा एक बाह्य भाव है। जो अन्दर में रागादि होते हैं... आहाहा! विषय-वासना, युद्ध का भाव धर्मी को भी होता है। उसकी उसे निन्दा आती है। ऐसा एक बाह्य भाव, समकिती की बाह्य लक्षण कहने में आता है। **गर्हा,...** गुरु के साथ में गर्हणा करना। ओहो! ऐसे निर्विकल्प आनन्द का भान होने पर भी यह एक वृत्ति उठती है, जो साधारण लोगों को कहने से लोगों को शंका पड़ जाती है। यह ? ऐसा एक भाव समकित की दशा में भी आता है। ऐई! उसे स्वयं निन्दा करना, वह निन्दा में जाता है और गुरु के पास निन्दा करना, वह गर्हा में जाता है। ऐसा एक भाव होता है।

मुमुक्षु : उसे गुण कहा।

पूज्य गुरुदेवश्री : गुण शब्द से यह पर्याय का ऐसा एक भाग है, उसे गुण (कहा)। गुण अर्थात् यह त्रिकाली गुण कहाँ है ? सच्चा गुण भी कहाँ है ? ऐसी एक स्थिति खड़ी होती है, ऐसा इसे उससे ज्ञात होता है, इसलिए उसे गुण कहा है। उससे बाह्य लक्षण ज्ञात होता है कि यह समकित है, इसलिए उसे गुण कहा। गुणते इति गुण:। पृथक् करना, पर से पृथक् करने के लिये गुण कहने में आता है। ऐसा है। गुण का अर्थ आता है या नहीं ? आता है, प्रवचनसार में आता है, तत्त्वार्थसार में आता है। तत्त्वार्थसार में लिया है। गुण क्यों ? कि वे दूसरों से पृथक् करते हैं, पृथक् करते हैं। आत्मा को ज्ञान द्वारा राग से, पर से पृथक् करते हैं, इसलिए उन्हें गुण कहने में आता है। समझ में आया ?

इस प्रकार यह भी बाह्य लक्षण कहे न? आठ गुण। उस प्रकार का पर से-मिथ्यात्वभाव से पृथक्पना बताते हैं, इसलिए उन्हें गुण कहा। गुण (अर्थात्) मूल (त्रिकाली) गुण नहीं तथा पर्याय अत्यन्त निर्मल है, ऐसा नहीं। परन्तु इस प्रकार का एक भाग होता है।

उपशम,... यह प्रशम में आ गया। **भक्ति,...** इसमें आगे लेंगे। संवेग में समाहित हो जाएगी। **वात्सल्य...** संवेग में समाहित हो जाएगा। **अनुकम्पा।** यह भी प्रशमभाव है न, उसके साथ अकषायभाव होता है, उसे यहाँ अनुकम्पा कहने में आता है। यह भी प्रशम में समाहित हो जाएगा। **यह सब प्रशमादि चार में ही आ जाते हैं।** यह आठों ही, हों! **संवेग में निर्वेद, वात्सल्य और भक्ति – ये आ गये तथा प्रशम में निंदा, गर्हा आ गई।** इसमें है, एक गाथा है। पंचाध्यायी की गाथा है।

अब यह प्रचलित-ख्याल में आवे, ऐसी बात है। ख्याल में आवे ऐसी वह थी परन्तु जरा सूक्ष्म थी। किसी समय वाँचन में आवे न, यह वाँचन कहीं हर समय होता है? समयसार का वाँचन तो बहुत बार बहुत प्रकार से (आया हो)। यह चलता हो तो पूर्व में चल गया हो, उसमें से बात, परन्तु उसके साथ मिलान आवे, इसलिए इसे जरा ठीक लगती है। यह तो किसी समय आवे, इसलिए समझने के लिये ध्यान रखना पड़ेगा।

सम्यग्दर्शन के आठ अंग कहे हैं,... अब सम्यग्दर्शन है तो प्रतीति पर्याय, उसके आठ प्रकार, उसके लक्षण के (कहते हैं)। चिह्न—**उन्हें लक्षण भी कहते हैं और गुण भी।** लो, अंग लक्षण और गुण। तीन प्रकार से कहे हैं। समकित के निःशंक आदि आठ (अंग) आते हैं न? **निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना।**

वहाँ शंका नाम संशय का भी है और भय का भी। शंका नाम संशय और भय, दोनों शंका के अर्थ में आते हैं। **वहाँ धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, कालाणुद्रव्य, परमाणु इत्यादि तो सूक्ष्मवस्तु हैं तथा द्वीप, समुद्र, मेरुपर्वत आदि दूरवर्ती पदार्थ हैं...** नजदीक क्षेत्र में नहीं हैं, ऐसा। परमाणु भी जरा है नजदीक में परन्तु दूर है न? अपने को ज्ञात न हो ऐसा। **तथा तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि अन्तरित पदार्थ हैं; वे सर्वज्ञ के आगम में जैसे कहे हैं, वैसे हैं या नहीं हैं?** ऐसा संशय (होवे), उसे शंका कहते हैं

और उसमें भय होना कि ऐसा नहीं होता, ऐसा नहीं होता। शंका को भय भी कहते हैं। **अथवा सर्वज्ञदेव ने वस्तु का स्वरूप अनेकान्तात्मक कहा है सो सत्य है या असत्य? – ऐसे सन्देह को शंका कहते हैं।**

मुमुक्षु : भगवान ने कहा, वह तो सत्य ही होता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : सत्य होता है, परन्तु वह सत्य किस प्रकार से है, यह इसके ख्याल में आना चाहिए न! गहरे-गहरे संशय रहे और ऐसा कहे (कि) सर्वज्ञ भगवान ने कहा वह सत्य। समझ में आया? भगवान ज्ञान में एक समय की पर्याय में तीन काल-तीन लोक पृथक्-पृथक् अनन्त के अनन्त भेद को पृथक्‌रूप से जाना है, ऐसा ही पर्याय का उनका स्वभाव है। उन्होंने जाना वह सत्य है, ऐसा अन्दर में नि:सन्देहरूप से जँचना। और सन्देह रहना, वह संसार है। समझ में आया?

जिसके यह न हो उसे नि:शंकित अंग कहते हैं... यह शंका न हो, उसे नि:शंक कहा जाता है। नि:शंकता, स्वरूप की नि:शंकता। यह नि:शंक आता है न? नियमसार में (आता है) ३८, ३८ न? ५वीं गाथा—**आप्त अर्थात् शंकारहित। शंका अर्थात् सकल मोह राग-द्वेषादिक (दोषों)**। सकल राग-द्वेष-मोह सब दोष। समझ में आया? और उस दोष को शंका कहा और शंकारहित, वह आप्त पुरुष होता है। आप्त की श्रद्धा करनेवाला भी ऐसी शंकारहित होता है। समझ में आया? यह ५वीं (गाथा) है, हों!

सन्देह को शंका कहते हैं। जिसके यह न हो, उसे नि:शंकित अंग कहते हैं तथा यह जो शंका होती है, सो मिथ्यात्वकर्म के उदय से (उदय में युक्त होने से) होती है;... सन्देह, स्वभाव से विरुद्ध भाव है, वह अज्ञान के कारण होता है। मिथ्यात्व कर्म का निमित्त है, ऐसा कहते हैं। **पर में आत्मबुद्धि होना उसका कार्य है।** शंका का कार्य क्या है? पर में आत्मबुद्धि होना। सत् की श्रद्धा में शंका अर्थात् असत् की श्रद्धा है। वह पर में आत्मबुद्धि है, उसे शंका कहा जाता है।

जो पर में आत्मबुद्धि है, सो पर्यायबुद्धि है... यह रागादि में। सर्वज्ञस्वभाव से कहा हुआ जो आत्मा, उसकी जिसे शंका है, वह शंकावाला... क्या कहा? उसे पर में आत्मबुद्धि है। स्व में यदि स्वबुद्धि हो तो उसे शंका नहीं हो सकती। सब राजकोट के आ गये? पुस्तकें आ गयी हैं। कल? आ गये? क्या कहा?

शंका, वह मिथ्यात्वकर्म के उदय से। और उसमें आत्मबुद्धि होना, वह कार्य है। शंका में पर में आत्मबुद्धि (होती है)। स्व की आत्मबुद्धि हो तो नि:शंकरूप से वहाँ होती है। शंका में कुछ भी विकल्प आदि में भगवान ने ऐसा नहीं कहा कि विकल्प इसका है। समझ में आया? ऐसे सर्वज्ञ ने कही हुई बात में इसे गहरे-गहरे शंका अर्थात् पर को अपना मानने का भाव (रहना), वह शंका का कार्य है। समझ में आया?

और उसका अर्थ **जो पर में आत्मबुद्धि है, सो पर्यायबुद्धि है...** किसमें? पर में। स्ववस्तु अखण्ड आत्मद्रव्य की जो प्रतीति, वह तो नि:शंक हुआ। वह तो नि:शंक पर्याय हुई और यह शंका—पर में अपनी बुद्धि, उस पर्यायबुद्धिवाले को वह पर्याय होती है। राग आदि मैं, शरीर आदि मैं। सर्वज्ञस्वभावी आत्मा, ऐसा सर्वज्ञ ने कहा हुआ तत्त्व, उसमें जिसे शंका है, उसे कहते हैं कि परबुद्धि-पर में ही अपनापन मानने का भाव है और उसका नाम ही पर्यायबुद्धि कहने में आती है। गजब बात की है। ऐई! यह हो रही है, पुस्तकें मिलती नहीं। नहीं तो अभी बहुत खप जाए। पढ़ते हों तब बहुत खपे। यह हिम्मतभाई ने तो तैयार की नहीं। आवे तब होवे न।

यहाँ कहते हैं, यहाँ वापस क्या डालना है? भय डालना है। शंका में से भय निकालना है। शंका का नाम भय भी है। ऐसा कैसे है? कहते हैं कि शंकावाले को पर में अपनी बुद्धि है, उसका नाम शंका और पर में अपनी बुद्धि है, वह पर्यायबुद्धिवाले को होती है। पर्यायबुद्धि अर्थात् राग और शरीर मेरा, उसे भय होता है। यह भय की व्याख्या है। समझ में आया? अरे! गजब बातें, भाई! ...सुनना तो चाहिए या नहीं? बहुत वर्ष हो गये न! (संवत्) २०१८ के वर्ष में कार्तिक में पूरा हुआ था। साढ़े सात वर्ष हुए।

कहते हैं, शंका अर्थात् सर्वज्ञ ने कहे हुए तत्त्वों की शंका अर्थात् उसे स्व का स्व और पर की बुद्धि की भिन्नता का भान नहीं है, इससे पर को अपना मानता है, उसे यहाँ शंका (कहते हैं)। इस शंका का वह कार्य है और वह शंका पर्यायबुद्धि अर्थात् शरीर आदि मेरा, राग मेरा, उसे होती है और इसलिए शरीर और राग मेरा, उसे भय हुए बिना नहीं रहता। यह जाएगा तो? समझ में आया?

और पर्यायबुद्धि भय भी उत्पन्न करती है। देखो! ऐसा अस्तित्व का नि:शंकापना नहीं, इसलिए ऐसी शंका हुई। शंका में तो परबुद्धि हुई। परबुद्धि, वह पर्यायबुद्धि। पर्याय

अर्थात् शरीर मेरा, ऐसी बुद्धि उस शंकावाले को होती है। निःशंकवाले को तो पूरा आत्मा अखण्ड आनन्द हूँ, वह निःशंकता है। समझ में आया? शंका में अखण्ड द्रव्यस्वभाव है, वह प्रतीति में नहीं है। निःशंकता में वह नहीं अर्थात् वह शंका में आया है। स्वद्रव्य के परिपूर्ण की प्रतीतिरहित परवस्तु मेरी, ऐसी शंका के भाव में आया है। उसका कार्य—शंका का कार्य यह है। और वह पर्यायबुद्धिवाले को (होती है)। पर्यायबुद्धिवाले को भय हुए बिना नहीं रहता। मेरा शरीर जाएगा तो? ऐसा होगा तो? समझ में आया? **पर्यायबुद्धि भय भी उत्पन्न करती है।**

शंका भय को भी कहते हैं,... बहुत अच्छी व्याख्या की। समझ में आया? ऐसी वस्तु भगवान ने कही हुई, आत्मा आदि सब, लो न! निःशंक वस्तु स्वयं परमानन्द और अनन्त गुण का पिण्ड है, ऐसा भान होवे तो निःशंक है परन्तु ऐसी निःशंकता नहीं, वहाँ शंका है अर्थात् स्व को ही अपना मानना नहीं, परन्तु पर को अपना मानना, ऐसी शंका है। उस शंका का कार्य पर को (अपना) मानना, यह भाव है और पर को अपना माने, वहाँ पर्यायबुद्धि होती है। मैं हूँ, यह बुद्धि नहीं और शरीर मैं हूँ, यह बुद्धि है और शरीर मैं हूँ—ऐसी बुद्धिवाले को भय उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता। आहाहा!

उसके सात भेद हैं... लो, अब उसके सात भेद किये। शंका को भय किस प्रकार से है, उसकी व्याख्या करके अब उसके सात भेद करते हैं।

मुमुक्षु : यह भय है, ऐसा तो ख्याल...

पूज्य गुरुदेवश्री : निर्णय करके किया कि भय इस प्रकार से है। भय क्यों है शंका के अर्थ में? शंका के स्थान में भय भी कैसे कहना? ऐसे जिसे आत्मबुद्धि नहीं, उसे पर्यायबुद्धि है और शंका का कार्य ही यह कि पर को अपना मानना और स्व को अपना मानना नहीं। समझ में आया? समझ में आये ऐसी भाषा है, हों! समझ में आता है न गुजराती? आहाहा!

यह सात भय हैं। **इस लोक का भय,...** जहाँ पर्यायबुद्धि है, शरीरबुद्धि है, अजीवबुद्धि है; जीवबुद्धि नहीं। समझ में आया? अपना भगवान आत्मा अखण्डानन्द परिपूर्ण की अस्ति है, उसकी तो बुद्धि नहीं, इसलिए परबुद्धि हुई। परबुद्धि हुई, उसमें इस लोक का भय, परलोक का भय, मरण का भय, अरक्षा का भय, अगुप्ति का भय, वेदना

का भय, अकस्मात् का भय। **जिसके यह भय हों, उसे मिथ्यात्व कर्म का उदय समझना चाहिए;...** क्योंकि यह चीज़ इसकी नहीं और इसकी मानी है और तब इसे भय उत्पन्न होता है। समझ में आया? भय होवे तो जानता है, तब मिथ्यात्व होता है। **सम्यग्दृष्टि होने पर यह नहीं होते।** सम्यग्दृष्टि द्रव्यस्वभाव का अस्तित्वपने का भान होने से परवस्तु मेरी है, ऐसा नहीं रहता; इसलिए उसे भय नहीं रहता।

प्रश्न **– भयप्रकृति का उदय तो आठवें गुणस्थान तक है;...** महाराज! सम्यग्दर्शन हुआ, वहाँ भय नहीं है। (ऐसा आपने) सीधा बैठा दिया। भय अस्थिरता तो आठवें गुणस्थान तक होती है। हमने शास्त्र पढ़े हैं। शास्त्र में ऐसा है। आप कहते हो, चौथे में भय नहीं है, सम्यग्दृष्टि को भय नहीं है। हमने शास्त्र में पढ़ा है कि आठवें तक भय है। कहो, समझ में आया? **उसके निमित्त से सम्यग्दृष्टि को भय होता ही है, फिर भय का अभाव कैसा?** आप भय का अभाव कैसे कहते हो?

इसका ***समाधानह्न*** **– कि यद्यपि सम्यग्दृष्टि के चारित्रमोह के भेदरूप...** चारित्रमोह के भेदरूप **भयप्रकृति के उदय से भय होता है,...** थोड़ी अस्थिरता होती है। **तथापि उसे निर्भय ही कहते हैं; क्योंकि उसके कर्म के उदय का स्वामित्व नहीं है...** वह भय का विकल्प उठा, उसका स्वामीपना नहीं है। वह उसमें नहीं है। उसमें वह मानता नहीं, इसलिए उसे भय नहीं है। समझ में आया? जयचन्दभाई!

उसे भयभाव होता है, अभी प्रकृति है न, इसलिए (भयभाव होता है) उसके निमित्त में जुड़ता है परन्तु उस भयभाव का स्वामी नहीं, इसलिए अपना नहीं है, इतना। और स्वामी शुद्ध चैतन्य का है। उसका (प्रकृति-भय का) स्वामी नहीं, इसलिए उसे भय है— ऐसा कहने में नहीं आता। आहाहा! जयन्तीभाई! गजब बातें हैं, भाई! आहाहा!

कर्म के उदय का स्वामित्व नहीं है... अर्थात्? उदय और राग, दोनों से जहाँ स्वभाव भिन्न है, ऐसा जहाँ अनुभव में, प्रतीति में आया है, अब उसे भय आया परन्तु अन्दर वह मेरा है, ऐसा तो होता नहीं; इसलिए उसे भय नहीं है, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : भय होने पर भी भय नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : होवे तो पूरा लोकालोक है। केवलज्ञान में लोकालोक आ गया? यहाँ आ जाता है?

मुमुक्षु : लोकालोक नहीं, यह तो भय की बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह वही है। वह सब लोकालोक में गया। समझ में आया? भय का ज्ञान, वह अपना है। भय का भाव अपना नहीं। भय का भाव अपना होवे तो वहाँ सम्यग्दर्शन रहता नहीं क्योंकि वस्तु में भय नहीं। भय तो विकृतभाव है, मैल है, दोष है। उस दोषरहित चीज़ आत्मा है। ऐसे आत्मा की जिसे प्रतीति और भान हुआ, वह भय को अपने में नहीं मानता, इसलिए वह अभय है। पण्डितजी!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। आहाहा! सर्प निकले और दूसरे भागें, इसी प्रकार यह भी जरा आगे भागे। काला नाग निकले तो।

मुमुक्षु : चुहिया सबसे पहले भागे।

पूज्य गुरुदेवश्री : ख्याल में आ जाए तो भागे। उसका अर्थ ऐसा। उसमें-ख्याल में न हो। ऐसा अपने इसका अर्थ लेना न! देखो न! रामजीभाई बैठे थे न? रामजी पानाचन्द न? ऐसे नीचे बड़ा सर्प निकला था। बही ऐसे थी। ऐसे निकला तो भी पता नहीं। फिर कहे, बड़ा सर्प है। कहाँ से निकला? यहाँ रास्ता नहीं। तुम्हारे यहाँ से-बीच में से निकला। तब उन्हें खबर पड़ी।

इसी प्रकार ज्ञानी को भय का भाव, उसे है—ऐसा नहीं कहा जाता क्योंकि भय के भाव से पृथक्पना जिसका ज्ञान है, उसका वह है, उसमें है। समझ में आया? दूसरे प्रकार से कहें तो यह भय का ज्ञान और ज्ञानवाला जो आत्मा, उसके अस्तित्व में तो है, ऐसी नि:शंकता ही है। समझ में आया?

और परद्रव्य के कारण अपने द्रव्यस्वभाव का नाश नहीं मानता। क्या कहते हैं? परद्रव्य से अपना द्रव्यस्वभाव (नष्ट नहीं होता)। कोई सर्प निकला, कोई दीवार गिरी, बाघ आया परन्तु उससे आत्मद्रव्य का नाश होता है-ऐसा मानता है? निर्भय है, इसकी दो बातें की। एक तो भय का भाव होने पर भी उसका स्वामी नहीं है अर्थात् पृथक् वर्तता है, इसलिए निर्भय है और परद्रव्य से मेरा नाश होता है, ऐसा ज्ञानी को नहीं है, इसलिए वह निर्भय है। आहाहा! समझ में आया? पण्डित जयचन्दजी ने बहुत स्पष्ट किया है।

परद्रव्य के कारण अपने द्रव्यस्वभाव का... द्रव्यत्वभाव, द्रव्य का भाव जो आनन्द, ज्ञानभाव, अविनाशी भाव, उसकी जो पर्याय उसका भी नाश पर से तो मानता नहीं, इसलिए भी ज्ञानी निर्भय है। आहाहा! **पर्याय का स्वभाव विनाशीक मानता है, इसलिए भय होने पर भी उसे निर्भय ही कहते हैं।** शरीर का नाशवान स्वभाव जानता है। समझ में आया? और भय आया वह भी मेरा नहीं है, ऐसा जानता है; इसलिए उससे भय नहीं है। आहाहा!

भय होने पर उसका उपचार भागना (पलायन) इत्यादि करता है;... देखो! यह नहीं कहा? पहले भागे। ख्याल आ गया। दूसरे को ख्याल नहीं आया। दौड़ता है। ऐई! ख्याल में पहले आ गया। भाव है, वह मेरा नहीं और पर से द्रव्य का नाश होता है, द्रव्य-गुण-पर्याय का नाश होता है, (ऐसा नहीं मानता)। विनाशी पर्याय है। भय का ज्ञान है, उस ज्ञान का पर के कारण नाश होता है, ऐसा ज्ञानी नहीं मानता। समझ में आया? **भागना (पलायन) इत्यादि करता है;...** इत्यादि अर्थात्? जरा शोर भी करे। ऐ...! ....वह दूसरा मिथ्यादृष्टि हो, वह शान्ति से बैठे भी सही। अन्दर वस्तु अखण्डानन्द प्रभु है, उसका अज्ञानी को प्रतीति और भान नहीं है तथा ज्ञानी को भान है कि मैं तो अखण्डानन्द प्रभु चैतन्य हूँ। मेरे द्रव्य-गुण का तो नाश नहीं, परन्तु भय के भाव से और संयोग से मेरी निर्मल पर्याय का भी नाश नहीं है। आहाहा! समझ में आया? यह वर्तमान का कहते हैं। भागना इत्यादि की व्याख्या। भागना, बोले, शोर मचाये। ऐ... यह तो बोलने की क्रिया होती है, उसका स्वामी वह कहाँ है? दुनिया को भारी कठिन पड़े। गम्भीर भाव है। कठिन का अर्थ वस्तु का स्वभाव गम्भीर है। ज्ञानी वर्तमान में भागना इत्यादि करे, **वहाँ वर्तमान की पीड़ा सहन न होने से वह इलाज (उपचार) करता है,...** बिस्तर में गिर जाए, कहीं ऐसा हो जाए।

मुमुक्षु : भाग जाना वह इलाज है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह भाग जाना इत्यादि होता है, इतना। उसका इलाज बाद में कहेंगे। यह तो भाग जाना इत्यादि करता है और वर्तमान पीड़ा सहन नहीं होती, इसलिए भागता है, छिप जाता है। लोहे के उसमें घुस जाता है।

मुमुक्षु : यह उसका इलाज है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : इलाज अर्थात् ऐसा हो जाता है – यह कहते हैं।

मुमुक्षु : इलाज तो आत्मा में रहने का है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह आत्मा में ही है। पर में है ही कहाँ ? बाहर की क्रिया में वह है ही नहीं परन्तु लोग भागते हैं या नहीं ? देखो ! उसने किया है या नहीं ? लोहे की ताक डलाये। सर्प घुसे नहीं ऐसा किया, ऐसा किया। सिंह आवे नहीं ऐसा किया। लोहे के पक्के सरिया डाले। लोहे के सरिया। ऐसा होने पर भी, ऐसा दिखने पर भी उसका वह स्वामी नहीं है। उसका पृथक्पना उसे वर्तता है। आहाहा ! चन्दुभाई ! दवा करने आए एकदम।

मुमुक्षु : ....शोर मचाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : बोले वह दूसरा। शोर जड़ का। भय आया वह दूसरा, फिर और बोलने की बात कहाँ रही ? आहाहा ! भगवान आत्मा परिपूर्ण स्वभाव से अस्तिरूप जहाँ प्रतीति में, अनुभव में, भान में आया, यहाँ कहते हैं कि वह भागने की क्रिया और भय, दोनों उसमें कहाँ थे ? समझ में आया ? गजब ! **इलाज (उपचार) करता है, वह निर्बलता का दोष है।** अमरचन्दभाई ! आहाहा !

मुमुक्षु : चारित्र का दोष है।

पूज्य गुरुदेवश्री : दोष है, कमजोरी का दोष है; वह श्रद्धा का दोष नहीं है। उसकी अपनी नि:शंकता स्वभाव के प्रति वर्ते, उसमें कहीं शंका की गन्ध नहीं है। आहाहा ! समझ में आया ?

श्रेणिक राजा, लो। कैदखाने में डाला। अब वह (उनका पुत्र) आया था छुड़ाने को। उसकी माँ ने कहा अरे बेटा ! जब तू जन्मा था, तब तुझे कचरे में डाल दिया था। हं। क्योंकि तेरी क्रूरदृष्टि मैंने देखी थी जन्मते समय और गर्भ में था, तब तेरे पिता का माँस माँगा था। वह नहीं आया, इसलिए मैंने तुझे कचरे में डाल दिया था। उकर्डा समझे ? कूड़े का ढ़ेर, कचरा। वहाँ डाल दिया था। मुर्गा था, उसने तुझे चोंच मारी, कोमल हो इसलिए, उसकी पीड़ा से तू रोता था। मेरे पास तेरे पिता आये—बाल जीव कहाँ है ? जन्मा तब उसकी दृष्टि मैंने क्रूर देखी। अरे ! पहले गर्भ का ऐसा नहीं डाला जाता। तुमने यह ऐसा क्या किया ? समझ में आया ?

श्रेणिक राजा कूड़े के ढ़ेर पर गये, (तुझे) ऐसे उठाया। भाई! तेरे लिये ऐसा (किया था) हं....! अरे! मेरे पिता ऐसे थे? वह हाथ में खंजर लेकर जेल में डाला था न? तोड़ने जाता है, वहाँ उन्हें (श्रेणिक को) ऐसा लगता है कि इतनाा किया और उसमें खंजर लेकर आता है तो क्या करेगा? हीरा चूस लिया या सिर फोड़ा, चाहे जो हो, परन्तु अन्दर में भय नहीं है, हों! क्षायिक समकित है। पण्डितजी! अस्थिरता के भाग को जहाँ स्वभाव में खतौनी नहीं करता और बाह्य की क्रिया को जहाँ अन्तर में खतौनी नहीं करता, उसे भय-फय है कहाँ? किसने कहा? निर्भय है। ऐसा होता है न? होता है, वह जड़ की क्रिया में। जिसे भय का भाव आया, वह तो चारित्रदोष में जाता है। इलाज करे अर्थात् ऐसे मरने का भाव किया। हीरा चूसा न? श्रेणिक राजा। सिर पछाड़ा। यह तो क्षायिक समकित है। उस समय जरा ऐसा कुछ दबाव हो गया। श्रद्धा में ऐसा है कुछ? वह वस्तु ही जहाँ भिन्न पड़कर भान हुआ, उस भिन्न का भाव और उसकी क्रिया बाहर की अजीव में रह जाती है, अन्दर में विभाव में रह जाती है, उसे स्वभाव में नहीं आती। आहाहा! समझ में आया?

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि के संदेह तथा भयरहित होने से नि:शंकित अंग होता है। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि भयरहित और शंकारहित (होता है), उसे नि:शंकित (अंग होता है)। यह नि:शंक अंग की व्याख्या। सम्यग्दर्शन के नि:शंक किरण के अंग की यह व्याख्या है। कहो, समझ में आया? बहुत स्पष्ट किया है। ओहो! वस्तु तो ऐसी है। आहाहा! यह नि:शंक की व्याख्या हुई। अब कांक्षा की व्याख्या करेंगे। कांक्षा किसे कहना? लो! समय हो गया। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन-७ गाथा-२ सोमवार, ज्येष्ठ शुक्ल ११, दिनांक १५-०६-१९७०

(सम्यग्दर्शन के) आठ गुण अथवा आठ लक्षण की व्याख्या चलती है। सम्यग्दर्शन अर्थात् धर्म की पहली शुरुआत। धर्म की शुरुआत अर्थात् यह आत्मा अनन्त शुद्ध आनन्द गुण का पिण्ड है, उसकी अन्तर्मुख होकर विकल्प अर्थात् राग के अवलम्बन बिना, स्वभाव के अवलम्बन से अनुभव होकर प्रतीति हुई, इसका नाम सम्यग्दर्शन-धर्म की पहली सीढ़ी और यह धर्म की शुरुआत वहाँ से होती है। तब तक अज्ञान जहाँ है, राग

पुण्य-पाप के भाव, उनके फल ये संयोग, इनकी जब तक इसे रुचि है, उसे आनन्दस्वरूप आत्मा की रुचि और दृष्टि नहीं है, तब तक मिथ्यादृष्टि दु:ख की दृष्टि है और दु:ख सागर में डूबना चाहता है। समझ में आया?

यह सम्यग्दृष्टि की नि:शंकता की बात आ गयी। आज नि:कांक्ष (अंग) है। धर्मी जीव, जिसे आत्मा के पवित्र अनन्त स्वभाव की जहाँ ज्ञान होकर प्रतीति वर्तती है, उसे आत्मा के अतिरिक्त राग और राग का फल, इनकी उसे वांछा नहीं होती। समझ में आया? उसे भगवान धर्म कहते हैं। देखो!

कांक्षा अर्थात् भोगों की इच्छा-अभिलाषा है। जिसे पाँच इन्द्रिय के विषयों में अभिलाषा है कि उसमें ठीक है, सुखबुद्धि है, वह कांक्षा अर्थात् मिथ्यात्व के निमित्त से मिथ्यात्व भाव है। समझ में आया? भोग की इच्छा। भगवान आत्मा ज्ञान और आनन्द की मूर्ति है, उसे अनुभव करने की भावना नहीं और पाँच इन्द्रिय के विषयों में प्रेम वर्तता है, काँक्षा-इच्छा वर्तती है, उसे यहाँ काँक्षा अर्थात् मिथ्यादृष्टि का लक्षण कहते हैं। समझ में आया?

काँक्षा अर्थात् भोग की इच्छा। सम्यग्दृष्टि को भोग की इच्छा नहीं होती। समझ में आया? धर्मी जीव को सर्वज्ञ परमेश्वर ने यह आत्मा आनन्दमूर्ति देखा, कहा—ऐसी दृष्टि धर्मी की हो गयी है; इसलिए अपने आनन्द की भावना के अतिरिक्त किसी भी इन्द्र के, इन्द्रिय के, इन्द्र और इन्द्रिय के भोग में उसकी रुचि नहीं होती। समझ में आया? देवचन्दजी! आहाहा!

काँक्षा अर्थात् भोगों की इच्छा-अभिलाषा। वहाँ पूर्वकाल में किये भोगों की वांछा... पूर्व में जो भोग किये हों, पाँच इन्द्रिय के विषय के, वे ठीक हैं-ऐसी उनकी वांछा रहे, उसे आत्मा के ज्ञानानन्द की प्रतीति और रुचि नहीं है। उसे धर्म की रुचि नहीं है। आहाहा! भगवान आत्मा के आनन्दस्वरूप प्रभु, अतीन्द्रिय आनन्द की मूर्ति आत्मा है, उसका जिसे प्रेम से रुचि और दृष्टि वर्तती है, उसे भोग की इच्छा नहीं होती। पण्डितजी! आहाहा! गजब! पूर्व में भोग किये हैं, उनकी वांछा नहीं होती। सम्यग्दर्शन—आत्मा का भान हुआ है, इससे पूर्व में कोई मिथ्यात्व में भोग की वांछा आदि हुए हों, उनकी उसे इच्छा नहीं होती। जहर है, विषय के सुख तो जहर है। समझ में आया? धर्म की दृष्टिवन्त को

विषय के सुख में जो कल्पना है, उसमें सुखबुद्धि नहीं होती। अज्ञानी को उसमें सुखबुद्धि से पूर्व के भोगे हुए को भी स्मरण-याद करता है (कि) आहाहा! गजब! इन्द्राणियाँ थीं, देवियाँ थीं, अप्सरा जैसी स्त्री रूपवान सुन्दर थी, उनके साथ भोग किया था। आहाहा! मूढ़ जीव को अज्ञानभाव में ऐसे पूर्व के भोगे हुए सुख की वृद्धि की वांछा रहे कि ठीक था, वह मिथ्यादृष्टि का कर्तव्य है। आहाहा!

तथा उन भोगों की मुख्य क्रिया में वांछा... (अर्थात्) यह शरीर की क्रिया। हुई हो न इन्द्रियों से, उसकी वांछा उड़ जाती है, उस अजीव की क्रिया की वांछा और भोग में वांछा सुखपना जो पूर्व में कल्पित किया था, उसकी वांछा, दोनों अज्ञानभाव हैं। समझ में आया? उसे भगवान मिथ्यादृष्टि कहते हैं। उसे धर्म नहीं होता। धर्मी को अपना आत्मा शुद्ध पवित्र और आनन्द का महाधाम / खान है - ऐसी अन्तर्दृष्टि हुई है। उस आनन्द के समक्ष दूसरे कोई भी पूर्व में भोग भोगे या वर्तमान उसकी क्रिया देह की हुई, उसकी उसे इच्छा नहीं होती। आहाहा! समझ में आया?

तथा कर्म और कर्म के फल की वांछा... नहीं होती। कर्म बँधा, वह ठीक अथवा मुझे शुभभाव हुए, वे ठीक और उनके फलरूप से पुण्य बँधेगा, उसके फलरूप से संयोग मिलेंगे, ऐसी जो वांछा, वह मिथ्यादृष्टि की वांछा है; धर्मी को वह नहीं होती। आहाहा! समझ में आया?

कहते हैं **तथा मिथ्यादृष्टियों के भोगों की प्राप्ति देखकर उन्हें अपने मन में भला जानना...** अज्ञानी जीव हैं, उन्हें करोड़ों-अरबों रुपयों की सामग्री और बाह्य वैभव दिखायी दे, मोटरों में घुमते (हों)। तब मोटरें कहाँ थीं, परन्तु यह तो अभी हो गयी न अब। तब घोड़ागाड़ी में और हाथी, हाथी पर घूमते देखे। आहाहा! बहुत सुखी है। इस प्रकार जिसके हृदय में ऐसे अज्ञानियों के सुख की सामग्री और उसकी कल्पना को भली माने, वह मिथ्यादृष्टि है, कहते हैं। उसे जैनपने की खबर नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

मिथ्यादृष्टियों के भोगों की प्राप्ति देखकर... ओहो.. (उसे) दिन की लाखों रुपयों की आमदनी है न, बहुत सुखी है - ऐसा जो मूढ़ मानता है, वह स्वयं मूढ़ है। समझ में आया? उसे धर्म की दृष्टि और रुचि नहीं है। **उन्हें अपने मन में भला जानना...** मन में प्रसन्न हो कि आहाहा! परन्तु उसे क्या साहिबी! पच्चीस-पच्चीस वर्ष के जवान लड़के,

२२, २४, २६, २८, ३०, ३२ ऐसे नम्बरवाले। नम्बरवाले अर्थात् वे क्या कहलाते हैं? आयुष्यवाले। आहाहा! ठीक है परन्तु यह। धूल भी ठीक नहीं, सुन न! यह तो जहर का पेय पीता है। आहाहा! समझ में आया?

धर्मी जीव तो उसे कहते हैं कि जो ऐसे मिथ्यादृष्टि के भोग की प्राप्ति को भी नहीं मानता, भला नहीं जानता। उसमें भलापना है भी कहाँ? समझ में आया? **अथवा जो इन्द्रियों को न रुचे, ऐसे विषयों में उद्वेग होना...** यह लक्षण बताया। देखो! पहला राग का (था), अब द्वेष का (कहते हैं)। प्रतिकूलता, जो इन्द्रियों को ठीक नहीं लगते, ऐसे सोने-बैठने के साधन, खाने-पीने के साधन, ऐसी प्रतिकूलता के प्रति जिसे द्वेष है, रुचता नहीं, उसे इन्द्रिय के विषय रुचते हैं। कहो, सुजानमलजी!

मुमुक्षु : बहुत सूक्ष्म बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सूक्ष्म नहीं, यह वस्तु ही ऐसी है। सूक्ष्म वस्तु का स्वभाव ही ऐसा है। भाई! यहाँ तो आत्मा धर्मी हुआ, उसका क्या स्वरूप है, यह वर्णन करते हैं। उससे अधर्मी का स्वरूप ऐसा होता है, यह वर्णन करते हैं। ऐसी बात है। वीतराग परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव के ज्ञान में आया कि इस प्रकार जो है, वांछावाला जीव है, पर में सुखबुद्धि (रखनेवाला) मिथ्यादृष्टि है, वह धर्मी नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

इन्द्रियों के नहीं रुचे ऐसे (विषय)। ऐसे अग्नि छुए तो ठीक न लगे। इसका अर्थ कि विषय की अनुकूल सामग्री मिले, स्पर्श करे तो ठीक लगता है, ऐसा है। जितना प्रतिकूलता में द्वेष है, उतना अनुकूलता में उसे राग है। आहाहा! ऐ... मगनभाई! भारी कठिन ऐसा काम। यह पंचाध्यायी में से। वह पंचाध्यायी में से लिया है। वह गाथा नहीं थी? सवेरे। ४९५वीं गाथा है। पर्यायबुद्धि। पर में आत्मबुद्धि। ...इन्होंने अर्थ किया है, वह बराबर लगा।.... आहाहा!

धर्मी जीव अपना भगवान आत्मा, जिसकी दशा में पंच परमेष्ठी बसते हैं, जिसकी शक्ति में परमात्मा बसते हैं, ऐसा आत्मा जिसने अन्तर्दृष्टि में धर्मी को सम्यग्दृष्टि में जँचा, उसे नि:शंकपने आत्मा में वर्तता है और जिसे वह नि:शंकता नहीं है और जिसे शंका है अर्थात् कि आत्मा के स्वभाव पर दृष्टि नहीं है और राग तथा शरीर को जो अपना मानता है, उसे शंका है। अर्थात् मिथ्यात्वभाव है। शरीर और राग को अपना मानकर पर-पर्याय

में इसकी अपनी दृष्टि होती है। आहाहा! समझ में आया? बहुत सरस अर्थ किया है। वस्तुस्थिति ही ऐसी है।

यहाँ ऐसा कहा कि ये शब्द प्रतिकूल गाली आदि पड़े और इसे न रुचे तो समझना कि इसे इसकी प्रशंसा रुचती है। देवचन्दजी! बराबर है? पण्डितजी! जिसे आँख का कुरूप देखना नहीं रुचता, उसे सुरूप का विषय रुचता है। जिसे कुगन्ध-दुर्गन्ध नाक में नहीं रुचती, उसे सुगन्ध रुचती है। जितनी परपदार्थ में प्रतिकूलता नहीं सुहाती, उसका (अर्थ कि) उसे अनुकूलता सुहाती है। आहाहा! समझ में आया? ऐसे रस, कड़वा जहर जैसा रस अन्दर जीभ में स्पर्श करे, उतना ही इसे अनुकूल गन्ने का और आम का रस होता है, वह रुचता है, इसलिए इसे विषय की रुचि है। यह आम का समय है न, अब थोड़े दिन बाद। बढ़िया आम हों ऐसे फर्स्ट क्लास रस (हो)। आहाहा! और घी में तली हुई पूड़ी हो, अरबी के भुजिया हों। कहते हैं जिसे ऐसा जहर आवे और वह न रुचे, उसी प्रकार यह सब रुचता है, इसकी उसे वांछा है। बराबर है? इसी प्रकार स्पर्श में। अग्नि और बिच्छू प्रतिकूलता (देवे, उसकी) अरुचि है, रुचि नहीं, उसे का अभाव और अनुकूलता के विषय रुचते हैं। ललितभाई! कहो, यह समझ में आता है या नहीं? ऐसी बात है।

इन्द्रियों को न रुचे, ऐसे विषयों में उद्वेग होना... पाँच इन्द्रियाँ, यह मिट्टी, जड़ और खण्ड-खण्ड अन्दर, उसे न सुहावे ऐसे विषयों (के प्रति) उद्वेग होना। लकड़ी पड़े, सिर पर छुरी पड़े और न सुहावे तो इसका अर्थ कि उसे अनुकूलता मक्खन लगावे तो सुहाता है। समझ में आया? वीतराग का मार्ग ऐसा है, भाई! वीतराग के मार्ग को समझना अभी इसे महा कठिन पड़ता है, यह रुचि करके परिणमावे कब? समझ में आया?

तब कोई कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि तो विवाह करता है न? तीर्थंकर जैसे छियानवें हजार स्त्रियों से विवाह किया, तीन ज्ञान के धनी थे, क्षायिक समकित था। क्या उन्हें अभिलाषा नहीं होगी? यहाँ तो इसकी वांछा को तो मिथ्यात्वभाव कहा। वह वांछा की वांछा है ही नहीं। इच्छा की इच्छा ज्ञानी को नहीं (होती)। आहाहा! इच्छा को जहररूप से देखते हैं। समझ में आया? उसे ज्ञेयरूप से ज्ञान में जानते हैं। उसमें मुझे ठीक लगेगा, ऐसी भावना समकिती को ऐसी इच्छा नहीं होती। आहाहा! अरे! गजब बात, भाई! विवाह करे और ठीक लगेगा, ऐसा नहीं मानते, यह कहते हैं। समझ में आया या नहीं? स्त्रियाँ

होंगी तो विषय होगा। ऐसे खाने-पीने के साधन बनेंगे, ऐसी इच्छा समकिती को नहीं होती। आहाहा! क्योंकि बाह्य साधन और बाह्य साधन के प्रति होनेवाला राग, दोनों विभाव और विभाव की क्रिया, उसे कुछ ठीक माने तो आत्मा का स्वभाव ठीक है, ऐसा उसे रुचा नहीं है। वजुभाई! आहाहा!

यह कहते हैं, बापू! सम्यग्दर्शन अर्थात् क्या चीज़? और मिथ्यादर्शन अर्थात् उसके क्या दोष? सम्यग्दर्शन में क्या गुण? और मिथ्यादर्शन में क्या दोष?—इसकी व्याख्या चलती है। समझ में आया? आहाहा! इन्द्रिय के नहीं रुचे, ऐसे विषयों में द्वेष होना। उद्वेग अर्थात् (द्वेष)। इसका अर्थ कि इसके विरुद्ध की अनुकूलता उसे रुचती है। समझ में आया? आहाहा! गजब काम है। वीतराग की शैली तो देखो! इसे बिच्छु काटे वह न रुचे, उद्वेग हो तो उसके बदले विषय की अनुकूलता कोई दे, मक्खन चोपड़े, वह ठीक लगता है। यह तो विषय की इच्छा हो गयी। देवचन्दजी! ऐसा सूक्ष्म तत्त्व होगा? आहाहा! भगवान सर्वज्ञ परमात्मा त्रिलोकनाथ तीर्थंकर की धर्म की स्थिति तो यह है। लोग अपनी कल्पना से मान बैठें, वह कहीं वीतराग के मार्ग का तत्त्व नहीं है। आहाहा! कहो, समझ में आया?

यह भोगाभिलाष मिथ्यात्वकर्म के उदय से होता है... रचा कैसा है! यह प्रकार जो कहे, ऐसी जो अभिलाषा मिथ्यात्व के कर्म के निमित्त से अपने में होती है। आहाहा! समझ में आया? मिथ्यात्वकर्म का उदय अर्थात्? वह तो निमित्त है परन्तु यहाँ मिथ्यात्वभाव होता है, वह कर्म का निमित्त है, उसके लक्ष्य से यह होता है। उसे आत्मा का लक्ष्य नहीं है। अरे! ऐसा मार्ग अभी समझना चाहे नहीं और सुनने को मिले नहीं, वह रुचे कब? आहाहा! जन्म-मरण के अन्त कब आवे उसे? समझ में आया? **और जिसके यह न हो,...** लो, यह जिसके न हो, **वह निःकांक्षित अंगयुक्त सम्यग्दृष्टि होता है।** समझ में आया?

वह सम्यग्दृष्टि यद्यपि शुभक्रिया-व्रतादिक आचरण करता है... अब आया कि शुभभाव की भी वांछा नहीं तो व्रतादि की क्रिया में शुभभाव होता है, वह तो करता है। यह बात ली है, देखा? अशुभ का नहीं लिया। शुभक्रिया व्रत आदि, भक्ति आदि, पूजा आदि में शुभभाव है, ऐसा तो आचरण समकिती को (होता है), शुभभाव आता है **और**

उसका फल शुभकर्मबन्ध है,... व्रत का भाव, अहिंसा का, सत्य, अचौर्य का, सत् का भाव, भगवान का नाम स्मरण करना इत्यादि, अपवास का भाव इत्यादि। शुभभाव और उस शुभभाव का फल तो पुण्यबन्ध है। समझ में आया? **किन्तु उसकी वह वांछा नहीं करता।** उसकी धर्मी वांछा नहीं करता। आहाहा! गजब बात, भाई! यह व्रत का भाव हो, तथापि चाहता नहीं और व्रत के फलरूप से पुण्य बँधे, हो, उसकी भी उसे वांछा नहीं है। इसका नाम भगवान ने सम्यग्दृष्टि का धर्म कहा है। स्वरूप वह यह है। वापस भाषा देखो!

व्रतादिक को स्वरूप का साधक जानकर उनका आचरण करता है... ऐसा निमित्तपना पाँचवें या छठे गुणस्थान में राग की मन्दता का भाव निमित्तरूप से, व्यवहार साधकरूप से कहने में आता है। वास्तव में साधक नहीं है, उसकी वांछा नहीं है। वह साधन नहीं है। आहाहा! समझ में आया? व्रतादिक, भक्ति आदि के परिणाम को स्वरूप के साधक अर्थात् व्यवहार निमित्तरूप से जानकर उनका आचरण करता है। आचरण करता है अर्थात् होते हैं। व्यवहार से आचरण करता है, ऐसा कहने में आता है।

कर्म के फल की वांछा नहीं करता... परन्तु उसका फल मुझे प्राप्त हो, पुण्यबन्ध हो, उसका संयोग (मिले), ऐसी वांछा धर्मी को नहीं होती। यह निःकांक्षित अंग कहा, लो! दूसरा बोल हुआ। सम्यग्दृष्टि का दूसरा (बोल)। जिस प्रकार सूर्य की हजार किरणें जैसी हों, वैसे सम्यग्दर्शन की यह दूसरी किरण है। आठ किरणों में से दूसरी किरण है। लक्षण कहो, आचरण कहो, चिह्न कहो, उस प्रकार का उस पर्याय का गुण कहो। यह सम्यग्दर्शन का निःकांक्ष (गुण है)। आहाहा!

धर्मी तो राग की वांछा से मर गये होते हैं, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? जैसे आयुष्य पूर्ण हो और देह छूट जाती है; उसी प्रकार जिसकी राग की वांछा मर गयी है। वह यह बात! वह इच्छा होने पर भी मर गयी है, कहते हैं। उसकी रुचि नहीं होती। आहाहा! जिसे राग की रुचि है, उसे रागरहित भगवान आत्मा शुद्ध चिदानन्द की रुचि नहीं है। आहाहा! समझ में आया? कहते हैं, जिसे अपनी निन्दा सुनना नहीं सुहाती, उसे उसकी प्रशंसा अन्दर सुहाती है। गजब बात है! हैं? भगवान आत्मा ज्ञाता—दृष्टा आनन्दस्वरूप है, उसकी जिसे रुचि और दृष्टि का अनुभव हुआ, वह निन्दा और प्रशंसा दोनों ज्ञातारूप से, ज्ञेयरूप से जानता है। समझ में आया? अज्ञानी को तो वह निन्दा नहीं सुहाती, उसका

हीनपना यदि कहो तो नहीं सुहाता। इसका अर्थ की उसका अधिकपना और प्रशंसा करे तो उसे सुहाता है। समझ में आया ? यह मिथ्यात्व का लक्षण है। यह सम्यग्दृष्टि का लक्षण नहीं है। आहाहा ! गजब ! यह निःकाँक्ष अंग की दूसरी व्याख्या हुई। दूसरे अंग की हुई। पहली निःशंक की कही थी, दूसरी निःकाँक्ष की कही। अब तीसरा गुण। सम्यग्दृष्टि-धर्मी को चौथे गुणस्थान में (यह गुण) है, हों ! श्रावक का पाँचवाँ गुणस्थान। परन्तु वह तो ऐसा हो, पश्चात् उसकी ऊँची दशा होती है। ये बाड़ा के श्रावक, वे कोई श्रावक नहीं हैं। यह तो थैली में कड़वा चिरायता भरा हो और ऊपर लिखे शक्कर, यह तो ऐसा है। समझ में आया ? अरे ! गजब बात, भाई !

अब तीसरा बोल, निर्विचिकित्सा। सम्यग्दृष्टि का ग्लानिरहित का एक तीसरा गुण है, उसकी विरुद्धता का विचिकित्सा है। **अपने में अपने गुण की महत्ता की बुद्धि से अपने को श्रेष्ठ मानकर..** आहाहा ! कुछ शरीर सुन्दर हो, कण्ठ में कुछ जरा बारीक और ऊँचा हो, तार जैसा बजता हो, घण्टी जैसा, शरीर की कोमलता हो, बाहर की सामग्री, नौकर-चाकर आदि सब ठीक हों, उसके कारण **अपने गुण की महत्ता की बुद्धि से अपने को श्रेष्ठ मानकर पर में हीनता की बुद्धि हो,...** यह क्या बेचारा पामर प्राणी। जिसे इज्जत भी नहीं, जिसे बुद्धि भी नहीं, जिसे हाम, दाम और ठाम भी नहीं। आहाहा ! इस प्रकार जो अज्ञानी अपनी अधिकता देखकर, दूसरे की हीनता देखकर द्वेष करता है, वह मिथ्यादृष्टि है। बराबर है ?

अपने में अपने गुण की महत्ता की बुद्धि से... अन्दर में यदि गुण सच्चा होवे तो... यह तो एक बाहर की सामग्री आदि पुण्य के फल में **अपने को श्रेष्ठ मानकर पर में हीनता की बुद्धि हो,...** क्या यह पामर प्राणी बेचारे। बोलना भी नहीं आता, खाना-पीना भी नहीं आता, खाने-पीने के साधन भी बेचारे को नहीं है। इस प्रकार दूसरे को ऐसी हीनतावाले को हीनबुद्धि से देखे और अपनी अधिकबुद्धि से अपने को देखे। पुण्य की सामग्री और यह। मूढ़ है, कहते हैं। समझ में आया ? आहाहा ! यह तो सब कर्म की सामग्री है। इसमें महत्ता कहाँ आयी ? और इसमें हीनता कहाँ आयी ? कर्म की सामग्री हीन आयी, उसमें दोष कहाँ आया ? समझ में आया ? बाहर की सामग्री अनुकूल (होवे), उसमें गुण कहाँ आया ? और प्रतिकूल होवे, उसमें दोष कहाँ आया ? समझ में आया ? **वह जिसके**

न हो, सो निर्विचिकित्सा अंगयुक्त सम्यग्दृष्टि होता है। ऐसी बुद्धि न हो, उसे निर्विचिकित्सा—ग्लानिरहितता का समभाव सम्यग्दृष्टि को होता है। आहाहा!

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : होता ही है। ...ठीक कहते हैं। ...समकित का अंग है न। यह होवे तो कहा है न? भाई! ...मोक्षमार्गप्रकाशक में अन्त में... है न? ऐसा होता ही है। ...अन्तर पड़े तो वस्तु कहाँ रही? पुण्य-पाप के भाव, जो बाह्य कर्म की सामग्री है, इससे वह हीन है और कर्म की सामग्री मुझे अनुकूल है, इसलिए अधिक है, वह तो जड़ की बुद्धि है। जड़ से अधिक हूँ, ऐसा माना और जड़ से हीन हूँ, ऐसा माना। ऐई!

बन्दर के आठ अंग की वार्ता नहीं थी? ....मनुष्य के अंग जैसे बन्दर के अंग नहीं होते, ऐसी बात है। ऐसा है न? मोक्षमार्गप्रकाशक में अन्त में... अन्त में (आता है)। यहाँ तो यह तो हो ही नहीं। यह तो मूल में जाता है, यह तो कोई सहज प्रभावना आदि में मन्दता से दिखता है तो भी सम्यग्दृष्टि की दृष्टि नहीं जाती, ऐसा। समझ में आया? वह आवे तब बात।

मुमुक्षु : होता ही है।

पूज्य गुरुदेवश्री : होता ही है। आहाहा! क्योंकि पहले में नि:शंकता अखण्डता बतायी। दूसरे में पर की इच्छारहित भाव, पर की इच्छा न हो, यह बतलाया और तीसरे में पर की द्वेषता न हो, ऐसा बतलाया। दूसरे में पर में राग न हो, यह बतलाया; तीसरे में पर में द्वेष न हो, यह बतलाया। वस्तु की स्थिति ऐसी है, वैसी वर्णन की है। समझ में आया?

उसके चिह्न ऐसे हैं कि यदि कोई पुरुष पाप के उदय से दु:खी हो,... अब स्पष्टीकरण करते हैं। पूर्व के पाप के कारण प्रतिकूलता हो। पाँच रुपये का वेतन भी न मिलता हो। शरीर भी काला हो, बोलते हुए भी ऐं... ऐं... कौवे जैसी भाषा हो, दु:खी हो। **असाता के उदय से ग्लानियुक्त शरीर हो...** शरीर में रोग व्याप्त हो। जलन्धर। ऐसा करके भी अहं करता हो... यह तो बाहर की सामग्री है। पूरे वेग से चले, ऐसी सामग्री का जिसे अभिमान है और उसकी सामग्री का अभाव (होवे), उसकी जिसे ग्लानि है, यह समकिती का लक्षण नहीं है। समझ में आया? ग्लानियुक्त शरीर हो। समझ में आया? ऐसा शरीर (होवे) कि रोग से (ग्रसित हो) साथ में नरक के नारकी का कैसा शरीर है? दस

लोग आकर न देखे-नहीं। नारकी, नारकी देखे। समकिती जो नारकी है, उसे तो सबको बाहर में समान है। समझ में आया?

ऐसी कर्म के निमित्त की सामग्री की हीनता है, उसमें आत्मा की हीनता क्या आयी? आत्मा में क्या न्यूनता आयी? बाहर की सामग्री की हीनता से आत्मा की हीनता क्या आयी? बाहर की सामग्री की हीनता से आत्मा को हीन माने, वह मूढ़ है, मिथ्यादृष्टि है, उसकी विपरीत सलाह मानना दोष है, ऐसा कहते हैं। उस समकिती को जुगुप्सा ऐसा भाव नहीं होता। आहाहा! गजब!

असाता के उदय से ग्लानियुक्त शरीर हो... शरीर ऐसा हो, काला-कुबड़ा हो, शीतला निकली हो तो ऐसा हो। नाक ऐसा हो, कान-बान सब टूटे-फूटे हों। समझ में आया? कहते हैं, **उसमें ग्लानिबुद्धि नहीं करता। ऐसी बुद्धि नहीं करता कि मैं सम्पदावान हूँ,...** देखो! आहाहा! मुझे तो पाँच इन्द्रिय और शरीर तथा सामग्री कैसी! हुकम करे, वहाँ हाजिर मनुष्य (नौकर आदि)। इस बेचारे को उं... उं ... किया करे, पानी पीना है, पानी पीना है तो भी कोई सुनता नहीं। ...यह तो बाहर की सामग्री है, उसके कारण से क्या है? आत्मजन्य जो सम्पदा है, उसके अतिरिक्त कर्म की सम्पदा से जो कुछ अन्तर और बाह्य सामग्री आती है, उससे दूसरे को हीन मानना, यह बात सत्य नहीं है, ऐसा कहते हैं। सेठी! यह तो समझ में आये ऐसा है। देखो! क्या कहते हैं?

ऐसी बुद्धि नहीं करता कि मैं सम्पदावान हूँ,... पाँच-पाँच, दस-दस करोड़ रुपये मेरे पास हैं और पाँच-पाँच लाख की आमदनी, दस-दस लाख की तो आमदनी है। परन्तु अब क्या है उसमें? परन्तु उस धूल में तुझे क्या आया? समझ में आया? हम तो शेयर बाजार में जाएँ तो पाँच हजार एक-एक दिन में कमा आते हैं। तुम्हारा दम है यह? ऐई! सट्टा... सट्टा...। तुम्हारे नहीं था? लक्ष्मीचन्दभाई ने किया था। (संवत्) १९९० में, मुम्बई। वहाँ बैठे थे। जा! ऐसा किया वहाँ तीन हजार कमाये, तीन हजार या ऐसा कुछ था। ऐसा सुना था। जाओ! तीन हजार, लो! आहाहा! लक्ष्मीचन्द पीताम्बर था। वहाँ बैठा था। मुझे तो जाना था मुम्बई। वह भी अभिमान (करे कि) यह भाव करना। वहाँ जाकर इस भाई ने किया तो तीन हजार की कमाई हुई। तीन हजार क्या, तीन लाख कमाये। ऐई! यह जयन्तीभाई के भानेज हैं, कोई कामदार। दस रुपये भरे हैं, साढ़े बारह लाख आये, लॉटरी

में। ऐसे के ऐसे। दो महीने पहले। उसने कहा, अपने को कहाँ खबर होती है ? कहे, उसके शब्द हों। वह कल कहता था। दस रुपये की लॉटरी अपने को.... कुछ होगा। लॉटरी में दस रुपये भरे होंगे तो साढ़े बारह लाख (आये)। आहाहा! परन्तु उसमें क्या है ? परन्तु अब धूल में क्या हुआ ? साढ़े बारह लाख आये तो उसमें प्रसन्न क्या हुआ ? धूल मिली उसमें प्रसन्न ? और ऐसा माँगे और बेचारे को रोटियाँ मिले नहीं, इसलिए हीन है, ऐसा नहीं है, भाई! बाहर की सम्पदा है (तो) अधिक और हीनता है ऐसा है नहीं। आहाहा! देवचन्दजी! ऐसा आत्मदेव का स्वरूप है, कहते हैं।

सुन्दर शरीरवान हूँ,... सुकोमलता देखो तो एक-एक अंग, एक-एक अंग अच्छा। **यह दीन, रंक मेरी बराबरी नहीं कर सकता।** दाँत गिर गये, एक आँख फूटी हुई हो, नाक यहाँ टूट गयी हो, कान टूट गया हो, बूंटी-बूंटी (हो), यह बेचारा क्या हमारे साथ बैठ सकेगा ? हमारी होड़ में रह सकेगा यह ? परन्तु अब तुझे क्या है ? प्रवीणभाई! तुम्हारे भाई वहाँ बहुत कमाते हैं। दस-दस, बीस-बीस लाख रुपये की पूँजी, बीस-बीस लाख की आमदनी करते हैं। धूल में भी नहीं, अब उसमें है क्या परन्तु ? समझ में आया ? अपना लेंगे वापस, देखो! हमारे कर्म का उदय आवे तो हमारे भी हो जाए, यह तो बाहर की सामग्री है। इसमें आत्मा को क्या ? समझ में आया ? देखो!

यह दीन, रंक मेरी बराबरी नहीं कर सकता। यह हमारे साथ नहीं बैठ सकता, हमारे साथ खड़ा नहीं रह सकता। इतना हमारा पुण्य है, शरीर की सुन्दरता और वाणी की अनुकूलता, कितने ही नौकर, सबकी अनुकूलता है। सेठी! नरेन्द्रभाई जैसा पुत्र। इन्हें तो पुत्र भी नहीं, बांझ, कुछ बोलने का पुण्य का भी ठिकाना नहीं, इसलिए दीन है—ऐसा नहीं है, कहते हैं। बाहर की सामग्री हीन है, इसलिए दोषवाला है और बाह्य सामग्री अधिक है, इसलिए मैं अधिक हूँ, यह मिथ्यादृष्टि का लक्षण है। समझ में आया ?

देखो! **उलटा ऐसा विचार करता है...** देखो अब! **प्राणियों के कर्मोदय से अनेक विचित्र अवस्थाएँ होती हैं;...** परद्रव्य के कारण से। यहाँ तो स्वद्रव्य को भूलकर बात चलती है न ? विचिकित्सा जो अज्ञानी को होती है वह। परद्रव्य के कारण विचित्र अनेक अवस्था तो होती है, उसमें आत्मा को क्या दोष और अधिकता आयी ? **जब मेरे ऐसे कर्म का उदय आवे, तब मैं भी ऐसा ही हो जाऊँ...** हो जाए। मैं भी अर्थात् ?

वाणी क्या कर सके ? समझाना होवे तो। आत्मा ऐसा होता है ? परन्तु उसे बाहर की सामग्री ऐसी आती है। उसमें उससे हीनता क्या है और अनुकूलता में अधिकता क्या है ? मगनभाई ! सट्टे में अभी व्यवस्थित है, बड़ा जबरा...

एक बार देखने गये थे। बहुत समय की बात है... क्या तुम्हारा कैसा ? कोलाबा। मुम्बई। मुम्बई, कोलाबा, सट्टा (चलता था)। रुई का बड़ा मारवाड़ी (व्यापारी) शोर पर शोर मचाता था। देखने तो जाए, कहा। वहाँ क्या है ? समुद्र के किनारे है न ? जहाँ तार का बड़ा ऑफिस है, विलायती तार आता है। सब धमाधम उड़ाते हैं। कहा, यह क्या करते हैं ? वह तो मानो... ओहोहो ! दिया, लिया... अमुक-अमुक... यह तो तुम पागल देख लो। होवे, पच्चीस-पचास लाख का आसामी, हों ! बड़ा मारवाड़ी, दिखे साधारण। परन्तु अब क्या है ? धूल है, सुन न ! इससे अधिक क्या हुआ और पुण्य का योग न हो और प्रतिकूलता हो तो उसमें हीनता, आत्मा को क्या दोष आया ? यह वस्तु है। दृष्टि की—यहाँ तो सम्यग्दृष्टि की व्याख्या चलती है।

धर्मी जहाँ पहले शुरुआत का हुआ, उसकी दृष्टि में बाहर की सामग्री की हीनता और अधिकता नहीं मानता। आहाहा ! **जब मेरे ऐसे कर्म का उदय आवे, तब मैं भी ऐसा ही हो जाऊँ..** परन्तु मैं भी, ऐसा क्यों कहा ? ऐई ! दिलीप ! आत्मा ऐसा हो जाता है ?

मुमुक्षु : नहीं, आत्मा नहीं होता, परन्तु यह व्यवहार से कथन लिया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार से कथन लिया है ? देखो ! व्यवहार से समझाना हो तो किस प्रकार समझाना इसे ? मेरे पास अभी ऐसी सामग्री नहीं है। इसलिए अनुकूलता है। ऐसा कर्म का उदय है। हित की अवस्था भी आ जाए निकट में। ऐसा लिया जाता है। समझाने की भाषा अलग पड़ जाती है। समझ में आया ? उसके कारण हीन हूँ और उसके कारण अधिक हूँ, (ऐसा नहीं है)।

भगवान आत्मा अनन्त-अनन्त गुण से विराजमान पाँच पद का जिसमें-स्वरूप में धाम है। ऐसा भगवान जहाँ मेरे पास है, उसके समक्ष बाहर की कीमत नहीं है। इन्द्र का पद मिले, तो भी अधिक नहीं और कदाचित् कोई पूर्व का आयुष्य नरक में बँध गया और नरक में गया तो भी हीन नहीं। आज आया नहीं था ? भजन में आया था। सम्यक्त्वी

नरक में जाए तो भी (सुखी है) मिथ्यादृष्टि स्वर्ग में जाए तो भी दु:खी है। आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : अभी यह स्वीकार किया....

पूज्य गुरुदेवश्री : निश्चित किया ही नहीं। स्वीकार कहाँ किया है? यह तो बाहर की धारणारूप से है। चन्दुभाई! अन्तर में दृष्टि होकर उसरूप हो जाना, उसरूप हो जाना, कब हो जाए?—कि परिणमन हो, तब उसरूप हो जाना। समझ में आया? बात ख्याल में आवे, परन्तु उसरूप हुआ नहीं। इसलिए उसे ऐसा हुए बिना नहीं रहता। ऐसी बात है। गजब मार्ग, भाई!

बस! सम्यग्दृष्टि हुआ, इसलिए फिर क्या राजपाट में नहीं होता होगा? रहता ही नहीं, सुन न! उसे राग आवे तो उस राग में नहीं रहा, तो वह राजपाट तो कहीं रह गये। सुन न! भगवान आत्मा अनन्त गुण का धाम, आनन्द की मूर्ति है, ऐसी जहाँ दृष्टि हुई, उसमें वह है। राग में नहीं, व्यवहार में नहीं और पर में है नहीं। समझ में आया? तथापि विवाह में दिखायी दे, बोलने में ऐसा बोले यह मेरी घर की मालकिन है, घर का व्यक्ति है, ऐसा बोले, लो! हराम अन्दर घर का व्यक्ति मानता हो तो। अरे.. अरे..! ऐई! हमारे घर के तो आनन्द और शान्ति की प्रजा है। हमारे घर में दूसरा है नहीं। कहो, मलूकचन्दभाई!

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : सब उठ गयी। भगवान आत्मा शुद्ध आनन्द का धाम प्रभु है, उस पर दृष्टि हुई, इसलिए सब...

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : ....वह है, ऐसा देखता है। वह है, ऐसा। दूसरा क्या? तू कहाँ वह आत्मा हो गया? और अधिक बढ़ा तो अधिक कहाँ हो गया वह?

यह तीसरा बोल हुआ। नि:शंक, नि:कांक्ष, निर्विचिकित्सा। समकित के आठ गुण, लक्षण, आचरण हैं। उनके तीन की व्याख्या हुई। अरे.. अरे..! यह तो भारी सूक्ष्म है। **ऐसे विचार से निर्विचिकित्सा अंग होता है।** लो, ऐसे विचार के कारण धर्मी को पर की हीनता, दु:ख और ग्लानि नहीं आती अथवा उसे हीन, पामर नहीं देखता। उसकी

प्रभुता का भान सम्यग्दृष्टि को होता है। मुनि हो, लो! और बाहर में साधारण सामग्री आयी हो, तो भी उसे प्रभु देखता है। ओहोहो! धन्य अवतार तुम्हारा! समझ में आया? उस परद्रव्य के सामग्री के संयोग में हीनाधिकपना नहीं मानता। अपने लिये भी नहीं मानता और पर के लिये भी नहीं मानता। आहाहा! यह बात नहीं, यह तो वस्तु का स्वरूप है। देवचन्दजी! आहाहा!

चौथा बोल—अमूढ़दृष्टि। सम्यग्दृष्टि अमूढ़ होता है। किसी भी भाव में मूढ़ नहीं होता। **अतत्त्व में तत्त्वपने का श्रद्धान सो मूढ़दृष्टि है।** अतत्त्व में तत्त्वपना, सत्य नहीं है, उसमें असत्यपना; असत्यपना है, उसमें सत्यपना मानना, वह मूढ़दृष्टि है। **ऐसी मूढ़दृष्टि जिसके न हो सो अमूढ़दृष्टि है।** यह मूढ़पना नहीं, ऐसा सम्यग्दृष्टि, वह अमूढ़दृष्टि है। **मिथ्यादृष्टियों द्वारा मिथ्या हेतु...** अब न्याय देते हैं। अज्ञानी के आत्मा को मानने के कोई मिथ्या हेतु हों, छह द्रव्य को उड़ाने के, एक ही द्रव्य को मानने के अथवा आत्मा और पुद्गल दो को मानने के इत्यादि... अथवा पर्यायरहित मानने में, अकेला पर्यायवाला मानने में। ऐसे मिथ्यादृष्टि के मिथ्या हेतु **एवं मिथ्या दृष्टान्त से साधित पदार्थ हैं, वह सम्यग्दृष्टि को प्रीति उत्पन्न नहीं कराते हैं...** किसी अज्ञानी ने एकान्त, वीतराग से कहे हुए तत्त्वों के अतिरिक्त कुयुक्ति से सिद्ध करे। यह वेदान्त (कहे ऐसा) देखो! ऐसा ही है। नाम, रूप को... क्या कहते हैं? यह सब नाम रूप है, वस्तु कहाँ है? ऐसा कहे। क्या कहा? तीसरा बोल कहते हैं। नाम, रूप न? अस्ति, भाति और क्रिया है न? है – अस्ति, भाति – ज्ञान, अस्ति, श्रद्धा। ऐसा करके यह सब है। परन्तु वह सब नामरूप है। समझ में न? तीसरा बोल कुछ है। भूल गये। ऐई! क्या नाम है? यह सब नाम रूप है, बाकी वस्तु है नहीं। यह वस्तु तो अकेली चिदानन्दस्वरूप है। ऐसी मिथ्यायुक्ति से सिद्ध करने जाए तो ज्ञानी सम्यग्दृष्टि को उससे कुछ शंका नहीं पड़ती। उसमें उलझन में नहीं आता। **प्रीति उत्पन्न नहीं कराते हैं...** ओहोहो! गजब बात कही है इसने, (ऐसी प्रीति नहीं होती)। समझ में आया?

लौकिक रूढि अनेक प्रकार की हैं, वह निःसार हैं, निःसार पुरुषों द्वारा ही उसका आचरण होता है, जो अनिष्ट फल देनेवाली है... यह पीपल में पानी डालने का... क्या कहलाता है वह? श्राद्ध... श्राद्ध...। श्राद्ध डालना और वह सब क्रिया लौकिक

रूढ़ि है, उसमें धूल में भी कुछ नहीं है, कहते हैं और अज्ञानी उसमें ऐसा माने। लोक में प्रचलित हो गया तो उसने माना। हो गया, जाओ। समझ में आया? यह मानते हैं न? कोई व्यन्तरी को कोई व्यन्तर को, कोई बैल को। तुम्हारे है न बैल? बैल नहीं बाहर? देव। उसे भी खबर नहीं। इसने मुझे कहा हुआ। उसे खबर नहीं। वहाँ बाहर नहीं कुछ उसके आसपास कोई बैल? देरी ऐसा है उसका खाता।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : उसका कहाँ यहाँ काम है? यहाँ है या नहीं कुछ? इतना तुमने कहा। यहाँ मुझे कहाँ खबर ही है। उसे भी याद नहीं। बैल, उसे देवरूप से मानने जाए। बैल है और प्रजा कैसी हो? गाय से यह हो और यह हो।

मुमुक्षु : गाय को माता मानते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : गाय को माता मानते हैं। पूँछ में देव मानते हैं। गाय की पूँछ में तैंतीस... कितने कुछ तैंतीस करोड़ कहते हैं? वहाँ देव बसते हैं और गाय माता का पेशाब भी पवित्र है। ऐसी मूढ़ता अज्ञानियों की लोक प्रचलित चली सो चली। सम्यग्दृष्टि उसे नहीं मानता है। समझ में आया? यह सुरधन। नहीं? उसका पिता तीसरी पीढ़ी का था। मरकर यह हुआ। हमेशा बारह महीने मरकर श्राद्ध, यह क्या कहलाता है? पालीताणा। वहाँ ऐसा चलता है। पहले वह बहियों में लिखते। 'हैदरशाह हाजरा-हजूर' मैंने कहा, तुम्हारा बाप कोथलो है? उसे कुछ ठीक नहीं था। तब वे कहाँ गये थे? हैदरशाह। वे मानते हैं, बहियों में लिखते हैं, 'हैदरशाह हाजरा-हजूर'। ऐसे के ऐसे। अज्ञानी की भ्रमणा। अमुक.. अमुक..

कहते हैं, लौकिक रूढ़ि, पहले दूसरी बात की, धर्म की पहले की। कोई कुयुक्ति से पदार्थ सिद्ध करे, एक ही होता है, दूसरा नहीं होता। समझ में आया? जड़ और चेतन दो ही होते हैं। धर्मास्ति, अधर्मास्तिकाय होते ही नहीं। यह सब जैन का कल्पित खड़ा किया है। ऐसा है नहीं। वस्तु की स्थिति ऐसी है। समझ में आया? और यह तो लौकिक की बात है। **वह निःसार हैं,...** लौकिक निःसार बातें हैं। अम्बाजी को माने तो ऐसा होता है। हैं न तुम्हारे 'कांप' में। वहाँ अम्बाजी का बहुत बड़ा है 'कांप' में। अरे! पागल वह

भी... विसाश्रीमाली और दशाश्रीमाली। लो! विसाश्रीमाली देवी अम्बाजी माने। सिंह के ऊपर चढ़कर आवे। उसका कितना जोर! देखो! परन्तु है क्या? जोर पर चढ़कर आयी उसमें क्या? उसमें देवी को चमत्कार वस्तु कहाँ आयी? अज्ञानी ऐसे लोक रूढ़ि के माननेवाले हैं। ज्ञानी उन्हें नहीं मानता। देव में... इत्यादि विशेष कहेंगे.....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन-८ गाथा-२-३ मंगलवार, ज्येष्ठ शुक्ल १२, दिनांक १६-०६-१९७०

अष्टपाहुड़। तेरहवाँ पृष्ठ है। सम्यग्दृष्टि का अमूढदृष्टि (नामक अंग चलता है)। धर्मी जीव होता है, उसे आत्मा का शुद्ध चैतन्यस्वरूप अनुभव में आकर प्रतीतिरूप हुआ होता है। उसे आठ गुण होते हैं। हैं तो पर्याय के भेद। आठ किरणें। जैसे सूर्य को किरणें होती हैं, उसी प्रकार समकित की किरणें, आठ लक्षण-गुण हैं। उनमें अमूढदृष्टि की व्याख्या चलती है।

लोकरूढ़ि। **अदेव में देवबुद्धि,...** धर्मी को अदेव में देवबुद्धि नहीं होती। **अधर्म में धर्मबुद्धि,...** नहीं होती। **अगुरु में गुरुबुद्धि इत्यादि देवादिक मूढता है,...** ये तीनों देव मूढता कहलाती है। यह कल्याणकारी नहीं है। ये भाव कल्याणकारी आत्मा के नहीं हैं, इसलिए ये भाव समकिती-धर्मी को नहीं हो सकते।

सदोष देव को देव मानना... हथियार रखे, स्त्री रखे, आहार-पानी हो, रोग हो, ऐसे देव को देव मानना, वह भ्रम है, मूढता है। वह मूढता समकिती को नहीं होती। **तथा उनके निमित्त हिंसादि द्वारा अधर्म को धर्म मानना...** सामान्य व्याख्या करते हैं। देव और धर्म की। देव के लिये हिंसा करके (धर्म माने)। यह यज्ञ आदि में करते हैं, उसमें धर्म मानना। बकरा चढ़ाते हैं।

तथा मिथ्या आचारवान्, शल्यवान्, परिग्रहवान् सम्यक्त्वव्रतरहित को गुरु मानना... जिसका आचार झूठा है, शल्यवान—तीन शल्य है। (माया) मिथ्यात्व, निदान आदि तीन शल्य जिसे होती है और परिग्रहसहित होता है। वस्त्र, पात्र आदि सहित हो, उसे

चारित्रवन्त गुरु मानना, वह गुरु मूढता है। सम्यक्त्व और व्रतरहित। आत्मा का भान नहीं और व्रत नहीं। चारित्र का लेना है न यहाँ तो? उसे **गुरु मानना इत्यादि मूढदृष्टि के चिह्न हैं।** यह मूढदृष्टि का लक्षण है। **अब, देव-गुरु-धर्म कैसे होते हैं, उनका स्वरूप जानना चाहिए, सो कहते हैं ह्न**

रागादिक दोष और ज्ञानावरणादिक कर्म ही आवरण हैं; यह दोनों जिसके नहीं हैं, वह देव है। वीतरागता हो और ज्ञान की परिपूर्णता प्रगट हुई हो। रागादि न हो अर्थात् वीतरागता हो। आवरण न हो अर्थात् केवलज्ञान और केवलदर्शन आदि अनन्त चतुष्टयरूप हों, उसे देव कहते हैं। समझ में आया? **उसके केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य ह्न ऐसे अनंतचतुष्टय होते हैं।** यह सब पंचाध्यायी की व्याख्या है। पंचाध्यायी में यह सब लिया है। देव को तो एक समय में तीन काल का ज्ञान होता है, वह देव कहलाता है। समझ में आया? भगवान प्रभु! स्वामीनारायण कहते थे न? हम प्रभु हैं, भगवान हैं। हौदे बैठे... आये थे... साधु ने पूछा, तुम अभी... हो? तो कहे, हाँ। कैसे? कि प्रभु का पेट बड़ा है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : वहाँ कहाँ उसके थे? .... उसके भी श्रद्धा का ठिकाना कहाँ था? यह बातें हैं। बाड़ा के वेश में थे। ...वहाँ कहाँ श्रद्धा का ठिकाना था? सब ऐसे थे। यह प्रभु कहना किसे? जिसकी प्रभुत्व शक्ति अनन्त ज्ञान, दर्शन, आनन्द और सुख की प्रगट हो गयी है। जिसे आहार नहीं, पानी नहीं, रोग नहीं, क्षुधा नहीं, तृषा नहीं—ऐसे देव (होते हैं)। उनका शरीर परम औदारिक हो गया होता है। समझ में आया? उसे देव कहा जाता है। दूसरे को देव मानना, वह तो मूढ़ता है। कहो, यह तो समझ में आये ऐसा है न? रमणीकभाई!

इसी तरह गुरु। मिथ्या आचारवान, शल्यवन्त परिग्रहवन्त, यह मूढदृष्टि के चिह्न हैं। **अब, देव-गुरु-धर्म कैसे होते हैं, उनका स्वरूप जानना चाहिए, सो कहते हैं – सामान्यरूप से तो देव एक ही है...** पंचाध्यायी में लिया है और वहाँ कहीं है। देव एक ही। जिसे दिव्यशक्ति अन्तर में आत्मा केवलज्ञान-दर्शन-आनन्द की मूर्ति है, ऐसी

जिसकी पर्याय में अनन्त ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि प्रगट है, उसे दिव्यशक्ति प्रगट हुई, उसे देव कहा जाता है। समझ में आया?

और विशेषरूप से अरहंत, सिद्ध ऐसे दो भेद हैं... दो भेद हैं। अरिहन्त भी देव कहलाते हैं और सिद्ध भी देव कहलाते हैं। **तथा इनके नामभेद के भेद से भेद करें तो हजारों नाम हैं तथा गुणभेद किए जायें तो अनन्त गुण हैं।** ज्ञान-पूर्ण ज्ञान, वह देव, पूर्ण आनन्द वह देव, पूर्ण दर्शन वह देव, पूर्ण स्वच्छता वह देव, पूर्ण प्रभुता वह देव, पूर्ण कर्तृत्वशक्ति परिणमित हो गयी, इसलिए देव, ऐसे अनन्त गुण से अनन्त गुण परमात्मा के कहलाते हैं।

परमौदारिक देह में विद्यमान... देखो! देव उसे कहते हैं कि जिनका शरीर परम औदारिक हो गया होता है। उन्हें रोग नहीं होता, क्षुधा नहीं होती, तृष्णा नहीं होती। समझ में आया? यह तो भगवान को रोग हुआ, छह महीने तक... आहार लाये। आहार लिया और फिर शरीर निरोगी हो गया। सब देव-देवियाँ प्रसन्न होते हैं - ऐसा उसमें पाठ है। यह देव का स्वरूप ही नहीं है। कृत्रिम कल्पित किया है। देव के स्वरूप का उसे (ख्याल नहीं है)। परम औदारिक शरीर होता है। देखो! शरीर ही स्फटिक जैसा हो जाता है।....

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह प्रकृति औदारिक है, इनकी प्रकृति परम औदारिक। उसमें क्या है? रजकण औदारिक हैं, उनकी ही परम औदारिक विशेषता हुई। दूसरा क्या? स्फटिक जैसा शरीर हो जाता है। उसके शरीर में नजर करे तो अपना शरीर दिखता है और भव दिखते हैं। भामण्डल होता है न साथ में? ऐसा परम औदारिक शरीर। ऐसा डिब्बा ही अलग प्रकार का होता है। कुछ बात हुई थी न! जयपुर, जयपुर में है। सुधीर, उसका लड़का भाई का—पूरणचन्द गोदिका का। मैंने कहा, देखो! हीरा कहीं... केसर कोथली में नहीं रहती। कोथली समझे न? बारदान, उसमें केसर नहीं रह सकती। केसर तो डिब्बा और बरनी हो (उसमें रहती है) इसी प्रकार अरिहन्त का केवलज्ञान, दर्शन आदि परम औदारिक शरीर हो, वह साधारण नहीं होता और तीर्थंकर का शरीर तो जन्मे तब से परम औदारिक होता है। उन्हें हजारों कलश सिर पर डाले तो भी मरण नहीं होता। यहाँ तो एक पानी का कलश डाले तो मर जाए। पहले दिन का बालक हो तो (मर जाए)। ऐसा तो प्रभु

का स्वरूप और ऐसी तो उनकी डिब्बी (अर्थात्) शरीर का होता है। डिब्बी समझते हो? पेटी। उत्कृष्ट रत्न हो, उसकी पेटी अलग प्रकार की होती है।

घर में आये थे, बताने को लाये थे। दो लाख की थी। दो लाख का न? दो लाख का हार था उनके घर में, सोने का। डिब्बी ऐसी लम्बी-चौड़ी कोमल। दो लाख का पन्ना का हार था। तुमने दृष्टान्त दिया था, वह है यह? ऐसी चौड़ी। दो लाख का पन्ना का हार था। पूरणचन्द गोदिका के घर में। उनका लड़का सुधीर है न? वह बताने के लिये लाया था। देखो! यह... है। ...हीरा लाया था। ....अस्सी हजार का एक हीरा। इतनी डिब्बी थी... वह डिब्बी भी अलग प्रकार की होती है। हीरा को कहीं थैले में नहीं रखा जाता। कोथला समझते हो? थैला। सूतली... सूतली का थैला। उसमें हीरा और केसर रखा जाता होगा? लो! यह जवेरी रहे, लो! ...सोने का एक वह था। कीमती था, दो लाख का हार था। ऐसे तो बहुत देखे हैं।

यहाँ तो कहते हैं, हीरा और केसर थैले में नहीं रहते। इसी प्रकार केवलज्ञान और केवलदर्शन हो, उसका शरीर स्फटिक जैसा हो जाता है। ऐसे (हों), उन्हें देव कहा जाता है। उन्हें अरिहन्त कहा जाता है। ऐसे अरिन्त को माने और फिर रोग माने, क्षुधा लगना माने, आहार ले तब तृप्ति (होती है, ऐसा माने) वे अरिहन्त नहीं, वह अरिहन्त के स्वरूप को जानता नहीं। समझ में आया?

घातियाकर्मरहित... परम औदारिक शरीर हो और चार घातिकर्म का नाश हो। **अनन्तचतुष्टयसहित धर्म का उपदेश करनेवाले...** वीतरागस्वरूप का उपदेश कहनेवाले हों। **ऐसे तो अरिहंतदेव हैं...** उसे अरिहन्तदेव कहा जाता है। इसके अतिरिक्त दूसरे प्रकार से माने तो वह मूढ जीव है। उसे मूढ़ता है, उसे मिथ्यात्व है। समझ में आया?

और **तथा पुद्गलमयी देह से रहित...** सिद्ध की बात करते हैं। यह पुद्गलमय देह, जो मिट्टी, उससे रहित। **लोक के शिखर पर विराजमान...** लोक के शिखर पर सिद्ध भगवान स्थित है। सम्यक्त्वादि **अष्टगुणमंडित अष्टकर्मरहित...** आठ गुणसहित और आठ कर्मरहित। आठ गुणसहित और आठ कर्मरहित, **ऐसे सिद्ध देव हैं।** उन्हें देव कहते हैं, उन्हें अशरीरी सिद्ध कहा जाता है। समझ में आया?

उनके नाम हैं। उन्हें अरिहन्त कहते हैं। कर्म को हनन किया, इसलिए अरिहन्त,

जिन कहते हैं। जीता - अज्ञान और राग को (जीता), इसलिए जिन, सिद्ध कहते हैं। इसकी व्याख्या है, हों! यह सब गाथाएँ हैं। पंचाध्यायी में सब गाथाएँ हैं। परमात्मा कहते हैं। उन्हें महादेव (कहते हैं)। बड़ी में बड़ी सब शक्ति प्रगट हो गयी, इसलिए उन्हें महादेव कहते हैं। ऐसे अरिहन्त, हों! दूसरे महादेव, वे महादेव नहीं।

मुमुक्षु : व्यवहार में लाभ न करे।

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या लाभ? लाभ क्या करे? लाभ कोई किसी को करता है? ऐसा स्वरूप है, ऐसा जो जाने, उसे अपने ज्ञान की ओर का नमूना मिलता है। ओहो! ऐसा आत्मा! यह अर्थात् ऐसा मैं हूँ।

मुमुक्षु : व्यवहार में लाभ...

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार में लाभ कौन करता था? धूल भी करता नहीं। लाभ की व्याख्या क्या? यह पैसा मिले और धूल मिले, यह लाभ है? यह तो पूर्व का पुण्य होवे तो आते हैं, उनके साथ क्या सम्बन्ध है? पापी मिथ्यादृष्टि कसाई हो... कहा न? सोने की कुर्सी में बैठता है। मुम्बई, क्या कहलाता है बान्द्रा का? बान्द्रा कत्लखाना। उसमें क्या है? वह बड़ा आया नहीं था? ख्रिस्ती का। मुम्बई में पोप (आया था)। कितने ही करोड़ रुपये उसने कब्जे में कर रखे हैं। कितने करोड़ की सब जहाज ले गया। माल, वह तो माँस खाता होगा। उसे नरक में जाना है। सेठी! ऐसे को अज्ञानी देव और गुरु माने। भान नहीं होता। बड़ा टोपावाला-रूपवान शरीर हो। यह हमारे गुरु हैं। समझ में आया? भान नहीं होता। सब मूढ़ जीव हैं। बाहर का पुण्य हो, उसके साथ क्या सम्बन्ध है? अरबपति हो। है न अमेरिका और... ?

शंकर,... उन्हें शंकर कहते हैं। ऐसा परमात्मस्वरूप, जिन्हें पूर्ण सुख प्रगट हुआ है, पूर्ण आनन्द प्रगट हुआ है। उन्हें-परमात्मा को और अरिहन्त और सिद्ध को शंकर कहते हैं। उन्हें शंकर कहते हैं। **विष्णु,...** सर्वव्यापक। ज्ञान लोकालोक को जानता है, इस अपेक्षा से व्यापक भी कहलाता है। उसे विष्णु कहा जाता है। **ब्रह्मा,...** स्वयं अपने पूर्ण आनन्द की उत्पत्ति के कारण वह स्वयं ब्रह्मा है। आनन्द की प्रजा को उत्पन्न करे, वह ब्रह्मा। समझ में आया? **हरि,..** दुःख को हरे, वह हरि। परन्तु ऐसा आत्मा, हों! राग को,

दु:ख को हरे, वह हरि। ऐसा भगवान आत्मा राग-द्वेष और अज्ञान जो दु:खमय है, उसे हरे-नाश करे और वीतराग को, आनन्द को प्रगट करे, उसे देव और हरि कहा जाता है। **बुद्ध,...** यह बुद्ध। पूर्ण ज्ञानमय को बुद्ध कहते हैं। वे बौद्ध हैं, वे बुद्ध नहीं हैं। क्षणिक समय की पर्याय को माने आत्मा को, वे बुद्ध नहीं हैं। **सर्वज्ञ,...** एक समय में तीन काल को जाने। **वीतराग...** रागरहित हो। परमात्मा परमस्वरूप प्रगट हुआ हो। **इत्यादि अर्थ सहित अनेक नाम हैंह्व ऐसा देव का स्वरूप जानना।** उसे देव मानना। इस देव के अतिरिक्त माने, वह मूढ़ जीव मिथ्यादृष्टि है। वह आँगन में मिथ्यात्व को निमन्त्रण देता है, ऐसा कहते हैं।

और **गुरु का भी अर्थ से विचार करें...** अब कहते हैं, गुरु भी वास्तव में तो वही कहलाते हैं, ऐसा कहते हैं। **अरिहंत देव ही हैं,...** परम गुरु, सर्वज्ञदेव परम गुरु। महा बड़ी में बड़ी शक्ति का विकास जिन्हें हो गया, वे परम गुरु हैं। **क्योंकि मोक्षमार्ग का उपदेश करनेवाले अरिहंत ही हैं,...** गुरु तो मोक्षमार्ग का उपदेश देनेवाले परमात्मा अरिहन्त ही गुरु-परम गुरु हैं। **वे ही साक्षात् मोक्षमार्ग का प्रवर्तन कराते हैं...** लो! सर्वज्ञ परमात्मा की वाणी में साक्षात् मोक्ष का मार्ग आता है।

तथा अरिहंत के पश्चात् छद्मस्थ ज्ञान के धारक... अरिहन्त के पश्चात् आचार्य, उपाध्याय, साधु **उन्हीं का निर्ग्रन्थ दिगम्बर रूप धारण करनेवाले मुनि हैं...** आचार्य, उपाध्याय, साधु तीनों दिगम्बर होते हैं। वस्त्र का एक भी धागा नहीं होता। जैसा माता से जन्मे, वैसे होते हैं। **दिगम्बर रूप धारण करनेवाले मुनि हैं, सो गुरु हैं;...** वे गुरु कहलाते हैं। समझ में आया? वस्त्र-पात्र रखे और हम गुरु हैं और साधु हैं, (ऐसा माने) वह तो मिथ्यादृष्टि है परन्तु उन्हें माननेवाला भी मिथ्यादृष्टि है, ऐसा कहते हैं। पण्डितजी! गजब भाई! तुम्हारा मार्ग मिथ्या है, कहते हैं। ऐई! वस्तु का स्वरूप ऐसा है, भाई! मार्ग का प्रश्न नहीं, वस्तु की स्थिति ही ऐसी है।

साधु हो, उन्हें अन्तर में वीतरागता प्रगट होती है, वीतराग का परम आनन्द का आह्लाद होता है, उनकी बाह्यदशा एकदम नग्न दिगम्बर वस्त्र के धागे रहित उन्हें होती है। समझ में आया? ऐसे चारित्रवन्त गुरु माने जाते हैं। इसके बिना दूसरों को चारित्रवन्त गुरु माने, वह मूढ है। समझ में आया?

क्योंकि अरिहंत की सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की एकदेश शुद्धता... अरिहन्त को पूर्ण शुद्ध है, इन्हें एकदेश शुद्धपना सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों इन्हें होते हैं। तिन्हीं के अर्थात् इन्हें। साधु हैं, उन्हें सम्यक् अनुभव होता है, सम्यक् प्रतीति होती है और सम्यक् स्वरूप का आनन्द का आचरण होता है। समझ में आया? **वे ही संवर–निर्जरा–मोक्ष का कारण हैं,...** यह अन्तर की सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की निर्मल शुद्ध उज्ज्वल दशा, वही संवर, निर्जरा और मोक्ष का कारण है। बाहर का क्रियाकाण्ड कोई संवर, निर्जरा और मोक्ष का कारण नहीं है। समझ में आया? **इसलिए अरिहंत की भाँति एकदेशरूप से निर्दोष हैं,...** अरिहन्त जैसे पूर्ण निर्दोष हैं, वैसे यह गुरु भी एक भाग में—एकदेश पूर्ण निर्दोष हैं। **वे मुनि भी गुरु हैं,...** अरिहन्त तो गुरु हैं ही परन्तु ये भी एक गुरु कहने में आते हैं। **मोक्षमार्ग का उपदेश करनेवाले हैं।** उसमें आया था न? मोक्षमार्ग का उपदेश करनेवाले अरिहन्त साक्षात मोक्षमार्ग प्रवर्तन कराते हैं।

ऐसा मुनिपना सामान्यरूप से एक प्रकार का है... मुनिपना सामान्य एक ही प्रकार से है। **विशेषरूप से वही तीन...** आचार्य, उपाध्याय और साधु। **इस प्रकार यह पदवी की विशेषता...** है। तीन की पदवी विशेष है। अन्तर में तो वीतराग आनन्द के उपयोगी, शुद्धोपयोगी हैं। उसमें आता है, हों! समझ में आया?

मुमुक्षु : मोक्षमार्गप्रकाशक।

पूज्य गुरुदेवश्री : मोक्षमार्गप्रकाशक नहीं। यह बात तो पंचाध्यायी में है। वहाँ मुनि की व्याख्या है। शुद्धोपयोगी की, भाई! शुद्धोपयोगी लिये हैं। ६९४ गाथा है।

अथ सूरिरूपाध्यायो द्वावेतौ हेतुतः समौ।
साधु साधुरिवात्मज्ञौ शुद्धौ शुद्धोपयोगिनौ ॥६९४॥

(पंचाध्यायी की) ६९४ गाथा है, कहते हैं। **अन्तरंग कारण की अपेक्षा विचार करने पर आचार्य, उपाध्याय दोनों ही समान हैं, साधु हैं, साधु के समान आत्मज्ञ हैं, साधु के समान शुद्ध हैं और शुद्ध उपयोगवाले हैं।** शुद्धोपयोगी, उन्हें साधु कहते हैं, ऐसा यहाँ कहते हैं। समझ में आया? ....यह गृहस्थ का लेख है। आहाहा! शुद्धोपयोगी। शुद्धोपयोग, वही मुनिपना है। यह प्रवचनसार में है, मोक्षमार्गप्रकाशक में लिया है। साधु अर्थात् नग्न-

दिगम्बर। अन्तर में शुद्धोपयोग। महाव्रतादि शुभभाव विकल्प। छबीलभाई! महाव्रत के कारण मिथ्यादृष्टि ऊँचा गया, वह कहीं ऊँचा नहीं गया। ऐसे उसे कहीं नौवें ग्रैवेयक जाना है।....इसलिए कहीं मनुष्य ऊँचा हो गया? ऐसे शुभभाव...

मुमुक्षु : शुभभाव....

पूज्य गुरुदेवश्री : देव और नारकी दोनों समान हैं। पशु जैसी वृत्ति है, सब समान हैं। पशु कहे हैं। पशु मिथ्यादृष्टि। आहाहा! समझ में आया? भान नहीं कि आत्मा अन्दर स्वरूप शुद्ध भावना... शुभ दया, दान, व्रत के परिणाम से भिन्न चैतन्य है। उसका अन्तर में भान और अनुभव (होता है) वह धर्म, समकित, ज्ञान और चारित्र है। बाहर की क्रिया-फ्रिया वह कहीं चारित्र नहीं है। ऐसा लिख गये हैं। छठे गुणस्थान तक शुभभाव ही होता है और शुभभाववाला ही समकिती और ज्ञानी... शुभभाव में ही ऐसा... लो!

मुमुक्षु : छठे गुणस्थान तक व्यवहार...

पूज्य गुरुदेवश्री : ...यहाँ तो व्यवहार होता है, ऐसा बतलाते हैं। उसकी आराधना तो स्वरूप में होती है। साध्यते इति साधु। आता है न। साधु-आत्मा के स्वरूप को साधे, वह साधु, ऐसा आता है। पंचाध्यायी में आता है। साधु की व्याख्या, समझ में आया? साधु है, देखो! 'रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग को साधे, सो साधु।' यह पन्द्रहवें पृष्ठ पर है। तीसरी लाईन है। साधु है, सो रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग को साधे, सो साधु। सम्यक् आत्मा पूर्ण स्वरूप अखण्ड आनन्द का कन्द है, ऐसी प्रतीति, अनुभव ज्ञान और रमणता (हुई है), ऐसे दर्शन-ज्ञान-चारित्र को साधे, वह साधु। महाव्रत को साधे और नग्नपने को साधे, उसकी बात यहाँ है कहाँ? उन्हें होता अवश्य है। समझ में आया? बहुत कठिन काम। सम्प्रदायवाले को बाहर निकलना, उसमें से छोड़ना भारी कठिन पड़ता है।

आत्मा का अन्तर शुद्ध पवित्र स्वभाव है। पुण्य-पाप, वे कहीं पवित्र स्वभाव नहीं हैं। इसलिए यहाँ कहते हैं कि आत्मा... यहाँ तो संवर-निर्जरा का कारण कहना है। उन्हें कैसे संवर-निर्जरा का कारण कहा? उन्हें शुद्धता का भाव प्रगट हुआ है। आचार्य, उपाध्याय, साधु को शुद्धपवित्र ऐसा श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र, ऐसा भाव प्रगट हुआ है। वह भाव संवर, निर्जरा और मोक्ष का कारण है। देखो! है न अन्दर? देखो!

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी नहीं वहाँ। देखो! ....मुनिपना की क्रिया एक ही है। ऊपर आ गया है न, **संवर, निर्जरा, मोक्ष का कारण...** लो! **एकदेश शुद्धता उनके पायी जाती है और वे ही संवर, निर्जरा, मोक्ष का कारण है, इसलिए अरिहन्त की भाँति एकदेशरूप से निर्दोष हैं...**

ऐसा मुनिपना सामान्यरूप से एक प्रकार का है और विशेषरूप से वही तीन प्रकार का है... उनके मुनिपने की क्रिया समान ही हैं;..... तीनों में। आचार्य हो, उपाध्याय हो, (या साधु हो)। तीनों को मुनिपने की क्रिया एक ही होती है। **बाह्य लिंग भी समान ही है,....** दिगम्बर ही होते हैं। फिर किसी को कपड़े का टुकड़ा हो और किसी न हो, ऐसा नहीं हो सकता। आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : दो प्रकार के हुए न?

पूज्य गुरुदेवश्री : जिनकल्पी मुनि अर्थात् अकेले रहें और उनके साथ... वस्त्रवाला वह स्थविरकल्पी और वस्त्ररहित जिनकल्पी, ऐसा नहीं है।

मुमुक्षु : वस्त्रवाला....

पूज्य गुरुदेवश्री : मिथ्या बात है। वे कहते थे। हम जब भावनगर गये थे न? उनने मक्खन लगाया। वस्त्र हो, वह स्थविरकल्पी कहलाता है और वे (जिनकल्पी)। भानरहित है। स्थविरकल्पी और जिनकल्पी साधु दोनों नग्न ही होते हैं, दोनों जंगल में ही बसते हैं। स्थविरकल्पी होते हैं अधिक साधु होते हैं। जिनकल्पी अकेले होते हैं, बाकी दूसरा कोई अन्तर नहीं है। दूसरा अन्तर माने, उसे साधुपने का-गुरुपने का भान नहीं है।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : कहा न? स्थापित किया। (वस्त्रवाले) जिनकल्पी, स्थविरकल्पी है ही नहीं। दोनों मिथ्या बात है, अज्ञान है। यही होता है - दोनों नग्न-दिगम्बर होते हैं, अन्तर में वीतरागता होती है, शुद्धता होती है। यहाँ सिद्ध करना है न? पुण्य-पाप के परिणाम नहीं। शुद्धता। शुद्धता तो दर्शन, ज्ञान और चारित्र, वह शुद्धता होती है। शुद्ध वस्तुस्वभाव की प्रतीति शक्ति में से व्यक्ति आयी, उसका ज्ञान आया और उसमें से

वीतरागता आयी। शुद्ध में से शुद्धता आयी, वह संवर-निर्जरा मोक्ष का कारण है - ऐसा यहाँ कहना है। समझ में आया ? आहा ! बाहर के लक्ष्य से उत्पन्न हुए विकल्प तो आस्रव और बन्ध का ही कारण है। आहाहा ! जगत को भारी कठिन। बाड़ा में से निकलकर यह मानना (कठिन पड़ता है) । समझ में आया ?

पञ्च महाव्रत, पञ्च समिति, तीन गुप्ति – ऐसे तेरह प्रकार का चारित्र भी समान ही है,... व्यवहार। ठीक। **तप भी शक्ति अनुसार समान ही है,..** ऐसा। शक्ति... आचार्य, उपाध्याय, ...**साम्यभाव भी समान है,..** दूसरा सबका समान है। **मूलगुण उत्तरगुण भी समान है,..** आचार्य, उपाध्याय, साधु तीनों को समान है। **परिषह उपसर्गों का सहना भी समान है, आहारादि की विधि भी समान है,..** आचार्य, उपाध्याय बहुत ऊँचे हो गये हैं, इसलिए उनके लिये बनाया हुआ आहार ले और साधु न ले, ऐसा नहीं है। तीनों के लिये आहार की विधि निर्दोष (होती है) । उनके लिये की हुई नहीं होती, ऐसा लिया है। समझ में आया ? अभी कितने ही ऐसा कहते हैं, द्रव्यानुयोग का ज्ञान हो और साधु, आचार्य, उपाध्याय हो जाए, इसलिए फिर उनके लिये सवेरे से शाम...

मुमुक्षु : यह तो द्रव्यानुयोग....

पूज्य गुरुदेवश्री : द्रव्यानुयोग क्या ? परन्तु समिति बिना साधु किसका ? द्रव्यानुयोग का ज्ञान नहीं परन्तु द्रव्यानुयोग का अनुभव। द्रव्य अर्थात् आत्मा का अनुभव न होवे तो समकित किसका ? उसमें फिर आहार-पानी वापस उनके लिये बनाया हुआ हो। चाय, दूध शाम-सवेरे, रगडा चले। यह तो सब बड़े महाराज को चाहिए। धर्म की प्रभावना का हेतु है, सब मूढ़ता है, यहाँ तो ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? ऐसे साधु को गुरु मानना, वह मिथ्यादृष्टि है, मूढ़ है, उसे मिथ्यात्व का उदय है। समझ में आया ? मार्ग तो ऐसा है।

चर्या, स्थान, आसनादि भी समान हैं,... विहार, खड़े रहना, बैठना आदि यह सबकी क्रिया समान है। **मोक्षमार्ग की साधना, सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र भी समान हैं।** तीनों ही-आचार्य, उपाध्याय, साधु को सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीनों होते हैं वीतरागी। शुद्ध... शुद्ध। यहाँ शुद्ध की व्याख्या है न ?

ध्याता, ध्यान, ध्येयपना भी समान है,... ध्याता आत्मा, ध्यान वीतरागी, ध्येय

आत्मा का, यह सब तीनों को समान है। **ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेयपना भी समान है, चार आराधना की आराधना,...** ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप की आराधना, यह समान है। **क्रोधादिक कषायों का जीतना इत्यादि मुनियों की प्रवृत्ति है, वह सब समान है।**

विशेष यह है कि जो आचार्य हैं, वे पञ्चाचार अन्य को ग्रहण कराते हैं... इतना अन्तर, बस। **तथा अन्य को दोष लगे तो उसके प्रायश्चित्त की विधि बतलाते हैं,...** इतना अन्तर। **धर्मोपदेश, दीक्षा एवं शिक्षा देते हैं – ऐसे आचार्य गुरुवन्दना करने योग्य हैं।** ऐसे आचार्य वन्दन करने योग्य है। आचार्य मानकर। समझ में आया?

जो उपाध्याय हैं, वे वादित्व, वाग्मित्व,... वचन कला में अथवा वाद में अथवा **कवित्व, गमकत्व...** अर्थ करने में **इन चार विद्याओं में प्रवीण होते हैं; उसमें शास्त्र का अभ्यास प्रधान कारण है।** उन उपाध्याय को शास्त्र की प्रधानता है। **जो स्वयं शास्त्र पढते हैं और अन्य को पढाते हैं, ऐसे उपाध्याय गुरु वन्दनयोग्य हैं;...** अकेले शास्त्र पढ़ें, ऐसा नहीं। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रसहित होते हैं। उन सहित की बात है। आहाहा! **उनके अन्य मुनिव्रत, मूलगुण, उत्तरगुण की क्रिया आचार्य के समान ही होती है...** लो! अब साधु। देखो!

तथा साधु रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग की साधना करते हैं... कहो।

मुमुक्षु : निश्चय-व्यवहार...

पूज्य गुरुदेवश्री : भले.. हो। निश्चय हो और व्यवहार हो, वह जानना। ऐसा ही लिखा जाता है, निश्चय-व्यवहार के आराधक हैं, उसमें क्या है? व्यवहार होता अवश्य है न! समझ में आया? **उनके दीक्षा, शिक्षा और उपदेशादि देने की प्रधानता नहीं है,...** साधु दीक्षा, शिक्षा को नहीं दे सकते। उपदेश... साधु दे। पहले अपना काम करते हैं। **अपने स्वरूप की साधना में ही तत्पर होते हैं;...** अपने स्वरूप का साधन। साधु दिगम्बर मुनि तो अपने आनन्दस्वरूप में तत्पर होते हैं। आहाहा! शुद्धोपयोग की रमणता में तत्पर हैं, उन्हें साधु कहा जाता है। आहाहा! ऐसा सब पूरा बदल गया है। दिगम्बर सम्प्रदाय में सब बदल गया है। पूरी लाईन बदल गयी है। दूसरों ने तो बदल डाली है। (इन लोगों ने) नाममात्र रहने दिया।

जिनागम में जैसी निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि की प्रवृत्ति कही है, वैसी सभी

प्रवृत्ति उनके होती है – ऐसे साधु वन्दना के योग्य हैं। अन्यलिंगी–वेषी व्रतादिक से रहित, परिग्रहवान, विषयों में आसक्त गुरु नाम धारण करते हैं, वे वन्दनयोग्य नहीं हैं। समझ में आया?

इस पंचमकाल में जिनमत में भी भेषी हुए हैं। सुजानमलजी! यहाँ तो मार्ग हो वह आएगा। **श्वेताम्बर,...** श्वेताम्बर भी भेषी है। द्रव्यलिंगी भी नहीं। उन्हें मिथ्यादृष्टि का वेश है। ऐई! चन्दुभाई! ऐसा मार्ग है। श्वेताम्बर हैं, उन्होंने जैनधर्म को बिगाड़ा है। अनादि सनातन दिगम्बर धर्म था, उसमें से निकलकर कल्पित शास्त्र और कल्पित देव–गुरु... बनाया है। लोगों को बुरा तो लगता है... श्वेताम्बर लड़की–लड़का दे नहीं। कौन लड़का–लड़की दे? छोड़ न! आहाहा! श्वेताम्बर, वे सर्व वन्दनयोग्य नहीं है। उनके आचार्य, उपाध्याय, साधु, (वे वास्तव में) आचार्य, उपाध्याय, साधु हैं ही नहीं। मिथ्यादृष्टि और कुलिंगी है। आहाहा! ऐई! जयन्तीभाई! ऐसा काम भारी कठिन। अनमेल होकर रहना पड़े! अनमेल ही है और अकेला ही है। कौन है दूसरा इसे? आहाहा! अन्य लिंगी वेशी, व्रतादि का भी संयम नहीं। एक यापनीयसंघ हुआ है। नग्न रहते हैं परन्तु मानते हैं सब श्वेताम्बर। **गोपुच्छपिच्छसंघ,...** गाय की पूँछ रखते हैं। **निःपिच्छसंघ,..** पिच्छिरहित एक साधु होते हैं। **द्राविड़संघ आदि अनेक हुए हैं; यह सब वन्दनयोग्य नहीं हैं।**

मूलसंघ, नग्नदिगम्बर, अट्ठाईस मूलगुणों के धारक, दया के और शौच के उपकरण मयूरपिच्छक, कमण्डल धारण करनेवाले,... मोर की पिच्छि और कमण्डल जो दया का (और शुचिता का) उपकरण रखते हैं। **यथोक्त विधि से आहार करनेवाले गुरु...** निर्दोष विधि से आहार (ग्रहण करे) और दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीन की आराधन (करनेवाले हों) वे **वन्दनयोग्य हैं, क्योंकि जब तीर्थंकर देव दीक्षा लेते हैं, तब ऐसा ही रूप धारण करते हैं,...** ऐसा उदाहरण दिया। तीर्थंकर परमात्मा त्रिलोकनाथ जब दीक्षा धारण करते हैं, तब ऐसा ही नग्न–दिगम्बर रूप ही धारण करते हैं। समझ में आया? इन्द्र ने एक वस्त्र बारह महीने दिया, यह सब मिथ्या–कल्पित बातें हैं। यह वीतरागमार्ग की (बात) नहीं है। सब कल्पित आचार्यों ने अपने मत को पोषण करने–मिथ्यात्व को पोषण करने के लिये यह सब बनाया है। ऐ.. लक्ष्मीचन्दभाई!

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : ...यह बात बाद में। इसका कुछ नहीं...

तीर्थंकर देव दीक्षा लेते हैं, तब ऐसा ही रूप धारण करते हैं, अन्य भेष धारण नहीं करते;... अब आया, लो! **इसी को जिनदर्शन कहते हैं।** वह आया '**दंसणमग्गह वोच्छामि**' उसे जैनदर्शन कहते हैं, देखो! जैनदर्शन अन्तर के स्वरूप का सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और वीतरागी शुद्धत्व परिणमन, अट्ठाईस मूलगुण आदि, नग्न दिगम्बर दशा को जैनदर्शन कहा जाता है और इस जैनदर्शन की-इस वाले की श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहा जाता है। समझ में आया? अन्तिम में लिया है। ...४१५ पृष्ठ, अन्त में लिया है न?

'जिनदर्शन निर्ग्रन्थरूप तत्त्वार्थ धारण।' पहले दर्शनपाहुड़ का संक्षिप्त कर दिया। ४१५ पृष्ठ मेरे पुराने में है।'जिनदर्शन निर्ग्रन्थरूप तत्त्वार्थ धारण।' यह दर्शनपाहुड़ की व्याख्या इतने शब्दों में रख दी। है? 'जिनदर्शन निर्ग्रन्थरूप।' यह पहले पाहुड़ का संक्षिप्त किया; और तत्त्वार्थश्रद्धान, ऐसे की बराबर श्रद्धा, वह सम्यग्दर्शन। यह दो इसमें वर्णन किया है। सूत्र में यह आया। आठों पाहुड़ का संक्षिप्त किया है। आठों के नाम दिये हैं। समझ में आया? अरे! गजब भाई!

इसी को जिनदर्शन कहते हैं। इसे जैनदर्शन वीतरागमार्ग में त्रिलोकनाथ केवलज्ञानी के पन्थ में अन्तर के स्वरूप का सम्यग्दर्शन, ज्ञान और वीतरागी दशा, बाह्य में नग्न-दिगम्बर वेश, इसे जैनदर्शन कहा जाता है। उस जैनदर्शन का यह मत और अभिप्राय है। समझ में आया? इनने मिलान करके किया है, हों! उस अर्थ में भाई ने नहीं किया। अष्टपाहुड़ की टीका मिलान कर गाथाओं को न्याय देने के लिये मिलान कर (किया है)। ....है परन्तु उस प्रमाण मैंने नहीं किया। दंसणमग्गं - दर्शन का मार्ग, दर्शन का अभिप्राय, दर्शन का मत। उसकी मूल श्रद्धा सम्यग्दर्शन है...। **दंसणमूलो धम्मो** ऐसा जो दर्शन, उसका मूल अभिप्राय। श्रद्धा सम्यग्ज्ञान, चारित्र आदि का मूल है। समझ में आया?

धर्म उसे कहते हैं जो जीव को संसार के दु:खरूप नीच पद से मोक्ष के सुखरूप उच्च पद में स्थापित करे... उसे धर्म कहते हैं। उस पुण्य-पाप से उद्धार करके स्वभाव में लावे, उसे धर्म कहते हैं। आहाहा! आता है न? रत्नकरण्डश्रावकाचार

(गाथा २) में (आता है)। संसार (के) दु:खरूप नीच पद से ऊँचा (लावे), यह भाषा इन्होंने वही की है। ...वह धर्म। दु:ख से उद्धार करके सुख में लावे, वह धर्म। **मोक्ष के सुखरूप उच्च पद में स्थापित करे – ऐसा धर्म मुनि–श्रावक के भेद से, दर्शन–ज्ञान–चारित्रात्मक एकदेश...** (एकदेश) श्रावक का और सर्वदेश मुनि का। **निश्चय–व्यवहार द्वारा दो प्रकार कहा है;...** है न? दो है न! **उसका मूल सम्यग्दर्शन है;...** देखो! इन सबका मूल सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन न होवे तो कोई चीज़ नहीं होती।

उसके बिना धर्म की उत्पत्ति नहीं होती। सम्यग्दर्शन के बिना धर्म की उत्पत्ति नहीं होती। **इसप्रकार देव–गुरु–धर्म में तथा लोक में यथार्थ दृष्टि हो और मूढ़ता न हो, सो अमूढ़दृष्टि अंग है।** यह धर्मी का चौथा प्रकार—अंग कहा जाता है।

अपने आत्मा की शक्ति को बढ़ाना, सो उपबृंहण अंग है। पाँचवाँ बोल। **सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र को अपने पुरुषार्थ द्वारा बढ़ाना ही उपबृंहण है।** अपना स्वरूप ज्ञान, दर्शन, आनन्द, वीर्य से–पुरुषार्थ से बढ़ाना, इसका नाम समकिती का पाँचवाँ गुण है। ....**उसे उपगूहन भी कहते हैं– ऐसा अर्थ जानना चाहिए कि जिनमार्ग स्वयंसिद्ध है; उसमें बालक के तथा असमर्थ जन के आश्रय से जो न्यूनता हो,...** कोई बालक या वृद्ध है या साधारण में फेरफार हो परन्तु अनुभव समकिती ज्ञानी धर्मी हो... दूसरे ये दोष धर्मात्मा गुप्त रखता है, बाहर प्रसिद्ध करना यह तो व्यवहार की बात है। अपने राग को गोपन करता है अर्थात् राग होने नहीं देता, यह उपगूहन है। यह पाँचवाँ आचार हुआ।

जो धर्म से च्युत होता हो उसे दृढ करना, सो स्थितिकरण अंग है। यह समकिती का छठवीं किरण अथवा गुण अथवा लक्षण अथवा आचरण है। **स्वयं कर्मोदय के वश होकर कदाचित् श्रद्धान से तथा क्रिया–आचार से च्युत होता हो तो अपने को पुरुषार्थपूर्वक पुनः श्रद्धान में दृढ करे;...** अपने को भी पुरुषार्थ द्वारा समकित में, चारित्र में अन्तर होता हो तो दृढ़ करना, यह स्थितिकरण स्वयं के लिये है। **उसी प्रकार अन्य कोई धर्मात्मा धर्म से च्युत होता हो तो उसे उपदेशादिक द्वारा धर्म में स्थापित करे, वह स्थितिकरण अंग है।** लो!

और **अरिहंत, सिद्ध, उनके बिम्ब, चैत्यालय...** अर्थात् मन्दिर। **चतुर्विध संघ**

और शास्त्र में दासत्व हो – जैसे स्वामी का भृत्य दास होता है तदनुसार, वह वात्सल्य अंग है। इसका नाम वात्सल्य अंग है। धर्मी जीव अरहन्त सिद्ध के दास हैं। वात्सल्य है न ? प्रेम है। उनके बिम्ब, प्रतिमा के दास हैं। चैत्यालय-मन्दिर और चतुर्विध संघ—साधु, आर्यिका, श्रावक और श्राविका। समकिती धर्मी जीव उनका दास होता है। उनके समक्ष इसकी उद्धताई नहीं होती, ऐसा कहते हैं।

धर्म के स्थान पर उपसर्गादि आयें उन्हें अपनी शक्ति अनुसार दूर करे,... लो। धर्म के स्थान में उपसर्ग आदि हो तो अपनी शक्ति प्रमाण मिटावे। **अपनी शक्ति को न छिपाये – यह सब धर्म में अति प्रीति हो, तब होता है।** जिसे धर्म में प्रेम हो, उसे ऐसे भाव आते हैं। कहो, समझ में आया ? अब रहा प्रभावना। आठवाँ बोल।

धर्म का उद्योत करना, सो प्रभावना अंग है। रत्नत्रय द्वारा अपने आत्मा का उद्योत करना तथा दान, तप, पूजा-विधान द्वारा एवं विद्या, अतिशय-चमत्कारादि द्वारा जिनधर्म का उद्योत करना... व्यवहार और निश्चय, दोनों। अपना शुद्धस्वभाव पवित्र धर्म की खान है। उसमें एकाग्रता की वृद्धि करना। समझ में आया ? प्र-भावना। प्र-विशेष, भावना-एकाग्रता। **अपने आत्मा का उद्योत करना...** आत्मा का प्रकाश विशेष करना। भगवान आत्मा जलहलज्योति चैतन्य, आनन्द, उसकी परिणति में उद्योत / प्रकाश बढ़ाना, वह प्रभावना है। बाहर में दान, तप, पूजा ऐसे विधान से (उद्योत करना)। यह बाहर का रह गया। वह (अन्तरंग का) पड़ा रहा। **विद्या, अतिशय-चमत्कारादि द्वारा जिनधर्म का उद्योत करना, वह प्रभावना अंग है।**

इस प्रकार यह सम्यक्त्व के आठ अंग हैं; जिसके यह प्रगट हों, उसके सम्यक्त्व है – ऐसा जानना चाहिए। समझ में आया ?

प्रश्न – यदि यह सम्यक्त्व के चिह्न मिथ्यादृष्टि के भी दिखाई दें तो सम्यक्-मिथ्या का विभाग कैसे होगा? प्रश्न है। मिथ्यादृष्टि में भी ऐसा हो और समकित में भी ऐसा हो तो हमें उनकी भिन्नता किस प्रकार करना ? भिन्न किस प्रकार करना ? विभाग किस प्रकार करना ?

समाधान – जैसे चिह्न सम्यक्त्वी के होते हैं, वैसे मिथ्यात्वी के तो कदापि नहीं होते, तथापि अपरीक्षक को समान दिखाई दें... परीक्षा नहीं आती हो, उसे सब

समान लगते हैं। मिथ्यादृष्टि, दान, प्रभावना... सम्यग्दृष्टि दोनों की समान लगती है। **परीक्षा करके भेद जाना जा सकता है।** परीक्षा करे तो दोनों की भिन्नता ज्ञात होती है।

परीक्षा में अपना स्वानुभव प्रधान है। अपना अनुभव, वह मुख्य है। आहाहा! **सर्वज्ञ के आगम में जैसा आत्मा का अनुभव होना कहा है, वैसा स्वयं को हो तो उसके होने से अपनी वचन-काय की प्रवृत्ति भी तदनुसार होती है, उस प्रवृत्ति के अनुसार अन्य की भी वचन-काय की प्रवृत्ति पहचानी जाती है – इसप्रकार परीक्षा करने से विभाग होते हैं...** ऐसी परीक्षा से दोनों की भिन्नता का भान होता है। कहो, समझ में आया?

तथा यह व्यवहार मार्ग है,... ज्ञान से निर्णय करना, यह व्यवहार मार्ग है। **इसलिए व्यवहारी छद्मस्थ जीवों के अपने ज्ञान के अनुसार प्रवृत्ति है;...** ज्ञान में आवे, तद्नुसार प्रवृत्ति है। **यथार्थ सर्वज्ञदेव जानते हैं।** क्षण-क्षण में कोई पलटा खा जाए तो उसका ज्ञान कहीं छद्मस्थ को नहीं होता। समझ में आया? अज्ञानी की बाहर में वैसी की वैसी श्रद्धा दिखायी दे और अन्दर में मिथ्यात्व के भाव-पर को अपना मानने का हो जाए, सूक्ष्म एक समयमात्र, वह तो सर्वज्ञ जानते हैं। साधारण छद्मस्थ नहीं जान सकता। उसका कुछ काम नहीं है, ऐसा कहते हैं। **व्यवहारी को सर्वज्ञदेव ने व्यवहार का ही आश्रय बतलाया है।** ज्ञान में प्रमाण में उसे आवे, तद्नुसार उसे निर्णय करना चाहिए।

यह अन्तरंग सम्यक्त्वभावरूप सम्यक्त्व है, वही सम्यग्दर्शन है,... अन्तरंग तो सम्यक्त्वभावरूप सम्यक्त्व, वह सम्यग्दर्शन है। शुद्ध पवित्र भगवान की प्रतीति का ज्ञान और भान (हो), उसमें उसे सम्यग्दर्शन कहा जाता है। **बाह्यदर्शन,..** लो, अब बाह्यदर्शन। आता है न? .... **व्रत, समिति, गुप्तिरूप चारित्र और तपसहित अट्ठाईस मूलगुण सहित नग्न दिगम्बर मुद्रा उसकी मूर्ति है, उसे जिनदर्शन कहते हैं।** समझ में आया?

इस प्रकार धर्म का मूल सम्यग्दर्शन जानकर... लो! धर्म का मूल सम्यग्दर्शन जानना। **सम्यग्दर्शनरहित हैं, उनके वंदन-पूजन का निषेध किया है – ऐसा यह**

उपदेश भव्यजीवों को अंगीकार करनेयोग्य है। लो! दूसरी गाथा का अर्थ बहुत दिन चला है। पंचमी से शुरु हुआ है। पहली गाथा से। आठ दिन हुए।...कहो, समझ में आया?

सब समझने की बात है। मूढ़ता छोड़ने की (बात है)। मूल सम्यग्दर्शन का ही जहाँ ठिकाना नहीं, वहाँ एक भी धर्म नहीं होता, इसलिए इन्होंने मूल लिया है। भले बाहर के आचरण में विशेष हो। अपवास में विशेष हो, ओली और आम्बेल बहुत करते हों। समझ में आया? एक जगह न रहते हों, विहार बहुत करते हों, इसकी कुछ विशेषता नहीं है। वस्तु की स्थिति की प्रतीति और अनुभव कैसा है, इसके आधार से पूरा जैनदर्शन का मूल है। समझ में आया?

गाथा-३

अब कहते हैं कि अन्तरंगसम्यग्दर्शन बिना बाह्यचारित्र से निर्वाण नहीं होता –

दंसणभट्ठा भट्ठा दंसणभट्ठस्स णत्थि णिव्वाणं।
सिज्झंति चरियभट्ठा दंसणभट्ठा ण सिज्झंति।।३।।

दर्शनभ्रष्टा: भ्रष्टा: दर्शनभ्रष्टस्य नास्ति निर्वाणम्।
सिध्यन्ति चारित्रभ्रष्टा: दर्शनभ्रष्टा: न सिध्यन्ति।।३।।

हैं भ्रष्ट दर्शन-भ्रष्ट दर्शन-भ्रष्ट की मुक्ति नहीं।
हों सिद्ध चारित्र-भ्रष्ट दर्शन-भ्रष्ट की सिद्धि नहीं।।३।।

अर्थ **– जो पुरुष दर्शन से भ्रष्ट हैं वे भ्रष्ट हैं; जो दर्शन से भ्रष्ट हैं उनको निर्वाण नहीं होता; क्योंकि यह प्रसिद्ध है कि जो चारित्र से भ्रष्ट हैं, वे तो सिद्धि को प्राप्त होते हैं, परन्तु जो दर्शन से भ्रष्ट हैं, वे सिद्धि को प्राप्त नहीं होते।**

भावार्थ **– जो जिनमत की श्रद्धा से भ्रष्ट हैं, उन्हें भ्रष्ट कहते हैं और जो श्रद्धा से भ्रष्ट नहीं हैं, किन्तु कदाचित् कर्म के उदय से चारित्रभ्रष्ट हुए हैं, उन्हें भ्रष्ट नहीं कहते; क्योंकि जो दर्शन से भ्रष्ट हैं, उन्हें निर्वाण की प्राप्ति नहीं होती; जो चारित्र से भ्रष्ट होते हैं और श्रद्धानदृढ रहते हैं उनके तो शीघ्र ही पुन: चारित्र का ग्रहण होता है और मोक्ष होता**

है तथा दर्शन से भ्रष्ट होय उसी के फिर चारित्र का ग्रहण कठिन होता है, इसलिए निर्वाण की प्राप्ति दुर्लभ होती है। जैसे – वृक्ष की शाखा आदि कट जायें और जड़ बनी रहे तो शाखा आदि शीघ्र ही पुन: उग आयेंगे और फल लगेंगे, किन्तु जड़ उखड़ जाने पर शाखा आदि कैसे होंगे ? उसीप्रकार धर्म का मूल दर्शन जानना।।३।।

गाथा-३ पर प्रवचन

अब कहते हैं कि अन्तरंगसम्यग्दर्शन बिना बाह्यचारित्र से निर्वाण नहीं होता... जहाँ अन्तर भगवान आत्मा का शुद्ध का शुद्धपना प्रगट नहीं हुआ। सम्यग्दर्शन में शुद्धता की प्रगट दशा होती है, मिथ्यात्व में शुद्धता की प्रगट दशा नहीं होती। अशुद्धता का प्रगट अनुभव और अशुद्धता होती है। वह सम्यक् शुद्धता बिना बाह्य चारित्र अर्थात् क्रियाकाण्ड के शुभभाव आदि से **निर्वाण नहीं होता....** उनसे कहीं मुक्ति नहीं होती। **दंसणभट्ठा भट्ठा** लो! यह गाथा किसकी आयी?

दंसणभट्ठा भट्ठा दंसणभट्ठस्स णत्थि णिव्वाणं।
सिज्झंति चरियभट्ठा दंसणभट्ठा ण सिज्झंति।।३।।

यह कुन्दकुन्दाचार्य की गाथा है।

अर्थ – जो पुरुष दर्शन से भ्रष्ट हैं... ऐसा जो जैनदर्शन, उसकी श्रद्धा से जो भ्रष्ट हैं। समझ में आया? अन्तर वीतरागी भाव दर्शन-ज्ञान-चारित्र का वीतरागी लिंग नग्न दिगम्बर जैनदर्शन। ऐसे दर्शन से भ्रष्ट हैं, वे सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं। समझ में आया? **जो दर्शन से भ्रष्ट हैं, उनको निर्वाण नहीं होता;...** दर्शन से भ्रष्ट हैं, वे भ्रष्ट हैं। वही वास्तविक भ्रष्ट है। जो दर्शन से भ्रष्ट है, उसकी मुक्ति नहीं है।

क्योंकि यह प्रसिद्ध है कि जो चारित्र से भ्रष्ट हैं, वे तो सिद्धि को प्राप्त होते हैं,... चारित्र से भ्रष्ट हैं, वह तो समकिती को ख्याल में होता है कि चारित्र नहीं, अचारित्र है। इसलिए उसके श्रद्धा, ज्ञान में चारित्र से भले भ्रष्ट माने, चारित्र नहीं, परन्तु उसकी श्रद्धा से भ्रष्ट नहीं हुआ। उस चारित्र से भ्रष्ट को वास्तव में भ्रष्ट नहीं कहा जाता। आहाहा! लोगों का पूरा झुकाव बाहर का है। व्रत की क्रिया से भ्रष्ट हो तो हो गया, भ्रष्ट हो गया, जाओ!

यहाँ कहते हैं कि चारित्र से भ्रष्ट हो, परन्तु दर्शन से भ्रष्ट न हो तो वह **सिज्झंति** अल्प काल में केवलज्ञान लेगा। समझ में आया?

जो दर्शन से भ्रष्ट हैं, वे सिद्धि को प्राप्त नहीं होते। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य की यह तीसरी गाथा है। लो, जो जिनमत की श्रद्धा से भ्रष्ट हैं। है न? पहले में कहा था न? मत, धर्म का मत। धर्म की मूर्ति और धर्म का मत। जिनमत अर्थात् यह। यह मोक्षमार्गी जीव साधु और उनका वेश और पंच महाव्रत के विकल्प, यह जिन व्यवहार यह... दर्शन है।

***भावार्थ* – जो जिनमत की श्रद्धा से भ्रष्ट हैं, उन्हें भ्रष्ट कहते हैं...** उन्हें भ्रष्ट कहने में आता है। **और जो श्रद्धा से भ्रष्ट नहीं हैं, किन्तु कदाचित् कर्म के उदय से चारित्रभ्रष्ट हुए हैं,...** उदय से अर्थात् पुरुषार्थ की (कमजोरी से)। समझ में आया? माघव मुनि थे न? माघव न? माघनन्दि... माघनन्दि। महान भावलिंगी साधु थे। एक जगह गये और खड़े रहे... स्त्री, कुम्हार की लड़की थी, कुँवारी थी। वह उसके बर्तन के पल्ले में अर्थात् ऐसे वह होती थी।....तत्पश्चात् कुम्हार से (उस कन्या से) विवाह किया। साधु चारित्र से भ्रष्ट हुए परन्तु श्रद्धा से भ्रष्ट नहीं थे। समझ में आया? संघ में कोई सूक्ष्म प्रश्न उठा। उसका स्पष्टीकरण नहीं आया। मनुष्य को भेजा, वहाँ जा। कुम्हार के घर में उसके बर्तन अच्छे रहे गये। है न? बर्तन बनाते हैं। जाता है, जहाँ पूछता है, हैं! संघ में अभी मेरी श्रद्धा-ज्ञान की कीमत है! वस्तुस्थिति है, वह तो ऐसी रहेगी। एकदम... मोरपिच्छी, कमण्डल पड़े थे। वापस मुनि हो गये। समझ में आया?

दर्शन से भ्रष्ट हो, उसे भ्रष्ट कहते हैं; चारित्र से भ्रष्ट हो, उसे भ्रष्ट नहीं कहते। ऐसा है न? **सिज्झंति चरियभट्ठा** स्पष्टीकरण ऐसा किया है। चारित्र से भ्रष्ट को भ्रष्ट नहीं कहते। इसका अर्थ भ्रष्ट तो है, परन्तु उसके बदले गिर जाएगा, ऐसा है। पाठ में तो इतना है न? **दंसणभट्ठा भट्ठा दंसणभट्ठस्स.. सिज्झंति चरियभट्ठा..** भ्रष्ट का इसमें से निकाला है। भ्रष्ट नहीं, ऐसा कहते हैं। परन्तु चारित्र से भ्रष्ट हुए, तथापि वे भ्रष्ट नहीं हैं अर्थात्? श्रद्धा से भ्रष्ट नहीं हैं, इसलिए उन्हें चारित्र से भ्रष्ट होने पर (भी) उन्हें वास्तव में भ्रष्ट नहीं कहा जाता। ऐसा स्पष्टीकरण है। **दंसणभट्ठा भट्ठा..** ऐसा है न? समकित से भ्रष्ट, वह भ्रष्ट है। इसका अर्थ (कि) चारित्र से भ्रष्ट, वह भ्रष्ट नहीं है – ऐसा अर्थ निकाला। इसमें से निकाला

है। बाकी भ्रष्ट तो चारित्र से तो है, परन्तु उसकी दृष्टि में–श्रद्धा में ख्याल है कि मैं चारित्र से भ्रष्ट हूँ, अर्थात् उसकी दृष्टि में बचाव नहीं करता कि नहीं, नहीं; उसमें क्या है ? चारित्र नहीं है, मुझमें दोष है। उसे श्रद्धा भ्रष्ट नहीं है। उसे सुधरने का अवसर है परन्तु श्रद्धा भ्रष्ट है, उसे सुधरने का अवसर नहीं है। विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)

प्रवचन-९ गाथा-३-४ बुधवार, ज्येष्ठ शुक्ल १३, दिनांक १७-०६-१९७०

अष्टपाहुड़। दर्शनपाहुड की तीसरी गाथा। तीसरी, तीसरी।

***भावार्थ* – जो जिनमत की श्रद्धा से भ्रष्ट हैं, उन्हें भ्रष्ट कहते हैं...** यह सम्यग्दर्शन का जोर बताना है। जिनमत की श्रद्धा अथवा... जिनमत का आया है न ? जिनकी मुद्रा निर्ग्रन्थ... बाह्य में दिगम्बर हैं। अन्दर में भी दर्शन-ज्ञान-चारित्र की वीतराग मुद्रा अन्दर प्रगट हुई है, उन्हें यहाँ जैनमत कहा जाता है। वह जैनदर्शन है। अन्तर स्वरूप सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और पंच महाव्रत के विकल्प आदि हों, नग्न दिगम्बरदशा (हो), वह जैनदर्शन है। उससे जो भ्रष्ट है, वह भ्रष्ट है। दो बार लिया है न ? **दंसणभट्ठा भट्ठा** जोर तो यहाँ देना है।

और जो श्रद्धा से भ्रष्ट नहीं हैं,... सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट नहीं है। अर्थात् ?—कि आत्मा की उपलब्धि अनुभव है। समझ में आया ? विषय में सुखबुद्धि नहीं। ब्रह्मचर्य बहुत करता है परन्तु उसमें उसे हितबुद्धि या सुखबुद्धि नहीं है। **जो श्रद्धा से भ्रष्ट नहीं हैं, किन्तु कदाचित् कर्म के उदय से चारित्रभ्रष्ट हुए हैं,...** कदाचित् चारित्र हो और इस प्रकार से चारित्र की दशा मुनि की वीतरागी दशा दिगम्बर मुद्रा उस प्रकार की न रह सके। कर्म का उदय तो निमित्त लिया है परन्तु पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण चारित्र में न रह सके **उन्हें भ्रष्ट नहीं कहते;...** यह तो तपश्चर्या-बपश्चर्या की बाकी वास्तव में **सिज्झंति चरियभट्ठा** ऐसा लिया है न ? चारित्र भ्रष्ट है। परन्तु दर्शन (भ्रष्ट) है, वह भ्रष्ट में भ्रष्ट है। समझ में आया ? वीतरागस्वरूपी आत्मा की दृष्टि ज्ञान और रमणता, वह तो यथार्थ वह तो उस प्रकार की अन्दर प्रतीति, अनुभव तो यथार्थ है। समझ में आया ? परन्तु चारित्र की

दशा (नहीं रही)। (ऐसे मार्ग की) श्रद्धा यथार्थ कहने में आयी है। दर्शन, ज्ञान, चारित्र वीतरागी पर्याय हो, ऐसे मार्ग की श्रद्धा सम्यग्दर्शन के अनुभव में है और स्वरूपाचरण का आनन्द तथा स्वरूपाचरण का चारित्र भी है। वह यहाँ चारित्र गिनना नहीं है। समझ में आया?

कदाचित् सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हुआ नहीं अर्थात् अनुभव में आनन्दस्वरूप है, आत्मा ध्येय दृष्टि में है, उसे स्वरूप का आचरण सम्यग्दर्शन और स्वसंवेदन ज्ञान वर्तता है तो वह सम्यक्त्व से भ्रष्ट नहीं है। भले चारित्र भ्रष्ट हो। समझ में आया? ब्रह्मचर्य आदि में दोष लगता हो, चारित्र न हो। तो कहते हैं कि उसे भ्रष्ट नहीं कहते। यहाँ तो ऐसा है। अधिक तो यह चलता था।

यहाँ तो **भ्रष्ट नहीं कहते;...** ऐसा है न? मूल भ्रष्ट नहीं। मूल तो ऐसे भ्रष्ट तो है परन्तु **सिज्झंति चरियभट्ठा** वापस तीसरे पद में लिया है न? चारित्र भ्रष्ट है, परन्तु मूल भ्रष्ट नहीं। मूल अर्थात्? चारित्र ऐसा ही होता है, सम्यग्दर्शन का अनुभव, आत्मा के अनुभव की दशा, आनन्द के स्वसंवेदन की प्राप्ति से भ्रष्ट नहीं है। देवचन्दजी! समझ में आया? **उन्हें भ्रष्ट नहीं कहते;...** कहते हैं। ब्रह्मचर्य का... और चारित्र का नाश हो। समझ में आया? परन्तु सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट नहीं तो यहाँ कहते हैं कि उसे वास्तव में भ्रष्ट नहीं कहा जाता। भ्रष्ट है सही, परन्तु वास्तव में अर्थात् मूल में भ्रष्ट हो गया है, ऐसा नहीं है। उसके अन्तर में अनुभव में प्रतीति वर्तती है कि चारित्र तो ऐसा होता है। वीतरागी चारित्र दिगम्बर मुद्रा / दशा। समझ में आया? तीन कषाय का अभाव, वह चारित्र है। ऐसी प्रतीति और अनुभव में अन्तर (में) वर्तता है, और जिसका ध्येय विषय नहीं है, तथापि विषय से गिर गया है, चारित्र से। समझ में आया? ध्येय विषय नहीं। ध्येय तो द्रव्यस्वभाव आनन्द है, वह ध्येय है। वह ध्येय छूटता नहीं। पण्डितजी!

कहते हैं, **जो श्रद्धा से भ्रष्ट नहीं हैं, किन्तु कदाचित् कर्म के उदय से चारित्रभ्रष्ट हुए हैं, उन्हें भ्रष्ट नहीं कहते;...** अन्दर अस्थिरता हो गयी है परन्तु फिर भी वह वास्तव में प्रतीति और सम्यक् अनुभव में आत्मा की प्राप्ति ही, इसमें उसे सन्देह नहीं कि मैं चारित्रवन्त हूँ, ऐसा सन्देह नहीं। सन्देह निकल गया है। नि:सन्देह मैं चारित्ररहित हूँ। समझ में आया? नीचे ऐसा लेख है, देखो!

मुमुक्षु : यहाँ तो ऐसा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : उन्हें भी कहाँ खबर है ?

यहाँ कहते हैं, मूल सुरक्षित है न ? वृक्ष के पत्ते-बत्ते टूट गये हैं परन्तु मूल सुरक्षित है तो वापस पत्ते उगनेवाले हैं, उग जाएँगे। परन्तु जिसके पत्ते रहे और मूल नाश हुआ तो वे पत्ते सूख जाएँगे। इसी प्रकार जिसका मूल चैतन्यद्रव्य जहाँ ध्येय में है, पूर्ण आनन्द की निर्विकल्प प्रतीति और अनुभव है, ऐसी अनुभव दशा का मूल सम्यग्दर्शन सच्चा है। समझ में आया ? उसमें विषय का त्याग किया था, चारित्र था और चारित्र से कदाचित् भ्रष्ट होता है। श्रेणिक राजा जैसे को चारित्र नहीं था। यहाँ समकित था, तो भी कहते हैं कि वह दर्शन भ्रष्ट नहीं है, इसलिए भ्रष्ट नहीं है। चारित्रभ्रष्ट कदाचित् हो, इसलिए उसे भ्रष्ट में भ्रष्ट है - ऐसा नहीं कहा जाता। समझ में आया ? लोगों का पूरा झुकाव दूसरा है। बाह्य के व्रत और त्याग का पूरा वजन है। वह वजन झूठा है, ऐसा बतलाना है।

पंचाध्यायी में लिया है। नहीं ? समकित के अधिकार में बहुत लिया है। दर्शनमोह का उदय नहीं, जहाँ सम्यग्दर्शन है, वह चारित्रमोह का उदय हो और समकित को दोष करे, वह एक गुण का दूसरा गुण कार्य करे, ऐसा नहीं बन सकता। बहुत लम्बी बात है। आँख का दृष्टान्त दिया है। एक आँख बिगड़ गयी, इसलिए दूसरी आँख में बिगाड़ होवे ही और बिगड़ती है, ऐसा नहीं हो सकता। समझ में आया ? एक आँख बिगड़ी, इसलिए दूसरी आँख बिगड़ी है—ऐसा है ? इसी प्रकार चारित्र में स्वरूप की रमणता उग्ररूप से जो स्थिरता की, आनन्ददशा की उग्रता थी, उससे हट गया परन्तु सम्यग्दर्शन में से च्युत नहीं हुआ तो उसे वास्तव में भ्रष्ट नहीं कहा जाता। ऐसा है। मूलमार्ग हाथ में रखकर मूल हाथ में रखा है। आहाहा ! अन्त-बाँह्य पड़े। कहते हैं कि वह जैनदर्शन से भ्रष्ट हुए। फिर भले वह महाव्रत और बाहर की क्रिया हो, परन्तु वह भ्रष्ट में भ्रष्ट है, ऐसा कहते हैं।

यहाँ बाह्यक्रिया का लिया न ? अन्तरंग सम्यग्दर्शन बिना बाह्यचारित्र, पंच महाव्रत के परिणाम की क्रिया तो करते थे। सम्प्रदाय में से छूटे... समझ में आया ? अनादि सनातन दिगम्बर दर्शन जो था, उसमें से छूटे और दूसरा सम्प्रदाय खड़ा किया। बाहर के क्रियाकाण्ड और व्यवहार के व्रतादि उस प्रकार के थे परन्तु सच्ची श्रद्धा से भ्रष्ट हुए, वे भ्रष्ट में भ्रष्ट हैं, कहते हैं। समझ में आया ? और जिसे यह दृष्टि, दिगम्बर दर्शन यथार्थ तीन कषाय का

अभाव, वह मुनिपना है, वही दर्शन है, वही जैनदर्शन का मूल है, ऐसी जिसे अन्तर सम्यग्दर्शन की श्रद्धा अनुभव प्राप्त हुए हैं, आनन्द के अनुभव का वेदन भी चालू है, ऐसा कहते हैं। तथापि वह चारित्र की दशा जो उग्र थी, उसमें से नीचे आ गया तो उसे भ्रष्ट में भ्रष्ट है – ऐसा नहीं कहते, यह कहते हैं। समझ में आया? और बाहर में पंच महाव्रत तथा क्रियाकाण्ड बराबर रखता हो, नग्न मुनि होकर, दिगम्बर होकर पंच महाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण (पालन करता हो) परन्तु अन्दर सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट है। उस राग के परिणाम से धर्म होता है, राग की एकता है और उससे धर्म होता है, ऐसी मान्यता है, कहते हैं कि वह दर्शन भ्रष्ट है, फिर चारित्र का बाहर का व्रत का व्यवहार भले हो, परन्तु वह दर्शन से भ्रष्ट है, वह भ्रष्ट में भ्रष्ट है। आहाहा! समझ में आया?

क्योंकि जो दर्शन से भ्रष्ट हैं, उन्हें निर्वाण की प्राप्ति नहीं होती;... सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं, उनकी मुक्ति नहीं होती। समझ में आया? **सिज्झंति चरियभट्ठा** भाषा देखो न! चारित्र भ्रष्ट सिद्ध होंगे... क्योंकि उनकी दृष्टि में, अनुभव में चारित्र ऐसा होता है, वह चारित्र मेरे पास नहीं है, परन्तु सम्यग्दर्शन की भूमिका में दृढ़ चारित्र की ऐसी दशा होती है, ऐसी श्रद्धा और ज्ञान उन्हें वर्तता है और अनुभव, आत्मा के पूर्ण स्वरूप की प्रतीति और सम्यक्त्व की दृढ़ता पक्की वर्तती है।

तो कहते हैं, **जो चारित्र से भ्रष्ट होते हैं और श्रद्धानदृढ रहते हैं...** श्रद्धा अर्थात् इसकी, हों! वापस वह श्रद्धा अकेली ऐसा नहीं। स्वरूप की प्राप्ति की प्रतीति और स्वरूप का अनुभव है, उसमें विषय के सुख की बुद्धि (तथा) प्रेम जरा भी नहीं है। समझ में आया? विषय का अशुभराग-भोग में प्रेम नहीं है, रुचि नहीं है, किन्तु वे परिणाम आये, इसलिए वह चारित्र से भ्रष्ट हुआ परन्तु वह चारित्र से भ्रष्ट हुआ, वह सीझेगा, उसकी मुक्ति होगी, क्योंकि उसकी प्रतीति और अनुभव में है कि अरे! यह बात ऐसे नहीं होती। हें? कुछ बचाव करे कि इसमें क्या दिक्कत है? चारित्र न हो तो। समझ में आया? ऐसा नहीं है। बचाव नहीं करता। पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण चारित्र की दशा नहीं कर सकता या चारित्र की दशा थी, उसमें से हट गया है। दोनों।

श्रेणिक राजा, वह छहढाला में डाला था। क्या कहलाता है? श्रेणिक राजा को चारित्र नहीं था। सम्यग्दर्शन दृढ़ पक्का था। तीर्थंकर होंगे। अभी नरक में गये हैं, भविष्य

में होंगे। मिथ्यादृष्टि दर्शन से भ्रष्ट है, वह पंच महाव्रतादि पालन करता हो तो भी क्रम-क्रम से नरक और निगोद में जानेवाले हैं। समझ में आया? ...दर्शनपाहुड़ में।

चारित्र से भ्रष्ट होते हैं... अन्दर चारित्र से भ्रष्ट हो। स्वरूप की स्थिरता से। वहाँ तो बाह्य से चारित्र भ्रष्ट हो, ऐसा लिया है परन्तु अन्तर से भ्रष्ट हो **और श्रद्धानदृढ रहते हैं...** पक्की प्रतीति अनुभव में (रहती है) ओहो! आत्मा तो पूर्णानन्द पूर्ण केवलज्ञान और केवल आनन्द को प्रगट करने की खान है। उसमें से आनन्द और शान्ति प्रगट होगी। विषयसुख में शान्ति नहीं है। समझ में आया? आहाहा! जगत को यह समझना...

'माघव' यह क्या कहा? माघनन्दि की बात नहीं? ज्ञान पक्का था, अर्थात् सम्यग्दर्शन था, हों! ज्ञान अर्थात् अकेला ज्ञान, ऐसा भी नहीं। अकेला ज्ञान तो... आगे कहेंगे, चौथे में ही कहते हैं, देखो न! ...अकेला ज्ञान अर्थात् सम्यग्दर्शनवाला ज्ञान नहीं। अकेला ज्ञान। परन्तु जिसे सम्यग्दर्शनसहित का ज्ञान है, वह चारित्र से कदाचित् भ्रष्ट हुआ है तो भी वह चारित्र में आ जाएगा। समझ में आया? ज्ञानसहित की बात वहाँ ली है न? ज्ञान में शील नहीं होता। शील अर्थात्? मिथ्यात्व और राग-द्वेष के अभावरूपी अन्दर आचरण नहीं होता, वह ज्ञान ज्ञान ही नहीं है। उसके साथ सम्यग्दर्शन है। समझ में आया? अकेला ज्ञान... दृष्टान्त दिया है न इसका? रुद्र -शंकर। नव पूर्व का पढ़ा हुआ, ग्यारह अंग का पढ़ा हुआ। ज्ञान था, परन्तु वह ज्ञान कैसा? समकितसहित का नहीं। आहाहा! समझ में आया? विषय में भ्रष्ट होकर गति बदल गयी।

जिसे ज्ञान सम्यग्दर्शनसहित का भान है, आत्मा निर्विकल्प अनुभव आनन्द का कन्द है, उसमें राग की अंश की गन्ध भी नहीं है और आत्मा के अतिरिक्त सुख और शान्ति तीन काल-तीन लोक में पुण्य के भाव में भी सुख और शान्ति नहीं है। ऐसी दृढ़ अनुभवदृष्टि हो, वर्तती हो, उसे यहाँ श्रद्धा दृढ़ रहे, ऐसा कहने में आता है।

उनके तो शीघ्र ही पुनः चारित्र का ग्रहण होता है... जिनकी श्रद्धा में दृढ़ता है कि चारित्र तो ऐसा होता है परन्तु मेरे पास चारित्र नहीं है। मैं सम्यग्दर्शन और ज्ञान में पक्का दृढ़ हूँ। ऐसा जिसे अनुभव वर्तता है, वह चारित्र से कहते हैं, गिर गया हो या चारित्र वर्तमान में नहीं हो तो भी सिद्ध नहीं, चारित्र है। पुनः शब्द पड़ा है न? पुनः अर्थात् मानो चारित्र था और गिरा, इसलिए पुनः - ऐसा लिया है। अर्थ में तो भाई ने लिया है। समझ

में आया? आहाहा! आत्मा के आनन्द की रमणता में से छूट गया, कहते हैं। रमणता में से। परन्तु फिर भी उसकी रमणता की प्रीति, रुचि जो आनन्द में है, वह वृत्ति और श्रद्धा छूटी नहीं है। समझ में आया? आहाहा! दर्शनपाहुड की तीसरी गाथा। **पुनः चारित्र का ग्रहण होता है और मोक्ष होता है...** चारित्र था और चारित्र से गिर गया, चारित्र से रहित हो गया, परन्तु सम्यग्दर्शन दृढ़ रहा। सम्यग्दर्शन अर्थात् ऐसे अकेली श्रद्धा-ऐसा नहीं। वस्तु अखण्ड आनन्द की मूर्ति है, उसकी स्वसंवेदन ज्ञानसहित स्वरूप की प्रतीति वेदन सहित, वह दृढ़ श्रद्धा यदि रही **तो शीघ्र ही पुनः चारित्र का ग्रहण होता है...** फिर से चारित्र लेगा और मोक्ष जाएगा। समझ में आया? आचार्य स्वयं यहाँ कहते हैं, देखो!

मूलाचार में कहा है न? मूलाचार में। नहीं? धर्मी कुसंगी का संग करना नहीं। यह तुझे विपरीतता बैठा देगा। उसका संग करना नहीं। उसकी अपेक्षा तो अकेले न रुचे तो विवाह करना, वहाँ ऐसा कहा है। मुनि विवाह करने का कहेंगे? कहा है, वह किस अपेक्षा से? कुसंग से जो मिथ्याश्रद्धा की विपरीतता घुस जाएगी, उसकी अपेक्षा यह दोष थोड़ा है। उतना यह दोष नहीं है, उतना पर से विरक्त रहना, यह बात करना। मिथ्याश्रद्धा की विपरीतता घुसा देगा कि ऐसा होता है, अमुक होता है, अमुक होता है। थोड़ा वस्त्र हो तो मुनि को क्या बाधा है? परद्रव्य कहाँ बाधक है? वह तो स्वयं शास्त्रकार नहीं कहते? एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को कुछ नुकसान नहीं करता। ऐई! देवचन्दजी! वस्त्र हो तो भी वस्त्र परद्रव्य है, उसमें मुनिपने को वह क्या नुकसान करे? ....वे ब्राह्मण कहते थे। घर ले गया था न!

महाराज! एक ओर कहते हैं कि वस्त्र का टुकड़ा हो तो भी नुकसान लगता है। दूसरी ओर कहते हैं कि परद्रव्य नुकसान नहीं करता। वस्त्र कहाँ नुकसान करता है? वस्त्र रखने का भाव है, वह अचारित्र है। आहाहा! वस्त्र रखने का भाव है, तिलतुषमात्र भी (परिग्रह रखने का भाव है तो) आचार्य तो ऐसा कहते हैं न? एक तिलतुषमात्र भी परिग्रह रखने का भाव है और मुनिपना मनवाता है, वह निगोद में जाएगा। समझ में आया? यहाँ यही कहते हैं कि चारित्र भ्रष्ट हो, परन्तु दर्शन भ्रष्ट नहीं है, वह जीव सीझेगा परन्तु उस श्रद्धा में भ्रष्ट है... समझ में आया? वस्त्र-पात्र रखे और मुनिपना माने, वह तो श्रद्धा में भ्रष्ट है, नवतत्त्व की श्रद्धा से भ्रष्ट है। आहाहा! भारी कठिन काम। ऐसा मार्ग है। यह वस्तु का

स्वभाव है। दिगम्बर अर्थात् वस्त्ररहित मुनिपना माने, वह दिगम्बर और वस्त्रसहित माने श्वेताम्बर, वह भी साधु, ऐसा नहीं है। समझ में आया? वस्त्र रखने का भाव है, वहाँ मुनिपना नहीं होता, ऐसी बात है यहाँ। समझ में आया? और उसे मुनिपना माने, वह महामिथ्यात्व का दोष है। यहाँ चारित्र है और चारित्र से भ्रष्ट होता है, तथापि समकित का दोष जरा भी नहीं है। ऐई! समझ में आया? मार्ग ऐसा है, भाई! अन्तरवस्तु...

कहते हैं **चारित्र का ग्रहण होता है और मोक्ष होता है... सिज्झंति चरियभट्ठा** की व्याख्या की है। **तथा दर्शन से भ्रष्ट होय उसी के फिर चारित्र का ग्रहण कठिन होता है,...** चारित्र का ग्रहण कैसे होगा? अभी सम्यक्त्व का ठिकाना नहीं, वह चारित्र को कैसे अनुमोदन श्रद्धान करेगा? समझ में आया? दर्शन-श्रद्धा से भ्रष्ट है, जिसके सम्यक्श्रद्धा का ठिकाना नहीं, कहते हैं। उसके चारित्र का ग्रहण कठिन है। **इसलिए निर्वाण की प्राप्ति दुर्लभ होती है।** इनकार किया है न? ऐसे दुर्लभ है छोड़ो। ऐसा हुआ न? **सिज्झंति... दंसणभट्ठा ण सिज्झंति... सिज्झंति चरियभट्ठा** निर्वाण की प्राप्ति दुर्लभ है।

जैसे – वृक्ष की शाखा आदि कट जायें... वृक्ष का स्कन्ध। ऊपर से स्कन्ध काटे, डालियाँ काटे, पत्ते टूटे, सब तोड़ डाले। **और जड़ बनी रहे...** उसे मूल सुरक्षित रहे **तो शाखा आदि शीघ्र ही पुनः उग आयेंगे...** फिर डाली, टहनियाँ वापिस पकेंगे और फल सब लायेंगे। **किन्तु जड़ उखड़ जाने पर...** परन्तु यदि मूल उखड़ जाए, फिर भले (वृक्ष) हरा रहा हो परन्तु पन्द्रह दिन, महीने में (सूख जाएगा)। आहाहा! यहाँ तो सम्यग्दर्शन की क्या कीमत है, (यह समझाते हैं)। और जो श्रद्धा से भ्रष्ट हैं, उसमें उन्हें कितना दोष है, इन दो का विवेक रखना। समझ में आया? चारित्र भ्रष्ट हुआ, उसका पक्ष नहीं करते, हों! वापस कोई ऐसा कहे, चारित्र भ्रष्ट का पक्ष करते हैं। अपने पक्षवाला हो और चारित्र भ्रष्ट हो और समकित हो तो उसे बाधा नहीं है, ऐसा नहीं है। यह तो वस्तु का स्वरूप ऐसा है। समझ में आया? ऐ.. रमणीकभाई! लो! कल सुनने में आया था न! जैनधर्म और अन्य दर्शन। भगवान ऐसे होते हैं और... कहलाते हैं। अन्तर परमात्मदशा प्रगट हुई है। सर्वज्ञ और पूर्ण आनन्द की दशा प्राप्त है, उसे किसी भी अपेक्षा से कोई भी शब्द लागू पड़ता हो तो पाड़ो परन्तु ऐसी दशा जहाँ नहीं, उसे कोई दूसरा कह दे कि यह ब्रह्मा-विष्णु, ऐसा नहीं है।

इसी प्रकार यहाँ सम्यग्दर्शन बिना चारित्र हो, क्रियाकाण्ड का बाहर (का चारित्र हो) वह (वास्तविक) चारित्र तो हो नहीं, तथापि उसे चारित्रवन्त कहना। साधन कहा है, कि इससे धीरे-धीरे सब प्राप्त होगा वह तो मूल में से भ्रष्ट है, ऐसा कहते हैं। उसका मूल ही खाया गया है। मूल में कीड़े पड़े हैं। समझ में आया? पक्का भ्रष्ट है। कहो, समझ में आया इसमें?

जड़ उखड़ जाने पर शाखा आदि कैसे होंगे? उसी प्रकार धर्म का मूल दर्शन जानना। जैनदर्शन का वीतरागी भाव मुनिपने का पूरा,... उन सबका मूल तो सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान-चारित्र कुछ नहीं हो सकते। ओहो! वापस इसमें कोई अपने दोष का बचाव करे कि हमारी श्रद्धा तो पक्की है परन्तु जरा सा दोष लगता है, वह तो स्वच्छन्दी है। समझ में आया? यहाँ तो सम्यग्दर्शन है, उसका गुण कितना है? और अकेले क्रियाकाण्ड के व्रत पाले, उसमें नुकसान कितना है, श्रद्धा से भ्रष्ट है इसलिए, उसका अन्तर बताया है। समझ में आया? यह कहा है न, नहीं? प्रवचनसार में टीका में...

अपने समकित तो है, दूसरे दोष भले लगें। आधार कोई दूसरा होवे, आता है। दूसरे सब दोष हों तो क्या बाधा? ऐसा नहीं मानना। मानना तो बराबर मानना पड़ेगा। जितने दोष हैं, वे दोष ही हैं। समझ में आया? ऐसे दोष को दोषरूप से स्वीकार नहीं करेगा तो उसका सम्यक्त्व भी नहीं रहेगा। उसमें आता है, भाई! प्रवचनसार में, नहीं? आता है। टीका में आता है। ऐसा नहीं मानना कि हमारे यह सम्यक्त्व तो है। चारित्र भले न हो और चारित्र में भले दोष लगें। समझ में आया? ....चरणानुयोग में है। संस्कृत टीका में है। ...खबर नहीं? प्रवचनसार में है या नहीं? यह जयसेनाचार्य की टीका, उसमें अन्दर कहीं है।... चारित्र नाम धरावे और कहता है कि हमारे दोष होवे तो... अध:कर्मी आदि का क्या? इतना क्या है? ऐसा नहीं। समझ में आया? अभी हाथ नहीं होता। बड़ा समुद्र है। इस ओर के पृष्ठ पर है। इस ओर, चरणानुयोग में है। जयसेनाचार्य की टीका में है। पढ़ा था।....

यहाँ तो आचार्य महाराज सम्यग्दर्शन का जोर है जहाँ, वहाँ कदाचित् चारित्र वर्तमान में न पालन करता हो और चारित्र हो तथा छूट गया हो तो भी वह चारित्रवन्त है, ऐसा नहीं मानता, तब सम्यग्दर्शन रहा न? समझ में आया? चारित्र नहीं है और चारित्र माने, तब तो सम्यक्त्व भी कहाँ रहा? यह धर्म का मूल तो सम्यग्दर्शन है। वह मूल सुरक्षित होवे, फिर भले कहते हैं पत्ते-बत्ते हरे रहें, वे सूख जाएँगे। यहाँ तो ऐसा लेना है न। सम्यग्दर्शन...

गाथा-४

अब, जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं और शास्त्रों को अनेक प्रकार से जानते हैं तथापि संसार में भटकते हैं – ऐसे ज्ञान से भी दर्शन को अधिक कहते हैं –

सम्मत्तरयणभट्ठा जाणंता बहुविहाइं सत्थाइं।
आराहणाविरहिया भमंति तत्थेव तत्थेव।।४।।

सम्यक्त्वरत्नभ्रष्टा: जानंतो बहुविधानि शास्त्राणि।
आराधना विरहिता: भ्रमंति तत्रैव तत्रैव।।४।।

सम्यक्त्व रत्न–विहीन बहुविध शास्त्र जाने पर सदा।
आराधना विरहित भटकता इसी भव में वह सदा।।४।।

अर्थ – जो पुरुष सम्यक्त्वरूप रत्न से भ्रष्ट है तथा अनेक प्रकार के शास्त्रों को जानते हैं, तथापि वह आराधना से रहित होते हुए संसार में ही भ्रमण करते हैं करते हैं। दो बार कहकर बहुत परिभ्रमण बतलाया है।

भावार्थ – जो जिनमत की श्रद्धा से भ्रष्ट हैं और शब्द, न्याय, छन्द, अलंकार आदि अनेक प्रकार के शास्त्रों को जानते हैं तथापि सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तपरूप आराधना उनके नहीं होती; इसलिए कुमरण से चतुर्गतिरूप संसार में ही भ्रमण करते हैं– मोक्ष प्राप्त नहीं कर पाते; इसलिए सम्यक्त्वरहित ज्ञान को आराधना नाम नहीं देते।

गाथा-४ पर प्रवचन

अब, जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं और शास्त्रों को अनेक प्रकार से जानते हैं... देखो! अब ज्ञान लिया है। पहले चारित्र का लिया। **तथापि संसार में भटकते हैं – ऐसे ज्ञान से भी दर्शन को अधिक कहते हैं –**

सम्मत्तरयणभट्ठा जाणंता बहुविहाइं सत्थाइं।
आराहणाविरहिया भमंति तत्थेव तत्थेव।।४।।

अर्थ – जो पुरुष सम्यक्त्वरूप रत्न से भ्रष्ट है... अन्तर के स्वरूप की है!

चिह्न किया है। नीचे लक्ष्य कहते हैं... चारित्र नहीं और चारित्र माने कि हमारे चारित्र नहीं है परन्तु हमारे श्रद्धा में तो दिक्कत नहीं न, परन्तु चारित्र माना कहाँ कि श्रद्धा में दिक्कत है (ऐसा आवे)? समझ में आया? चारित्र नहीं और चारित्र माने। फिर कहते हैं कि हमारे सम्यग्दर्शन तो पक्का है न? अध:कर्मी आदि दोष चाहे जैसे हों, उसमें हमारे क्या दिक्कत है? परन्तु तूने चारित्र माना है, वह दोष अधिक है। अर्थात् सम्यग्दर्शन भी नहीं है। ऐसी बात!

यहाँ तो आत्मा का दर्शन और भान है और चारित्र वर्तमान नहीं है। तथा (चारित्र) था तो वह गिर गया है, तो वह फिर से ग्रहण करेगा। भान है न, हाथ में है न सदा। समझ में आया? चारित्र से भ्रष्ट हुआ, इसलिए दर्शन से भ्रष्ट होता है, ऐसा नहीं है। दोनों के गुण की दशा अलग है, ऐसा यहाँ बताते हैं। आहाहा! जरा सूक्ष्म बात है। चारित्र से भ्रष्ट हो, इसलिए दर्शन से भ्रष्ट हो जाए, ऐसा नहीं है। राग-द्वेष करता है चारित्र का, वह कहीं सम्यग्दर्शन को दोष नहीं करता। समझ में आया? यह पंचाध्यायी में बहुत लिया है। दो आँख का दृष्टान्त लिया है। एक आँख बिगड़ गयी, इसलिए दूसरी आँख बिगड़ जाए और न दिखायी दे, ऐसा है? इसी प्रकार चारित्र बिगड़ गया, इसलिए समकित बिगड़ गया, ऐसा है? हें? मूल अन्तर्दृष्टि और सम्यग्दर्शन का विषय, उसका जो जोर, उसका जो मूल चाहिए, वह नहीं है, इसके लिए यह सब जोर दिया है। बाहर के आचरण और बाहर की प्रवृत्ति के जोर से तुम ऐसा मान बैठो कि हम जैनदर्शन में कुछ हैं, ऐसा नहीं है। मूल में से भ्रष्ट हुए और फिर कहे, (हम जैनदर्शन में) हैं। ऐसा नहीं है। समझ में आया?

जो पुरुष सम्यक्त्वरूप रत्न से भ्रष्ट है... देखो! यहाँ **रयण** आया। **सम्मत्तरयणभट्ठा** पहले में समुच्चय था। दंसणभट्ठा। समकितरूपी रत्न। भगवान आत्मा पूर्ण शुद्ध आनन्द, उसके सन्मुख की अनुभवसहित की निर्विकल्प प्रतीति, ऐसा सम्यग्दर्शनरत्न, उससे जो भ्रष्ट है, उसे हाथ में कंकड़ है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? **तथा अनेक प्रकार के शास्त्रों को जानते हैं,...** बहुत शास्त्र। पहले में चारित्र का था, यहाँ ज्ञान की बात है। बहुत शास्त्र पढ़े। नव पूर्व तक पढ़ जाए, लो न! नौ पूर्व पढ़ते हैं न? नौ पूर्व पढ़े, तो क्या हुआ? नौ पूर्व में कितना (आता है)? ओहोहो! एक आचारांग में अट्ठारह हजार पद, एक-एक पद में इक्यावन करोड़ से अधिक श्लोक... पूर्व का भाग। ...अभव्य भी

नौ पूर्व पढ़ता है। अभव्य भी नौ पूर्व पढ़ता है। उसमें कितना पठन! ओहोहो! परन्तु वह क्या? अन्तर आत्मा वह ज्ञान—परलक्ष्यी ज्ञान से भी भिन्न है। समझ में आया? राग से भिन्न है परन्तु ऐसा जो परलक्ष्यी ज्ञान है, उससे चैतन्य भिन्न है। ऐसी श्रद्धा नहीं और अकेला यह ज्ञान वर्तता है, यह कहते हैं कि बहुत प्रकार से शास्त्र को जाने, तर्क-वितर्क आदि बहुत प्रकार के शास्त्र में प्रवीण हो, **तथापि वह आराधना से रहित होते हुए संसार में ही भ्रमण करते हैं...** उन्हें आत्मा की आराधना नहीं है। आराधना तो आत्मा का सम्यग्दर्शन और अनुभव करे, तब आराधना शुरु होती है। समझ में आया? ....जैसी हो वैसी बात आचार्य कहते हैं। उसमें कुछ पक्षपात नहीं है। हमारे दिगम्बर के भी शास्त्र के बहुत पढ़नेवाले हों, समकित भले न हो तो भी उसे ज्ञान होगा? नहीं, (नहीं होगा)।

जिसने स्वद्रव्य का आश्रय लेकर अन्तर में सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं किया और प्रगट करने का अन्तर्मुख का प्रयत्न भी नहीं है और अकेले शास्त्र पढ़ा हो तो वह आराधनारहित है, वह आराधक नहीं है। आहाहा! भगवान ज्ञानस्वरूप चैतन्य है। समझ में आया? पुण्य न करना, पाप न करना तो करना क्या? ऐसा (अज्ञानी) कहते हैं, लो! ऐई! ...पुण्य भी नहीं करना और पाप भी नहीं करना तो हमें करना क्या? स्वभाव सन्मुख दृष्टि करना। शुभभाव जहाँ आवे, वहाँ कहे, शुभभाव नहीं, धर्म नहीं, धर्म नहीं। इसलिए ऐसा कहे, होवे वह अलग बात है परन्तु उनके ऊपर की दृष्टि और वह धर्म, वह वस्तु करनेयोग्य नहीं है। शुभभाव तो रहेंगे, जब तक पूर्ण न हो (तब तक) रहेंगे। समझ में आया?

स्वभाव, स्वभाव में से राग जो था, वह चारित्रगुण के विपरीत का अंश था और स्वभाव तो अनन्त-अनन्त गुण का स्वभाव, ऐसा मेरा स्वभाव है। समझ में आया? यह नहीं करना तो फिर जाना कहाँ? महा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शान्ति, अनन्त वीतरागता इत्यादि महास्वभाव है। अकेला ज्ञानस्वभाव है, उसमें भी कहाँ है। समझ में आया? अनन्त स्वभाव, जिसका स्वभाव है, जिसकी शक्ति है, उसकी हद कैसे होगी? ऐसा जो बेहद एक-एक गुण का स्वभाव, ऐसे अनन्त गुण के स्वभाव का रूप, वह द्रव्यस्वभाव। उसमें दृष्टि करने का नाम सम्यग्दर्शन और ज्ञान है। आहाहा! समझ में आया? यहाँ तो कहते हैं कि अन्यमत के बहुत शास्त्र पढ़ा हो, जैन के बहुत शास्त्र पढ़ा हो, लो! यह इसमें आया था या नहीं? यह तो अन्यमत के बहुत पढ़ा हो और उसमें ऐसा है,

जैन में ऐसा है, अमुक में ऐसा है। भगवान का मार्ग बहुत पुराना है। जैनशास्त्र में क्या, परन्तु अन्य में भी कहा है। समझ में आया ?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु जैनधर्म कहना किसे ?

मुमुक्षु : श्रद्धा तो होवे।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी नहीं। श्रद्धा का भान कहाँ है ? इसीलिए तो यहाँ कहते हैं, बहुत शास्त्र पढ़ने में यह भी साथ आ गया। अन्दर लिखा है, देखो! अर्थ में शब्द लिखेंगे। **बहुविहाइं सत्थाइं।** बहुत प्रकार के कहे न? जैनशास्त्र, दूसरे शब्दशास्त्र, न्यायशास्त्र, छन्द, अलंकार आदि। अन्यमति के भी अमुक में ऐसा कहा है, अमुक में ऐसा कहा है, अमुक में ऐसा कहा है। है ? अन्दर शब्द है, देखो!

वह आराधना से रहित होते हुए संसार में ही भ्रमण करते हैं... शास्त्र के जानपने का क्षयोपशमभाव, महाव्याकरण के पूरे... ऐ.. पण्डितजी! यह बड़े व्याकरण के कैसे ? खां। कैसे कहलाते हैं ? व्याकरणाचार्य, प्रोफेसर। ऐसे जैनशास्त्र के शब्द करने में भी व्याकरण लगाकर बराबर ऐसे शब्द करे, ऐसे अर्थ करे, परन्तु कहते हैं कि उस ज्ञान से रहित, ऐसा जो ज्ञान है, उससे रहित। अकेला चैतन्य भगवान, उसकी प्रतीति और अनुभव में श्रद्धा नहीं तो वह सब शास्त्र के पढ़नेवाले भटकनेवाले हैं, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ?

दो बार कहकर बहुत परिभ्रमण बतलाया है। देखो! है न? **भमंति तत्थेव तत्थेव... तत्थेव** अर्थात् जहाँ है संसार में वहीं के वहीं। वहीं के वहीं। चार गति, नरक और निगोद। आत्मा के सम्यक् तत्त्व के भान बिना अकेले शास्त्र पढ़े तो भी कहते हैं कि नरक और निगोद में **तत्थेव तत्थेव**। समझ में आया ? अलग बात है, भाई! ...यहाँ तो इन सबका फल बताते हैं। यहाँ है, यहाँ है... क्या है परन्तु यह ? भगवान का स्मरण किया, भक्ति की, पूजा की, दया की, दान किया, छह परवी ब्रह्मचर्य पालना इसका सब फल यहाँ है। कहा, उसका फल अर्थात् यह भटकने का, भटकेगा। जहाँ भटकता है, वहाँ भटकेगा। वहाँ का वहीं रहेगा। **तत्थेव तत्थेव** आया न ? **तत्थेव तत्थेव** वहाँ का वहीं, जहाँ है, वहाँ

का वहीं। मिथ्यात्व में है और यह सब शास्त्र पढ़ा परन्तु सम्यग्दर्शन क्या है, उसका भान नहीं होता और श्रद्धा से भ्रष्ट है, **सम्मत्तरयणभट्ठा** आहाहा! समझ में आया? पहले में चारित्र भ्रष्ट की बात की, यहाँ शास्त्र पढ़ा, तथापि सम्यक्त्वरत्न से भ्रष्ट है, वह भी आराधना **विरहिया** भगवान आत्मा आराधक वह ज्ञान की पर्याय का लक्ष्य छोड़कर, स्वरूप का अन्तरसन्मुख में आराधन अर्थात् सेवन करना, उससे जो **विरहिया** रहित है, वह **भमंति तत्थेव तत्थेव** वह चार गति में भटकेगा। ऐसी है, भाई! कहो, समझ में आया?

भावार्थ – जो जिनमत की श्रद्धा से भ्रष्ट हैं... लो, इसमें यह आया, पहले में भी ऐसा आया था। **जो जिनमत की श्रद्धा से भ्रष्ट हैं...** जिनमत की श्रद्धा से भ्रष्ट हैं... है न पूरा? समझ में आया? वीतराग परमात्मा ने कहा हुआ दर्शन–जैनदर्शन, उन्होंने देखकर जाना हुआ सर्वज्ञ मार्ग। ऐसे मार्ग से जो भ्रष्ट है **और शब्द,...** ऐसे व्याकरण और व्याकरण... हमने तो देखा संस्कृत पानी के पूर जैसी आवे। पानी का पूर चलता हो न? ऐसी वाणी व्याकरण की बोले। उसमें धर्म क्या आया? समझ में आया? मेंढ़क को व्याकरण और संस्कृत का कुछ ज्ञान नहीं था, तथापि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होता है। वह आत्मा से होता है, कहीं बाहर से नहीं होता – ऐसा कहते हैं। यह शब्द का ज्ञान।

न्याय,.. लो। ऐ.. कस्तूरचन्दजी! न्याय.. न्याय..। क्या कहलाता है? अष्टसहस्री, प्रमेयकमलमार्तण्ड, श्लोकवार्तिक, ये सब न्याय के (शास्त्र) पढ़े परन्तु यह आत्मा का स्वभाव, उस सन्मुख की दृष्टि नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : इस न्याय से यह बात है। न्याय का सागर भगवान आत्मा अकेले सम्यग्ज्ञान का सागर है। उसकी दृष्टि और सम्यग्दर्शन नहीं, उसे आराधन नहीं करता और ऐसे में रुक गया और उसमें ज्ञान मानता है। कितने ही तो उसी और उसी में रुक गये। मोक्षमार्गप्रकाशक में... बीस वर्ष तक संस्कृत और व्याकरण पढ़ा।... सब बात पड़ी रही। बीस–बीस वर्ष तक पढ़े। संस्कृत और व्याकरण, यह और वह। ...आत्मा अन्तर इस जानपने के भाव से भी भिन्न चीज़ है, वह जानपना इस प्रकार का। ऐसा जिसे आत्मदर्शन, आत्मा का अन्तर आराधन, सेवन नहीं और उससे विपरीत है, वह ऐसे न्याय पढ़े (तो भी वह संसार में भटकता है)। छन्द। छन्द।

छन्द, अलंकार... आता है न... **अलंकार आदि...** आदि में सब आता है। देखो! जैन के शास्त्र और अन्य के शास्त्र। **अनेक प्रकार के शास्त्रों को...** देखो! पाठ में अनेक प्रकार है न? **बहुविहाइं** बहुत प्रकार के शास्त्र पढ़े परन्तु मूल आत्मा रह गया। धवल... जयधवल पढ़े। सोलह-सोलह, अठारह, बारह-बारह पुस्तकों की एक पुस्तक। सोलह भाग पढ़-पढ़कर पढ़े परन्तु वह क्या? उसमें कहाँ ज्ञान था? आहाहा! आत्मा अन्तर अखण्डानन्द प्रभु पूर्ण शुद्ध चैतन्य का ज्ञान नहीं और प्रतीति-अनुभव नहीं, वह ज्ञान बाह्य में तो भ्रष्ट है। आहाहा!

अनेक प्रकार के शास्त्रों को जानते हैं, तथापि सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तपरूप आराधना उनके नहीं होती;... लो! ऐसा करे तो भी ज्ञान की आराधना नहीं, ऐसा कहते हैं। ज्ञान का आराधन तो आत्मा ज्ञान की मूर्ति प्रभु, अकेला ज्ञानस्वभावी परमात्मा, उसके सन्मुख का ज्ञान हो, वह ज्ञान का आराधन है। समझ में आया? ज्ञानाचार, आते हैं न आठ? व्यवहार। पालन करो और यह करो और वह करो। **इसलिए कुमरण से चतुर्गतिरूप संसार में ही भ्रमण करते हैं..** यह बाहर के शास्त्र आदि का जानपना। बहुत लिया, अनेक प्रकार के। अन्तरस्वभाव चैतन्य भगवान की प्रतीति और अनुभव का ज्ञान नहीं, वह स्व की आराधना नहीं करता, इसलिए ऐसा ज्ञानवाला भी मरकर, कुमरण करके, बालमरण से मरकर चतुर्गति संसार में (भ्रमण करता है)। देखो! यहाँ तो चारों ही गतियाँ ली हैं। नरक भी लिया है। चतुर्गति नरक में और ऐसे देव में, परन्तु वे तो चारों ही दुःख है न? **कुमरण से चतुर्गतिरूप संसार में ही भ्रमण करते हैं..** चार गति के दुःखों में परिभ्रमण करेंगे। समझ में आया?

जिसे स्वदृष्टि नहीं हुई, स्वदृष्टि का भान अनुभव सम्यग्दर्शन नहीं है और ऐसे अकेले शास्त्र पढ़-पढ़कर काल गँवाते हैं, कहते हैं वे कुमरण से मरकर नीचे जाएँगे, चार गति में जाएँगे। फिर भले कोई देव हो। उसका आया न इसमें? देव हो वह भी बालमरण है। अज्ञान में मरकर देव में जाएगा, वहाँ से फिर से पशु में जाएगा, वहाँ से फिर से निगोद में जाएगा। ऐसा है। समझ में आया? इन्होंने पाँच हजार और पाँच लाख श्लोक की पुस्तक बनायी। इतने अक्षर और इनकी महिमा लोग करते हैं। ...पुस्तक बनायी। नहीं कहते? हमारे गुरु ने पाँच लाख के अमुक बनाये, अमुक इतने लाख के बनाये, ऐसा कहते हैं।

पुस्तक बनाते हैं या नहीं ? व्याकरण के शब्दों के यह... करके, अमुक करके। उनके शिष्य महिमा करते हैं। इतनी पुस्तकों के इतने श्लोक। परन्तु उसमें क्या हुआ ? आहाहा! ...सिद्धान्त को माननेवाला। ...आहाहा!

अरे! भगवान! तेरा पता नहीं लिया और तेरे स्वरूप की दृष्टि का अनुभव नहीं, वह कहते हैं बाहर के ज्ञान का अहंकार करके नीचे जाएगा। मूल तो ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? ऐसे बाहर के पठन की, व्याकरण की और संस्कृत की बड़ी-बड़ी पुस्तकें बनावे, पाँच-पाँच लाख की, सात-सात लाख की, दस-दस लाख श्लोक। इन्होंने तो सात लाख श्लोक का ग्रन्थ बनाया परन्तु क्या है ? धूल बनाया। करोड़ का बनावे तो उसमें आत्मा को क्या है ? रजकण, रजकण से बने, उसमें विकल्प / राग था, वह विभाव था। उसमें आत्मा को क्या लाभ हुआ ? पण्डितजी! इतने शास्त्र बनावे तो ? समयसार बनावे। लो...

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : कुछ नहीं हुआ, वह तो विकल्प था।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : उससे नहीं। वह तो स्वभाव के आश्रय से प्राप्त हुए, ऐसा कहा। हमारी अशुद्धता मिट जाओ। उस काल में हमारा लक्ष्य (स्वरूप के ऊपर) है। विकल्प और पर के ऊपर नहीं। इसकी टीका करने से अशुद्धता मिट जाओ, शुद्धता की प्राप्ति होओ – ऐसा यह करते-करते विकल्प से, ऐसा नहीं। उस काल में हमारा दर्शन का जोर द्रव्य के ऊपर वर्तता है, इससे उस काल में अस्थिरता टलकर शुद्धता होओ। आहाहा! इसमें भी विवाद उठाते हैं। देखो! इससे लाभ मानते हैं। आचार्य भी कहते हैं, टीका करते-करते धर्म (होता है)। अरे! भगवान! आहाहा! ऐसा यह पठन किस प्रकार का ?

आनन्द के सम्यक् का भान न हो तो उसकी गति कहाँ रहेगी ? राग और पठन के अहंकार में रहेगी। बालमरण करके कहीं गति में जाएगा। मोक्ष नहीं होगा, ऐसा कहा है न! **भमंति तत्थेव तत्थेव** वहीं का वहीं संसार में रहेगा। मुक्ति नहीं होगी। **मोक्ष प्राप्त नहीं कर पाते ;...** मोक्ष नहीं होगा। **इसलिए सम्यक्त्वरहित ज्ञान को आराधना नाम नहीं देते।** लो, सम्यग्दर्शन, अन्तर की अनुभव प्रतीति। भगवान आत्मा की श्रद्धा, उसकी श्रद्धा

बिना ज्ञान की आराधना नाम नहीं कहते। ऐसे अकेले जानपने को आराधन कहते हैं, ऐसा नहीं है। पण्डितजी! ऐसी बात है। आहाहा! कुन्दकुन्दाचार्य की शैली गजब शैली है!

मुमुक्षु : कठिन है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वस्तु ऐसी है। कठिन कहाँ? जो है ऐसा है। वस्तु ही वीतरागमूर्ति प्रभु, उसकी श्रद्धा और ज्ञान नहीं तथा यह सब अकेला ज्ञान का जानपना किया, कहते हैं तू शरण कहाँ लेगा? तू मरते हुए शरण कहाँ लेगा? शरण तो अन्तर में है। वहाँ तो दृष्टि की नहीं और यहीं का यहीं शरण लेकर पड़ा है। कुमरण होगा, बालमरण होगा। आया न अन्दर? कहा न! कुमरण करेगा। कुमरण होगा – ऐसा कहते हैं, चार गति में जाएगा। भले देव में जाए तो भी कुमरण, बालमरण है। आहाहा!

मुमुक्षु : समाधिमरण नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं। ...समाधिमरण हो गया है, अमुक, अमुक और .... देखो! यह सब मानते नहीं। ...ईश्वर का अवतार हुआ, देखो यह! गप्प मारते हैं। ईश्वर का कहाँ अवतार था वहाँ? अब गाँव-गाँव में गप्प मारते हैं। यह सुरेन्द्रनगर धूल भी नहीं। कहते हैं, मारी थी, बहुत जगह यह लोग मारते हैं। ऐसा भगवान आत्मा आनन्द है, उसकी वर्षा आयी उसे? बाहर में धूल में क्या? अनन्त बार देव हुआ और देव ऐसे केसर भी बरसाई। उसमें आत्मा को क्या हुआ। यह तो मिथ्या है। कोई व्यन्तर आकर करे भी सही, लो न। होता है। ...उसमें धर्म क्या? उसमें धर्म की महिमा क्या आयी? धूल भी नहीं।

यहाँ तो कहते हैं **इसलिए सम्यक्त्वरहित ज्ञान को आराधना नाम नहीं देते।** आहाहा! वीतराग का मार्ग सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की वीतरागदशा और जिनमुद्रा नग्नदशा, ऐसे मार्ग की श्रद्धा बिना, ऐसे मार्ग की श्रद्धा अर्थात् आत्मा की श्रद्धा, ऐसा। ...आत्मा की पर्याय निर्मल वीतरागी... समझ में आया? ऐसे मार्ग की अन्तरश्रद्धा बिना.. **आराधना नाम नहीं देते।** ज्ञान को आराधता है न? अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग, ऐसा है। आता है न? भाई! ...परन्तु सम्यग्दर्शन बिना अभीक्ष्ण उपयोग किसे कहना? अब सुन न! समझ में आया? हमारे में आता है, अभीक्ष्ण उपयोग। पूरे दिन... परन्तु मूल चीज़ है, उसकी तो खबर नहीं। समझ में आया? वह अभीक्ष्ण उपयोग कहलाता ही नहीं। अभीक्ष्ण उपयोग तो उसे कहते हैं कि जो विकल्प से भिन्न पड़कर आत्मा का भान है, स्वभावसन्मुख जोर है, उसमें यह

विकल्प बारम्बार समझने की ओर का होता है। उसमें से पुण्य बँध जाता है परन्तु उसमें इस विकल्प से बन्ध है। समझ में आया? उसमें लोग महिमा करते हैं। **आराधना नाम नहीं देते।** दो गाथाओं में दो बातें कही हैं। सम्यग्दर्शन बिना चारित्र से मुक्ति नहीं। ...इसलिए वह ....यहाँ सम्यक्त्व से भ्रष्ट है। उसे रत्न कहा। ऐसा कहा। और ऐसे ज्ञान का अकेला सेवन करता है, वह आराधक नहीं है, विराधक है; इसलिए कुमरण करके चार गति में भटकेगा। यह कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा-५

अब कहते हैं कि जो तप भी करते हैं और सम्यक्त्वरहित होते हैं उन्हें स्वरूप का लाभ नहीं होता –

सम्मत्तविरहिया णं सुठ्ठू वि उग्गं तवं चरंता णं।
ण लहंति बोहिलाहं अवि वाससहस्सकोडीहिं।।५।।

सम्यक्त्वविरहिता णं सुष्ठु अपि उग्रं तपः चरंतो णं।
न लभन्ते बोधिलाभं अपि वर्षसहस्रकोटिभिः।।५।।

सम्यक्त्व विरहित सहस कोटी वर्ष तक भी विधीवत्।
बहु उग्र तप आचरे पर बोधि नहीं पाता नियत।।५।।

***अर्थ* – जो पुरुष सम्यक्त्व से रहित हैं, वे सुष्ठु अर्थात् भलीभांति उग्र तप का आचरण करते हैं, तथापि वे बोधि अर्थात् सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रमय जो अपना स्वरूप है उसका लाभ प्राप्त नहीं करते; यदि हजार कोटि वर्ष तक तप करते रहें, तब भी स्वरूप की प्राप्ति नहीं होती। यहाँ गाथा में दो स्थानों पर 'णं' शब्द है, वह प्राकृत में अव्यय है, उसका अर्थ वाक्य का अलंकार है।**

***भावार्थ* – सम्यक्त्व के बिना हजार कोटि वर्ष तप करने पर भी मोक्षमार्ग की प्राप्ति नहीं होती। यहाँ हजार कोटि कहने का तात्पर्य उतने ही वर्ष नहीं समझना, किन्तु काल का बहुतपना बतलाया है। तप मनुष्य पर्याय में ही होता है, और मनुष्यकाल भी थोड़ा है, इसलिए तप के तात्पर्य से यह वर्ष भी बहुत कम कहे हैं।।५।।**

प्रवचन-१० गाथा-५ से ७ गुरुवार, ज्येष्ठ शुक्ल १४, दिनांक १८-०६-१९७०

अब कहते हैं कि जो तप भी करते हैं... तप अर्थात् मुनिपना पालन करते हैं। पंच महाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण (पालन करते हैं) परन्तु **सम्यक्त्वरहित होते हैं उन्हें स्वरूप का लाभ नहीं होता** – आत्मा के स्वरूप का अनुभव, स्वरूप का लाभ नहीं तो इस तप की क्रिया से भी आत्मा को कुछ लाभ नहीं है। अनन्त बार किया है। आता है न?

सम्मत्तविरहिया णं सुठ्ठू वि उग्गं तवं चरंता णं।
ण लहंति बोहिलाहं अवि वाससहस्सकोडीहिं।।५।।

अर्थ – **जो पुरुष सम्यक्त्व से रहित हैं,...** शुद्ध जैनदर्शन ऐसा निर्ग्रन्थपना, उसकी अन्तर में स्वसन्मुख की श्रद्धा का जहाँ अभाव है, समकितरहित है, वह भले **सुष्ठु अर्थात् भलीभांति उग्र तप का आचरण करते हैं,...** जैन सम्प्रदाय में रहकर, दिगम्बर सम्प्रदाय में रहकर। सुष्ठु कहा है न? उसकी तो बात क्या, परन्तु जैन सम्प्रदाय में रहकर उसका आचरण—पंच महाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण बराबर (पालन) करे, निरतिचार ऐसे व्रत-तप को पालन करे, **उग्र तप का आचरण करते हैं,...** महीने-महीने खमण के अपवास, छह-छह महीने के अपवास करे, ऐसी क्रिया करे तो भी **वे बोधि अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय जो अपना स्वरूप है, उसका लाभ प्राप्त नहीं करते;...** यह क्रिया तो विकल्प है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय जो अपना स्वरूप है... देखो! भगवान आत्मा का स्वरूप ही ऐसा है, कहते हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र ऐसी जो पर्याय है, उसका पिण्ड स्वयं आत्मस्वरूप है। ऐसे विकल्प की इतनी हजार, लाख, अनन्त बार क्रिया करे तो भी वह आत्मा के स्वरूप दर्शन-ज्ञान-चारित्र को (प्राप्त नहीं कर सकता)। बोधि शब्द है न? तीनों इकट्ठे लिये **सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय जो अपना स्वरूप...** ऐसा। आत्मा यथार्थ वस्तु कहें तो सम्यग्दर्शन की पर्याय श्रद्धागुण में अनन्त पड़ी है। ज्ञान में सम्यग्ज्ञान की पर्याय अनन्त है। चारित्रगुण में शान्ति, स्थिरता आदि की पर्याय अनन्त है। ऐसा जो निजस्वरूप, उसमें से प्राप्त हुआ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति, उसमें से हुई, वह ऐसे क्रियाकाण्ड से नहीं होते। वह साधन है न, साधन है न—ऐसा कहते हैं न?

पहले वे आवे न ? इनकार करते हैं। पहले ऐसा साधन अनन्त बार किया तो भी कुछ साध्य तो हुआ नहीं।

मुमुक्षु : आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो होता है तो उसे व्यवहार साधन का उपचार दिया जाता है। निश्चयस्वरूप का साधन शुद्ध चैतन्य की दृष्टि, चैतन्य का ज्ञान और चैतन्य की लीनता – रमणता ऐसी प्रगट करे तो उसे ऐसे विकल्प हों, उन्हें व्यवहारसाधन का आरोप उपचार से करते हैं। (बाकी) साधन–फाधन है ही नहीं। सेठी ! कथन है या नहीं इसमें ? हजारों, करोड़ वर्ष से... उसमें भी ऐसा आता है। अज्ञानी चाहे जितने वर्ष करे तो भी ज्ञानी... अन्तर्मुहूर्त में उसे (कर्म) कटते हैं। आता है न ? उसमें से उल्टा अर्थ करते हैं। इतना भी खिरता है न ! इसलिए वह ज्ञानी है, ऐसा। यह तो तीन गुप्ति सहित की स्थिरतावाला है, इतना कहीं वह नहीं खिरा सकता, ऐसा (कहा है), ऐसा अर्थ करते हैं न ?

कहते हैं करोड़–अरबों वर्ष तक, अरे... ! अनन्त भव तक। अनन्त मनुष्यपने के भव में मुनिपना ले, भले अनन्त काल में, उसमें भी अनन्त काल में मनुष्यपने में बाहर निकले। समझ में आया ? और वह भी सुष्ठु–बराबर, ऐसे निरतिचार। कपट से जगत को दिखाने के लिये नहीं। इसलिए सुष्ठु शब्द प्रयोग किया है। जैन सम्प्रदाय में दिगम्बर सम्प्रदाय में जन्म कर इसे अनन्त काल में भले मिले परन्तु अनन्त बार ऐसी पंच महाव्रत और अट्ठाईस मूलगुण की क्रिया, देव–गुरु–शास्त्र की श्रद्धा का राग, ऐसी क्रिया अनन्त बार करे तो भी सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र अपना निज स्वरूप (प्राप्त नहीं कर सकता)। क्योंकि राग तो परस्वरूप है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? वे कहते हैं व्यवहार साधन है, व्यवहार साधन है। निमित्त अकिंचित्कर माने, वे जैनदर्शन के शत्रु हैं, ऐसा आया है। निमित्त अकिंचित्कर माने...

आचार्य कहते हैं कि घड़ा बनाने में हम कुम्हार को कुछ नहीं देखते। मिट्टी से घड़ा होता है, निमित्त से नहीं होता—ऐसा हम देखते हैं, ऐसा तो कहते हैं। (कुम्हार से घड़ा होता है, ऐसा) नहीं देखते, हम तो मिट्टी से घड़ा होता है, ऐसा देखते हैं। प्रत्येक द्रव्य की पर्याय उत्पन्न... (समयसार) ३७२ गाथा, ८६वीं गाथा। लो न, प्रत्येक द्रव्य की पर्याय का उत्पाद हम पर से नहीं देखते। तीन काल में उत्पन्न नहीं होती। अपनी पर्याय, प्रत्येक द्रव्य की।

दृष्टान्त दिया है। समय-समय की प्रत्येक द्रव्य की पर्याय पर से उत्पन्न होती है, ऐसा हम नहीं देखते। अपने से उत्पन्न होती है, इसमें क्या बाकी रखा? आहाहा!

कहाँ से निकलकर आया? वनस्पति में से निकलकर जैन... अनन्त काल में मनुष्य होता है। उसमें भी कहते हैं कि किसी-किसी समय ऐसा चारित्र अर्थात् पंच महाव्रत आदि ले, तो भी अनन्त बार इसने ऐसा किया है, तथापि उससे स्वरूप की प्राप्ति नहीं हुई। आहाहा! समझ में आया?

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय जो अपना स्वरूप... चारित्रमय अर्थात् अपने निज स्वरूप का आश्रय और उसकी जो परिणति, **उसका लाभ प्राप्त नहीं करते;...** ऐसे क्रियाकाण्ड अनन्त बार करे तो भी स्वरूप के आश्रय के लाभ की प्राप्ति नहीं होती, ऐसा इसमें कहा है। भेद का आया न? भेद साध्य-साधक। उसमें भी यह आया। राग साधन भेद है और साध्य निर्मल शुद्ध पूर्ण, यह बात ही मिथ्या है। इससे नहीं मिलता अनन्त बार, कहते हैं। आहाहा!

अरे! मुश्किल से निकला। निगोद से एकेन्द्रिय से। वापस जहाँ जन्म लिया और जिस धर्म की बाह्य प्रवृत्ति में आया, उसे कुल निभाने के लिये वहाँ आगे रच-पच गया, परन्तु कहते हैं कि ऐसी क्रिया तो अनन्त बार (की है)। मनुष्यपना बहुत काल में मिलता है। उसमें ऐसा चारित्र ऐसे व्रतादि व्यवहार, वह भी बहुत काल में चारित्र लिया। कहीं सबको ऐसा चारित्र होता है? ऐसे-ऐसे अनन्त काल में ऐसे व्रतादि लिये। बाहर का ब्रह्मचर्य पालन किया, परन्तु अन्दर ब्रह्मस्वरूप आत्मा के स्वरूप का लाभ नहीं हुआ। आहाहा! कहो, समझ में आया? दिशा बदलने की बात है न! पंच महाव्रत, अट्ठाईस (मूलगुण पालना), वह तो पर के लक्ष्यवाली दशा है। दिशा भी विदिशा है। पूरी बात में ही अन्तर है। देखो! यह दर्शन-सम्यग्दर्शन की महिमा! आहाहा!

यदि हजार कोटि वर्ष तक तप करते रहें,... अर्थात् कि अनन्त काल ऐसा तप करे, ऐसा। **तब भी स्वरूप की प्राप्ति नहीं होती।** परन्तु जो साधन नहीं है, उससे प्राप्ति कैसे होगी? साधन तो सवेरे आया था न? चैतन्यवस्तु भगवान आनन्दस्वरूप की पर्याय में प्राप्ति, वह साधन है। वह पर्याय निर्मल, वह साधन है। सवेरे आया था न? संसिद्धि, सिद्धि, राध। इन साधन से तो अनन्त भव किये, कहते हैं। आहाहा! मनुष्यपना बहुत काल

में मिला, ऐसे अनन्त, उसमें बहुत काल में पंच महाव्रत लिये, ऐसे वापस अनन्त। समझ में आया ? तो भी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय ऐसा अपना निजस्वरूप, उसके लाभ की प्राप्ति उनके द्वारा तो नहीं हुई।

यहाँ गाथा में दो स्थानों पर 'णं' शब्द है,... दो जगह आया है न **'णं' चरंता णं सम्मत्तविरहिया णं 'चरंता णं'** 'णं' आया है न ? संस्कृत में... **उसका अर्थ वाक्य का अलंकार है।** यह वाक्य का अलंकार है। यह शब्द का अलंकार है।

भावार्थ – **सम्यक्त्व के बिना हजार कोटि वर्ष तप करने पर भी...** हजार-करोड़ वर्ष तप करे तो भी **मोक्षमार्ग की प्राप्ति नहीं होती।** समझ में आया ? ... यह तो साधारण है। .... 'जो पुरुष समकित से रहित है, भली प्रकार हजार, कोटि वर्ष तक भी कठिन तपस्या करे तो भी उन्हें रत्नत्रय प्राप्त नहीं होता।' इतना। समकित बिना हजार, करोड़ वर्ष तक करे, परन्तु जो वस्तु का स्वरूप ही नहीं है, उसके द्वारा करे तो उसमें वस्तु की प्राप्ति कहाँ से होगी ? ऐसा कहते हैं। ये क्रियाकाण्ड के शुभभाव वस्तु का स्वरूप ही नहीं है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह वस्तु के स्वरूप में पड़े हैं। समझ में आया ? आहाहा! यह कहाँ उसमें है ? यह तो व्यर्थ का विकल्प खड़ा करके सब करता है। उसमें से कहाँ से प्राप्त हो ? समझ में आया ?

मोक्षमार्ग की प्राप्ति नहीं होती। मोक्षमार्ग। **यहाँ हजार कोटि कहने का तात्पर्य उतने ही वर्ष नहीं समझना, किन्तु काल का बहुतपना बतलाया है।** यह तो काल का बहुतपना बतलाया है। यह जरा पीछे का शब्द बराबर नहीं मिलता। पण्डितजी मिला नहीं सकते। हम तो, हमारे शब्द का ख्याल नहीं है।

तप मनुष्य पर्याय में ही होता है, और मनुष्यकाल भी थोड़ा है,... मनुष्यकाल थोड़ा और तपस्या बहुत बार की, ऐसे मनुष्यपने में भी **इसलिए तप के तात्पर्य से यह वर्ष भी बहुत कम कहे हैं।** ऐसा कुछ है परन्तु बहुत मेल नहीं खाता। तुम तो इसमें मिला दो। ऐई! मनुष्यपना बहुत काल में मिलता, तो भी दूसरे की अपेक्षा से थोड़ा है और उसमें भी अनन्त-अनन्त बार ऐसा करे तो भी आत्मा को लाभ नहीं मिलता। बहुत भव तो दूसरे में जाते हैं। मनुष्यपने का काल थोड़ा। मुश्किल से मनुष्यपना बहुत काल में मिलता है और

वह भी मनुष्य... ऐसा का ऐसा अनन्त बार करे तो भी स्व के आश्रय की दृष्टि बिना इसे इन तीन का लाभ—दर्शन-ज्ञान-चारित्र (का लाभ) नहीं होता। लो!

गाथा-६

ऐसे पूर्वोक्त प्रकार सम्यक्त्व के बिना चारित्र, तप को निष्फल कहा है। अब सम्यक्त्व सहित सभी प्रवृत्ति सफल है – ऐसा कहते हैं –

सम्मत्तणाणदंसणबलवीरियवड्ढमाण जे सव्वे।
कलिकलुसपावरहिया वरणाणी होंति अइरेण।।६।।

सम्यक्त्वज्ञानदर्शनबलवीर्यवर्द्धमाना: ये सर्वे।
कलिकलुषपापरहिता: वरज्ञानिन: भवंति अचिरेण।।६।।

सम्यक्त्व दर्शन ज्ञान बल वीरज सदा वर्धित रहें।
कलि कलुष पाप विहीन वे अति शीघ्र वर ज्ञानी बनें।।६।।

अर्थ **– जो पुरुष सम्यक्त्वज्ञान, दर्शन, बल, वीर्य से वर्द्धमान हैं तथा कलिकलुषपाप अर्थात् इस पञ्चमकाल के मलिन पाप से रहित हैं, वे सभी अल्पकाल में वरज्ञानी अर्थात् केवलज्ञानी होते हैं।**

भावार्थ **– इस पंचमकाल में जड़-वक्र जीवों के निमित्त से यथार्थ मार्ग अपभ्रंश हुआ है। उसकी वासना से जो जीव रहित हुए वे यथार्थ जिनमार्ग के श्रद्धानरूप सम्यक्त्वसहित ज्ञान-दर्शन के अपने पराक्रम-बल को न छिपाकर तथा अपने वीर्य अर्थात् शक्ति से वर्द्धमान होते हुए प्रवर्तते हैं, वे अल्पकाल में ही केवलज्ञानी होकर मोक्ष प्राप्त करते हैं।।६।।**

गाथा-६ पर प्रवचन

ऐसे पूर्वोक्त प्रकार सम्यक्त्व के बिना चारित्र, तप को निष्फल कहा है। अभी तक दोनों को निष्फल कहा है। चौथे में, पाँचवें में और तीसरे में। तीसरे में कहा न?

'**दंसणमूलो धम्मो**' में। **अब सम्यक्त्व सहित सभी प्रवृत्ति सफल है...**

सम्मत्तणाणदंसणबलवीरियवड्ढमाण जे सव्वे।
कलिकलुसपावरहिया वरणाणी होंति अइरेण।।६।।

अर्थ – **जो पुरुष...** जो कोई आत्मा **सम्यक्त्वज्ञान, दर्शन, बल, वीर्य से वर्द्धमान हैं...** देखो! जो कोई पुरुष–भगवान आत्मा की प्रतीति–सम्यग्दर्शन, ज्ञान में भी अधिक जाता है, वर्द्धमान है। दर्शन में देखने में भी वर्द्धमान उपयोग है। बल, वीर्य दो लिये हैं। बल, वीर्य। बल–वीर्य मूल तो अन्दर का पुरुषार्थ है। बल–वीर्य का अर्थ अलग–अलग होता है। यह बाहर... **तथा कलिकलुषपाप...** कहते हैं। बल–वीर्य क्या कहा... छठवीं गाथा है न ?.... दर्शन–सत्तावलोकनमात्र ऐसा कहते हैं। निज वीर्यबल वह निज वीर्य... ऐसे बल का अर्थ नीचे गुप्त नहीं रखता... बस, इतना। वीर्य आत्मशक्ति, कहा। वह बल को गुप्त नहीं रखता और आत्मशक्ति को स्फुरित करता है। दोनों को भिन्न किया है। '**वीर्येनात्मशक्त्या पुरुषार्थः वर्धमानाः**' वर्तमान पुरुषार्थ वर्तता है...

जो पुरुष आत्मा का समकित दर्शनशुद्धि, आत्मा का ज्ञान, आत्मा का दर्शन–उपयोग, बल, वीर्य जो प्राप्त हुआ है, उसे गुप्त नहीं रखता और वीर्य स्फुरित करता है। अस्ति–नास्ति की है। अस्ति–नास्ति करके दो अर्थ अलग–अलग किये हैं। आत्मवीर्य को स्फुरित करता है। डिग्री वर्द्धमान है। इसने चढ़ती हुई की है। लोग कहते हैं न बाहर में ? पैसे ठीक हों (तो ऐसा कहते हैं), यह तो चढ़ती डिग्री है। नहीं कहते ? संसार में नहीं है तुम्हें ? लड़के अच्छे हों, अमुक हो, पैसा होवे तो चढ़ती डिग्री, उसमें कुछ अच्छी कन्या देने आया हो और इनकार करे तो कहे, यह तो... ऐ.. धीरुभाई! ऐसा कहते हैं या नहीं ? कहते हैं, ऐसा सुना हुआ है लोगों में। चढ़ती... यहाँ तो चढ़ती डिग्री में वृद्धि की, ऐसा कहते हैं। आत्मा के सम्यग्दर्शन की निर्मलता बढ़ावे, ज्ञान की स्वसंवेदन की (निर्मलता बढ़ावे) समझ में आया ? चारित्र का नहीं आया। उसमें यह आया। बल और वीर्य, उसमें चारित्र आया। समझ में आया ? वीर्य को स्फुरित करते हैं, अन्तरस्वरूप में, हों! वीर्य का उघाड़ है, उसे गुप्त नहीं रखता। यह चारित्र इसमें आ गया। ऐसा करके वर्धमान है। अन्दर में पुरुषार्थ की, अन्तर द्रव्यस्वभाव की जागृति वर्धमान है।

कलिकलुषपाप... कहते हैं। कलिकलषुपाप **अर्थात् इस पञ्चमकाल के**

मलिन पाप... कलिकाल है न? कलिकाल। कलिकाल कलुषपाप। पंचम काल में मलिन पाप से **पाप से रहित हैं,..** महाअटपटा पंचम काल ऐसा है, देखो न! मिथ्याश्रद्धा का जोर, मिथ्यात्व के भाव का जोर, यहाँ चमत्कार हुआ और अमुक हुआ, ऐसे सब मिथ्यात्व के जोर हैं। **वे सभी अल्पकाल में वरज्ञानी अर्थात् केवलज्ञानी होते हैं।** ऐसे जीव जो स्वरूप की अन्तरश्रद्धा, ज्ञान, बल, वीर्य स्फुरित करते हैं, वे पंचम काल के महामिथ्यात्व के आग्रह के पाप से रहित होते हुए। पंचम काल का यह महापाप कहा है। पंचम काल में धर्म दुर्लभ हो पड़ा है। जैन में जन्मे हुए को भी मिथ्यात्व की विपरीतता इतनी कठोर है। ऐसे भाव को छोड़कर **सभी अल्पकाल में वरज्ञानी अर्थात् केवलज्ञानी होते हैं।** लो, वरज्ञानी होते हैं, वे केवलज्ञान प्राप्त करेंगे। पंचम काल में ऐसे मिथ्यात्व आदि के आग्रह का (अभाव करके) और अपने दर्शन, ज्ञान, बल, वीर्य की स्फुरणा से स्वरूप का साधन करते हैं, वे अल्प काल में मोक्ष को प्राप्त करेंगे, लो। समझ में आया? टीकाकार ने यह 'वर' शब्द है न? तीर्थंकर होकर केवल (ज्ञान) प्राप्त करेंगे, ऐसा करके डाला है। वर बहुत बार डालते हैं। वरज्ञान है न? वरज्ञान। केवलज्ञान तो प्राप्त करेंगे परन्तु तीर्थंकर होकर केवलज्ञान प्राप्त करेंगे। संस्कृत टीका में है। डालते हैं, बहुत बार डालते हैं। **वरज्ञानी अर्थात् केवलज्ञानी होते हैं।**

भावार्थ **– इस पंचम काल में जड़–वक्र जीवों के...** सत्य को समझने के लिये इतनी विराधना, इतना विरोध (करे) ज्ञानियों की बात में सूक्ष्म में भी... आहाहा! **जड़–वक्र जीवों के निमित्त से यथार्थ मार्ग अपभ्रंश हुआ है।** वास्तविक जैन का मार्ग सम्प्रदाय में (अपभ्रंश हुआ है)। श्वेताम्बर, स्थानकवासी, तेरापन्थी देखो न! उनमें भी कितने ही अन्तर्भेद अन्दर होंगे। सबने यथार्थमार्ग को अपभ्रंश कर डाला है। उसमें से इस तत्त्व का वास्तविक सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र बल को प्राप्त करना महादुर्लभ है। समझ में आया?

यह... रास्ते में कहता था, वह विषय चलता था, उसमें साथ में था। हरितकाय थी न? वह कहे, इसके ऊपर पैर रखें तो क्या हो? बहुत दुःख होता है और मर जाते हैं। वनस्पति के जीव (मर जाते हैं)। तब कहे, इसमें से मनुष्य कब हों? मनुष्य तो किसी समय, कोई शुभभाव ऐसा आवे (तो होते हैं) वैसे तो शुभभाव इन्हें क्षण–क्षण में होता है।

शुभ-अशुभ, शुभ-अशुभ (होते हैं) परन्तु ऐसा शुभभाव मनुष्यपने का आवे, तब होते हैं। वह तो महादुर्लभ है। मनुष्यपना (दुर्लभ है)। तब कहे, ऐसा दुर्लभपना मनुष्य के लिये है तो आत्मा का काम कर लेना चाहिए; नहीं तो ऐसा दुर्लभ (भव चला जाएगा)। यहाँ तो तेरे पिता पढ़ने को कहेंगे, फिर विवाह करने को कहेंगे। कैसे करेगा तू ? ऐ!

मुमुक्षु : हम तो आत्मा का कल्याण करेंगे।

पूज्य गुरुदेवश्री : करेंगे! आहाहा! यह वनस्पति नीचे दबती है। अब जिसे अभी जीव है, इसकी इसे खबर नहीं, दूसरे मानें और अन्दर असंख्य पड़े हैं। यह उगती है न रास्ते में ? हरितकाय, घास-फूस। कितने जीव हैं! ओहोहो! उसमें से निकलकर मनुष्य होना अनन्त काल में दुर्लभ है। कितने ही तो उसी-उसी में (जन्मते-मरते हैं)। वनस्पति में से निगोद में और निगोद में से प्रत्येक (वनस्पति) में और प्रत्येक में से निगोद में (जाते हैं)। आहाहा! समझ में आया ? ढाई पुद्गलपरावर्तन कहा है। एकेन्द्रिय में से निगोद में, निगोद में से प्रत्येक में, ढाई पुद्गलपरावर्तन.. ओहोहो! ढाई पुद्गलपरावर्तन। अकेला निगोद में रहे तो सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर। निगोद में स्थूल और सूक्ष्म, स्थूल और सूक्ष्म में रहे तो अर्द्धपुद्गल (परावर्तन काल) और निगोद तथा प्रत्येक वनस्पति, पृथ्वी आदि में रहे, एकेन्द्रिय आदि में तो ढाई पुद्गल परावर्तन (रहता है)। उसमें आगे जाकर पृथ्वी, जल, असंख्य... उसी और उसी में। वनस्पति और प्रत्येक में, निगोद में, प्रत्येक में। और यह पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु में आवे और वहाँ जाए, इसमें आवे और जाए तो असंख्य पुद्गलपरावर्तन (घूमता है) ऐसी कायस्थिति है। असंख्य पुद्गलपरावर्तन एक साथ, हों! कब मनुष्य हो ? यहाँ जहाँ आया, वहाँ हो गया। बाहर के सम्हालने में, इस धर्म के नाम से आया वहाँ भी बाहर की जो हमारी मान्यता और हमारे गुरु मिले, उसी और उसी में बराबर है, उसे रखना। ऐसा जीवन व्यर्थ चला गया।

ऐसा तो गया, परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि पंच महाव्रत को पालन किया। समझ में आया ? अट्ठाईस मूलगुण को पालन किया, तथापि आत्मा के अन्तर दर्शन, ज्ञान और चारित्र बिना वह सब निष्फल गया। वे जीव तो अपने स्वरूप का आश्रय लेकर और जिसने पंचम काल के ऐसे यथार्थ मार्ग का अपभ्रंश जो हुआ है, उसे छोड़कर अपने स्वरूप का आराधन करता है, वह तो विरल प्राणी केवलज्ञान को प्राप्त करनेवाला है, ऐसा

कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? अटकने के कितने कारण? ओहोहो! सबको छोड़कर। यह पंचम काल की बात चलती है न! कलिकलुष। कलिकाल के कलुष भाव, मिथ्या आग्रह के। बड़े-बड़े मुनि नाम धरावे, आचार्य नाम धरावे। आहाहा! और विपरीत मान्यता के ढ़ेर पोषण करे। ऐसा पंचम काल, कलिकाल है। आहाहा! मनुष्यपने का जीवन हार गये। उसमें से कहते हैं कि उसके भावरहित हुआ, ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

पंचम काल में जड़ वक्र जीव के कारण, बुद्धि थोड़ी और वक्रता बहुत, वापस टेढ़े। स्वयं जहाँ है, उसका बचाव करके अपनी स्थिति को स्थापित करते हैं कि बराबर हमारा मार्ग बराबर है, सही मार्ग है। होवे विपरीत। **अपभ्रंश हुआ है। उसकी वासना से जो जीव रहित हुए...** ऐसी जिन्हें गन्ध नहीं बैठी, ऐसे धर्मात्मा अपने दर्शन-ज्ञान-चारित्र अथवा वीर्य को स्फुरित कर जो जीव **यथार्थ जिनमार्ग के श्रद्धानरूप...** पहले में यथार्थमार्ग से अपभ्रंश हुए थे, ऐसा कहा था। अब यहाँ (कहा) **यथार्थ जिनमार्ग के श्रद्धानरूप...** समकित सहित, श्रद्धानसहित **ज्ञान-दर्शन के अपने पराक्रम-बल को न छिपाकर...** लो, थोड़ा डाला अवश्य, हों! **अपने पराक्रम-बल को न छिपाकर तथा अपने वीर्य अर्थात् शक्ति से...** लो, डाला, हों! टीका में से थोड़ा लिया है। अपना आत्मा निर्विकल्प सम्यग्दर्शन और स्व का-आत्मा का ज्ञान और स्व का दर्शन, सत्तावलोकन उपयोग, ऐसा और अपना पराक्रम बल। उसे **न छिपाकर...** अपना पुरुषार्थ है, उसे नहीं छिपाते। करने के काल में तो यह है। उस वीर्य को कैसे छिपावे? प्रमाद कैसे होने दे? ऐसा कहते हैं। समझ में आया? अनन्त काल में ऐसी योग्यता अन्दर में मिली, अब कहते हैं कि वह वीर्य को कैसे छिपावे?

तथा अपने वीर्य अर्थात् शक्ति से वर्द्धमान होते हुए... लो, अब रखा। अपना वीर्य, जो शक्ति वर्द्धमान पुरुषार्थ से। स्वसन्मुख का पुरुषार्थ बढ़ाता जाता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! **वर्द्धमान होते हुए प्रवर्तते हैं, वे अल्प काल में ही केवलज्ञानी होकर मोक्ष प्राप्त करते हैं।** लो, वह जीव पंचम काल को उल्लंघकर ऐसे काल में जाकर अल्प काल में केवलज्ञान प्राप्त करेंगे, ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

बनारसीदास को देखो न! मरते हुए बराबर भान था परन्तु जीव कहीं अटका थोड़े काल। निकलते-निकलते देरी लगी। लोग बातें करने लगे। पण्डितजी का जीव कहीं

अटका है ? लोग कहते हैं न कहीं जीव फँसा है, नहीं कहते यहाँ ? कहीं जीव रहा है, कहीं जीव रह गया है, निकलता नहीं है। उनकी भाषा बन्द हो गयी थी और यह वेदन। अन्दर देह छूटने की तैयारी, भाषा नहीं होती। मोह के ज्ञान के... चले बनारसीदास फेर नहीं आवना। ऐसे काल में अब नहीं (आयेंगे)। चले बनारसीदास फेर नहीं आवना। ऐसी स्थिति में अब हमारा अवतार नहीं हो सकेगा। जहाँ देह छूटने में जरा देर लगी, उसे वहाँ ऐसे कुतर्क करते हैं, यह तो कैसा संयोग ? ऐसा कहते हैं। जीव कहीं उलझा लगता है ? उलझा कहाँ ? धूल में ? अब सुन न ! अन्तर में दर्शन है। आहाहा ! समझ में आया ?

अल्प काल में ही केवलज्ञानी होकर मोक्ष प्राप्त करते हैं। परमात्मपद को प्राप्त करेंगे। वह बहुत काल रखा न ? उसके सामने यहाँ थोड़ा काल रखा। लम्बे काल में ऐसे महाव्रत और क्रियाकाण्ड करते हुए वे सम्यग्दर्शन को प्राप्त नहीं करते, स्वरूप की प्राप्ति नहीं करते, ऐसा। इस थोड़े काल में अपने केवलज्ञान को प्राप्त करते हैं। आहाहा ! समझ में आया ? छह गाथा हुई।

गाथा-७

अब कहते हैं कि सम्यक्त्वरूपी जल का प्रवाह आत्मा को कर्मरज नहीं लगने देता –

सम्मत्तसलिलपवहो णिच्चं हियए पवट्टए जस्स।
कम्मं वालुयवरणं बन्धुच्चिय णासए तस्स।।७।।

सम्यक्त्वसलिलप्रवाहः नित्यं हृदये प्रवर्त्तते यस्य।
कर्म वालुकावरणं वद्धमपि नश्यति तस्य।।७।।

सम्यक्त्व जल बहता सदा जिसके हृदय में उसी के।
नहिं कर्म-रज आवरण होता पूर्व बद्ध भि नष्ट ये।।७।।

अर्थ **– जिस पुरुष के हृदय में सम्यक्त्वरूपी जल का प्रवाह निरंतर प्रवर्त्तमान है, उसके कर्मरूपी रज-धूल का आवरण नहीं लगता तथा पूर्वकाल में जो कर्मबंध हुआ हो वह भी नाश को प्राप्त होता है।**

भावार्थ – **सम्यक्त्वसहित पुरुष को (निरन्तर ज्ञानचेतना के स्वामित्वरूप परिणमन है इसलिए) कर्म के उदय से हुए रागादिक भावों का स्वामित्व नहीं होता, इसलिए कषायों की तीव्र कलुषता से रहित परिणाम उज्ज्वल होते हैं; उसे जल की उपमा है। जैसे – जहाँ निरन्तर जल का प्रवाह बहता है, वहाँ बालू-रेत-रज नहीं लगती; वैसे ही सम्यक्त्वी जीव कर्म के उदय को भोगता हुआ भी कर्म से लिप्त नहीं होता तथा बाह्य व्यवहार की अपेक्षा से ऐसा भी तात्पर्य जानना चाहिए कि जिसके हृदय में निरन्तर सम्यक्त्वरूपी जल का प्रवाह बहता है, वह सम्यक्त्वी पुरुष इस कलिकाल सम्बन्धी वासना अर्थात् कुदेव-कुशास्त्र-कुगुरु को नमस्कारादिरूप अतिचाररूप रज भी नहीं लगाता तथा उसके मिथ्यात्व सम्बन्धी प्रकृतियों का आगामी बंध भी नहीं होता।।७।।**

गाथा-७ पर प्रवचन

अब कहते हैं कि सम्यक्त्वरूपी जल का प्रवाह आत्मा को कर्मरज नहीं लगने देता-... नहीं लगने देता... आहाहा! जहाँ नदी का पूरा हो, वहाँ रज कहाँ चिपके। उसमें दृष्टान्त दिया है। कोरे घड़े का। कोरा घड़ा हो, उसे कहीं रज नहीं चिपटती। कोरा नया घड़ा हो, उसे कहाँ चिपकती है? चिकना हो, तेलवाला हो तो रज चिपकती है। कोरा घड़ा समझते हैं? यह दृष्टान्त उसमें दिया है।

सम्यक्त्वरूपी जल का प्रवाह... अर्थात् कहते हैं कि सम्यग्दर्शन का प्रवाह नित्य रहा और उस प्रवाह के परिणमन के कारण आत्मा को कर्मरज **नहीं लगने देता...** उसे कर्म की रज नहीं लगती। देखो! यहाँ अकेले समकित का जोर दिया है। समझ में आया?

सम्मत्तसलिलपवहो णिच्चं हियए पवट्टए जस्स।
कम्मं वालुयवरणं बन्धुच्चिय णासए तस्स।।७।।

...बँधे हुए हैं।

अर्थ – जिस पुरुष के हृदय में... पुरुष शब्द से (आशय) आत्मा। जिस किसी आत्मा के हृदय में अर्थात् अन्तर आत्मा में **सम्यक्त्वरूपी जल का प्रवाह निरंतर**

प्रवर्त्तमान है,... सम्यग्दर्शन की श्रद्धा का प्रवाह-परिणमन निरन्तर बहता है। पूर्ण शुद्ध द्रव्य ध्रुव चैतन्यमूर्ति हूँ, ऐसा अन्तर में ज्ञान का भान होकर समकितरूपी जल का प्रवाह निरन्तर प्रवर्तता है। ऐसा है न '**णिच्चं हियए पवट्टए**' **उसके कर्मरूपी रज-धूल का आवरण...** उस पुरुष को कर्म हुआ, जो बालू-रज का आवरण **नहीं लगता...** उसे बालू नहीं लगती। कोरे घड़े को बालू नहीं चिपकती। इसी प्रकार कोरा-राग की चिकनाहट रहित है, कहते हैं। आहाहा! सम्यग्दर्शन का प्रवाह। '**सलिल**' नदी अन्दर चलती है। उस प्रवाह में राग की चिकनाहट नहीं है, इसलिए उसे कर्म नहीं लगता। आहाहा! समझ में आया? देखो! यह सम्यग्दर्शन का स्वरूप और उसका यह माहात्म्य है। **कर्मरूपी रज-धूल का आवरण नहीं लगता...** उसे आवरण नहीं होता।

और **पूर्वकाल में जो कर्मबंध हुआ हो...** ऐसा हुआ न? '**कम्मं वालुयवरणं**' नहीं चिपकती और '**बन्धुच्चिय णासए तस्स**' बँधे हुए कर्मों का नाश होता है। दो बातें की हैं। समझ में आया? **तथा पूर्वकाल में जो कर्मबंध हुआ हो, वह भी नाश को प्राप्त होता है।** वह सब खिरता जाता है। स्वरूप सन्मुख का अनुभव, दृष्टि है (तो) पूर्व का उदय आवे, वह सब खिर जाता है। अब बन्धन नहीं है। आहाहा! देखो! यह सम्यग्दर्शन के नित्य परिणमन के प्रवाह का फल! वह इतना-इतना करे तो कहते हैं, कुछ लाभ नहीं है। पंच महाव्रत (अर्थात्) अपनी जाति से विरुद्ध भाव—विभाव। आहाहा! अहिंसा पालन करे, दया पालन करे, दया वह धर्म की सिद्धि-क्या कहा? सुख की... दया वह सुख की वेलड़ी, दया वह सुख की खान... परन्तु वह दया कौन सी? तो कहते हैं, पर की दया वह सुख की खान। धूल भी नहीं है, सुन न! वह परदया तो राग है। वह राग तो अनन्त बार किया। वे कहें, अनुकम्पा। खरगोश की दया पालन की, वहाँ परितसंसार (किया) - श्वेताम्बर में (ऐसा आता है)। खरगोश... खरगोश है न? खरगोश। खरगोश को हाथी के भव में बचा लिया। परितसंसार... परितसंसार। धूल में भी परितसंसार नहीं होता। वह तो राग है। राग स्वयं संसार है। आहाहा! यह भगवान के शास्त्र के नाम से ऐसी बातें।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु वहाँ तुम सब सुनते थे न! रंगनाथभाई के पास। वे गाँव में

अधिक पैसेवाले कहलाते थे। सबसे (बड़े) पैसेवाले। इन छोटा भाई की अपेक्षा भी अधिक पैसेवाले कहलाते थे। तब आते थे, तब सुनते थे न। उन लोगों के पास पैंतीस-चालीस हजार कहलाते हैं, उनके पास तीस हजार कहते थे। तब सुनी हुई बात है। कोई कहे, वह सुना हो। अपने कहाँ वहाँ गिनने गये थे। खबर है या नहीं? एक घर में रहते थे। खबर है? (संवत्) १९७१ में। पहले वहाँ रहते थे। तुम्हारे घर के अन्दर। वृक्ष के सामने। छाछ लेने आते थे न? छाछ। बाहर खड़े रहे।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, कहते। पहला घर। वहाँ तुम रहते थे। यह तो १९७१ की बात है।

यहाँ तो कहते हैं, पर की दया का विकल्प है, वह तो राग है। वह स्वयं संसार है। उससे संसार छूटेगा?

मुमुक्षु : किस भव में?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कहा न, हाथी के भव में। वह और दूसरा। वह शान्तिनाथ का भव, वह दूसरे की बात। यह तो एक मेघकुमार की बात आती है। भगवान के निकट दीक्षा ली थी। फिर अन्त में शैय्या मिली। सबके ठोकर खाते हैं, शैय्या में सोते थे। सब गप्प है। ठोकर खावे, वह नींद नहीं आयी।

मुमुक्षु : मुनि को नींद सिद्ध की।

पूज्य गुरुदेवश्री : सब सिद्ध किया। अमुक न हो, इसलिए फिर सवेरे भगवान को यह सब सौंप कर अपने घर चले जाना, ऐसा।... ऐई! मेघा! क्या हुआ? इस हाथी के भव में ऐसी दया पालन कर संसार परित किया।.... की न? यहाँ तुझे... ? ऐसा सम्बोधन किया है। ऐई! चिमनभाई! सुना है या नहीं? सुना है न? सुना ही होगा न? क्यों, गुलाबचन्दभाई! सुना है या नहीं सब? अरे...! तू क्या आया? हाथी के भव में तूने संसार परित किया। उसके अर्थ में भी फेरफारवाला दो-पाँच। वे प्राणलाल संसार परित किया नहीं, समकित था, इसलिए परित किया। ऐसा शब्दार्थ है, ऐसा। समझे न? उसका अर्थ वह कहे समकित बिना परित संसार होता नहीं है। अर्थ कहते हैं ऐसा उनका है ही नहीं। तेरापन्थी ये सब अर्थ

करते हैं। समकित बिना संसार परित किया। ये दोनों के अर्थ में वापस अन्तर है। हीरालालजी मारवाड़ी थे न? उन्होंने शब्दार्थ में से निकाला। 'अलभेण लभेण' समकित का लाभ था, वह तुझे हुआ। इसका अर्थ कि समकित रत्न का लाभ वहाँ उसे नहीं था। ऐसा था। वहाँ भी तूने परित संसार किया तो यह मेरे पास मुनिपना लिया और यह हुआ। एकदम वापस... मुनिपना रखा और फिर जाओ। सब कल्पित बातें रची हैं। पर की दया से संसार कभी टूटता होगा? यहाँ क्या कहते हैं?

समकित सलिल प्रवाह द्वारा। यह तो पर की दया का राग है और राग की एकताबुद्धि वह तो मिथ्यात्व है। जाधवजीभाई! सुना है या नहीं मेघकुमार का? बहिन ने तो सब बहुत सुना था। स्थानकवासी में सामने थे न? प्रमुख। ऐसा सब वहाँ होता है। अरे! वह मार्ग नहीं है। भाई! सब कल्पित की हुई बातें हैं। यह तो वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर ऐसा कहते हैं कि जिसे अन्दर में ऐसी अनन्त बार क्रिया करने पर भी, शुभभाव की क्रिया दया, दान और व्रत (किये), अन्तर सम्यग्दर्शन बिना उसका एक भव नहीं घटता। समझ में आया? ऐ... शान्तिभाई! यह सब किया था या नहीं? ये भी शास्त्र पढ़ते थे। साधु, साध्वी को वांचन कराते थे। कलकत्ता में।

यहाँ तो कहते हैं, ऐसे विकल्प से तो पुण्यबन्धन होता है और धर्म माने, राग को मेरा स्वभाव माने, वह तो मिथ्यात्व का पंचम काल का अकेला कलिकलुषपाप है। पण्डितजी! आहाहा! साधु को आहार देने से परित संसार होता है... विपाक में है। आहार-पानी देनेवाला मिथ्यादृष्टि हो, लेनेवाला हो समकिती ज्ञानी; उसे आहार-पानी दे तो परित संसार होता है परन्तु परद्रव्य को आहार-पानी दे, उसमें शुभभाव होता है, परित संसार कहाँ से करता था? पण्डितजी! स्वद्रव्य के आश्रय बिना परित संसार—संसार घटता नहीं। आहाहा! इस पंचम काल में ऐसे पके हैं, ऐसा कहते हैं, हों! उसमें। जैनाभास है न? दर्शन से भ्रष्ट हुए इस पंचम काल में ऐसे सब भाव करके... उनसे रहित होकर जो समकित का प्रवाह, जिसे दृष्टि में अन्तर में निरन्तर बहता है, (उसे) वर्तमान कर्म का बन्धन नहीं और पूर्व में बाँधे, वे रहते नहीं। समझ में आया? वस्तु का स्वरूप ऐसा हो, उसमें क्या करना? उसमें समन्वय किस प्रकार करना? उसमें भी कुछ है और इसमें भी कुछ है। कहाँ गये, शिवलालभाई? नहीं आये शिवलालभाई! ...वे सब पुराने व्यक्ति हैं न। गये हों न अन्दर, उपाश्रय में। आहाहा! अरे! यहाँ भाषा क्या है, देखो न!

'**कलिकलुषपावरहिया**' अरे! पंचम काल के ऐसे जैनाभास, उसका आग्रह छोड़कर जिसने आत्मा का ज्ञान और दर्शन प्रगट किया है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? देखो न! छठी गाथा में कहा। इस पंचम काल में सब पके हैं न? आहाहा! क्या हो? बापू! इसमें आत्मा का नुकसान है, भाई! तुझे बुरा लगे परन्तु वस्तु का स्वरूप ऐसा नहीं है। बाहर के ऐसे शुभभाव तो अनन्त बार किये, तथापि स्व के आश्रय के सम्यग्दर्शन बिना एक भी भव नहीं घटा।

'**सम्मत्तसलिलपवहो**' कहते हैं, जहाँ अन्दर ऐसे आग्रह छूट गये, सम्यक् आत्मा चिदानन्द प्रभु का भान होकर अन्दर में प्रतीति हुई है, ऐसा सम्यग्दर्शन का प्रवाह निरन्तर बहता है।....लिया है। समझ में आया? गिर जाता है न... ऐसी बात यहाँ नहीं ली है। समझ में आया? प्रवाह निरन्तर प्रवर्तता है। आहाहा! ...सम्प्रदाय छोड़ने के बाद आये थे न?...

उसके कर्मरूपी रज-धूल का आवरण नहीं लगता तथा पूर्वकाल में जो कर्मबंध हुआ हो वह भी नाश को प्राप्त होता है।

भावार्थ – **सम्यक्त्वसहित पुरुष को (निरन्तर ज्ञानचेतना के स्वामित्वरूप परिणमन है, इसलिए) कर्म के उदय से हुए रागादिक भावों का स्वामित्व नहीं होता,...** लो, भगवान आत्मा के शुद्धस्वभाव का जहाँ सम्यग्दर्शन अनुभव से प्रगट हुआ, ऐसे समकिती को **कर्म के उदय से हुए रागादिक...** आत्मा में तो राग होने का स्वभाव नहीं है। निमित्त के लक्ष्य से उपाधि का भाव उत्पन्न हुआ। यह आता है न? निमित्त-नैमित्तिक। उपाधि को अनुरूप आता है न? निमित्त उदय को अनुरूप पुण्य-पाप के विकल्प होते हैं, उसका स्वामित्व नहीं है। धर्मी को उसका स्वामित्व नहीं है। आहाहा! धर्मी को स्वामीपना तो शुद्ध चैतन्यद्रव्य, गुण और पर्याय, शुद्ध द्रव्य गुण और पर्याय वह उसका स्व और उसका वह स्वामी। आहाहा! छह खण्ड के राज का स्वामी नहीं, उसने छह खण्ड को नहीं साधा था।

निहालभाई कहते हैं न? वह तो अखण्ड साधता था। चक्रवर्ती ने छहखण्ड साधे हैं न? नहीं; उसने तो अखण्ड आत्मा को साधा है। समझ में आया? भरत चक्रवर्ती इत्यादि समकिती। (छह खण्ड) साधे ही नहीं। वह राग आया है, उसके स्वामी नहीं, फिर वे किसे साधें? आहाहा! छह खण्ड है न! उनके सामने अखण्ड आत्मा (लिया है)।

भगवान आत्मा पूर्ण अखण्ड ध्रुव को आराधा है और उसे उन्होंने सेवन किया है। धर्मी चक्रवर्ती उसके स्वामी हैं। राग के स्वामी नहीं हैं। समझ में आया?

इसलिए कषायों की तीव्र कलुषता से रहित परिणाम उज्ज्वल होते हैं;... लो! इसलिए कलुषता से रहित ऐसे उज्ज्वल परिणाम रहते हैं। राग का स्वामीपना नहीं है इसलिए (रहते हैं)। ऐसा कहते हैं। शुद्ध चैतन्यद्रव्य के गुण, पर्याय का स्वामीपना है, इसलिए परिणाम उज्ज्वल रहते हैं, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? **उसे जल की उपमा है।** उसे जल की उपमा दी है।

जैसे – जहाँ निरन्तर जल का प्रवाह बहता है, वहाँ बालू–रेत–रज नहीं लगती;... पानी का प्रपात गिरता हो ऊपर घड़े पर, वहाँ रज चिपकने कहाँ आवे? **वैसे ही...** तैसे चाहिए। जैसे है उसमें? तैसे चाहिए। नया है? नये में भी चिह्न नहीं रखा? परन्तु सुधारे कौन? जैसे तो पहले आ गया है। **जैसे – जहाँ निरन्तर जल का प्रवाह बहता है, वहाँ बालू–रेत–रज नहीं लगती; वैसे ही सम्यक्त्वी जीव कर्म के उदय को भोगता हुआ भी...** धर्मी कर्म के उदय को जानता होने पर भी। वहाँ भोगे क्या? भोगे तो बाहर दिखे न, लोगों की भाषा है। समकिती जीव कर्म के उदय की सामग्री और उदय, रागादिभाव को भोगने पर भी **कर्म से लिप्त नहीं होता...** भोगता का अर्थ उसे पर्याय में राग होता है, ऐसा कहना वह भोगता है ऐसा कहने में आता है। भोगता नहीं है। जिसका स्वामी नहीं उसे भोगे क्या?

सम्यक्त्वी जीव कर्म के उदय को भोगता हुआ भी कर्म से लिप्त नहीं होता तथा बाह्य व्यवहार की अपेक्षा से ऐसा भी तात्पर्य जानना... क्या कहते हैं? देखो! बाह्य व्यवहार की अपेक्षा से ऐसा भी भावार्थ जानना। **जिसके हृदय में निरन्तर सम्यक्त्वरूपी जल का प्रवाह बहता है, वह सम्यक्त्वी पुरुष इस कलिकाल सम्बन्धी वासना अर्थात् कुदेव–कुशास्त्र–कुगुरु...** देखो, जिसकी अन्तर निर्मल सम्यग्दर्शन श्रद्धा हुई है, उस जीव को समकितरूपी जल प्रवाह बहता है, वहाँ **सम्यक्त्वी पुरुष इस कलिकाल सम्बन्धी वासना अर्थात् कुदेव–कुशास्त्र–कुगुरु को नमस्कारादिरूप अतिचाररूप रज भी नहीं लगाता...** कुदेव, कुगुरु और कुशास्त्र कल्पित होकर जैन के नाम से आये, उन्हें वह नमस्कार नहीं करता। आहाहा! समझ में आया? अभी तो हो... हा... हुई है।

समन्वय करो, समन्वय करो। भगवान (महावीर) का २५००वाँ वर्ष आनेवाला है, इसलिए कोई ऐसा बोल निकालना नहीं कि जिसमें सम्प्रदाय में विरोध हो। ऐसा आता है। वस्तु का स्वरूप हो, उसमें दूसरा क्या होगा ? समझ में आया ? उसमें यह सब वीतराग का मार्ग एक है। नवकार के गिननेवाले तो सब हैं। अरे! भाई! वीतराग को नमता है, वह तो कैसा होता है ? अन्दर दृष्टि वीतरागी हुई, उसे वीतराग का आदर होता है, वह वीतराग को व्यवहार से नमता है, (ऐसा) कहा जाता है। वह व्यवहार को नमता है, वह तो राग को नमता है। आहाहा! उसका राग में बहुमान है और वीतराग को भी ऐसा स्वीकार करता है कि उनकी भक्ति करना, उससे लाभ होता है, ऐसा भगवान ने कहा है। वह ऐसा मानता है। भगवान को भी ऐसा माना है। समझ में आया ? हमारी भक्ति से तुम्हारा कल्याण होगा, ऐसा भगवान ने कहा है। ऐसा नहीं कहा है, ऐसा माननेवाले प्रसन्न हों। आहाहा!

कुदेव–कुशास्त्र–कुगुरु... ऐसा लिया, देखा ? देव-शास्त्र-गुरु तीन—ऐसा आता है न ? देव-शास्त्र-गुरु तीन अर्थात् सामने उल्टे में ऐसा डाला कुदेव को नमस्कार, विनय, साधु मानकर आहार-पानी देना इत्यादि इन **अतिचाररूप रज भी नहीं लगाता...** सेठी! ऐसी जवाबदारी है। जवाबदारी है या वस्तु का स्वरूप ऐसा है। जवाबदारी नहीं, वस्तु की स्थिति ऐसी है। उसे - पर का आदर करने का भाव (नहीं होता) मिथ्या गुरु, मिथ्या शास्त्र, कुगुरु और कुदेव। नमस्कार, विनय इत्यादि। **अतिचाररूप रज भी नहीं लगाता...** ऐसा दोष नहीं करता।

तथा उसके मिथ्यात्व सम्बन्धी प्रकृतियों का आगामी बंध भी नहीं होता। लो! इसलिए उसे मिथ्यात्व सम्बन्धी प्रकृतियों का भविष्य में बन्ध पड़े, ऐसा बन्ध नहीं पड़ता। बन्ध पड़ता ही नहीं, ऐसा कहते हैं। वे साधारण परिणाम निकाल डाले। **मिथ्यात्व सम्बन्धी प्रकृतियों का आगामी बंध भी नहीं होता।** ऐसा लिया है। पहले साधारण राग कहा परन्तु उसका स्वामी नहीं, इसलिए मिथ्यात्व का बन्ध उसे भविष्य में नहीं है। अस्थिरता का बन्ध, वह बन्ध... बात है। कहो, समझ में आया ?

गाथा–८

अब कहते हैं कि जो दर्शनभ्रष्ट हैं तथा ज्ञानचारित्र से भ्रष्ट हैं, वे स्वयं तो भ्रष्ट हैं ही, परन्तु दूसरों को भी भ्रष्ट करते हैं, यह अनर्थ है –

जे दंसणेसु भट्ठा णाणे भट्ठा चरित्तभट्ठा य।
एदे भट्ठ वि भट्ठा सेसं पि जणं विणासंति।।८।।

ये दर्शनेषु भ्रष्टाः ज्ञाने भ्रष्टाः चारित्रभ्रष्टाः च।
एते भ्रष्टात् अपि भ्रष्टाः शेषं अपि जनं विनाशयंति।।८।।

जो भ्रष्ट–दर्शन ज्ञान–भ्रष्ट चारित्र–भ्रष्ट रहें सदा।
वे भ्रष्ट से भी भ्रष्ट करते अन्य को भी नष्ट हा!।।८।।

अर्थ – जो पुरुष दर्शन में भ्रष्ट हैं तथा ज्ञान–चारित्र में भी भ्रष्ट हैं, वे पुरुष भ्रष्टों में भी विशेष भ्रष्ट हैं। कई तो दर्शन सहित हैं, किन्तु ज्ञान–चारित्र उनके नहीं है तथा कई अंतरंग दर्शन से भ्रष्ट हैं तथापि ज्ञान–चारित्र का भलीभांति पालन करते हैं और जो दर्शन–ज्ञान–चारित्र इन तीनों से भ्रष्ट हैं, वे तो अत्यन्त भ्रष्ट हैं; वे स्वयं तो भ्रष्ट हैं ही, परन्तु शेष अर्थात् अपने अतिरिक्त अन्य जनों को भी नष्ट/भ्रष्ट करते हैं।

भावार्थ – यहाँ सामान्य वचन है, इसलिए ऐसा भी आशय सूचित करता है कि सत्यार्थ श्रद्धान, ज्ञान, चारित्र तो दूर ही रहा, जो अपने मत की श्रद्धा, ज्ञान, आचरण से भी भ्रष्ट हैं, वे तो निरर्गल स्वेच्छाचारी हैं। वे स्वयं भ्रष्ट हैं, उसीप्रकार अन्य लोगों को उपदेशादिक द्वारा भ्रष्ट करते हैं तथा उनकी प्रवृत्ति देखकर लोग स्वयमेव भ्रष्ट होते हैं, इसलिए ऐसे तीव्रकषायी निषिद्ध हैं; उनकी संगति करना भी उचित नहीं है।।८।।

गाथा–८ पर प्रवचन

अब कहते हैं कि जो दर्शनभ्रष्ट हैं तथा ज्ञान–चारित्र से भ्रष्ट हैं,... जो कोई समकित से भ्रष्ट है, वह तो ज्ञान और चारित्र से भी भ्रष्ट है। जैनशासन सर्वज्ञ परमात्मा ने कहा हुआ निर्ग्रन्थमार्ग, दिगम्बर मुद्रा, वीतरागभाववाला निर्ग्रन्थ तत्त्व, उससे जो भ्रष्ट हैं,

वे तो ज्ञान और चारित्र सबसे भ्रष्ट हैं। उनका ज्ञान भी सच्चा नहीं होता, उनका चारित्र भी सच्चा नहीं होता। भारी कठिन काम है। **वे स्वयं तो भ्रष्ट हैं ही, परन्तु दूसरों को भी भ्रष्ट करते हैं,...** विपरीत श्रद्धा, विपरीत प्ररूपणा करके दूसरे को भी यह लगा दे। यह मार्ग है, ऐसा मार्ग है, पंचम काल में भी ऐसा मार्ग है। चौथे काल की बातें करना पंचम काल में ? और ऐसा कहे। पंचम, चौथे की बात ही कहाँ है ? यह तो आत्मा की बात है। उसे काल-बाल कहाँ बाधक था ? शुद्धोपयोगी की ही बात करते हैं, चौथे काल की, ऐसा कहते हैं। पंचम काल में जो शुभभाव की बात करे, वह तो करते ही नहीं। उससे लाभ होता है, ऐसा। आहाहा !

यहाँ तो कहते हैं, जो कोई दर्शन से भ्रष्ट है, वह ज्ञान, चारित्र से भी भ्रष्ट ही है। उसका ज्ञान भी भ्रष्ट और उसका चारित्र भी झूठा है। **वे स्वयं तो भ्रष्ट हैं ही, परन्तु दूसरों को भी भ्रष्ट करते हैं, यह अनर्थ है...** आहाहा ! यह विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)

नोट : गाथा ८ से १० तक के प्रवचन १९७०-७१ के वर्ष में उपलब्ध नहीं होने से यह प्रवचन सन् १९७३ के वर्ष में से लिये गये हैं। वहाँ के धारावाही प्रवचन नम्बर १७ तथा १८ हैं।

प्रवचन-११-ए गाथा-८ बुधवार, असोज शुक्ल ७, दिनांक ०३-१०-१९७३

यह अष्टपाहुड़, इसमें दर्शनपाहुड़, पहला अधिकार। **अब कहते हैं कि जो दर्शनभ्रष्ट हैं...** उपोद्घात है न ऊपर ? **ज्ञानचारित्र से भ्रष्ट हैं, वे स्वयं तो भ्रष्ट हैं ही, परन्तु दूसरों को भी भ्रष्ट करते हैं, यह अनर्थ है...** पहली तो यह बात है, इस अष्टपाहुड़ में, दर्शनपाहुड़ अर्थात् आत्मा सम्यग्दर्शनसहित आत्मा शुद्ध अखण्ड अभेद की अनुभूतिसहित प्रतीति और उसके स्वरूप का चारित्र-आचरण अर्थात् दर्शन, ज्ञान और चारित्र तीन, उनकी भूमिका के योग्य उस अट्ठाईस मूलगुण, पंच महाव्रत, अचेल आदि अट्ठाईस

मूलगुण का विकल्प राग और नग्नपना, ये तीन होकर जैनदर्शन कहलाता है। भगवान का यह अभिप्राय है। जो सम्यग्दर्शन आत्मा का और उसका ज्ञान और उसका चारित्र और उसके साथ अट्ठाईस मूलगुण व्यवहार से जो वीतराग ने कहे, ऐसा उसे विकल्प होता है और शरीर की नग्न दशा (होती है), उसे जैनदर्शन कहते हैं। सोमचन्दभाई!

मुमुक्षु : सम्यग्दर्शन, वह जीव नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह जीव, जीव की दशा। जीव, उसकी दशा और राग तथा नग्नपना, उसे जैनदर्शन कहते हैं, उसे जैनमत कहते हैं। मणिभाई!

जिसे मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शन ज्ञान, चारित्र तीनों जिसे प्रगट हुए हैं और जिसे अट्ठाईस मूलगुण का, पाँच महाव्रत आदि का विकल्प है, उस भूमिका के योग्य और नग्नमुद्रा वह धर्म की मूर्ति है और वह जैनदर्शन है और वह जैन का मत है। मणिभाई!

मुमुक्षु : मत अर्थात्?

पूज्य गुरुदेवश्री : अभिप्राय। वीतराग का अभिप्राय। ये तीन वस्तु होकर जैनदर्शन है। समझ में आया? क्योंकि मूल तो ऐसा जो स्वरूप अनादि का था, उसमें से दुष्काल में भ्रष्ट हुए, उनके सामने यह बात है। बाबूभाई! आहाहा!

जिसे आत्मा अखण्ड पूर्णानन्द प्रभु, जो सर्वज्ञ परमेश्वर ने कहा ऐसा आत्मा; अन्यमति ने कहा, वह आत्मा ऐसा नहीं। ऐसा जो आत्मा अन्दर में स्वसन्मुख होकर निर्विकल्प सम्यग्दर्शन की दशा (होती है) और वह आत्मा ऐसा, उसका ज्ञान और उस आत्मा में रमणता की वीतरागचारित्रदशा, वह जैनदर्शन अथवा वह निश्चयमोक्षमार्ग अथवा वह जिनमत, उसे जैनमत कहा है। उसके साथ उसे अट्ठाईस मूलगुण आदि व्यवहार होता है, ऐसा भी व्यवहार होता है और जिसकी नग्नदशा होती है। अभ्यन्तर त्याग, बाह्य त्याग और अशुभ का त्याग और नग्नदशा, इसे यहाँ जैनदर्शन कहते हैं। मणिभाई! अकेले समकित को नहीं। यहाँ तो जैनदर्शन अर्थात् यह। इसकी श्रद्धा से जो भ्रष्ट हुए, ऐसा जो मार्ग अनादि का सनातन सत्य, उससे भ्रष्ट हुए और वस्त्र आदि रखकर मुनिपना मनवाने लगे, वे दर्शन से भ्रष्ट, ज्ञान से भ्रष्ट, चारित्र से भ्रष्ट, सबसे भ्रष्ट हैं। नवनीतभाई! ऐसा है। लोगों को कठिन लगता है। यह कहते हैं।

जे दंसणेसु भट्टा णाणे भट्टा चरित्तभट्टा य।
एदे भट्ट वि भट्टा सेसं पि जणं विणासंति।।८।।

अर्थ – **जो पुरुष दर्शन में भ्रष्ट हैं...** इसके दो अर्थ। ऐसा जो जैनमत अनादि का मोक्ष का मार्ग और व्यवहार तथा निमित्त ऐसा होता है, ऐसे मार्ग से जो भ्रष्ट हुए और अन्दर के स्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन (हो), उससे जो भ्रष्ट हैं, वे भ्रष्ट हैं। समझ में आया? **तथा ज्ञान-चारित्र में भी भ्रष्ट हैं, वे पुरुष भ्रष्टों में भी विशेष भ्रष्ट हैं।** आहाहा! अर्थ में थोड़ा लेंगे। ऐसा जो जैनदर्शन है, उससे तो श्रद्धा में भ्रष्ट हुए, परन्तु अपने माने हुए शास्त्र प्रमाण भी ज्ञान और चारित्र नहीं है, उनका माना हुआ, भाई! अर्थ में यह लिखा है। अर्थ में है न? **सत्यार्थ श्रद्धान, ज्ञान, चारित्र तो दूर ही रहा, जो अपने मत की श्रद्धा, ज्ञान,...** सामान्य बात है न, इसलिए उसमें से निकाला है। उनके मत प्रमाण उनका जो चारित्र कहलाता है, उससे भी जो भ्रष्ट हैं। ठिकाना नहीं था, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? आहाहा! भगवान कुन्दकुन्दाचार्य हुए, उससे पहले श्वेताम्बर मत निकल गया था। उसके सामने यह बात है।

मुमुक्षु : उसकी स्पष्टता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसकी स्पष्टता है। यह वीतराग का मार्ग सनातन मोक्ष का मार्ग। अनादि जैनदर्शन। अनादि कहो या दिगम्बर दर्शन कहो, या मोक्षमार्ग कहो, निश्चय और व्यवहार तथा निमित्तपना नग्न का कहो, यह जैनदर्शन की पद्धति है। सोमचन्दभाई! इसे जैनदर्शन कहा है। अकेले समकित सहित को नहीं।

मुमुक्षु : अन्तर में से और बाह्य से दोनों।

पूज्य गुरुदेवश्री : है। हाँ, अन्तर में भी सम्यग्दर्शन, ज्ञानसहित वीतरागता प्रगट हुई है और बाह्य में उसके अट्ठाईस मूलगुण और नग्नदशा, ऐसा जिसका आचरण व्यवहार से है, ऐसा सनातन जैनदर्शन अर्थात् वस्तु का दर्शन अर्थात् पदार्थ की मर्यादा की यह दशा थी। उसमें से जो भ्रष्ट हुए और अपनी कल्पना से पन्थ चलाया, वे जैनदर्शन से भ्रष्ट हैं। यह लोगों को कठिन (लगता है)। सबके साथ एकता रखो (ऐसा कहते हैं) परन्तु एकता किस प्रकार करना?

मुमुक्षु : अन्यमति तो जैन में से भी भ्रष्ट हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो जैन में से भ्रष्ट, अन्य की तो बात भी कहाँ है ? आहाहा! यह तो सनातन सर्वज्ञ परमेश्वर ने कहा हुआ जो सन्त का मोक्ष का मार्ग, उसमें रहा हुआ व्यवहार का विकल्प और उसमें अजीव की नग्नदशा का निमित्त, यह ऐसा जैनदर्शन होता है। वह धर्म की मूर्ति, वह धर्म की मूर्ति, वह जैनदर्शन की मूर्ति! आहाहा! यह जैनदर्शन की ऐसी प्रणालिका अनादि से थी, उसमें से जो भ्रष्ट होकर अपनी कल्पना से वस्त्र-पात्रसहित साधुपना माना, मनवाया, अपनी मान्यता से आत्मा की श्रद्धा बिना व्यवहार श्रद्धा को सम्यक् मनवाया, व्यवहार देव-गुरु-शास्त्र, वे सब सत्यधर्म से भ्रष्ट हैं। आहाहा! ऐसा मार्ग अनादि का है। यह कहीं (नया नहीं है)।

यह यहाँ कहते हैं, जो ऐसे जैनदर्शन और सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं, वे तो ज्ञान और चारित्र से भी भ्रष्ट हैं क्योंकि शास्त्र की बातें... ऊपर बात आ गयी थी, शास्त्र की बातें पढ़े हुए हों, इसलिए बात तो करे, नवतत्त्व ऐसे हैं और वैसे हैं, परन्तु वह उनका ज्ञान सच्चे जैनदर्शन का स्वरूप यह था, उसमें से भ्रष्ट हुए, उनका ज्ञान भी सब मिथ्या है। समझ में आया ?

मुमुक्षु : सब ज्ञान मिथ्या ?

पूज्य गुरुदेवश्री : सब मिथ्या। एक-एक।

मुमुक्षु : ग्यारह अंग और नौ पूर्व..

पूज्य गुरुदेवश्री : ग्यारह अंग और नौ पूर्व का पठन मिथ्या। वह तो उस समय अभी था कहाँ ? उस समय था भी कहाँ ? यह तो गृहीत मिथ्यात्व की बात है। इसके पास तो था ही कहाँ तब ? कुन्दकुन्दाचार्य के समय। आहाहा! कुन्दकुन्दाचार्य पहले सौ वर्ष में यह मत पड़ गया। सनातन जैनदर्शन सर्वज्ञ वीतरागपरमात्मा ने प्रवाहरूप से जो कहा था, उस मार्ग से वहाँ बारह वर्ष के दुष्काल में भ्रष्ट हुए। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य पुकारते हैं, भाई! ऐसा मार्ग तो वीतराग का है और उसे हम जैनदर्शन कहते हैं। उसे हम धर्म की मूर्ति कहते हैं। आहाहा! अकेली नग्नदशा और अट्ठाईस मूलगुण, ऐसा नहीं तथा अकेला निश्चय और ऐसा व्यवहार न हो, ऐसा भी नहीं। आहाहा! उसे यहाँ जैनदर्शन (कहते हैं)

यह दर्शनपाहुड़ है। दर्शनपाहुड़ अर्थात् यह दर्शन। पश्चात् इसके अन्तर्भेद में सम्यग्दर्शन आता है।

ऐसा जैनदर्शन है, अनादि का सनातन वस्तु का स्वरूप है—ऐसी जिसे श्रद्धासहित स्व का आश्रय लेकर जिसे सम्यग्दर्शन हुआ है, वह सम्यग्दृष्टि है। भले उसे ज्ञान विशेष न हो, चारित्र न हो तो भी वह दर्शन से भ्रष्ट नहीं है। समझ में आया? आहाहा! ऐसा वीतराग का मार्ग है। दिगम्बर जैन में जन्मे, उन्हें भी खबर नहीं है। आहाहा! यहाँ तो सनातन अनन्त केवली महाविदेह में या यहाँ भरत-ऐरावत में अनन्त केवली ऐसा जैनदर्शन का, जैनमत का (स्वरूप वर्णन करते हैं)। पहली गाथा में यह कहा था न? '**दंसणमग्गं**' पहली गाथा। दर्शन का मार्ग। दर्शन का मार्ग यह है। समकित मार्ग, ऐसा वहाँ नहीं। पहली गाथा में है। है, पहली गाथा, देखो! पहली गाथा है न? '**दंसणमग्गं**' है न? '**दंसणमग्गं वोच्छामि**' तीसरा पद है। यह दर्शन (अर्थात्) मार्ग की बात है। अकेले समकित की नहीं। दर्शन का मार्ग कहूँगा। जैनदर्शन का अभिप्राय और मत जो है, वह हम कहेंगे। समझ में आया? दूसरी में यह लिया '**दंसणमूलो धम्मो**' धर्म का मूल दर्शन है। ऐसा दर्शन निश्चय और व्यवहारवाला, वह धर्म का मूल है। ऐसी जिसे श्रद्धा हो और वह श्रद्धा होने पर भी विशेष ज्ञान न हो, चारित्र न हो तो भी वह सम्यग्दृष्टि है। वह सम्यग्दृष्टि है, वह धर्म के पन्थ में है। समझ में आया? ऐसे धर्म से बाह्य से भी जो भ्रष्ट हुए और ऐसे मत को न स्वीकार कर अपने मत की बातें चलायीं, वे सब जैनदर्शन से विरुद्ध हैं। सोमचन्दभाई! ऐसा मार्ग है। आहाहा! वह यहाँ कहते हैं, देखो!

कई तो दर्शन सहित हैं,... है? दूसरी लाईन। सम्यग्दर्शनसहित हैं। ऐसा जैनमत है, ऐसी श्रद्धा है और आत्मा के आश्रय से दर्शन हुआ है। ऐसे दर्शनसहित हैं। **किन्तु ज्ञान-चारित्र उनके नहीं है...** विशेष ज्ञान, ऐसे समझाने की शक्ति, ऐसा न हो। क्षयोपशम ज्ञान विशेष न हो, परन्तु वह सम्यग्दर्शनसहित है। ऐसा जो जैनमत अनादि का है, उसे मानता है और उसका ज्ञान रखकर स्व का आश्रय करके जो सम्यग्दर्शन हुआ है, वह जीव भले दर्शनसहित हो और ज्ञानरहित हो। ज्ञानरहित का अर्थ विशेष ज्ञान न हो और चारित्र भी न हो तो भी वह दर्शनसहित तो है। बाबूभाई! इन्होंने ऐसा लिया है न! पूरी शैली (ऐसी है)।

वैसे तो दर्शनपाहुड़ अर्थात् समकितपाहुड, सूत्रपाहुड़ अर्थात् ज्ञानपाहुड़ ऐसे चारित्र ले परन्तु यहाँ, कुन्दकुन्दाचार्य का यह हृदय है। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य जो धर्म के स्तम्भ, तीसरे नम्बर में आये—मंगलं भगवान वीरो, मंगलं गौतमोगणी... आया न? मंगलं कुन्दकुन्दार्यो। वे स्वयं फरमाते हैं, ओहो! ऐसा जो जैन का अभिप्राय और मत था कि चैतन्य भगवान के आश्रय से दर्शन, उसके आश्रय से ज्ञान और उसके आश्रय से लीनता और यहाँ पूर्ण वीतराग सर्वज्ञ नहीं हुए, इसलिए साधक जीव को... रमणीकभाई!

यह अट्ठाईस मूलगुण कर्मचेतना है। इसका प्रश्न सवेरे हुआ था। ज्ञानचेतना है और जितना राग है, वह कर्मचेतना है और जितना राग है, उतना कर्मफलचेतना—दु:ख का वेदन भी है। सवेरे रास्ते में प्रश्न था, भाई! ऐसा कहे, ज्ञानचेतना और कर्मचेतना...? दृष्टि की प्रधानता का जहाँ कथन हो, वहाँ कर्म और कर्मफलचेतना धर्मी को नहीं होती, यह स्वभाव की दृष्टि की अपेक्षा से कथन है और उसके ज्ञान की पर्याय देखने पर, पर्यायनय से देखने पर मुनि को छठवें गुणस्थान में भी पंच महाव्रत के विकल्प हैं, उतनी कर्मचेतना है और उसे-दु:ख को वेदते हैं, उतनी कर्मफलचेतना है। आहाहा!

कर्मचेतना और कर्मफलचेतना के भी दो प्रकार हैं। एक तो आनन्दमूर्ति परमात्मा स्वयं है, उसका जो शुद्धोपयोग हुआ, वह शुद्धकर्मचेतना। वह शुद्धकर्मचेतना है। शुद्ध परिणाम हुए न? सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की वीतराग परिणति हुई, वह शुद्धकर्मचेतना, शुद्धकर्मचेतना है। वीतरागी परिणामरूपी कार्य में चेता है और उस समय आनन्द का वेदन है, उतनी शुद्धकर्मफलचेतना है। धीरुभाई!

मुमुक्षु : कार्य है कर्मचेतना?

पूज्य गुरुदेवश्री : कार्य - कर्म है न, उतना राग है न? और यह शुद्ध भी कार्य है न? यह तो वीतरागमार्ग, बापू! यह तो कहीं साधारण बात नहीं है। दिगम्बर दर्शन, वह कहीं कल्पित नहीं है, वह कहीं पक्ष नहीं है, वस्तु की यह स्थिति है। समझ में आया? वस्तु का प्रकार ही ऐसा है। उसे यहाँ दिगम्बर दर्शन कहते हैं, उसे यहाँ जैनदर्शन कहते हैं। समझ में आया? क्या आया?

यह आत्मा अपनी श्रद्धा-ज्ञान और शान्ति का जो परिणमन है, वह परिणमन का

कार्य है। कार्य है, इसलिए उसे शुद्धकर्मचेतना कहा गया है और उस कर्मचेतना के काल में उस शुद्ध के आनन्द का वेदन है, इसलिए शुद्ध कार्यचेतना का फल शुद्ध आनन्द का वेदन भी उसे है। वह कर्मफलचेतनावन्त है। अब उस समय जो पंच महाव्रत आदि के परिणाम हों या समकिती को नीचे तीव्र रागादि हों तो वे उसे अशुद्धकर्मचेतना है और जितनी अशुद्धता है, उतना उसे वेदन है, दु:ख है।

मुमुक्षु : शुभभाव है इसलिए...

पूज्य गुरुदेवश्री : शुभभाव, वह अशुद्धचेतना है और उसका फल दु:ख है। समझ में आया ? जितना शुभभाव है, उतनी अशुद्धचेतना है। अशुद्धचेतना कर्मचेतना और उतना उसे दु:ख का वेदन है।

मुमुक्षु : दु:ख का वेदन भासित होता है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों साथ ही हैं, ज्ञान दोनों को जानता है। दर्शन की मुख्यता से कथन हो, तब तो स्वभाव का साधन है, ऐसा बताते हैं। तब उसे कर्म और कर्मफलचेतना नहीं है, ऐसा बताते हैं परन्तु वापिस ज्ञाननय से-पर्यायनय से बतावे, तब जितने अंश में राग है और जितने अंश में राग का फल दु:ख है, वह उसमें है। आहाहा! ऐसा वीतरागमार्ग बहुत सूक्ष्म! लोगों को हाथ में नहीं आया और बाहर में भटकाभटक (करते हैं)। आहाहा! शान्तिभाई! यह तो तुम्हारा प्रश्न था, उसके ऊपर से यह सब चला है। कपिल कोटडिया के साथ इन्हें चर्चा हुई होगी। ऐसा कि ज्ञानचेतना न हो, तब तो विकल्प है। वह सब कर्मचेतना ही समकिती को होती है। मिथ्या बात है। धर्मी को ज्ञानचेतना उपयोगरूप न हो, अलग बात है परन्तु ज्ञान का अन्दर वेदन है, ऐसी ज्ञानचेतना तो निरन्तर होती है। आहाहा! धर्मी युद्ध में खड़ा हो या विषय की वासना के काल में खड़ा हो, तथापि उसे ज्ञानचेतना तो निरन्तर है।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं। झूठ बात है, खोटी बात है। उसे कहाँ खबर है। निर्विकल्पदशा के समय तो उपयोगरूपी ज्ञानचेतना है और सविकल्प में आया, तब लब्धरूप ज्ञानचेतना है। समझ में आया ? ऐसा मार्ग है, बापू! आहाहा! दिगम्बर सन्तों ने

तो सत्य जैसा केवली का कहा हुआ था, उसे जगत को प्रसिद्ध किया है। दुनिया को जँचे, न जँचे, स्वतन्त्र चीज़ है। आहाहा! अरे! ऐसे मनुष्यकाल के भव में ऐसी बात इसे सुलटी नहीं जँचे तो कहाँ जँचायेगा? कहाँ जाएगा? किस काल में (जाएगा)? भाई! आहाहा!

एक डिब्बा में कल देखा, भाई! एक कणी रह गयी थी। पेड़ा का कण अन्दर (रह गया होगा) उसमें दो-तीन ईयल पड़ी। कौने में पड़ी रही।... अब ऊपर सब था... टीकड़ी कहलाती है न? पीपरमेंट। टीकड़ी नहीं आती? पीपर, इतनी-इतनी सफेद, लाल। ऐसी सौ-डेढ़ सौ टीकड़ी ऊपर पड़ी थी। वे ऐसे बाहर निकाली, वहाँ कौने में एक पतली ईयल, पतली डोरा जैसी... ओहोहो! ऊपर डिब्बा बन्द। किस योनि में उपजा! आहाहा! उसे श्वास लेने का क्या स्थान? किस प्रकार... आहाहा! डिब्बा इतना आता है न? कल डिब्बे बाँटे थे न? वहाँ दो-तीन पड़े होंगे। उसमें लड़कों के लिये दे जाते हैं न, अन्दर साफ नहीं हुआ होगा, कौने में पड़े रहे इसलिए। उसमें इतनी पतली-पतली डोरे जैसी लाल लट। बारीक बैठी हुई। आहाहा! कहाँ से आत्मा वहाँ आया? और इतने लट में भी पूर्णानन्द प्रभु वस्तुस्वभाव से तो पूर्ण है, हों! उसकी पर्याय में इतनी हीनता कि वहाँ कौने में इतना टुकड़ा रह गया होगा, उसके ऊपर दूसरी चीज़ आ गयी, वहाँ उत्पन्न हुई। आहाहा! देखो न! सहज ही। कौन ईश्वर, कौन करे और कहाँ है? आहाहा! इस प्रकार जहाँ लिया, वहाँ अन्दर हलन-चलन किया। भाई ने कहा, नहीं? ....कहा न? दूसरे ने कहा, लट है। ओहोहो! भगवान! कहाँ तेरी अवस्था? किस जगह उत्पन्न हुआ यह? सिर पर इतना बोझा। इसने नहीं दबाया हो। सिर पर इतनी (जगह) होती है न? इसलिए उसके बीच पोल रह गयी हो एक कौने में? आहाहा! किसका इसमें अभिमान करना? आहाहा! ऐसी दशाओं में अनन्त बार गया, भगवान! ऐसी स्थिति में अनन्त बार गया। यह मिथ्यात्व का फल है। यह सब मिथ्यात्व का फल है।

यह यहाँ परमात्मा कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं, भगवान! जो कोई दर्शन से भ्रष्ट है, वह तो ज्ञान और चारित्र दोनों से भ्रष्ट है परन्तु कोई दर्शन से भ्रष्ट नहीं, उससे सहित है और जैनदर्शन का जो यह स्वरूप है, ऐसा मोक्षमार्ग, उसे वह मानता है, भले उसे ज्ञान और चारित्र विशेष न हो तो वह दर्शनभ्रष्ट नहीं है, वह मार्ग में है। आहाहा! नवरंगभाई! 'ऐसा मार्ग वीतराग का कहा श्री वीतराग।' तीन लोक के नाथ के मुख से ऐसा निकला, भाई!

आहाहा! अरे! इसे खबर भी नहीं होती कि वीतराग का मार्ग क्या है। खबर बिना उसकी श्रद्धा कहाँ से आयेगी। समझ में आया?

आहाहा! देखो तो सही! तीन लोक का नाथ अन्दर परमात्मस्वरूप शक्ति है। क्षेत्र भले छोटा हो, उसके साथ सम्बन्ध नहीं है। उसका अन्तरभाव अनन्त आनन्द और अनन्त ज्ञान का सत्त्व है। वह जीव का सत् का वह पूर्ण सत्त्व है। आहाहा! उसकी पर्याय में इतनी हीनता कि ऐसे लट जैसी योनि में कहाँ जाकर उत्पन्न हुआ! आहाहा! यह चौरासी में उपजना अनन्त बार मिथ्यात्व के कारण हुआ है। शास्त्र का ज्ञान भी किया। व्रत और नियम ऐसे पालन किये कि चमड़ी उतारकर नमक छिड़के (तो भी) क्रोध न करे। उससे क्या हुआ? वह कहीं मूल चीज़ नहीं है। आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं। पहले तो यह कहा, दर्शन से भ्रष्ट है वह तो ज्ञान और चारित्र तीनों से भ्रष्ट है। अब, **कई तो दर्शन सहित हैं,...** ऐसा जैनदर्शन का मार्ग है, ऐसी उसे श्रद्धा है और तदुपरान्त स्व के आश्रय से सम्यक्त्व प्रगट हुआ है। समझ में आया? आहाहा! **ज्ञान–चारित्र उनके नहीं है...** ज्ञान ऐसा विशेष न हो कि सबको समझा सके या विस्तार कर सके, न हो। अन्तर आत्मा का दर्शन हुआ है। आहाहा! और चारित्र न हो। अभी चारित्र–वीतरागता जो चाहिए, छठवें (सातवें गुणस्थान) की मुनि की, ऐसी दशा न हो। स्वरूपाचरण हो। समझ में आया?

तथा कई अंतरंग दर्शन से भ्रष्ट हैं... कितने ही तो अन्तर श्रद्धा से भ्रष्ट हैं। ऐसा जैनमत है और ऐसा सम्यग्दर्शन आत्मा के आश्रय से होता है, उससे भ्रष्ट हैं। **तथापि ज्ञान–चारित्र का भलीभांति पालन करते हैं...** शास्त्र का ज्ञान और व्रतादि के नियम भलीभाँति पालन करते हैं। समझ में आया? आहाहा! यह दर्शन की महिमा तो देखो! यह दर्शन न हो, भ्रष्ट हुआ हो, जैनमत में रहे हुए भी अन्दर भ्रष्ट हुए हों। वे ज्ञान–चारित्र पालते हों, व्रत और नियम और शास्त्र का ज्ञान (होवे) तो भी वे भ्रष्ट ही हैं।

और जो दर्शन–ज्ञान–चारित्र इन तीनों से भ्रष्ट हैं,... दर्शन से भ्रष्ट, ज्ञान से भ्रष्ट, चारित्र से भ्रष्ट। आहाहा! **वे तो अत्यन्त भ्रष्ट हैं;...** गजब बात, भाई! आहाहा!

मुमुक्षु : हमारे लिये क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह पहिचान करके श्रद्धा करना, यह तुम्हारे लिये यह है।

मुमुक्षु : आपकी श्रद्धा तो हमको है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह श्रद्धा नहीं, अन्तर की श्रद्धा। यह क्या कहा? कहा न? **अंतरंग दर्शन से भ्रष्ट हैं...** ऐसा कहा न। आहाहा! यह उलझन की बात नहीं है। यह तो ऐसा मार्ग है, (ऐसा वर्णन करते हैं)। पूर्णानन्द प्रभु पर्याय में ऐसा होता है। अशुद्धता, अशुद्ध राग, अशुद्ध का वेदन, वह तो ज्ञान को भी होता है परन्तु ज्ञानी को आत्मा के भानसहित ज्ञानचेतना में ऐसा होता है। अज्ञानी को अकेला राग और राग के दुःख का फल का वेदन है। अकेला राग का कार्य और राग का वेदन अज्ञानी को है। केवलज्ञानी को अकेला ज्ञान और आनन्द का वेदन है, अशुद्धता का कार्य और अशुद्धता का वेदन केवली को नहीं है। वह थोड़ा सा अशुद्ध है, यह बात अलग है। ज्ञान तो जानता है। अभी केवली को भी योग कम्पन की थोड़ी सी अशुद्धता रही है न? उसे ज्ञान जानता अवश्य है। दूसरे की बात। वे तो केवली हैं। दूसरे को उतनी अशुद्धता है। आहाहा! और चौदहवें गुणस्थान में भी अभी अशुद्धता का अंश है, इसलिए उन्हें असिद्ध कहा है। असिद्ध / संसारी कहा है। आहाहा! इतना अशुद्ध अंश है न? यह तो त्रिकाल सर्वज्ञ से कहा हुआ मार्ग है। एक समय-समय के पहलू की नाड़ी पकड़ी है। आहाहा! अरे! ऐसी बातें सुनने में कहाँ है? आहाहा! ऐसा मार्ग भगवान का है। भगवान का अर्थात् कि तेरा। तेरा मार्ग ही ऐसा है। आहाहा!

वे स्वयं तो भ्रष्ट हैं ही, परन्तु शेष अर्थात् अपने अतिरिक्त अन्य जनों को भी नष्ट/भ्रष्ट करते हैं। ऐसी प्ररूपणा करके, श्रद्धा करके दूसरे जीवों को भ्रष्ट करते हैं। भ्रष्ट तो उसके कारण वह होता है, (परन्तु) व्यवहार से कहा जाता है न। आहाहा! स्वयं का वेश खोटा, नग्नपना न हो, सम्यग्दर्शन-ज्ञान न हो और यह भी एक मार्ग है। पंचम काल में उग्र पालन न कर सके तो यह भी एक मार्ग है, ऐसा करके स्वयं भ्रष्ट (हुए हैं) और दूसरों को भ्रष्ट करते हैं। आहाहा!

जनों को भी नष्ट/भ्रष्ट करते हैं। बड़ी विद्वत्ता सीखे हों, शास्त्र तो पढ़े हों, क्षयोपशम हो। (इसलिए कहे), ऐसा भी मार्ग है, यह भी मार्ग है। यह शुभराग भी शुद्धता का कारण है। क्षयोपशम ज्ञान, वह क्षायिक का कारण है, उससे क्षायिक होगा, ऐसा कहते

हैं। श्वेताम्बर में ऐसा कहते हैं। शुभभाव आदि क्षयोपशम भाव है, उससे क्षायिक होगा। अरे रे! समझ में आया? यह दिगम्बर जैन में भी ऐसा मानते हैं, वहाँ (दूसरे का) प्रश्न क्या? आहाहा! जो राग पृथक् है, दोष है, उससे निर्दोषता हो, वह जैनदर्शन नहीं है। होता अवश्य है; जब तक वीतरागता न हो, तब तक सन्तों को, धर्मी को, ज्ञानी को भी भक्ति का भाव, पूजा का भाव, दया का भाव, व्रत का भाव होता अवश्य है।

मुमुक्षु : उसे परम्परा कारण कहा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : परम्परा कारण वह तो उसे अशुभ टला है और इसे (शुभ को) टालेगा। यह कारण नहीं होता। आहाहा! ऐसा मार्ग है, भाई! सम्यग्दृष्टि को शुभभाव में अशुभ टला है और अब वह शुभ को टालकर शुद्ध में जाएगा, उसे परम्परा कहा है। अकेले मिथ्यादृष्टि को शुभ परम्परा कहाँ था? वह तो वहीं पड़ा है। आहाहा! वीतराग मार्ग परमेश्वर जिनेन्द्रदेव के भाव समझना बहुत कठिन है। वहाँ बहुत पुरुषार्थ है, यह कोई साधारण बात नहीं है। बाहर का पैसा-वैसा करोड़ों और लाखों पूर्व के पुण्य के कारण दिखायी दे, वहाँ कोई चतुराई काम नहीं करती। ऐसा होगा या नहीं? मणिभाई! बाह्य पैसा में चतुराई काम करे?

मुमुक्षु : कुछ नहीं करे।

पूज्य गुरुदेवश्री : कुछ धूल भी नहीं करे। इसके ससुर का मिला तो वहाँ कहाँ चतुराई थी?

मुमुक्षु : लोगों में तो चतुराई की छाप पड़ती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : लोग तो मूर्ख-पागल हैं। चतुर कहलाते हैं। सोमचन्दभाई के जाम्बूडी के मालिक। लो! ऐसा कोई कल कहता था। जैसे वह बामणवाड़ावाले, चन्दुभाई। ऐसा कोई कल कहता था। बामणवाला नहीं? चन्दुभाई। नरम व्यक्ति है। गाँव में सोमचन्दभाई की छाप ऐसी है।

मुमुक्षु : दस गाँव के....

पूज्य गुरुदेवश्री : देखो, यह कहते हैं। वह कुछ महिमा भी नहीं और वह कुछ अधिकता नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : वह साधन होवे तो यहाँ आया जाए न।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी साधन नहीं है। आया क्या जाए? साधन तो अन्तर के स्वभाव की शुद्ध पर्याय प्रगट हो, वह साधन है। आहाहा! उसकी श्रद्धा में तो निर्णय करे। आहाहा! पहले ऐसे बीज तो बोये। आहाहा!

मुमुक्षु : इस बीज का वृक्ष कितना बढ़े?

पूज्य गुरुदेवश्री : वृक्ष वह तो इसकी दृष्टि के प्रमाण में (मिले)। इसकी दृष्टि का कैसा कहाँ सन्मुख का जोर कितना है? परन्तु यह तो बीज बोया, वह फलेगा ही, यहाँ तो एक ही बात है। आहाहा!

मुमुक्षु: कितने वर्ष में।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कुछ वर्ष-वर्ष नहीं। यह तो फलेगा ही। जिसे चैतन्य शुद्ध आनन्द की जहाँ रुचि हुई, फले बिना रहेगा ही नहीं, उसे अनुभव होगा, केवलज्ञान लेगा। अल्प काल में लेगा ही। आहाहा! समझ में आया? इसकी स्वयं की साक्षी आना चाहिए न? समझ में आया? अहो! ऐसा निर्मल प्रभु का मार्ग, उसे लोगों ने यह क्रिया करो और यह क्रिया करो, इससे होगा (ऐसी प्ररूपणा करके) वीतरागमार्ग को भ्रष्ट कर दिया। यद्यपि मार्ग है, वह मार्ग है, उसे कहीं कलंक नहीं लगता, परन्तु माननेवालों ने स्वयं को कलंक लगाया। आहाहा!

भावार्थ ह्न यहाँ सामान्य वचन है,... सामान्य वचन अर्थात् समझे न? दर्शन, ज्ञान, चारित्र से भ्रष्ट। **इसलिए ऐसा भी आशय सूचित करता है कि सत्यार्थ श्रद्धान,..** सच्ची श्रद्धा, सच्चा ज्ञान, सच्चा चारित्र **तो दूर ही रहा,...** सच्चा सम्यग्दर्शन, सच्चा सम्यग्ज्ञान, सच्चा चारित्र, वह तो एक ओर रहो परन्तु **जो अपने मत की श्रद्धा, ज्ञान, आचरण से भी भ्रष्ट हैं,...** परन्तु उन्होंने माना हुआ भाव है, उसके चारित्र के वर्तन का, उसमें जो लेख है, उससे भी वे भ्रष्ट हैं। तब बहुत पोल चलती थी। उसमें भी। करणानुयोग का ज्ञान हो तो अध:कर्मी दोष लगता नहीं। यह क्या कहते हैं?

मुमुक्षु : वह तो मूल गाथा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : है न, परन्तु वस्तु यह है। ऐसा भ्रष्ट कहाँ से लाये? इसलिए यह

कहते हैं, उन्होंने माना हुआ। जैनदर्शन से आगे निकल गये, भ्रष्ट हुए, उनका माना हुआ प्रमाणज्ञान और चारित्र का भी ठिकाना नहीं है। तब ऐसे भी थे न! ऐई! भाई ने नहीं लिखा?

मोक्षमार्गप्रकाशक में पाँचवें अध्याय में आता है। उनके कहे हुए शास्त्रप्रमाण उनका वर्तन कहाँ है? यह आता है, भाई! पाँचवें अध्याय में आता है। स्थानकवासी, मन्दिरमार्गी जैन का जहाँ लिया है, (वहाँ आता है)। उनमें कहे प्रमाण वर्तन कहाँ है, वह यह बात कहना चाहते हैं। समझ में आया? ऐसा जैनदर्शन, वीतरागमार्ग, दिगम्बर मार्ग उससे तो भ्रष्ट हुए परन्तु उसमें कहे हुए उनके प्रमाण में भी व्रत से भ्रष्ट हैं। उनका भी कहाँ ठिकाना है। आहाहा! उनके लिए बनाया हुआ आहार ले, अध:कर्मी ले, उद्देशिक ले और...

मुमुक्षु : उस प्रकार का द्रव्यानुयोग का ज्ञान है न।

पूज्य गुरुदेवश्री : ज्ञान धूल में भी (नहीं)। समकिती को द्रव्यानुयोग का ज्ञान नहीं? मुनि होवे उसे तत्त्व का ज्ञान नहीं? तत्त्वज्ञान बिना कौन जीव होगा? चौथे, पाँचवें, छठवें (गुणस्थान में)? उसे नहीं चलता। उसके लिए कण भी बनाया हो, चौका करके (बनाया हो) बिल्कुल मार्ग नहीं है। जैन नहीं है। हरजीवनभाई!

मुमुक्षु : श्रावक जैसे मुनि होते हैं न।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा होगा? नहीं, नहीं, नहीं। श्रावक तो अपनी श्रद्धा-दृष्टि रख सकता है। यह कहा है वहाँ मोक्षमार्गप्रकाशक में। वह यही प्रश्न है परन्तु श्रावक तो हो सकता है। चारित्र न हो, व्रत न हो, अष्ट मूलगुण हो और समकित हो तो श्रावक हो सकता है। आहाहा! मुनिपना ऐसा नहीं हो सकता। आहाहा! है न, उसमें यह तो उसमें लिखा है न, मोक्षमार्गप्रकाशक में लिखा है। टोडरमलजी ने सबकी नाड़ी पकड़ी है।

मुमुक्षु : अध्यात्म की...

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, बहुत जोरदार काम किया है! ओहोहो! पूरा हुआ होता, तब तो... परन्तु इसमें भी मूल रकम तो सब आ गयी है। सबकी नाड़ी पकड़ी है। तेरी नाड़ी ऐसे मन्द चलती है। आहाहा! दिगम्बर सनातन सत्य में आये हुए और संस्कारी जीव (थे)। सत्यश्रद्धा, वीतराग का सर्वज्ञ का जो मार्ग... आत्मा का मार्ग है, वह सर्वज्ञ का मार्ग

है। आहाहा! ऐसे मार्ग से तो भ्रष्ट हुए परन्तु उनके अपने माने हुए शास्त्र और उनके आधार से वे भ्रष्ट हैं। उनके व्रत के पालन का भी कहाँ ठिकाना है, ऐसा कहते हैं। ऐई! चेतनजी! आहाहा! किसी के लिये नहीं, बापू! किसी के पक्ष का विरोध करके निन्दा करना, ऐसा नहीं। यह वस्तु का स्वरूप है। समझ में आया? मार्ग ही ऐसा है, वहाँ दूसरा क्या हो?

मुमुक्षु : उदय सुख का कारण है? पंचम काल है न प्रभु?

पूज्य गुरुदेवश्री : सुख-दुःख कुछ नहीं। पंचम काल अर्थात् क्या? हलुवे में आटे की जगह किसी ने धूल डाली? यह पंचम काल है। घी के बदले पेशाब डाला किसी ने? गुड़ के बदले कीचड़ डाला किसी ने? यह पंचम काल का हलुवा है। चौथे काल के हलुवे में मिठास में अन्तर होगा परन्तु वस्तु में अन्तर नहीं होता। मार्ग ऐसा है। आहाहा! कहा था न?

एक व्यक्ति ने पूछा था कि इस उद्देशिक आहार का स्पष्टीकरण होवे तो बहुत अच्छा हो। ऐसा स्पष्टीकरण पूछा उद्देशिक आहार। उनका कहने का आशय ऐसा था कि श्रावक बनावे और उसमें कुछ कहने का नहीं तो उसे दोष नहीं लगता, ऐसा होवे तो बहुत समाधान हो। मैंने कहा, अभी परमात्मा का विरह पड़ा है और उनके पीछे ऐसा किया, बापू! यह शोभा नहीं देता, भाई! श्रावक क्षुल्लक के लिये, साधु के लिये यह चौका करते हैं न? उसमें कहीं ऐसा होवे तो बहुत अच्छा हो जाए। यह दोष उसे न लगे। क्योंकि वह तो गृहस्थ करता है न! बिल्कुल खोटी बात है, बापू! आहाहा! द्रव्यलिंगी क्षुल्लक भी नहीं, बापू! द्रव्यलिंगी साधु तो नहीं परन्तु द्रव्यलिंगी क्षुल्लक भी मैं नहीं मानता। वे क्षुल्लक थे, वहाँ सुनते थे। किसी के लिये-व्यक्ति के लिये हमारा कुछ नहीं है। वस्तु की यह स्थिति है। भगवान के विरह में, केवली परमात्मा के विरह में उसे बदल डालना, दूसरा रूप देना- ऐसा नहीं होता। भाई! समझ में आया? चारित्र न पलता हो तो चारित्र नहीं है, ऐसा मानना परन्तु चारित्र न पलता हो और चारित्र है, ऐसा मानना, (वह तो मिथ्यात्व है)। आहाहा! समझ में आया?

यहाँ तो यह कहते हैं **सत्यार्थ श्रद्धान, ज्ञान, चारित्र तो दूर ही रहा, जो अपने मत की श्रद्धा, ज्ञान, आचरण से भी भ्रष्ट हैं, वे तो निरर्गल स्वेच्छाचारी हैं।** देखो! अपने को रुचे, उस प्रकार से चलते हैं, ऐसा कहते हैं। बहुत ऐसा चलता है, हों! **वे स्वयं**

भ्रष्ट हैं, उसीप्रकार अन्य लोगों को उपदेशादिक द्वारा भ्रष्ट करते हैं... बाहर में आचरण भी ऐसा लगे, ओहो! त्यागी हुए, हजारों रानियाँ छोड़ी, यह छोड़ा और उपदेश में भी यह आता है। उसके द्वारा दूसरों को भ्रष्ट कर डालते हैं। बड़े करोड़पति थे, अरबोंपति थे, वे साधु हुए हैं। क्या हुआ, हुए उसमें? श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र का तो ठिकाना नहीं है। क्या छोड़ा उसने? आहाहा! पहले मिथ्यात्व छोड़ना चाहिए, वह तो छोड़ा नहीं। इसकी तो उसे खबर भी नहीं कि मिथ्यात्व छूटे तो क्या होगा? आहाहा! और राग छूटे तो चारित्र की आनन्ददशा कैसी आती है? ऐसी तो खबर नहीं। समझ में आया? वह अपने बाह्य आचरण और उपदेश द्वारा स्वयं तो भ्रष्ट है, परन्तु दूसरे को भ्रष्ट करता है। आहाहा!

मुमुक्षु : गृहीत मिथ्यात्व...

पूज्य गुरुदेवश्री : वह गृहीत मिथ्यात्व ही है।

मुमुक्षु : ऐसा कहते हैं सच्चे देव को सच्चे गुरु को सच्ची मूर्ति को मानते हैं न?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं मानता। वह तो मानता ही नहीं उन्हें। वे तो सच्चे हैं, उनसे विपरीत होकर निकले, उसमें कहा हुआ भी वह नहीं मानता और आचरण नहीं करता, ऐसा कहते हैं। सच्चे देव तो अरिहन्त त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ परमात्मा, जिन्हें आहार नहीं होता, पानी नहीं होता, रोग नहीं होता। वहाँ तो रोग ठहराया है, केवली को क्षुधा, आहार-पानी ठहराया है। अरे! ऐसा देव का स्वरूप होगा?

मुमुक्षु : णमोकार मन्त्र तो दोनों का एक ही है।

पूज्य गुरुदेवश्री : णमोकार मन्त्र समान हो, शब्द में समान (होवे) उसमें क्या हुआ? भाव में बड़ा पूर्व-पश्चिम जितना अन्तर है। यह तो बौद्ध में भी नहीं आता? रामजीभाई तो बहुत बार कहते हैं। ज्ञान और समाधि, ये शब्द आते हैं परन्तु तो क्या है? हो, भाव में अन्तर है। शब्द आवें उसमें क्या हुआ? आहाहा!

यह तो णमो अरिहन्ताणं। जिसने कर्मरूपी शत्रु को जीता और जिसने जैनपना केवलज्ञान प्रगट हुआ, जिसका शरीर परमौदारिक हो गया। जिसे रोग गन्ध में नख में न हो, उसे आहार-पानी और औषध कभी नहीं होता। उसे आहार-पानी और औषध ठहराना और आहार ठहराना (उसमें तो) व्यवहार की श्रद्धा का भी ठिकाना नहीं है।

मुमुक्षु : वेदनीय कर्म का उदय..

पूज्य गुरुदेवश्री : बिल्कुल नहीं होता। वेदनीय कर्म को जला-जलाकर, बदल-बदलकर यहाँ आये हैं। असाता को टालते.. टालते.. टालते.. कितनी धारावाही करते-करते यहाँ आये हैं। ऐसी असाता उन्हें नहीं होती। भाई ! मार्ग तो यह है। उन्हें परीषह कहा है न ? परीषह तो एक उदय है, इतनी अपेक्षा से कहा है। शरीर में रोग हो, आहार लेने जाए और औषध आकर खाये, बिल्कुल केवली का स्वरूप नहीं जानते।

मुमुक्षु : परमौदारिक शरीर कहाँ रहा ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो कहते नहीं। परमौदारिक नहीं कहते। उन लोगों में परमौदारिक नहीं है। औदारिक है, यह सब अन्दर लिखा है। सुन न !

मुमुक्षु : आधा अंग... होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आधा भी नहीं होता। यह है न, खबर है न, अरे ! बापू ! यह मार्ग अलग, बापू ! तेरा तर्क वहाँ काम नहीं आता। वस्तु का स्वभाव हो, वहाँ तर्क क्या काम आवे ? आहाहा !

परम औदारिक शरीर। तीर्थंकर तो जन्मते हैं, तब से उन्हें आहार होता है, निहार नहीं होता, निहार नहीं होता। आहाहा ! तीर्थंकर किसे कहें ! जिन्हें जन्म से आहार होता है, मल-मूत्रादि नहीं होते। महापवित्रता लेकर आये हैं, पुण्य-प्रकृति लेकर आये हैं।

मुमुक्षु : उन्हें शरीर की मलिनता....

पूज्य गुरुदेवश्री : होवे किसकी ? आहाहा ! तीन ज्ञान लेकर, क्षायिक समकित लेकर आये हैं और परम औदारिक शरीर तो पहले से माता के गर्भ में से है। बापू ! यह तो वस्तु की मर्यादा है। यह कोई पक्ष की बात है, ऐसा नहीं है। दिगम्बर ऐसा कहते हैं और हम ऐसा कहते हैं, ऐसा नहीं है। आहाहा !

मुमुक्षु : उनके शास्त्र में लिखा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : लिखा हो तो सब कल्पित लिखा है, कल्पित बनाया है। क्या हो ? भगवान के नाम से चढ़ाया। लोग शंका नहीं कर सके। शंका करे तो भगवान में शंका की कहा जाए। अरे... ! बाँधकर जगत को मारा है।

वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर स्वयं हैं। हमारा मार्ग तो अनादि का ऐसा है। उससे तो भ्रष्ट हुए परन्तु उनमें कहे हुए उनके व्रत और चारित्र का भी ठिकाना नहीं होता। वह तो स्वयं को भ्रष्ट किया है। दूसरे जीवों को स्वयं का पुण्य आदि का दिखाव अधिक हो तो उपदेशादिक कहकर भ्रष्ट करते हैं। आहाहा! अरे रे! कहाँ भाई! कल भाई लट देखकर ऐसा हुआ... आहाहा! अरे रे! कहीं कौने में एक टुकड़ा इतना होगा। साफ नहीं हुआ होगा। उसमें कौने में लट पड़ी। आहाहा! कहाँ उसकी उत्पत्ति स्थान? कहाँ से आया?

मुमुक्षु : वह तो रुपये में लट आती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, वह तो लट कहते हैं, परन्तु वह कुछ अन्दर हो, उसमें आवे। कचरा हो उसमें आवे। काल-बाट (गन्दगी) होवे न जरा तो उत्पत्ति स्थान हो। यह तो कल नजरों से देखा। डिब्बे में कौने में नीचे होवे न? कणि पड़ी रह गयी होगी साफ करते-करते। आहाहा! अरे रे! ऐसे अवतार ऐसे जन्म और ऐसे फल! बापू! उससे उभरने का मार्ग तो यह है। समझ में आया? कहीं शरीर ठीक मिला और पैसे ठीक मिले तो हम कुछ आगे बढ़े। ऐसा मानता है, वह आत्मा को हीन कर डालता है। बाहर की अधिकता से आत्मा अधिक हुआ, ऐसा माननेवाला आत्मा को हीन मार डालता है। आहाहा!

शरीर सुन्दर, वाणी-कण्ठ सुन्दर, कुटुम्ब सुन्दर, स्त्री सुन्दर, पैसा सुन्दर, महल-मकान सुन्दर। इससे क्या? यह तो जड़ की परचीज़ है, भगवान! उससे मैं कुछ बढ़ा हूँ और ठीक हूँ, (ऐसा माननेवाला) आत्मा का घात कर डालता है। उससे भिन्न भगवान आत्मा आनन्द का कन्द, वह अधिक है। आहाहा! ऐसा अधिकपना न मानकर बाहर की चीज़ों से अधिकपना माने, वह भ्रम में पड़ा है। आहाहा!

अरे! इसके अवतार की बातें वीतराग कहते हैं। इसने दु:ख को भोगा। आहाहा! तू मर गया, (वहाँ) तेरी माँ को रोना आया। उस रोने के आँसुओं से समुद्र भर जाएँ। स्वयंभूरमण समुद्र अनन्त भर जाएँ, भगवान! ऐसा तेरी मृत्यु के पीछे रुदन हुआ था। भाई! तू ऐसे अवतार में जन्मा और मरा है। आहाहा! उस जन्म-मरण के दु:ख टालने का तो यह एक ही उपाय है। सर्वज्ञ ने कहा हुआ मार्ग और सर्वज्ञ ने कहा हुआ सम्यग्दर्शन। आहाहा! बाकी दुनिया की चतुराई और समझाना आवे, न आवे, उसके साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। आहाहा!

यहाँ तो यह कहा, **उनकी प्रवृत्ति देखकर लोग स्वयमेव भ्रष्ट होते हैं,...** ऐसा भी त्याग है, पंचम काल में ऐसा भी चारित्र होता है।

मुमुक्षु : शरीर तो देखो।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। क्या करना था? आहाहा! ऐसी क्रियाएँ तो अनेक वर्षों में ऐसी की थी कि लोग सुनते हुए काँपते थे। ऐसी बाहर की क्रिया थी। आहार लेने जाएँ, वहाँ पानी की बूँद को हाथ छू जाए (तो आहार नहीं लेते थे) निर्दोष आहार। बड़े गृहस्थ लोग, रायचन्द गाँधी पचास-पचास हजार की आमदनी, उस समय, हों! आमदनी बड़ी, बड़ा व्यापार। क्या कहलाता है? दिनशा का धन्धा। दिनशा का आड़तिया था। घर में आड़तिया पड़े ही हों और बड़ा व्यापार और चूरमा का लड्डू करके आधा मण रस पड़ा हो। मण का। परन्तु भिक्षा के लिये जाएँ... बहिन! इसमें गोटलु है? गोटलु समझे? गोटली... गोटली। केरी की गुठली। अध मण रस पड़ा हो। आहार दे खड़े होकर। बहिन इसमें गुठली है? गुठली नहीं। गोटलु। तो वह ऐसा कहे, महाराज! खबर नहीं। छूना नहीं, खबर न हो तो छूना नहीं। रस नहीं लेते। ऐसा तो वर्षों का वर्षों किया है, हों! उस समय तो माना था न। आहाहा!

इसलिए ऐसे तीव्रकषायी निषिद्ध हैं;... इसलिए अज्ञानी का तीव्र कषाय और ऐसा वर्तन, उसका निषेध किया गया है। **उनकी संगति करना भी उचित नहीं है।** ऐसे का परिचय करना नहीं। विशेष कहेंगे..... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा-९

अब कहते हैं कि ऐसे भ्रष्ट पुरुष स्वयं भ्रष्ट हैं, वे धर्मात्मा पुरुषों को दोष लगाकर भ्रष्ट बतलाते हैं –

जो कोवि धम्मसीलो संजमतवणियमजोगगुणधारी।
तस्स य दोस कहंता भग्गा भग्गत्तणं दिति।।९।।

य: कोऽपि धर्मशील: संयमतपोनियमयोगगुणधारी।
तस्य च दोषान् कथयंत: भग्ना भग्नत्वं ददति।।९।।

संयम नियम तप धर्म शील सुयोग गुणधारी सदा।
के दोष कहते भ्रष्ट वे कर भ्रष्टता की घोषणा।।९।।

अर्थ – जो पुरुष धर्मशील अर्थात् अपने स्वरूपरूप धर्म को साधने का जिसका स्वभाव है तथा संयम अर्थात् इन्द्रिय-मन का निग्रह और षट्काय के जीवों की रक्षा, तप अर्थात् बाह्याभ्यंतर भेद की अपेक्षा से बारह प्रकार के तप, नियम अर्थात् आवश्यकादि नित्यकर्म, योग अर्थात् समाधि, ध्यान तथा वर्षाकाल आदि कालयोग, गुण अर्थात् मूलगुण, उत्तरगुण – इनका धारण करनेवाला है, उसे कई मतभ्रष्ट जीव दोषों का आरोपण करके कहते हैं कि यह भ्रष्ट है, दोषयुक्त है, वे पापात्मा जीव स्वयं भ्रष्ट हैं, इसलिए अपने अभिमान की पुष्टि के लिए अन्य धर्मात्मा पुरुषों को भ्रष्टपना देते हैं।

भावार्थ – पापियों का ऐसा ही स्वभाव होता है कि स्वयं पापी हैं, उसीप्रकार धर्मात्मा में दोष बतलाकर अपने समान बनाना चाहते हैं। ऐसे पापियों की संगति नहीं करना चाहिए।।९।।

प्रवचन-११-बी गाथा-९ से ११ शुक्रवार, असोज शुक्ल ९, दिनांक ०५-१०-१९७३

यह अष्टपाहुड़। इसकी नौवीं गाथा चलती है। आठ पूरी हुई। **अब कहते हैं कि ऐसे भ्रष्ट पुरुष स्वयं भ्रष्ट हैं, वे धर्मात्मा पुरुषों को दोष लगाकर भ्रष्ट बतलाते हैं–**

जो कोवि धम्मसीलो संजमतवणियमजोगगुणधारी।
तस्स य दोस कहंता भग्गा भग्गत्तणं दिति।।९।।

मूल सनातन वीतराग का धर्म, उसका मुनिपना बाह्य नग्नदशा, अन्तर में तीन कषाय के अभाव की दशा और अट्ठाईस मूलगुण थे, वह जैनदर्शन था। अनादि का सर्वज्ञ का कहा हुआ यह मार्ग था। उसमें फेरफार हो गया, उसकी अन्दर बात करते हैं। जो कोई धर्मात्मा है, वीतराग के मार्ग प्रमाण, उनसे भ्रष्ट हुए ऐसे धर्मात्मा को दोष बताते हैं। यह बात कुन्दकुन्दाचार्य करते हैं।

जो पुरुष धर्मशील अर्थात् अपने स्वरूपरूप धर्म को साधने का जिसका स्वभाव है... कैसे हैं धर्म पुरुष? कि अपना स्वरूप धर्म—ज्ञान, आनन्द और शान्ति ऐसा जो

अपना आत्मधर्म, उसे साधने का जिसका स्वभाव है। राग को साधे या उसे यहाँ नहीं कहा। पश्चात् व्यवहार हो, वह बतलायेंगे। यह वस्तु आनन्द और ज्ञान की मूर्ति आत्मा है, उसे साधने का जिसका स्वभाव है। दिगम्बर धर्म, मुनिधर्म, जैनधर्म, वास्तविक धर्म वीतराग का कहा हुआ मार्ग यह है। अनादि से यह मार्ग था और भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव थे, तब भी था। सम्प्रदाय में से अलग पड़ गये, वे इसकी निन्दा (करने के लिये) दोष निकालते हैं। अपना अभिमान पोषण करने के लिये (दोष निकालते हैं) उसकी जरा बात करते हैं।

धर्म को साधने का जिसका स्वभाव है... एक बात। **तथा संयम अर्थात् इन्द्रिय-मन का निग्रह...** पाँचों ही इन्द्रिय और मन का निग्रह। अनीन्द्रिय आत्मा भगवान में रमणता (होना), वह संयम है। **और षट्काय के जीवों की रक्षा,...** छह काय के जीव भगवान ने कहे हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस छह (काय) जीव हैं, छह प्रकार के। एक इन्द्रिय अनन्त हैं, दूसरे असंख्य हैं। उन सब जीवों की दया पालने का जिसका भाव है अर्थात् जिसे नहीं मारने का भाव है। यह छह काय के जीव हैं। एक ही पंचेन्द्रिय ही हैं या एक ही आत्मा है, ऐसा नहीं है। अनन्त आत्मायें हैं। उसमें भी उनकी मर्यादा किसी की एकेन्द्रिय जीवरूप से, दोइन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चौइन्द्रिय,पंचेन्द्रिय। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति। ऐसे जीव भगवान सर्वज्ञ ने देखे हैं। उसकी उसे प्रतीति और श्रद्धा होती है, इससे उनकी दया पालता है। मुनि छह काय के रक्षक हैं। आहाहा! पानी की एक बूँद में भी असंख्य जीव हैं। उनका घात नहीं करता। एक हरित काय का टुकड़ा हो, उसमें असंख्य जीव ऐसे पीपल आदि में हैं। उनका भी वह घात नहीं करता, स्पर्श नहीं करता। गति-गमन करने में भी नीचे एकेन्द्रियादि जीव हों, उनका स्पर्श नहीं करता, ऐसा तो उसका दया का भाव होता है। छह काय की दया होती है, ऐसा कहते हैं। एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चौइन्द्रिय... सर्वज्ञ के अतिरिक्त किसी ने ये जीव देखे नहीं हैं। समझ में आया? तीन बोल हुए।

तप अर्थात् बाह्याभ्यंतर भेद की अपेक्षा से बारह प्रकार के तप,... होते हैं। जिसे बाह्य अनशन, ऊनोदर, वृत्ति संक्षेप इत्यादि; अभ्यन्तर प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्त्य आदि, ऐसे जिसे तप होते हैं। मुनि है न! नग्न मुनि जंगल में बसनेवाले होते हैं। वे मुनि, वे

चारित्रवन्त, वे संयमी। गृहस्थाश्रम में होवे तो उसे संयम और ऐसा चारित्र नहीं होता। समझ में आया? चाहे जैसा क्षायिक समकिती जीव हो, तथापि गृहस्थाश्रम में ऐसा संयम और छह काय की दया, यह नहीं होता। यह तो विश्व दर्शन है। जैनदर्शन अर्थात् विश्व दर्शन है। उसमें यह चीज़ है। (उसमें) उसे छह काय की दया का भाव होता है, तप होता है।

नियम अर्थात् आवश्यकादि नित्यकर्म,... सामायिक, समता, चौविसन्तो, अनन्त तीर्थंकरों का वन्दन, स्तुति, गुरु की स्तुति या तीर्थंकरादि की। प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग आदि हमेशा का कर्तव्य (होता है)। नग्नमुनि, मोक्ष का मार्ग देखो वहाँ। उसे यह आवश्यक क्रिया होती है। **योग अर्थात् समाधि,...** होती है। छठवें गुणस्थान में विराजमान मुनि को आत्मा के आनन्द की शान्ति, वास्तविक शान्ति बहुत प्रगट हुई होती है। कृत्रिम शान्ति जैसा अनादि से अज्ञान में दिखायी दे, वह शान्ति नहीं है। आत्मा अनन्त आनन्द का सागर! आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द के सागर में से जिसकी दशा में आनन्द उछलता है, उसे यहाँ समाधि कहा जाता है। आहाहा!

ध्यान... उसे आत्मा के स्वभाव का ध्यान होता है। असंख्य प्रदेशी प्रभु आत्मा, अनन्त गुण का धाम, उसका जिसे ध्यान होता है। चौथे, पाँचवें में होता है (परन्तु) थोड़ा (होता है), मुनि को विशेष होता है। यहाँ मुनि की व्याख्या है न? दिगम्बर सन्त जो मोक्षमार्गी, जो वीतराग के मार्ग में धोकरूप उत्सर्ग पन्थ चलता था, उसमें वे सन्त थे। इसलिए ऐसे सन्तों को देखकर दर्शन से भ्रष्ट हुए दोष निकालते हैं। श्रद्धा रखना। भ्रष्ट हुए दूसरे को भ्रष्टपना बतलाते हैं। समझ में आया?

वर्षाकाल आदि कालयोग,... योग की व्याख्या करते हैं। वर्षाकाल। चार महीने का चातुर्मास, एक स्थान में रहते हैं। जंगल में वृक्ष के नीचे (रहे) या कोई ऐसा खाली मकान बाहर जंगल में खाली पड़ा हो, उसमें स्थित रहते हैं। ऐसे वर्षाकाल के चार महीने एकान्त वर्षाकाल में व्यतीत करते हैं। आहाहा! **गुण अर्थात् मूलगुण,...** अट्ठाईस। पंच महाव्रत, छह आवश्यक, खड़े-खड़े आहार, अदन्तधोवन, लोंच ऐसे अट्ठाईस गुण होते हैं। वे हैं सब विकल्प। ऐसा जिसे पालन होता है। आहाहा! ऐसा धर्म और मुनिमार्ग ऐसा होता है। उसे पालन नहीं कर सके, इसलिए भ्रष्ट होकर दूसरा मनवाया है, उसकी यहाँ बात करते हैं। समझ में आया? आहाहा!

कुन्दकुन्दाचार्य हैं, महावीतरागी सन्त हैं। आनन्द में झूलते हुए छठवें-सातवें गुणस्थान में। एक दिन में हजारों बार जिन्हें प्रमत्त-अप्रमत्तदशा आती है। वे कहते हैं कि ऐसे सन्तों की जो कोई दोष और निन्दा करे, इस काल में ऐसा हो पड़ा है, क्या हो ? स्वयं भ्रष्ट हुए। नग्नरूप रह नहीं सके। फिर नये शास्त्र बनाये, उनमें कल्पित बातें रखीं और फिर सच्चे सन्त का विरोध किया। दो हजार वर्ष पहले से ऐसा का ऐसा चला आता है।

उत्तरगुण... पाँच समिति, गुप्ति, बाहर की अथवा अनेक प्रकार क्षमा, निर्मानता, ऐसे जो उत्तरगुण **इनका धारण करनेवाला है, उसे कई मतभ्रष्ट...** लो, यह यहाँ आया। जैनधर्म का दिगम्बर मार्ग अनादि का सन्तों का यह था और यह है। महाविदेहक्षेत्र में वर्तमान में भगवान केवली विराजते हैं, वहाँ यह मार्ग है। हजारों सन्त दिगम्बर मुनि अभी आनन्दकन्द में झूलते हुए (विचरण कर रहे हैं)। ऐसा मार्ग अनादि का (चलता है), उसमें से जो भ्रष्ट हुए (वे) **दोषों का आरोपण करके कहते हैं कि यह भ्रष्ट है,...** ऐसे मतभ्रष्ट हुए मत में रहनेवालों की निन्दा करते हैं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! **यह भ्रष्ट है, दोषयुक्त है,...**

वे पापात्मा जीव स्वयं भ्रष्ट हैं, इसलिए अपने अभिमान की पुष्टि के लिए अन्य धर्मात्मा पुरुषों को भ्रष्टपना देते हैं। आहाहा! जीव ने किया है न ऐसा! मनुष्यपना मिला, जैन के सम्प्रदाय में आये, वहाँ भी फिर अभिमान का पोषण किया। आहाहा! जिसे अनन्त काल में अभी निगोद में से निकलकर मनुष्य होना मुश्किल, उसमें यहाँ तक आये, उसमें वापस यह दशा। जहाँ भव के अभाव के काल में मुनिपने हुए, ऐसे मुनियों को अपने धर्म से भ्रष्ट होकर उनने भी दोष किये हैं। अपने अभिमान की पुष्टि के कारण (ऐसा किया है)। हम साधु हैं, हम ऐसे हैं, हमारा मार्ग ऐसा है, वे सब भ्रष्ट नग्न साधु हैं, ऐसा करके कहते हैं। बेचारे जगत को... वहाँ क्या हो ?

दो हजार वर्ष पहले यह बात थी। यहाँ भगवान कुन्दकुन्दाचार्य हुए, इससे पहले श्वेताम्बर पन्थ जैन में से निकल चुका था। आहाहा! उस सम्बन्धी की यह बात है। यह मार्ग जगत को जँचना कठिन है। अनेक प्रकार जगत के धर्म के नाम पर अनेक प्रकार और पन्थ और मार्ग... आहाहा! सबसे यह सर्वज्ञ का मार्ग पूरा अलग है। आहाहा! सर्वज्ञस्वरूप ही प्रभु है। उसमें से जिसने सर्वज्ञपना प्रगट किया, उन्होंने तीन काल-तीन लोक हस्ताकमल

की भाँति देखे। जैसे, आंवला हो, वैसा देखा। वह बराबर न देखा जाए, उसने तो प्रत्यक्ष देखा। आहाहा! ऐसा जो भगवान ने कहा हुआ मुनि का धर्म और सन्तों की धर्म की क्रिया अन्तर और बाह्य, उसे पालन नहीं कर सके, वे भ्रष्ट हुए और पालन करनेवालों की निन्दा और दोष लगाये। इसमें कुन्दकुन्दाचार्य तो ऐसा कहते हैं, लो।

भावार्थ ह्न पापियों का ऐसा ही स्वभाव होता है... आहाहा!

मुमुक्षु : यह धर्मी का स्वभाव, यह पापी का स्वभाव।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह धर्मशील है न? मिथ्यादृष्टि की श्रद्धा जहाँ मिथ्यात्व है, उसमें ऐसा ही उसका स्वभाव होता है। सत्य को स्पर्श नहीं होने देता। सत्य को स्पर्श नहीं होने देता। सत्य की वाणी कान में आवे तो वह (विरोध करता है)।

उसीप्रकार धर्मात्मा में दोष बतलाकर अपने समान बनाना चाहते हैं। ऐसे पापियों की संगति नहीं करना चाहिए। आहाहा!

गाथा-१०

अब कहते हैं कि जो दर्शन भ्रष्ट है, वह मूलभ्रष्ट है, उसको फल की प्राप्ति नहीं होती–

जह मूलम्मि विणट्ठे दुमस्स परिवार णत्थि परवड्ढी।
तह जिणदंसणभट्ठा मूलविणट्ठा ण सिज्झंति।।१०।।

यथा मूले विनष्टे द्रुमस्य परिवारस्य नास्ति परिवृद्धिः।
तथा जिनदर्शनभ्रष्टाः मूलविनष्टाः न सिद्ध्यन्ति।।१०।।

परिवार तरु का मूल बिन जैसे कभी बढ़ता नहीं।
जिन-दर्शनात्मक मूल बिन त्यों सिद्धि नहिं होती कभी।।१०।।

अर्थ – **जिस प्रकार वृक्ष का मूल विनष्ट होने पर उसके परिवार अर्थात् स्कंध, शाखा, पत्र, पुष्प, फल की वृद्धि नहीं होती, उसी प्रकार जो जिनदर्शन से भ्रष्ट हैं, बाह्य**

में तो नग्न–दिगम्बर यथाजातरूप निर्ग्रन्थ लिंग, मूलगुण का धारण, मयूर पिच्छिका (मोर के पंखों की पींछी) तथा कमण्डल धारण करना, यथाविधि दोष टालकर खड़े–खड़े शुद्ध आहार लेना – इत्यादि बाह्य शुद्ध वेष धारण करते हैं तथा अन्तरंग में जीवादि छह द्रव्य, नवपदार्थ, सात तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान एवं भेदविज्ञान से आत्मस्वरूप का अनुभवनह्नऐसे दर्शन–मत से बाह्य हैं, वे मूलविनष्ट हैं, उनके सिद्धि नहीं होती, वे मोक्षफल को प्राप्त नहीं करते।

गाथा–१० पर प्रवचन

अब कहते हैं कि जो दर्शन भ्रष्ट है, वह मूलभ्रष्ट है, उसको फल की प्राप्ति नहीं होती –

जह मूलम्मि विणट्ठे दुमस्स परिवार णत्थि परवड्ढी।
तह जिणदंसणभट्ठा मूलविणट्ठा ण सिज्झंति।।१०।।

अर्थ – जिस प्रकार वृक्ष का मूल विनष्ट होने पर... वृक्ष का मूल जहाँ नष्ट हुआ, **उसके परिवार अर्थात् स्कंध, शाखा, पत्र, पुष्प, फल की वृद्धि नहीं होती,...** मूल ही नहीं है। **मूलं नास्ति कुतः शाखा** आता है न? जिसका मूल ही नहीं है, उसे स्कन्ध, पत्र, फल–फूल होते ही नहीं। **उसी प्रकार जो जिनदर्शन से भ्रष्ट हैं,...** आहाहा! जैनदर्शन अर्थात् दिगम्बर दर्शन। मुनिपने का भाव, अन्तर अनुभव सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र। अन्तर के आनन्द की उग्र लहर जिन्हें प्रगट होती है और व्यवहार में उन्हें पंच महाव्रत—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य (अपरिग्रह) के भाव प्रगट हुए हैं। व्यवहार छह आवश्यक होते हैं, खड़े–खड़े आहार होता है। ऐसा जो जैनदर्शन, ऐसा जो आत्मदर्शन, ऐसा जो मोक्ष का मार्ग, उससे भ्रष्ट हुए हैं।

बाह्य में तो नग्न–दिगम्बर यथाजातरूप निर्ग्रन्थ लिंग,... है न? अनादि–सनातन, नग्न दिगम्बर और अन्तर में आनन्द और शान्ति, स्वच्छता और पवित्रता की पुकार थी। समता के रस में झूलते थे। आहाहा! घड़ीक में छठा गुणस्थान, घड़ीक में सातवाँ। क्षण में छठा, क्षण में सातवाँ। क्योंकि निर्विकल्प तो एक सेकेण्ड के अन्दर रह

सकते हैं। मुनि, हों! नीचे के गुणस्थान में तो थोड़ा (रहते हैं)। आहाहा! चौथे गृहस्थाश्रम में समकिती हो और पाँचवें में हो, वह तो बहुत थोड़ा (रह सकता है)। निर्विकल्प की दशा तो एक सेकेण्ड के अन्दर के भाग में होती है, ऐसा ही वस्तु का स्वरूप है। (जिसे) खबर नहीं, उसे ऐसा लगता है कि मानो घण्टे-घण्टे, दो-दो घण्टे समाधि में रहते हैं। यह तो उसे वस्तु की खबर नहीं है। श्रद्धा की खबर नहीं है, आत्मा की खबर नहीं है। समझ में आया? यह तो मुनि जो होते हैं, नग्न, अन्तर आत्मदर्शन, अनुभव के उपरान्त जिन्हें चारित्र की-आनन्द की लहर आयी है। ऐसे मुनियों को भी निर्विकल्पदशा तो एक सेकेण्ड के अन्दर में आती है। सातवाँ आता है तब। आहाहा! समझ में आया? ऐसी ही वस्तु की स्थिति है। ऐसा जो भाव...

बाह्य में तो नग्न-दिगम्बर यथाजातरूप निर्ग्रन्थ... जैसा माता ने जन्म दिया, वैसी वैराग्य की मूर्ति! जिसे उपशमरस का ढाला ढल गया है! आहाहा! जिसके शरीर में उपशम-अकषायरस बाहर दिखता है। स्थिर होकर शान्तबिम्ब अन्दर पड़ा है न! अन्दर में चारित्रवन्त हैं न। आहाहा! ऐसे धर्मात्मा का शरीर भी शान्त... शान्त... स्थिर हो गया (होता है)। माता ने जैसा जन्म दिया, ऐसा जिसका सरल सीधा नग्न शरीर होता है। आहाहा! उसे चारित्रवन्त और उसे मोक्षमार्गी कहते हैं। पूर्ण मोक्षमार्गी। चौथे में मोक्षमार्ग है परन्तु यह तीनों की एकता का मोक्षमार्ग है। आहाहा!

मुमुक्षु : धर्ममूर्ति।

पूज्य गुरुदेवश्री : धर्ममूर्ति! ओहोहो! अकेला भगवान आत्मा आनन्द, ज्ञान और शान्ति का स्वभाव, उसे पर्याय में—वर्तमान अवस्था में पर्याय में प्रगट हुआ है। वस्तु में तो अनादि का है, परन्तु जिसकी वैभवदशा वर्तमान पर्याय में प्रगट हुई है। आहाहा!

मुमुक्षु : उसे ही सच्चा वैभव...

पूज्य गुरुदेवश्री : वही वैभव (सच्चा है)। इस धूल में क्या है? चले गये, देखो न! अरबोंपति, आहाहा! आज नहीं आया था? भाई! नवनीतभाई ने 'धार' का तुमने कहा था न 'विष्णु' कहा था न? धार का घड़ीक में लो ऐसे। मोटर में जाते थे तो मोटरवाले ने... ऐसा देखो वहाँ गर्दन ढल गयी, मर गया। मोटर में। वह अपने यहाँ आ गया था। सात-

आठ दिन रहा था। हमने वहाँ उसके घर में दूध पीया था। कुण्डी के पास। उस क्षण में देह की स्थिति पूरी हो वहाँ... अभी जाते हैं ऐसे मोटर में। वह ड्राईवर पीछे मुड़कर पूछता है, किस ओर है साहब ? ऐसे देखे वहाँ तो मर गया। भाई ने सवेरे कहा था। आहाहा !

ऐसा नाशवान मृतक कलेवर है। यह (शरीर) मुर्दा... मुर्दा है। अमृत का सागर परमात्मा अनादि से मृतक कलेवर में मूर्च्छित हो गया है। आहाहा ! उसकी शोभा से शोभा। उसे खिलाना-पिलाना और भोग देना... आहाहा ! आता है न ? (समयसार) ९६ गाथा। मृतक कलेवर। मुर्दा, यह शरीर तो जड़ है। इसकी क्रिया भी जड़ की जड़ से होती है, आत्मा से नहीं। आत्मा कारण और शरीर चले, वह कार्य (-ऐसा) तीन काल में नहीं है। मिथ्यादृष्टि ऐसा मानता है क्योंकि दो भिन्न चीज़ है, उसे भिन्न चीज़ कुछ कर नहीं सकती। आहाहा ! यह भी खबर नहीं होती और धर्म हो जाए। मृतक कलेवर में अमृत का सागर, स्वभाव का समुद्र प्रभु (विराजमान है), उसे भूलकर मृतक कलेवर की सम्हाल में पड़ा है, उसे अन्ततः क्या हाथ आयेगा ? मुर्दा मरते समय मूर्च्छा में मर जाए। असाध्य होकर मूर्च्छित होकर... जाओ, एकेन्द्रिय, लट और चींटी। आहाहा !

ऐसा जो वीतराग का धर्म था, उससे जो भ्रष्ट हुए... यहाँ तो कहते हैं, यथाजात निर्ग्रन्थ लिंग था। मूलगुण के धारण (करनेवाले थे) । अट्ठाईस मूलगुण जिनवर तीर्थंकरों ने कहे हुए विकल्प अट्ठाईस प्रकार के, हों ! उन्हें होते हैं। वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर जब तक न हो, तब तक उन्हें ऐसे अट्ठाईस मूलगुण, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, छह आवश्यक, खड़े-खड़े आहार (लेना), निर्ग्रन्थ इत्यादि। अट्ठाईस मूलगुण (होते हैं) । ऐसी वस्तुस्थिति (होती है) ।

मयूर पिच्छिका... मुनि मयूर पिच्छिका रखते हैं। कोई जीव-जन्तु (होवे तो निकालने के लिये) । यह रजोवरण और यह सब वस्तु कृत्रिम घुस गयी है, यह मुनिपना ही नहीं है, वहाँ कृत्रिम अर्थात् क्या कहना ? आहाहा ! एक मोर पिच्छी **तथा कमण्डल धारण करना, यथाविधि दोष टालकर खड़े-खड़े शुद्ध आहार लेना...** उनके लिये नहीं बनाया हुआ आहार। गृहस्थ ने अपने लिये बनाया हो। भिक्षा के लिये जायें (वहाँ) हाथ में ले लेते हैं, खड़े-खड़े (लेते हैं), यह मार्ग है। मुनि का मोक्ष का मार्ग जैनदर्शन में यह है। कहो, सुजानमलजी ! ऐसा पालन न कर सके, इसलिए उसका बचाव नहीं करना

कि ऐसा भी अभी मार्ग है। आहाहा! **खड़े-खड़े शुद्ध आहार...** देखा? शुद्ध आहार। निर्दोष पानी और आहार खड़े-खड़े लेते हैं। वैराग्य की मूर्ति, शान्त मुद्रा है। ऐसी जो मुनि की दशा होती है **इत्यादि बाह्य शुद्ध वेष धारण करते हैं...** इत्यादि बाह्य शुद्ध वेष। सब कहा न? दोष टालना और यह सब।

तथा अन्तरंग में जीवादि छह द्रव्य,... भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर ने छह द्रव्य कहे हैं, छह वस्तुएँ। उनमें एक आत्मा, एक परमाणु, एक काल, आकाश, धर्मास्ति और अधर्मास्ति - ऐसे छह द्रव्य भगवान ने अनादि देखे हैं। इन छह द्रव्यों की उन्हें श्रद्धा होती है। आहाहा! अनन्त-अनन्त आत्माएँ होती हैं, अनन्त-अनन्त, इससे अनन्तगुने रजकण, धूल-मिट्टी होती है। इसकी उन्हें श्रद्धा होती है। इनका उन्हें ज्ञान होता है। समझ में आया?

छह द्रव्य, नवपदार्थ,... नव तत्त्व—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष। जीव और अजीव दो द्रव्य हैं। उन्हें सात पर्यायें होती हैं। उनकी मुनियों को-धर्मात्मा को श्रद्धा और ज्ञान होता है। आहाहा! यहाँ तो कुछ खबर नहीं होती और हमारे सम्यग्दर्शन है, (ऐसा कहते हैं)। अभिमान है। आहाहा! समझ में आया? **नवपदार्थ, सात तत्त्वों...** सात में वे पुण्य और पाप दोनों आस्रव में डाल दिये। इन सात तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान होता है। बराबर सर्वज्ञ परमेश्वर ने केवलज्ञानी त्रिलोकनाथ ने ज्ञान में जैसा जाना और कहा, वैसी उन्हें श्रद्धा होती है। कम, अधिक, विपरीत श्रद्धा नहीं होती। आहाहा!

एवं भेदविज्ञान से... और राग तथा शरीर से, राग का विकल्प और शरीर तथा कर्म आदि सब चीज़ है, उनसे भेद करके **भेदविज्ञान से आत्मस्वरूप का अनुभवन...** भेदविज्ञान कब कहलाता है?—कि दूसरी चीज़ है। शरीर है, कर्म है, राग है, पुण्य-पाप का भाव है, वह है, उनसे आत्मा भिन्न है, ऐसा भेदविज्ञान का आत्म-अनुभव। **आत्मस्वरूप का अनुभवनह्नऐसे दर्शन-मत से बाह्य हैं,...** ऐसे दर्शन-मत से जो बाह्य हैं। भाषा देखी? आहाहा! पहले (गाथा में कहा) '**दंसणमग्गं**' कहा है। यह पहली बात ली है। ऐसा जो दर्शन और मत और धर्ममूर्ति, ऐसा जो मार्ग से भ्रष्ट है, **वे मूलविनष्ट हैं,...** मूल में नष्ट हो गये हैं। ऐसा जो जैनदर्शन अर्थात् जैनदर्शन कोई सम्प्रदाय नहीं। वस्तु 'जिन सो हि है आत्मा' और रागादि विकल्प, शरीरादि अजीव, पुण्य-पाप के आस्रव से भगवान

आत्मा भिन्न है, यह जैन का स्वरूप ही है। ऐसे स्वरूप के भानसहित के ऐसे तत्त्व की उन्हें श्रद्धा होती है। ऐसे से जो भ्रष्ट हुए हैं, वे मूल में भ्रष्ट हो गये हैं। भगवानजीभाई! ऐसी बात है।

श्रीमद् में ऐसा स्पष्टीकरण वे लोग नहीं कर सकते क्योंकि वहाँ तो सब गड़बड़ शामिल है। यह तो मार्ग ऐसा है, बापू! समझ में आया? यह तो स्पष्ट बात है। आहाहा! किसी के विरोध के लिये बात नहीं है, वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। उसमें दूसरा क्या हो? वे बाह्य से मूलविनष्ट हैं। पाठ है न? गाथा। '**मूलम्मि विणट्ठे**' पहला पद है। '**मूलम्मि विणट्ठे तह जिणदंसणभट्ठा**' इसके साथ मिलाया है। मूल जिसका नास्ति है, उसे शाखा आदि नहीं होती। ऐसा जो वीतरागमार्ग जैनदर्शन का, धर्ममूर्ति का, उससे-उसकी श्रद्धा से जो भ्रष्ट हुए, (उनका) मूल में नाश है। आहाहा! ऐ... जाधवजीभाई! यह ऐसा है। तुम्हारा लड़का यह कहता है, हों! हाँ करता है।

मुमुक्षु : लड़का नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : लड़का नहीं, भाई कहते हैं। उसके पिता भी सुनने बैठते हैं। चौदह वर्ष का है न? क्या कहा? दिलीप। इनके लड़के का लड़का बैठता है, पूर्वभव में से संस्कार लेकर आया है न! हमारे वजुभाई तो ऐसा कहते हैं, अपने में से ही मरकर आया है। अपने में से मरकर आया लगता है। चौदह वर्ष की उम्र में ऐसा! यह मार्ग है। यह करने से दूसरा मार्ग हो नहीं सकता, ऐसा जोर मारता है। वहाँ पाठशाला पढ़ाता है। कलकत्ता में पाठशाला पढ़ाता है। वह तो गृहस्थ व्यक्ति है। यह शास्त्र मुफ्त में बाँटता है, लड़कों को इकट्ठा करके। बहुत लाखोंपति तो भी... उनके पुत्र का पुत्र, इसलिए उसे पैसा... थे। वह पाठशाला पढ़ावे, उसका पैसा ले नहीं। लड़कों को पढ़ावे, यह मार्ग है, सुनो! बड़े भी बैठते हैं। किसी को पूछा था। कितने ही बड़े भी सुनने बैठ जाते हैं।

मुमुक्षु : बड़ों को रुचि हुई।

पूज्य गुरुदेवश्री : उन्हें उस जाति का रस था न। ...मार्ग तो यह है। समझ में आया? आहाहा!

यहाँ कहा, नहीं? '**जह मूलम्मि विणट्ठे**' ऐसा यहाँ '**जिणदंसणभट्ठा**'। यह

'**मूलम्मि विणट्ठे**' के साथ मिलाया न? गाथा में। '**जह मूलम्मि विणट्ठे**' यह पहला पद। पश्चात् '**तह जिणदंसणभट्ठा मूलविणट्ठा**' ऐसा। समझ में आया? यह बाड़ा बाँधकर लोगों को मार डाला।

परसों के दिन एक आया था। वह है न? तुम्हारे यहाँ 'घीया', नहीं? चन्दुभाई के अपने मोहनभाई नहीं? कराचीवाले। उनका चन्दुभाई, वहाँ राजकोट में विवाह हुआ है न? लड़का कहे, मैं चन्दुभाई का साला हूँ। मोहनभाई हमारे रिश्तेदार होते हैं। घीया न? मैंने कहा, जानते हैं। परन्तु हम श्वेताम्बर हैं। दो लड़के थे परसों आये थे। चन्दुभाई का साला हूँ। मुझे तो खबर थी कि यह घीया है। मुझे कहा, घीया हूँ, परन्तु हम श्वेताम्बर हैं। हमें खबर नहीं? इस बाड़ा की जुदाई के लिये मार डाला। तूने कहा, चन्दुभाई का साला हूँ, तब से (खबर थी), तुम घीया हो और श्वेताम्बर हो (खबर है)। जवान व्यक्ति, बीस-पच्चीस वर्ष का। आहाहा! घी का व्यापारी। चौक में ही है न। देखा है, देखा है। घी कांटा नाम था। यह सच्चा। परन्तु मुझे तो यह कहना है, बात यह चलती थी, उसमें वह यह बोला, हम श्वेताम्बर हैं। परन्तु हम कहाँ यहाँ पक्ष... ऐई! मोहनभाई! यह सब श्वेताम्बर हैं। भगवानजीभाई श्वेताम्बर हैं। थे, लो न? आहाहा!

जिसे ऐसा मोक्षमार्ग और ऐसा बाह्यलिंग और अट्ठाईस मूलगुण जिसे रुचते नहीं, वह भ्रष्ट हो गया है। ऐसा मार्ग है। '**मूलविणट्ठा ण सिज्झंति**' ऐसा कुन्दकुन्दाचार्य का अन्तिम शब्द है न? '**जह मूलम्मि विणट्ठे**' जिस वृक्ष का मूल नाश हुआ है, उसे परिवार नहीं है अर्थात् शाखा, फल, फूल, पत्र नहीं है। इस प्रकार जो ऐसे मार्ग से भ्रष्ट हुए, उनका मूल नाश हो गया। उन्हें कोई मोक्ष और सम्यग्दर्शन और ज्ञान नहीं होता। आहाहा! ऐसा मार्ग है। बाड़ा बाँधा न... तुम दिगम्बर। भाई! रहने दे ऐसा। सत्य है, वह ले न! आहाहा!

आँखें बन्द करके चले जाते हैं, यह देखो न! आहाहा! अरबों रुपये। क्षण में आँख मुँद गयी। भाई कहते थे। उनका भानेज। मामा को दो बजे दुखाव आया और साथ में आया समाप्त हो गये। अरबों रुपये। आहाहा! तेरा रुपया क्या करे? धूल और शरीर वह तो मिट्टी है। श्वास की क्रिया आत्मा नहीं कर सकता। यह श्वास का क्रिया जड़ है, उसे आत्मा कर सकता है? वह तो जड़ है। अरे... अरे! जगत को भ्रम पड़ता है। तत्त्व की खबर नहीं है न! आत्मा से श्वास चले और आत्मा से शरीर चले, आत्मा कारण है और देह के काम

कार्य हैं—यह दृष्टि मिथ्यात्व और अज्ञान है। समझ में आया? आहाहा! गजब दसवीं गाथा। यहाँ आया।

ऐसे दर्शन–मत से बाह्य हैं, वे मूलविनष्ट हैं,... अन्तिम शब्द है न? **उनके सिद्धि नहीं होती,... 'ण सिज्झंति'** ऐसे जीवों को मोक्ष नहीं होता। आहाहा! ऐसा मार्ग है। ऐ झाँझरी! तुम्हारे यहाँ बहुत विवाद है, मक्क्षी में। यह मार्ग तो अनादि का है। दिगम्बर दर्शन, यह कोई सम्प्रदाय नहीं है। वस्तु का स्वरूप ही अनादि का ऐसा है। मुनिपना ऐसा ही होता है, यह भी वस्तु का स्वरूप है। आहाहा! उसमें करके किया है और कल्पना (की है) वैसा यह नहीं है। आहाहा!

जैसा भगवान आत्मा निर्विकल्प आनन्द का नाथ है, उसकी पर्याय में भूल है, उसका भी ज्ञानी को भान होता है और वह आत्मा अरूपी है, उसे रूप नहीं होता। अज्ञानी को अन्दर कुछ भासित होता है न, लाल, सफेद, पीला, और झवक, यह सब जड़ है। आँखें बन्द करके फिर अन्दर दिखायी दे लाल, पीला वह तो सब जड़ है। आत्मा कहाँ है? (आत्मा को) ऐसा रंग नहीं होता, वह तो अरूपी है। समझ में आया? आहाहा!

वे मोक्षफल को प्राप्त नहीं करते। (अब गाथा) ११, एक बार यह पढ़ते थे और भाई थे। नरसिंहभाई। मौके से आये, वहाँ व्याख्यान में यह चलता था। अपने थे न? नरसिंहभाई, नहीं? मुनिम थे न, यहाँ बैठते थे। उस समय आते थे, उस समय यह चलता था। पर्यूषण और प्रतिक्रमण करने वहाँ जाते थे। सहज ही ऐसा मेल हो जाता है न! सहज ही तब उन्हें आने का अवसर ही था और उसमें यह अष्टपाहुड का वांचन था। वे यहाँ बैठते थे। लोगों को कठिन लगे, सत्य है।

मुमुक्षु : ऐसे ही संस्कार लेकर आये।

पूज्य गुरुदेवश्री : संस्कार लेकर आये, बस। आहाहा! उन्हें यही पोसाना हो। उसे दूसरा कोई विचार का अवकाश ही नहीं होता।

मुमुक्षु : वह तो ऐसा ही कहते हैं, अपने जैन....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह हम जिन हैं, वे लोग ऐसा कहते हैं न! जैनधर्म हमारा ही है। स्थानकवासी का। हम जैन हैं, ऐसा कहते हैं। ऐई! नवलचन्दभाई! यहाँ कहते हैं कि वे

जैन नहीं हैं, जैन से भ्रष्ट हुए हैं। ऐसा कहते हैं। इसीलिए तो टोडरमलजी ने पाँचवें अध्याय में लिखा है। श्वेताम्बर, स्थानकवासी को जैनमत में डाला ही नहीं। अन्यमत में डाला है। यह देखो न, यह क्या कहते हैं यह? कुन्दकुन्दाचार्य यह कहते हैं, श्वेताम्बर और स्थानकवासी जैनदर्शन ही नहीं है।

मुमुक्षु : कुन्दकुन्दाचार्य थे, तब स्थानकवासी थे ही नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो थे, परन्तु मन्दिरमार्गी थे न। श्वेताम्बर निकल गये थे। ऐ...सुजानमलजी! ये भी श्वेताम्बर हैं न!

मुमुक्षु : पक्के...

पूज्य गुरुदेवश्री : पक्के। यह तो होवें वे पक्के ही होवें न! उसमें क्या? आहाहा!

मुमुक्षु : आपकी कृपा आयी।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो आत्मधर्म की यह चीज़ है। आहाहा!

उसमें आत्मा का जो चारित्र है, वह अलौकिक दशा! उसे तो नग्नदशा ही हो जाती है। चारित्रवन्त हों, वह तो नग्नदशा और जंगल में बसते हैं। ऐसा जो मुनिपने का मार्ग अनादि का सनातन वीतरागमार्ग का था। आहाहा! उससे भ्रष्ट हुए, उन्हें मुक्ति तो नहीं, मोक्ष का फल कहाँ से होगा?

गाथा-११

अब कहते हैं कि जिनदर्शन ही मूल मोक्षमार्ग है –

जह मूलाओ खंधो साहापरिवार बहुगुणो होइ।
तह जिणदंसण मूलो णिद्दिट्ठो मोक्खमग्गस्स ।।११।।

यथा मूलात् स्कंधः शाखापरिवारः बहुगुणः भवति।
तथा जिनदर्शनं मूलं निर्दिष्टं मोक्षमार्गस्य ।।११।।

ज्यों मूल से स्कंध शाखादि अनेकों हों सदा।
त्यों मोक्ष–मग का मूल जिन–दर्शन जिनेंद्रों ने कहा।।११।।

अर्थ – जिसप्रकार वृक्ष के मूल से स्कंध होते हैं; कैसे स्कंध होते हैं कि जिनके शाखा आदि परिवार बहुत गुण हैं। यहाँ गुण शब्द बहुत का वाचक है; उसीप्रकार गणधर देवादिक ने जिनदर्शन को मोक्षमार्ग का मूल कहा है।

भावार्थ – यहाँ जिनदर्शन अर्थात् तीर्थंकर परमदेव ने जो दर्शन ग्रहण किया उसी का उपदेश दिया है, वह मूलसंघ है; वह अट्ठाईस मूलगुण सहित कहा है। पाँच महाव्रत, पाँच समिति, छह आवश्यक, पाँच इन्द्रियों को वश में करना, स्नान नहीं करना, भूमिशयन, वस्त्रादिक का त्याग अर्थात् दिगम्बर मुद्रा, केशलोंच करना, एकबार भोजन करना, खड़े-खड़े आहार लेना, दंतधावन न करना – यह अट्ठाईस मूलगुण हैं तथा छियालीस दोष टालकर आहार करना, वह एषणा समिति में आ गया।

ईर्यापथ – देखकर चलना वह ईर्या समिति में आ गया तथा दया का उपकरण मोरपुच्छ की पींछी और शौच का उपकरण कमण्डल धारण करना – ऐसा बाह्य भेष है तथा अन्तरंग में जीवादिक षट्द्रव्य, पंचास्तिकाय, सात तत्त्व, नव पदार्थों को यथोक्त जानकर श्रद्धान करना और भेदविज्ञान द्वारा अपने आत्मस्वरूप का चिंतवन करना, अनुभव करना ऐसा दर्शन अर्थात् मत वह मूलसंघ का है। ऐसा जिनदर्शन है, वह मोक्षमार्ग का मूल है; इस मूल से मोक्षमार्ग की सर्व प्रवृत्ति सफल होती है तथा जो इससे भ्रष्ट हुए हैं, वे इस पंचमकाल के दोष से जैनाभास हुए हैं, वे श्वेताम्बर, द्राविड़, यापनीय, गोपुच्छ-पिच्छ, नि:पिच्छ – पाँच संघ हुए हैं; उन्होंने सूत्र सिद्धान्त अपभ्रंश किये हैं। जिन्होंने बाह्य वेष को बदलकर आचरण को बिगाड़ा है, वे जिनमत के मूलसंघ से भ्रष्ट हैं, उनको मोक्षमार्ग की प्राप्ति नहीं है। मोक्षमार्ग की प्राप्ति मूलसंघ के श्रद्धान-ज्ञान-आचरण ही से है – ऐसा नियम जानना।।११।।

गाथा-११ पर प्रवचन

अब कहते हैं कि जिनदर्शन ही मूल मोक्षमार्ग है... देखा, गजब रखा है। उसमें दृष्टान्त आया था न? वृक्ष का दिया था न?

जह मूलाओ खंधो साहापरिवार बहुगुणो होइ।
तह जिणदंसण मूलो णिद्दिट्ठो मोक्खमग्गस्स।।११।।

अर्थ – **जिस प्रकार वृक्ष के मूल से स्कंध होते हैं;...** वृक्ष का मूल होवे तो स्कन्ध आवे। स्कन्ध होवे तो शाखा आवे। स्कन्ध समझे न? पश्चात् डालियाँ। परन्तु मूल न होवे, वहाँ स्कन्ध कैसा? और डालियाँ कैसी? यह तो मूल होवे वहाँ **जिनके शाखा आदि परिवार बहुत गुण हैं। यहाँ गुण शब्द बहुत का वाचक है;...** ऐसा कहते हैं। बहुगुण हो। ऐसा।

मुमुक्षु : बहुत गुण।

पूज्य गुरुदेवश्री : बहुत गुण परन्तु इन्होंने कहा है कि **गुण शब्द बहुत का वाचक है;...** यह बहुगुण शब्द तो पड़ा ही है। बहुत गुण तो हैं, ऐसा कहते हैं, बहु शब्द है न। गुण का अर्थ ऐसा क्यों किया?

मुमुक्षु : गुणों का हुआ न इसलिए बहु के अर्थ में लिया।

पूज्य गुरुदेवश्री : गुण तो बहु वाचक है। वह बहु शब्द तो पड़ा है।

गुण शब्द बहुत का वाचक है; उसी प्रकार गणधर देवादिक ने... गणधर, इस धर्म के तीर्थंकर-धर्म राजा, उनके गणधर दीवान-धर्म दीवान। आहाहा! चार ज्ञान, चौदह पूर्व के धारक अन्तर्मुहूर्त में बारह अंग की रचना करनेवाले ऐसे सन्त, गणधर सन्त आदि के **गणधर देवादिक ने जिनदर्शन को मोक्षमार्ग का मूल कहा है।** ऐसे गणधरों ने, मुनियों ने, सच्चे सन्तों ने **जिनदर्शन को मोक्षमार्ग का मूल...** ऐसा जैनदर्शन। समझ में आया? जिसे आत्मदर्शन साक्षात्कार उपरान्त ज्ञान और आनन्द का चारित्र जिन्हें निर्मल प्रगट हुआ है। ऐसी तीन तो निर्विकल्प वीतराग दशा है और अट्ठाईस मूलगुण वीतराग जिनेश्वर ने कहे, वैसे हैं और जिनकी नग्नदशा है। आहाहा! ऐसा जैनदर्शन का मार्ग गणधरों ने कहा हुआ है। तीर्थंकरों ने कहा हुआ, उसमें से शास्त्र में गणधर सन्तों ने रचा है। आहाहा! कहो, इस शास्त्र की रचना में यह आया है, ऐसा कहते हैं।

जिसकी शास्त्र की रचना में ऐसा आया हो कि वस्त्र रखे और पात्र रखे (वह) मुनिपना, वह शास्त्र गणधर के रचित नहीं हैं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! भारी कठिन काम। लोगों को अलग-थलग जैसा लगता है।

मुमुक्षु : अलग ही है न।

पूज्य गुरुदेवश्री : अलग ही है। क्या हो ? भाई ! मार्ग ऐसा है, वहाँ क्या हो ? आहाहा ! कहो, बाबूभाई ! ऐसा मार्ग है। जैनदर्शन ही उसे कहते हैं। आहाहा ! पहले आया है न ? ऐसा गणधरों ने कहा हुआ। गणधर आदि सन्तों ने (कहा हुआ) आहाहा ! मोक्ष के स्तम्भ, केवलज्ञान के पथानुगामी ऐसे सन्तों ने तो ऐसा जैनदर्शन कहा है। आहाहा ! दुनिया की परवाह छोड़ दे। दुनिया क्या कहेगी ? कैसे मानेगी ? यह रहने दे। भगवान का मार्ग तो यह है। भगवानजीभाई ! आहाहा ! आहाहा ! लोग इसमें से आधार देते हैं न ? श्रीमद् में से। देखो ! उसमें यह कहते हैं। बापू ! जैनधर्म का आशय श्वेताम्बर-दिगम्बर के आचार्य का आशय आत्मा को शमावने का है। इसमें तो इनकार करते हैं। आहाहा !

यहाँ तो कहते हैं कि ऐसा जो मार्ग, जिसका जैनदर्शन-जैनधर्म की श्रद्धा में मूल है और तदुपरान्त फिर ज्ञान और चारित्र आदि और जिसकी नग्नदशा है तथा अट्ठाईस मूलगुण वीतराग ने कहे हुए, उसका व्यवहार में ऐसे विकल्प होते हैं। मुनि को ऐसा राग होता है। आहाहा ! इससे राग होता है, ऐसा बतलाया है परन्तु वह धर्म है, ऐसा नहीं है। उसका व्यवहार जैनदर्शन का कहा है। निश्चय जैनदर्शन के साथ ऐसा व्यवहार जैनदर्शन का होता है, इसलिए वह आदरणीय है और उससे कुछ (धर्म है), ऐसा यहाँ प्रश्न नहीं है। पण्डितजी ! मार्ग तो ऐसा है। आहाहा ! अकेला नग्न घूमे, वह कहीं धर्म नहीं है।

मुमुक्षु : धर्म तो अन्तर में होता है, तब उसे बाह्य कहा जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो बाह्य पहले कहा परन्तु ऐसा अन्तर में होवे तो ऐसे बाह्य को कहा जाता है परन्तु अन्तर में जहाँ जैनदर्शन की वस्तु क्या है, सम्यक् क्या है, सम्यग्ज्ञान क्या, उसकी खबर भी नहीं और (मुनि) मनवाये, उसे यहाँ मुनिपने में गिना नहीं है। उसे जैनदर्शन में गिनने में नहीं आया है। आहाहा ! बहुत मार्ग...

जिनदर्शन को मोक्षमार्ग का मूल कहा है। समझ में आया ? ऐसा जो जैनदर्शन, उस जैनधर्म का मूल है। **जिनदर्शन को मोक्षमार्ग का मूल कहा है।** आहाहा ! ऐसा जिसकी यह श्रद्धा, व्यवहार ऐसा हो, ऐसी श्रद्धासहित स्व का आश्रय लेकर दर्शन होता है, उसे समकित कहा जाता है। समझ में आया ? ऐसा कहते हैं। ऐसा जो मार्ग है, उसकी जिसे श्रद्धा होती है अर्थात् उसका ज्ञान होता है और उसका ज्ञान रखकर फिर स्व का आश्रय लेकर सम्यग्दर्शन होता है, उसे समकिती और धर्म की शुरुआतवाला जीव कहने में आता

है। आहाहा! बहुत से तो इसमें अपने पूर्व के श्वेताम्बर ही होते हैं। कोई स्थानकवासी, कोई मन्दिरमार्गी। नहीं ? मार्ग तो यह है। इसमें से फेरफार कुछ भी कम ज्यादा करे, वस्त्र का धागा रखना, उसमें क्या दिक्कत है ? काल ऐसा हीन है। वे सब भ्रष्ट हैं। आहाहा! अधिक भाग हो, उसमें ऐसा पढ़े तो तूफान करे, हों! यहाँ तो जंगल है और जंगल का यह मार्ग है। जँचे उसे जँचाना।

मुमुक्षु : जंगल में मंगल और मंगल का मार्ग यह है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : सत्य बात है।

भावार्थ **– यहाँ जिनदर्शन अर्थात् तीर्थंकर परमदेव ने जो दर्शन ग्रहण किया...** देखो! अर्थ किया है। जिनदर्शन। जिन अर्थात् तीर्थंकर। उन्होंने जो दर्शन–मुनिपना, नग्नपना अंगीकार किया। गजब बात, भाई! जिनदर्शन। जिन अर्थात् **तीर्थंकर परमदेव ने जो दर्शन ग्रहण किया, उसी का उपदेश दिया है,...** दर्शन ग्रहण किया और उसी का उपदेश दिया। **वह मूलसंघ है;...** आहाहा! वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर का मूलसंघ यह है कि जिसने जिन तीर्थंकर परमदेव ने जो नग्नपना और मोक्षमार्ग और व्यवहार विकल्प आदि जो है, वह अंगीकार–ग्रहण किया और ऐसा उपदेश किया, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? आहाहा! गजब स्पष्टीकरण किया है।

गाथा १४ में स्पष्ट आता है न ? कि दर्शन इसे कहना, आहाहा! वस्तु का स्वरूप जो वास्तविक ज्ञान, दर्शन, चारित्र और विकल्प तथा नग्न (पना)। तब कोई कहे कि विकल्प को, नग्नपने को भी जैनदर्शन कहा न ? परन्तु इतना व्यवहार नहीं ? उसे व्यवहार कहा। वस्तु के दर्शन, ज्ञान, चारित्र को निश्चय कहा। दोनों को दो कहा। आहाहा! पूर्ण वीतराग नहीं तो दो होते ही हैं। आहाहा! समझ में आया ? जिसका अभी श्रद्धा का ठिकाना नहीं है, जिसके ज्ञान में यथार्थता नहीं है, उसे सम्यग्दर्शन होता ही नहीं। समझ में आया ? आहाहा!

जिनदर्शन। जिनदर्शन की व्याख्या की है। '**जिणदंसण मूलो**' है न ? इसमें से किया, जिनदर्शन। जिन अर्थात् तीर्थंकर परमदेव और दर्शन अर्थात् जिसने दर्शन ग्रहण

किया अर्थात् मोक्ष का मार्ग, विकल्प और नग्नपना अंगीकार किया। आहाहा! तीर्थंकरदेव, सौ इन्द्र जिनके तलवे चाटते हैं। जिनके जन्म से माता के गर्भ में आवें, तब से आकर इन्द्र सेवा करते हैं। आहाहा! ऐसे जिन ने जब मुनिपना अंगीकार किया, तीर्थंकर परमदेव ने... आहाहा! जब से सर्वज्ञदेव... सर्वज्ञस्वभावी आत्मा अनादि से है, वैसे सर्वज्ञ पर्याय प्रगट हुई सर्वज्ञ भी अनादि के हैं। आहाहा! इस प्रकार ऐसा मार्ग भी अनादि का है। समझ में आया? आहाहा! सर्वज्ञस्वभावी स्वरूप आत्मा वस्तु अनादि-अनन्त है। ऐसे अनन्त आत्मायें हैं और सर्वज्ञस्वभाव है, उसके जाननेवाले प्रगटरूप से भी अनादि के हैं और ऐसा मार्ग जिन्होंने अंगीकार किया, वह भी अनादि का यही मार्ग है। शक्तिरूप, व्यक्तरूप और उसका मार्ग यह। आहाहा! समझ में आया?

इसका विशेष स्पष्टीकरण आयेगा... (***श्रोता :*** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन-१२ गाथा-११ से १३ शनिवार, ज्येष्ठ कृष्ण १, दिनांक २०-०६-१९७०

(अष्टपाहुड-दर्शनपाहुड गाथा ११ का भावार्थ) समझ में आया? नग्नमुद्रा थी, अट्ठाईस मूलगुण थे - इत्यादि। ऐसा ही मार्ग जैनदर्शन का अनादि का है। उसमें मोरपिच्छी आदि होते हैं। शौच का उपकरण कमण्डल होता है। पात्र-वात्र नहीं होते, ऐसा कहते हैं। **ऐसा बाह्य भेष है...** जैनदर्शन में ऐसा तो बाह्य वेश अनादि का परमात्मा का कहा हुआ मार्ग (था)।

तथा अन्तरंग में जीवादिक षट्द्रव्य,... कहो, मूलचन्दजी! इसमें वैष्णव और जैन में किस प्रकार इकट्ठा (करना)? ...कुन्दकुन्दाचार्य। अपना मार्ग अलग करने के लिये ऐसा लिखा होगा? यह तो मार्ग ऐसा है। तीर्थंकरों ने धारण किया है। आहाहा! कायर का कलेजा काँप उठे कि अर..र..! यह सब वेश है न? यह सब वेश वीतराग के मार्ग से बाह्य है। वस्तु ऐसी है, बापू! यह व्यक्ति के प्रति द्वेष की बात नहीं है। वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। समझ में आया? कहो, बल्लभभाई! जितने वस्त्र आदि के वेश हैं, वह जैनदर्शन का वेश ही नहीं है, ऐसा कहते हैं। वह तो कुलिंग है। आहाहा! ऐसा मार्ग है। जैन

में ऐसे हैं, उन्हें भी जैन गिनते नहीं तो दूसरे मत में जैन के साथ कुछ भी मेल खाये, ऐसी बात जरा भी है नहीं। वस्तुस्थिति है, उसमें क्या बने?

जैनदर्शन अन्तरस्वरूप, वस्तु का स्वरूप अखण्ड आनन्द आदि अनन्त गुणों का पिण्ड, उसकी श्रद्धा, षट्द्रव्य की श्रद्धा, पंचास्तिकाय की श्रद्धा। है न? सात तत्त्व की श्रद्धा, नौ पदार्थ की (श्रद्धा) **यथोक्त जानकर...** जैसे हैं, यथा-उक्त। जैसे भगवान ने-परमेश्वर ने कहे, वैसे यथा-उक्त जानकर। **श्रद्धान करना...** यह तो अभी बाह्य आया। अब **भेदविज्ञान द्वारा अपने आत्मस्वरूप का चिंतवन करना, अनुभव करना...** आहाहा! समझ में आया? और यह विकल्प जो है, अट्ठाईस मूलगुण आदि या षट्द्रव्य की श्रद्धा, सात तत्त्व की श्रद्धा का विकल्प, ऐसा होता है, कहते हैं परन्तु उससे भिन्न करके आत्मा का अनुभव करना, वह सम्यग्दर्शन है। वह जैनदर्शन का मूल है। समझ में आया? अब इसमें दूसरे के साथ मेल नहीं खाता। दूसरे ऐसा कहते हैं। उसमें क्या हो? कहो। या तो कहे अपना पक्ष खींचते हैं। पक्ष (नहीं)। वस्तु का स्वरूप ऐसा है, उसमें पक्ष की बात ही कहाँ हैं? तीर्थंकरों ने यह मार्ग ग्रहण किया है, वही मार्ग जैनशासन में अनादि से चला आता है, परम्परा से चला आता है। क्या हो? उसे छोड़ डाले तो सत्य कहीं अन्य हो जायेगा?

भेदविज्ञान द्वारा अपने आत्मस्वरूप का चिंतवन करना, अनुभव करना... ऐसी श्रद्धा, ऐसा वेश सब होता अवश्य है, तथापि उससे भिन्न पड़कर स्वरूप का अनुभव करना, वह वास्तविक निश्चयस्वरूप है। वह वस्तु है परन्तु उसका व्यवहार ऐसा होता है। समझ में आया? छह द्रव्य की श्रद्धा, नवतत्त्व की, सात तत्त्व की, पंचास्तिकाय की (श्रद्धा होती है), वेष नग्नपना, पंच महाव्रत के विकल्प आदि हों। होवे तो वे बाह्य में होते हैं। बाह्य, वह सब बाह्य है। बाह्य दूसरे प्रकार का हो और अन्तर में ऐसा हो - यह नहीं बन सकता, ऐसा कहते हैं। बाह्य में दूसरा हो, वस्त्र-पात्र रखते हों और अन्दर में अनुभव, सम्यग्दर्शन हो, ऐसा नहीं हो सकता, यह कहते हैं। समझ में आया?

ऐसा जिनदर्शन... लो! **ऐसा दर्शन अर्थात् मत वह मूलसंघ का है।** अनादि मूलसंघ जो जैनदर्शन का यह मत है, यह दर्शन है। लो! यहाँ मत लिया न। पहले कहा था न? 'दंसणमग्गं' वहाँ भी लिया था न? 'दंसणमग्गं' में मत और धर्म लिया। यह धर्म है

और मत है, ऐसा ही लिया था। आहाहा! समझ में आया? **ऐसा दर्शन...** आभ्यन्तर और बाह्य। ऐसी जो चीज़, ऐसा जो दर्शन मत, वह मूलसंघ का है। अनादि जैनदर्शन का मूलसंघ यह है। **ऐसा जिनदर्शन है, वह मोक्षमार्ग का मूल है;...** यह जैनदर्शन है, वह मोक्षमार्ग का मूल है, मोक्षमार्ग यह है। समझ में आया? **इस मूल से मोक्षमार्ग की सर्व प्रवृत्ति सफल होती है...** ऐसा निश्चय भेदज्ञान का अनुभव और विकल्प आदि है, उसकी स्थिति, षट्द्रव्य की श्रद्धा, नग्नमुद्रा—ऐसी स्थिति जहाँ हो, वहाँ उसकी सब प्रवृत्ति सफल है। व्यवहार व्यवहाररूप से और निश्चय निश्चयरूप से। समझ में आया? अब भाई! अष्टपाहुड तो आठ वर्ष पहले वाँचन किया गया था। अब पैंतीस वर्ष हुए, छत्तीसवाँ वर्ष चलता है। सब स्पष्ट तो होना चाहिए न! स्पष्ट होना चाहिए न? स्पष्ट यह है। आठ वर्ष पहले यह वांचन हो गया है।

तथा जो इससे भ्रष्ट हुए हैं,... ऐसे मार्ग से जो कोई हट गये हैं, भ्रष्ट हुए हैं, **वे इस पंचमकाल के दोष से जैनाभास हुए हैं,...** यह काल का दोष है। आहाहा! ऐसा वीतराग मार्ग, उसमें यह काल ऐसा है कि भ्रष्ट हुए, ऐसा (कहते हैं)। मूल तो काल भ्रष्ट हुए, वह स्वयं के कारण से। ऐसे काल में ऐसा हुआ, ऐसा कहते हैं। नहीं तो वीतरागमार्ग अनादि का इन्द्रों ने स्वीकार किया, गणधरों ने पालन किया, तीर्थंकरों ने ग्रहण किया, उन्होंने प्ररूपित किया, ऐसा अनादि वीतरागमार्ग, उसमें से यह काल ऐसा हलका, इसीलिए उसमें से जीव भ्रष्ट हुए। समझ में आया? **जैनाभास हुए हैं,...** देखो! जैन नहीं परन्तु जैन जैसा दिखाव। यह तो मोक्षमार्गप्रकाशक में स्पष्ट कहा, वह यह बात है। अन्यमत में डाला है, यह बात है। यहाँ पण्डित जयचन्दजी ने स्पष्टीकरण किया है। मूल पाठ में यह आता है। समझ में आया? श्वेताम्बर, तपगच्छ और स्थानकवासी ये सब जैनाभास हैं। जैन नहीं। ऐ... रतिभाई! यह तुम सब पूरी जिन्दगी उसमें (रहे)। ये सेठ ऐसा है। पुस्तक है? पुस्तक नहीं होगी। पुस्तक नहीं? है। उसमें से पढ़ना। ग्यारहवीं गाथा। समझ में आया?

सम्प्रदाय के आग्रहवालों को तो ऐसा लगता है कि यह तो हमें जैनाभास कहते हैं। जैन नहीं कहते। ऐसा कहते हैं, परन्तु क्या हो? वस्तु तो ऐसी है, बापू! अनादि की वस्तु की स्थिति ही ऐसी है। यह तो वस्तु के स्वरूप की मर्यादा है। मुनिपने की मर्यादा, जैनशासन की हद, मोक्षमार्ग की अभ्यन्तर और बाह्यदशा, विकल्प आदि बाह्य और

नग्नदशा बाह्य, ऐसा ही उसका अनादि का स्वरूप है। यह बात... भगवान तीर्थंकरों ने, केवलियों ने कहा है, महाविदेहक्षेत्र में भगवान भी इसी प्रकार से कहते आये हैं। इसमें पक्ष-वक्ष नहीं होगा ? लक्ष्मीचन्दभाई ! ये सब यह बैठे हैं। रामजीभाई ! ये स्थानकवासी थे। तुम मन्दिरमार्गी थे। रतिलाल स्थानकवासी थे, ये भी स्थानकवासी थे, सब जोबालिया। छबीलभाई स्थानकवासी थे। मार्ग यह है, कहते हैं। आहाहा ! यह किसी व्यक्ति के प्रति बात नहीं है, द्वेष की बात नहीं है, वस्तु का स्वरूप ऐसा है, भाई ! ऐसे सत्य को स्वीकार नहीं करके दूसरा स्वीकार करेगा तो भ्रमणा में पड़कर भटकेगा। सत्य हाथ नहीं आयेगा।

पहले श्वेताम्बर को लिया। श्वेत-अम्बर। जिनके श्वेत वस्त्र हैं। पीले तो बाद में पीछे से हुए हैं उन लोगों में। उनमें अन्तर्भेद से यह स्थानकवासी ढूँढ़िया निकले। वे सब जैनाभास हैं, जैन नहीं; अजैन हैं। ऐ... मगनभाई ! यह सब उसमें जन्मे हुए। श्रद्धा वह है न, मार्ग तो यह है, भाई ! अब तो बहुत समय के बाद बहुत खुल्ला आने पर स्पष्ट आवे न ! क्यों, चिमनभाई ! यह क्या ? वढ़वाण में तो शोर मचाते थे। पहले-पहले आये न (संवत्) १९९९ में। कितने ही यह बोलते थे। तुम्हारे फोआभाई का डेला, उसमें से कितने ही बोलते थे। कितनों को भ्रष्ट किया ! ऐसा बोलते थे। १९९९ में पहले गये न, कितने ही कहते थे। कुछ कहता था। अपने को नाम (खबर नहीं होती)। आवाज आयी थी। लोग ऐसा कहते हैं, गाँव में आकर कितनों को भ्रष्ट किया। अरे... भगवान ! मार्ग तो यह है, बापू ! भाई ! उसे जँचा हो उस प्रकार से, दूसरा नहीं होता ? जिन्दगी में सुना न हो कि यह क्या है ? जाधवजीभाई ! तुम्हारी महिलाएँ वहाँ ढूंढिया में प्रमुख थी। सेठ लोग सामने होवे न, इसलिए महिलाएँ भी फिर सामने पड़ती हैं। यह तो यहाँ आने पर मुश्किल-मुश्किल से आये। ...नहीं तो मैं चला जाऊँगा। तुम्हारा कहता था। यह सब... क्या कहलाता है ? दिलीप... दिलीप। दादी ऐसा कहती थीं। आने के बाद तो ऐसा हो गया कि ओह ! यह तो मार्ग दूसरा लगता है।

श्वेताम्बर, उसमें मूर्तिपूजक और ढूंढिया दोनों आये। श्वेताम्बर निकले उन्होंने तो वस्त्र, पात्र आदि वेश बदला और इन्होंने तो फिर मूर्ति को उड़ाया। अनादि की मूर्ति जैनदर्शन में थी, समझ में आया ? ....है या नहीं ? मार्ग यह है। ऐ... नागरभाई !

मुमुक्षु : इसीलिए तो सबने स्वीकार किया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो अब स्पष्ट होता है कि इसमें कुछ फेरफार दूसरा हो, वह जैनमार्ग नहीं है। नागरभाई! बराबर है? यह चिमनभाई ये... ये मन्दिरमार्गी थे। ऐई! मार्ग अलग! प्रभु का मार्ग निश्चय और व्यवहार तथा वेश तीनों अलग प्रकार हैं, ऐसा कहते हैं। निश्चय में तीन दर्शन, ज्ञान और चारित्र की परिणति। व्यवहार में अट्ठाईस मूलगुण आदि के विकल्प वेश दिगम्बर मुद्रा। ऐसा मार्ग अनादि का वीतराग का था। अनादि का यह मार्ग है।

श्वेताम्बर, द्राविड़,... उसमें कोई पन्थ होगा। **यापनीय,...** यापनीय संघ दिगम्बर में से निकला हुआ यापनीय संघ है। नग्न रहते थे, स्त्री को मोक्ष मानते थे। श्वेताम्बर के शास्त्र को मानते थे। यापनीय संघ, परन्तु वापस नग्न रहते थे। स्त्री को मुक्ति मानते थे, भगवान को रोग, यह सब मानते थे। श्वेताम्बर के शास्त्र मानते हैं। वे सब भ्रष्ट होकर निकले हुए हैं। **गोपुच्छ–पिच्छ,...** कोई गाय की पूँछ रखते होंगे, मोरपिच्छी छोड़कर। **निःपिच्छ...** पिच्छी बिना कोई साधु निकले। भगवान के मार्ग में अनादि की मोरपिच्छी थी। समझ में आया? यह ऊन का क्या कहलाता है? रजोणा और वोच्छा वह कहीं नहीं था। ऐ... हेमाणी! गुलाबचन्दभाई! अब तो सब पुराने हो गये, इसलिए बहुत नहीं भड़कते। आहाहा!

पाँच संघ हुए हैं; उन्होंने सूत्र सिद्धान्त अपभ्रंश किये हैं। भगवान के कहे हुए अनादि–सनातन शास्त्रों को अपभ्रंश किया है। सूत्र और उसके नियम **जिन्होंने बाह्य वेष को बदलकर आचरण को बिगाड़ा है,...** मूल तो अन्दर बिगाड़ा है और वेष बिगाड़ा है। **जिन्होंने बाह्य वेष को बदलकर आचरण को बिगाड़ा है,...** पूरा वेष पलटकर सब आचरण बिगाड़ा। आहाहा! बहुत ये सब है न एक? अमरचन्द स्थानकवासी में है। अब सबको इकट्ठा होना है। परन्तु इकट्ठे किस प्रकार हों इसमें? एक आगरा में है, अमरचन्द स्थानकवासी। बहुत पढ़ा हुआ, बहुत पढ़कर खिचड़ी करता है। सबका समन्वय करता है परन्तु इसमें समन्वय किसके साथ करना? भाई! मार्ग ऐसा है, बापू! केवली तीर्थंकरों ने, परमेश्वरों ने यह आदर किया था, वह मार्ग इस प्रकार से भगवान ने कहा। समझ में आया?

वे जिनमत के मूलसंघ से भ्रष्ट हैं,... वे सब जिनमत का मूलसंघ जो अनादि

का था, उससे पृथक् पड़कर भ्रष्ट हुए हैं। वह जैनमार्ग नहीं है। समझ में आया? गजब कठिन काम, भाई! ऐसा खुल्ला! यह तो आचार्यों ने खुल्ला करके रखा है। कुन्दकुन्दाचार्य ने वस्तु की स्थिति जगत के समक्ष प्रसिद्ध की है। ऐ... दामोदरभाई! यह पहले पक्का है। यह ऐसा मार्ग है। अनादि काल का यह मार्ग है, कहीं नया नहीं है। नये तो ये सब निकले हुए हैं। भ्रष्ट होकर निकले हुए मार्ग हैं। आहाहा!

जिनमत के मूलसंघ से भ्रष्ट हैं, उनको मोक्षमार्ग की प्राप्ति नहीं है। उन्हें सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र होता ही नहीं, ऐसा कहते हैं। पण्डितजी! भ्रष्ट हुए। उसमें जन्मे हों और साधु हो, तो कहते हैं उन्हें सम्यग्दर्शन ज्ञान नहीं होता और मोक्षमार्ग होता ही नहीं। छबीलभाई! तुम भी इसमें बराबर आये। सवेरे समयसार में समय मिलता नहीं। नरसिंहभाई थे। अपने नरसिंहभाई कोठारी, नहीं? क्या हो? भाई! सत्य बात तो जो है, वह है। किसी व्यक्ति के प्रति अनादर के लिये है, ऐसा भी नहीं है। ऐसा उसके प्रति द्वेष है – ऐसा भी नहीं है। वस्तु की स्थिति ही ऐसी है। वहाँ क्या हो? दूसरे प्रकार से उसका किस प्रकार मार्ग निकालना? देवीचन्दजी! यहाँ तो वैष्णव और जैन को... पृथक् किया। मूल में अन्तर है। अर..र..र! गजब बात! ऐसा कौन जाने काल ही ऐसा है। कोई देव भी आता नहीं क्योंकि सबके भाव ऐसे पाप के पोषण के बढ़ते हैं न! देव भी कहाँ से आवे? आहाहा!

ऐसा भगवान का मार्ग, कहते हैं उसकी श्रद्धा-सम्यग्दर्शन तो प्रगट कर। मार्ग तो ऐसा है। व्यवहार में दिगम्बर मुद्रा, पंच महाव्रत के परिणाम, अट्ठाईस मूलगुण... आदि। और निश्चय में भी रत्नत्रय का परिणमन। ऐसे मार्ग की, विकल्प से भिन्न करके स्वभाव का अनुभव, श्रद्धा कर तो उसे सम्यग्दर्शन होगा; नहीं तो सम्यग्दर्शन नहीं होगा। समझ में आया?

मोक्षमार्ग की प्राप्ति मूलसंघ के श्रद्धान-ज्ञान-आचरण ही से है... मोक्षमार्ग। सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र की प्राप्ति तो मूलसंघ में अनादि का मार्ग है, उसका श्रद्धान। मूलसंघ का श्रद्धान, मूलसंघ का ज्ञान और उसके आचरण से है। **ऐसा नियम जानना।** यह नियम है। यह कायदा है। रामजीभाई कहा था न? नियम में। नियम आया था न समयसार, ऐसा कायदा अनादि का है। ऐसा नियम किसी ने किया है, ऐसा है नहीं। वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। आहाहा!

गाथा-१२

आगे कहते हैं कि जो यथार्थ दर्शन से भ्रष्ट हैं और दर्शन के धारकों से अपनी विनय कराना चाहते हैं, वे दुर्गति प्राप्त करते हैं –

जे[१] दंसणेसु भट्ठा पाए पाडंति दंसणधराणं।
ते होंति लल्लमूआ बोही पुण दुल्लहा तेसिं।।१२।।

ये दर्शनेषु भ्रष्टाः पादयोः पातयंति दर्शनधरान्।
ते भवंति लल्लमूकाः बोधिः पुनः दुर्लभा तेषाम् ।।१२।।

दृग-भ्रष्ट जो दर्शन-सहित से पैर पुजवाते उन्हें।
बोधि कठिन है हों सदा वे मूक लूले भविष्य में।।१२।।

अर्थ – जो पुरुष दर्शन में भ्रष्ट हैं तथा अन्य जो दर्शन के धारक हैं, उन्हें अपने पैरों पड़ाते हैं, नमस्कारादि कराते हैं, वे परभव में लूले, मूक होते हैं और उनके बोधि अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति दुर्लभ होती है।

भावार्थ – जो दर्शन भ्रष्ट हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं और दर्शन के धारक हैं वे सम्यग्दृष्टि हैं; जो मिथ्या-दृष्टि होकर सम्यग्दृष्टियों से नमस्कार चाहते हैं वे तीव्र मिथ्यात्व के उदय सहित हैं, वे परभव में लूले, मूक होते हैं अर्थात् एकेन्द्रिय होते हैं, उनके पैर नहीं होते, वे परमार्थतः लूले-मूक हैं, इस-प्रकार एकेन्द्रिय-स्थावर होकर निगोद में वास करते हैं, वहाँ अनन्तकाल रहते हैं; उनके दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति दुर्लभ होती है; मिथ्यात्व का फल निगोद ही कहा है। इस पंचम काल में मिथ्यामत के आचार्य बनकर लोगों से विनयादिक पूजा चाहते हैं, उनके लिए मालूम होता है कि त्रसराशि का काल पूरा हुआ, अब एकेन्द्रिय होकर निगोद में वास करेंगे – इसप्रकार जाना जाता है।

---

१. मुद्रित संस्कृत सटीक प्रति में इस गाथा का पूर्वार्द्ध इसप्रकार है जिसका यह अर्थ है कि ''जो दर्शन-भ्रष्ट पुरुष दर्शनधारियों के चरणों में नहीं गिरते हैं'' ह्न

''जे दंसणेपु भट्ठा पाए न पडंति दंसणधराणं''ह्न

उत्तरार्ध समान है।

गाथा-१२ पर प्रवचन

आगे कहते हैं कि... अब कहते हैं कि **जो यथार्थ दर्शन से भ्रष्ट हैं और दर्शन के धारकों से अपनी विनय कराना चाहते हैं, वे दुर्गति प्राप्त करते हैं –**

जे दंसणेसु भट्ठा पाए पाडंति दंसणधराणं।
ते होंति लल्लमूआ बोही पुण दुल्लहा तेसिं।।१२।।

नीचे टीका की गाथा में एक आधा पद (में) अन्तर है।

''**जो दर्शन–भ्रष्ट पुरुष दर्शनधारियों के चरणों में नहीं गिरते हैं**''–अस्ति से लिया है। दर्शनभ्रष्ट पुरुष जो हैं, वे '**दर्शनधारियों के चरणों में नहीं गिरते हैं**' वे अज्ञानी हैं, ऐसा कहते हैं। सम्यग्दृष्टि पुरुष धर्मात्मा हैं, उन्हें सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट पुरुष चरणवन्दन नहीं करते, वे एकेन्द्रिय निगोद में जानेवाले हैं, कहते हैं। ऐ... सुजानमलजी! यह सादड़ी में कहे तो वहाँ शोर मचाये।

अर्थ – **जो पुरुष दर्शन में भ्रष्ट हैं तथा अन्य जो दर्शन के धारक हैं, उन्हें अपने पैरों पड़ाते हैं, नमस्कारादि कराते हैं, वे परभव में लूले, मूक होते हैं...** लूले अर्थात् पैर नहीं और मूक अर्थात् जीभ नहीं। अर्थात् एकेन्द्रिय होते हैं, ऐसा। मूल तो निगोद का अर्थ है। इसका फल निगोद ही है। समझ में आया? लूला और मूक। आहाहा!

एक व्यक्ति कहता था, आहाहा! जिनवाणी से ज्ञान नहीं होता? जिनवाणी, वह परवस्तु? आहाहा! उसे जीभ नहीं मिलेगी। बात तो सत्य है। वास्तविक वीतरागता प्राप्त हो, उसे जीभ क्या, शरीर नहीं मिलेगा, फिर जीभ कहाँ से मिलेगी? जिनवाणी परवस्तु है। स्व का आश्रय करके सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हों, तब ऐसे निमित्त होते हैं। जिनवाणी, देव, गुरु, शास्त्र की श्रद्धा का विकल्प आदि होते हैं। समझ में आया?

दर्शन के धारक हैं, उन्हें अपने पैरों पड़ाते हैं,... ऐसे भाव करते हैं, हों! वह कहीं पड़ाता नहीं। **वे परभव में लूले, मूक होते हैं और उनके बोधि अर्थात् सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की प्राप्ति दुर्लभ होती है।** जिन्हें सम्यग्दर्शन हुआ है, उन जीवों से (जो) सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं, उनसे बहुमान कराना चाहते हैं। बहुमान क्यों नहीं

करते ? हम तुझसे दीक्षा में बड़े हैं। पचास वर्ष की दीक्षा है, हमारी साठ वर्ष की दीक्षा है। कहते हैं कि ऐसे अज्ञानी जीव लूले, मूक होंगे। पैर नहीं मिलेंगे और जीभ नहीं मिलेगी। **उनके बोधि अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति दुर्लभ होती है।** ऐसे पंचम काल में ऐसे उत्तम तत्त्व का श्रवण, ऐसा योग मिला, तथापि कहते हैं कि ऐसा जो करेगा... समझ में आया ? उसे बोधि प्राप्त होना दुर्लभ होगी।

भावार्थ **– जो दर्शन भ्रष्ट हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं...** मूलसंघ की मान्यता से विरुद्ध हो गये, वे मिथ्यादृष्टि हैं, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? चाहे तो श्वेताम्बर के संघ को माने, श्वेताम्बर के सूत्र को माने, श्वेताम्बर के साधु आर्यिका को माने, स्थानकवासी सूत्र को माने, वे सब मूलसंघ से भ्रष्ट हुए मिथ्यादृष्टि हैं। ऐ.. छबीलभाई ! घर में महिलाओं को यह सब जँचना कठिन पड़े। कभी सुना न हो बेचारियों ने, बाड़ा में जन्मे हों। आहाहा ! दो हजार वर्ष पहले पन्थ निकला, उसकी खबर भी नहीं होगी। उनमें से यह स्थानकवासी पाँच सौ वर्ष पहले निकले। उनमें से यह तेरापन्थी निकले। सब मूलसंघ से भ्रष्ट मिथ्यादृष्टि हैं। समझ में आया ? जाधवजीभाई ! तुम्हारे पुस्तक नहीं ? पुस्तक नहीं ? अष्टपाहुड है या नहीं ? एक भी नहीं ? अष्टपाहुड पुस्तक ही नहीं घर में ? ....महिलाओं के पास नहीं ? नहीं होगी। मिलती नहीं। अब मिलती नहीं, समाप्त हो गयी है। अब सेठी कुछ छपाने का भाव करते हैं।

जो कोई दर्शनभ्रष्ट है अर्थात् मूलसंघ के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और मूलसंघ के अट्ठाईस मूलगुण के विकल्प और मूलसंघ की दिगम्बर नग्नदशा, उसे न मानकर दूसरे माननेवाले हुए, वे सब मिथ्यादृष्टि हैं। पहले ऐसा निकला हो, तब तो ये भगें परन्तु अब तो बहुत वर्ष हुए। अब नहीं भगते। मार्ग तो यह है, भाई ! आहाहा !

और दर्शन के धारक हैं, वे सम्यग्दृष्टि हैं;... ऐसे दर्शन को जो अन्तर से मानता है, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र—ऐसी वीतरागी पर्याय, वह मोक्षमार्ग है; अट्ठाईस मूलगुण के विकल्प, वह व्यवहार है; नग्न-दिगम्बर, वह निमित्तरूप से अजीव की दशा है। उस अजीव को, आस्रव को, संवर-निर्जरा को और जीव को (मानता है)। इस प्रकार जीव का स्वरूप है। समझ में आया ? जीवद्रव्य को जीवद्रव्यरूप से। मोक्षमार्ग की पर्याय संवर, निर्जरारूप से और विकल्प उसे उस प्रकार का होता है, ऐसा जो अट्ठाईस मूलगुण का

(विकल्प) उसे आस्रवरूप से (मानता है)। अजीव का संयोग नग्नदशा होती है, दूसरी (दशा) उसे नहीं हो सकती। अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा और आत्मा, यह सब आ गया इसके अन्दर। आहाहा! उसमें एक में (भी) कुछ अन्तर करे तो नवतत्त्व की विरुद्ध श्रद्धा है। बराबर है?

दर्शन के धारक हैं, वे सम्यग्दृष्टि हैं;... स्वरूप, ऐसे अट्ठाईस मूलगुण के विकल्प और नग्नदशा। उससे भिन्न करके स्वरूप की दृष्टि (होना), वह सम्यग्दर्शन है परन्तु श्रद्धा में पहले यह सब लिया हुआ है कि ऐसा मोक्ष का मार्ग तीन रत्नवाला और अट्ठाईस मूलगुण के विकल्प तथा नग्नमुद्रा (होती है), ऐसी श्रद्धा करके स्वभाव का भेदज्ञान किया, ऐसे जीव दर्शन के धारक हैं, सम्यग्दृष्टि हैं।

जो मिथ्यादृष्टि होकर सम्यग्दृष्टियों से नमस्कार चाहते हैं... हमें क्यों नमन नहीं करते? क्यों हमारा आदर नहीं करते? कहो, समझ में आया? क्यों हमें आहार-पानी नहीं देते? अभी विवाद उठता है न? यहाँ तो कितने ही कहते हैं, क्यों हमारा आदर नहीं करते? तुझे किसका आदर करे? सुन न!

मुमुक्षु : आदर कराने को...

पूज्य गुरुदेवश्री : वह फिर अलग बात है परन्तु ऐसा कि महिमा है, शास्त्र में बड़े हों, जो जानपने में हों, चारित्र की पचास वर्ष पहले की ली हुई हो और आजकल के हों, वे उन्हें नमन करे नहीं?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : सब मिथ्या-मिथ्या, ढकोसला है। ऐसा है, भाई! क्या हो? ऐ.. शान्तिभाई! देखो! ऐसा इसमें निकला।

मुमुक्षु : बराबर है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बराबर है?

मुमुक्षु : यह तो थोड़ा दृढ़ हो गया है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यह कहते हैं। ...और यात्रा-वात्रा हो गयी... फिर पुण्य हो। बापू! मार्ग तो पहले से यह है, ठेठ से। समझ में आया? अकेला पुण्य इतने से नहीं, पुण्य

से पृथक् पड़कर अपनी श्रद्धा, अनुभव करे, उसका नाम सम्यग्दर्शन है। समझ में आया? उस सम्यग्दर्शन में ऐसा मार्ग वीतराग का होता है, यह उसकी प्रतीति में आ जाता है। अनादि सनातन मार्ग है। आहाहा! समझ में आया? जयन्तीभाई! अभी इसे मन्दिर बनाना है न? गढडावाले पीछे रह गये। आहाहा! अकेला क्या करे? वापस पैसा चाहिए न! कहो समझ में आया?

जो मिथ्यादृष्टि होकर सम्यग्दृष्टियों से नमस्कार चाहते हैं, वे तीव्र मिथ्यात्व के उदय सहित हैं, वे परभव में लूले, मूक होते हैं अर्थात् एकेन्द्रिय होते हैं, उनके पैर नहीं होते, वे परमार्थतः लूले-मूक हैं,... देखो! स्पष्टीकरण ही किया है। आहाहा! वीतरागपरमेश्वर का अनादि मार्ग है, उससे भ्रष्ट हुए, सम्यग्दृष्टि से बहुमान करावे, कराने का भाव रखें... समझ में आया? वे एकेन्द्रिय होनेवाले हैं।

इस प्रकार एकेन्द्रिय-स्थावर होकर निगोद में वास करते हैं,... वे एकेन्द्रिय-निगोद होनेवाले हैं। एकेन्द्रिय स्थावर होकर निगोद में टिके रहेंगे। अवतार... आहाहा! तत्त्व के अनाराधक अथवा विराधक, वे निगोद और तत्त्व के आराधक, वे सिद्ध। यह मूल स्थिति है। बीच की स्थिति तो फिर गति है। समझ में आया? **वहाँ अनन्तकाल रहते हैं;...** आहाहा! एकेन्द्रिय और निगोद दो होकर अनन्त काल। निगोद का अर्धपुद्गल है। सूक्ष्म और बादर निगोद है न? सूक्ष्म निगोद और बादर निगोद, दो में होकर अर्धपुद्गल (परावर्तन)। समझ में आया? और पृथ्वी, जल, अग्नि आदि एकेन्द्रिय और सूक्ष्म और बादर निगोद, ये सब होकर असंख्य पुद्गलपरावर्तन होते हैं। आहाहा! इसका तो समुच्चय रखा होगा न? अर्धपुद्गल भी अनन्त काल कहलाता है।

उनके दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति दुर्लभ होती है;... ऐसे जीवों को सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का योग अनन्त काल में दुर्लभ होगा। मनुष्यपना न प्राप्त करे, तब उन्हें श्रवण मिलना तो कब मिले? महादुर्लभ है। पूरा फेरफार हो गया। खबर नहीं, खबर नहीं। आहाहा! ऐसा मार्ग है। यह तो अनादि का तीर्थंकर का भरत में, ऐरावत में और महाविदेह में ऐसा ही मार्ग है, दूसरा हो सकता ही नहीं।

मुमुक्षु : दिगम्बर नाम धारक...

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, सत्य बात है। परन्तु अब क्या हो? ऐसी बात करे, वहाँ

(ऐसा कहे), ऐसी बाहर की क्रिया चाहिए, बाहर की क्रिया अमुक, अमुक क्रिया (चाहिए) अब सुन न! बाहर की क्रिया। आहाहा! बाहर का त्याग, तप और क्रिया के कारण कर्ताबुद्धि में रच-पच गये और माने कि हम कुछ अधिक हो गये। दिगम्बर में ऐसा हो गया है। आहाहा!

मिथ्यात्व का फल निगोद ही कहा है। प्रसिद्ध होओ कि मिथ्यात्व ही संसार है, ऐसा नहीं आता अपने? भाई! समयसार नाटक में भावार्थ में। मिथ्यात्व ही संसार है। विपरीत मान्यता—वीतरागमार्ग की श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र, विकल्प और वेष—ऐसे मार्ग से विपरीतता, ऐसा जो मिथ्यात्वभाव वह संसार है। स्त्री, पुत्र छोड़े और नग्न हुए और वस्त्र छोड़कर साधु हुए, तो कहते हैं सब मिथ्यात्व हुआ। ऐसी सब बातें। आहाहा! मिथ्यात्व की पुष्टि करनेवाले निकले। शासन के शत्रु। पढ़ें हैं बी.ए.... बी.ए.। पढ़े हों या इकॉनोमी का पढ़े हों। भटकना है। इस मार्ग की अन्तर श्रद्धा जिसे नहीं, सब लिंग में साधु-साध्वीपना मानते हैं, पंच महाव्रत के विकल्प का भी ठिकाना नहीं, उनके कहे हुए शास्त्र में कहा, वैसा भी है नहीं। यहाँ तो भगवान ने कहा हुआ, वैसी सम्यग्दर्शन, ज्ञान की परिणति और उसके पंच महाव्रत आदि के विकल्प, व्यवहारबन्ध के कारणरूप और मुद्रा, इसके अतिरिक्त सब मार्ग जैन से भ्रष्ट है। सेठी! तुम तो दिगम्बर में जन्मे थे। बाह्य। यह शीघ्र नहीं बोलते। इन्होंने भी जवाब दिया, जन्मे तो क्या हुआ?

मिथ्यात्व का फल निगोद ही कहा है। समझ में आया? उसमें है, हों! समयसार नाटक में। मोक्ष अधिकार - नौवें अधिकार का सार लिखा है न? **प्रसिद्ध है कि मिथ्यात्व ही आस्त्रव-बन्ध है... प्रगट है कि मिथ्यात्व ही आस्त्रव-बन्ध है... मिथ्यात्व का अभाव अर्थात् सम्यक्त्व से संवर निर्जरा तथा मोक्ष है...** समझ में आया? मोक्ष अधिकार पूरा किया न, फिर से...

इस पंचम काल में मिथ्यामत के आचार्य बनकर... ऐसे पंचम काल में ऐसी मिथ्याश्रद्धा के प्रमुख बनकर **लोगों से विनयादिक पूजा चाहते हैं,...** लोक में आचार्य, उपाध्याय और साधु (रूप का) विनय आदि उनसे चाहते हैं। **उनके लिए मालूम होता है कि त्रसराशि का काल पूरा हुआ,...** आहाहा! ऐ... मगनभाई! यहाँ कोई गड़बड़ नहीं चलती, यहाँ कहते हैं। त्रस की स्थिति दो हजार सागर की है। ऐसे मिथ्यामत और

फिर उसके आचार्य हुए, ऐसा कहते हैं प्रमुख। साधु, आचार्य, उपाध्याय, उनके बड़े सेठ (हुए) क्या कहलाता है ? संघ के नायक। गृहस्थ भी, हों ! संघ के मुख्य सेठ होते हैं न ?

इस पंचम काल में मिथ्यामत के आचार्य बनकर लोगों से विनयादिक... बहुमान, संघपति इत्यादि चाहते हैं। **पूजा चाहते हैं, उनके लिए मालूम होता है कि त्रसराशि का काल पूरा हुआ,...** आहाहा ! त्रस की स्थिति दो हजार (सागर) की पूरी हो गयी लगती है। मरकर एकेन्द्रिय निगोद में जाएँगे। आहाहा ! सिर तोड़ डाले...। ....भाई ! यहाँ लोक में बड़े त्यागी, साधु, उपाध्याय और पण्डित को क्या कहा जाता है ? विद्यावाचस्पति, गणाधिपति ऐसे नाम धराकर पूजा चाहते हैं, (उनकी) त्रस की स्थिति पूरी हुई। **अब एकेन्द्रिय होकर निगोद में वास करेंगे...** त्रस की स्थिति पूरी हुई लगती है। वे एकेन्द्रिय में जाकर वहाँ निश्चिन्तता से वास करेंगे। **इसप्रकार जाना जाता है।** ऐसा जानने में आता है। आहाहा ! मिथ्या श्रद्धा के नायक, प्रमुख, सेठ-सेठानी। सेठानी वह है न ? सामने... प्रौषध, सामायिक, उसमें ऐसा होता है, उसका ऐसा होता है। मिथ्यामत की प्रमुख महिलाएँ होती हैं। कहते हैं, उनकी त्रसस्थिति पूरी होने को आयी है।

एक बार कहा था न ? मोहनलालजी थे न ? मोहनलालजी। वढवाण के। नहीं ? मोहनलालजी मणिलालजी। एक वे थे न ? तब नहीं थे... वढवाण के मलूकचन्द। पैर न पड़े तो कौन है ? ऐसा कहते थे। चरमशरीरी लगता है, ऐसा बोले। अर्थात् तुम्हारा अन्तिम शरीर लगता है, ऐसा कहे। हमारे पैरों नहीं पड़ते ? आहाहा ! तुझे... वह तो ले। ऐसा एक बार बोले थे। यह सुन्दर वोरा के उपाश्रय में। सुन्दर वोरा का उपाश्रय है न ? वहाँ मोहनलालजी थे। मैं आकर पैरा में नहीं पड़ा। वे सब गुलाबचन्दजी के भगत थे। मलूकचन्द और वे नहीं ? मलूकचन्द का साला। नहीं ? बूटमाता का ओझा, दो-दो हजार लोग आते थे। (संवत्) १९८२ हमारा चातुर्मास था। सब आते। बहुत अपने जैन भी आते थे, हों ! स्थानकवासी। महाराज, यह कैसे ? कहा, यह गप्प है। गप्प-गप्प है, सत्य जरा भी होवे तो भी यह मान्यता यह तो व्यन्तरी, कोई भूतड़ी... यह मेरा न माने। बूटदेवी... बूटदेवी का था न ? १९८२ में बहुत माने। लाठी पहले गाँव आता है। लालपर... लालपर न ? करोड़पति आते हैं। तब आते थे। दर्शन करने आते। किसके लिये आये हैं ? बूटमाता। अरे ! परन्तु यह ? सामायिक करनेवाले जैन को यह बूटमाता कैसी ? आहाहा ! भ्रमणा।

यहाँ तो तीर्थंकर उस बूटमाता को मानते नहीं परन्तु तीर्थंकर ने कहे हुए ऐसे मार्ग से भ्रष्ट हुए को, यह सब त्रस की स्थिति पूरी हुई प्रमुख की बात है, हों! साधारण मनुष्य निगोद आदि में जाता है। समझ में आया? अब इसमें समन्वय कब करना? आहाहा! मलमल का एक दो हाथ का एक लम्बा, चौड़ा टुकड़ा और एक सांधी हुई थैली, दोनों को सांधे और फिर ओढ़े तो मूर्ख कहते हैं। दो किसलिए? रखते हैं।....गर्मी में पतला ओढ़े और मोटा नीचे रखे, सर्दी में मोटा ऊपर ओढ़कर पतला नीचे रखे। दो रखना मिटे। ...पतला और मोटा। नीचे रखे। दो पाट रखे। यह तो अकेला मलमल का, अकेला सरबत का टुकड़ा पाँच हाथ का लम्बा और उसके साथ नीचे वारदान। वारदान का टुकड़ा सांधा हुआ। कोथला समझते हो? वारदान। सूतली... सूतली का। मूरख कहेंगे। इसी प्रकार वीतरागमार्ग ऐसा होता है, उसके साथ विपरीत मार्ग है, उनका दोनों का मेल करे तो उससे भी महा विपरीत है। आहाहा!

गाथा-१३

आगे कहते हैं कि जो दर्शन से भ्रष्ट हैं, उनके लज्जादिक से भी पैरों पड़ते हैं, वे भी उन्हीं जैसे ही हैं –

जे वि पडंति य तेसिं जाणंता लज्जागारवभयेण।
तेसिं पि णत्थि बोही पावं अणुमोयमाणाणं।।१३।।

येऽपि पतन्ति च तेषां जानंतः लज्जागारवभयेन।
तेषामपि नास्ति बोधिः पापं अनुमन्यमानानाम्।।१३।।

जो जानते भी उन्हें गारव भय शरम से पूजते।
बोधि नहीं है उन्हें भी वे पाप ही अनुमोदते।।१३।।

अर्थ **– जो पुरुष दर्शन सहित हैं वे भी जो दर्शन भ्रष्ट हैं उन्हें मिथ्यादृष्टि जानते हुए भी उनके पैरों पड़ते हैं, उनकी लज्जा, भय, गारव से विनयादि करते हैं, उनके भी बोधि अर्थात् दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति नहीं है, क्योंकि वे भी मिथ्यात्व जो कि पाप है उसका अनुमोदन करते हैं। करना, कराना, अनुमोदन करना समान कहे हैं।**

यहाँ लज्जा तो इसप्रकार है कि हम किसी की विनय नहीं करेंगे तो लोग कहेंगे यह उद्धत है, मानी है, इसलिए हमें तो सर्व का साधन करना है। इसप्रकार लज्जा से दर्शनभ्रष्ट के भी विनयादिक करते हैं तथा भय इसप्रकार है कि यह राज्यमान्य है और मंत्र, विद्यादिक की सामर्थ्ययुक्त है, इसकी विनय नहीं करेंगे तो कुछ हमारे ऊपर उपद्रव करेगा; इसप्रकार भय से विनय करते हैं तथा गारव तीन प्रकार कहा है; रसगारव, ऋद्धिगारव, सातगारव। वहाँ रसगारव तो ऐसा है कि मिष्ट, इष्ट, पुष्ट भोजनादि मिलता रहे, तब उससे प्रमादी रहता है तथा ऋद्धिगारव ऐसा है कि कुछ तप के प्रभाव आदि से ऋद्धि की प्राप्ति हो उसका गौरव आ जाता है, उससे उद्धत, प्रमादी रहता है तथा सातगारव ऐसा है कि शरीर निरोग हो, कुछ क्लेश का कारण न आये तब सुखीपना आ जाता है, उससे मग्न रहते हैं ह्न इत्यादिक गारवभाव की मस्ती से भले-बुरे का कुछ विचार नहीं करता, तब दर्शनभ्रष्ट की भी विनय करने लग जाता है। इत्यादि निमित्त से दर्शन-भ्रष्ट की विनय करे तो उसमें मिथ्यात्व का अनुमोदन आता है; उसे भला जाने तो आप भी उसी समान हुआ, तब उसके बोधि कैसे कही जाये ? ऐसा जानना।।१३।।

गाथा-१३ पर प्रवचन

आगे कहते हैं कि जो दर्शन से भ्रष्ट हैं, उनके लज्जादिक से भी पैरों पड़ते हैं, वे भी उन्हीं जैसे ही हैं... जो कोई जैनसंघ से यह सब भ्रष्ट हुए हैं—स्थानकवासी, मन्दिरमार्गी, श्वेताम्बर लोग—उन्हें कोई लज्जा से पैर पड़ते हैं। क्या करें ? पूरा परिवार मानता है। कितने गाँव के नगरसेठ उन्हें मानते हैं। हम उनके कुटुम्ब के हैं। वे मानते हैं तो हमें लज्जा से भी मानना पड़ता है। लज्जादिक से पैरों पड़ते हैं। भय आयेगा, हों! **वे भी उन्हीं जैसे ही हैं...** करे, करावे और अनुमोदन करे, तीनों समान हैं। इसमें आयेगा। मोक्षमार्गप्रकाशक में आता है न ? इसमें आयेगा। समझ में आया ? नीचे है, देखो! **उसमें मिथ्यात्व का अनुमोदन आता है; उसे भला जाने तो आप भी उसी समान हुआ,...** आहाहा! वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा ने कहा हुआ मार्ग, उससे विरुद्ध श्रद्धावाले की विनय करना, कहते हैं कि लज्जा से, ऐसे अनुकूल होंगे तो अपने को खाने-पीने का मिलेगा, चलो, मानो। लड्डुओं को! जिसके तल में लड्डु, उसके तल में हम। ऐसा कुछ बोलते

हैं न? ....बोलते हैं। जिसके तल में लड्डु ऐसा। ऐई! कुछ खबर नहीं थी। जिसमें अनुकूलता और लड्डु मिले, उसमें मिल जाएँ। श्रद्धा-ज्ञान का कुछ भान नहीं होता। आहाहा! समझ में आया?

जे वि पडंति य तेसिं जाणंता लज्जागारवभयेण।
तेसिं पि णत्थि बोही पावं अणुमोयमाणाणं।।१३।।

'**जाणंता**', हों! खबर है कि यह वास्तविक मूलमार्ग से भ्रष्ट है, ऐसा तो जानते हैं। नहीं खबर? यह सब सुनना कठिन पड़े, हों! तुम्हारे मोहनभाई और प्रमुख... कहाँ गये? मोहनभाई गये? उनके बड़े भाई हैं। ऐसे लौकिकरूप से वे परन्तु इस वस्तु की खबर नहीं होती, मार्ग की खबर नहीं होती, इसलिए क्या हो? लौकिक खानदानी इसमें क्या काम आवे? लोकोत्तर वस्तु है, वह वस्तु होनी चाहिए। आहाहा!

अर्थ – **जो पुरुष दर्शन सहित हैं, वे भी जो दर्शन भ्रष्ट हैं, उन्हें मिथ्यादृष्टि जानते हुए भी...** ख्याल में है कि यह मूल श्रद्धा से भ्रष्ट है, चारित्र से भ्रष्ट है, ज्ञान से भ्रष्ट है—ऐसा जानने पर भी **उनके पैरों पड़ते हैं, उनकी लज्जा, भय, गारव से विनयादि करते हैं, उनके भी बोधि अर्थात् दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति नहीं है,...** समझ में आया? **उनके भी बोधि अर्थात् दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति नहीं है, क्योंकि वे भी मिथ्यात्व जो कि पाप है, उसका अनुमोदन करते हैं।** अन्दर पाठ है न? '**पावं अणुमोयमाणाणं**' ऐसे मिथ्यादृष्टि को अनुमोदन करते हैं, देखो! यह अनुमोदन की व्याख्या आयी। ऐसा ठीक है, भले न बोले परन्तु आदर करते हैं, वही अनुमोदन है। समझ में आया?

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : जय-जय किसकी करते हैं? ....किसकी करते हैं? यह कहीं बारोठ है।

मुमुक्षु : पुराना परिचित।

पूज्य गुरुदेवश्री : पुराना होवे तो क्या जहर खाना? पुराना होवे तो। पुराना परिचित होवे तो अपने दोनों इकट्ठे होकर जहर पियो, ऐसा होगा? ऐसा मार्ग, बापू! आहाहा!

यह तो परमात्मा त्रिलोकनाथ सर्वज्ञदेव तीर्थंकर का ऐसा मार्ग है। ऐसे मार्ग से जिसे कुछ भी फेरफार करके निकले, ऐसों को वन्दन, विनय साधु मानकर, धर्मी मानकर आहार-पानी देना, वह सब पाप को अनुमोदन करते हैं। समझ में आया ? आहाहा!

मुमुक्षु : अनुकम्पा...

पूज्य गुरुदेवश्री : अनुकम्पा बुद्धि से देते हो या महिमा मानकर देते हो ?

मुमुक्षु : पुराने हैं, ऐसा जानकर।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह अलग। आवे उसे दे, वह तो एक साधारण (बात हुई) परन्तु उसे धर्मरूप से माना कि पधारो, पधारो महाराज, हमें बहुत लाभ हुआ। ऐसी चेष्टा हो, वह अनुमोदन है। आवे साधारण, (वह) दूसरी बात है। समझ में आया ? आहाहा!

उसका अनुमोदन करते हैं। करना, कराना, अनुमोदन करना समान कहे हैं। चाहे तो जैनदर्शन से भ्रष्ट हुए को पापी मिथ्यादृष्टि है, उसे करते हैं, उसे कोई करावे। होओ साधु तुम। और विनयादि से अनुमोदन करे, तीनों को समान पाप है। समझ में आया ? मार्ग ऐसा है, बापू! अब इसकी व्याख्या करेंगे। लज्जा किसे कहना ? और यह....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन-१३ गाथा-१३ से १५ रविवार, ज्येष्ठ कृष्ण २, दिनांक २१-०६-१९७०

दर्शनपाहुड़ की १३वीं गाथा चलती है। जो कोई धर्मीजीव होने पर भी, दूसरे मिथ्यादृष्टि हैं, ऐसा जानने पर भी उन्हें लज्जा, गारव, और भय से वन्दन करे, आदर करे तो वह भी सम्यग्दर्शनरहित ही है। उसे बोधि रीति है नहीं। है न ? बोधि शब्द है। '**तेसिं पि णत्थि बोही**' यहाँ अधिकार यह चलता है कि मूलसंघ जो अनादि का दिगम्बर पन्थ है, मोक्ष का मार्ग (है, वह) मुनि वीतरागी दशा हो, बाह्य में अट्ठाईस मूलगुण के विकल्प हों, शरीर की अवस्था नग्न हो, ऐसी मुद्रा को जैनदर्शन, जैनधर्म का मत, जैनधर्म का स्वरूप कहने में आता है। उसमें से भ्रष्ट हुए, उस सम्प्रदाय को छोड़कर अपनी दृष्टि से भ्रष्ट होकर नया पन्थ निकाला। जयन्तीभाई! ऐसो को वन्दन और आदर और आहार-पानी

देना, लज्जा, भय और अभिमान गारव आदि आयेगा, वे भी बोधिरहित ही हो जाते हैं। क्योंकि पाप करे, करावे और उसे सम्मत हो, (वह) तीनों समान हैं। समझ में आया? मनसुखभाई! ऐसी जवाबदारी बड़ी कठिन है।

पूरा मार्ग वीतराग का सर्वज्ञपरमेश्वर का सनातन धर्म, वह अन्तर में वीतरागदशा और बाह्य में नग्नदिगम्बर मुद्रा, बहुत तो बाह्य में अट्ठाईस मूलगुण के विकल्प (होते हैं)। वह स्थिति जैनधर्म की, जैनदर्शन की अनादि की है। अनन्त काल ऐसा मार्ग अनादि-अनन्त है। समझ में आया? ऐसे धर्म से भ्रष्ट होकर श्वेताम्बर आदि। स्थानकवासी... हों! जयन्तीभाई! आये? ऐसो को विनय, आदर आदि करे, पैर पड़े, धर्मबुद्धि से आहार-पानी आदि दे तो वे सब जैसे वे हैं, विनय करनेवाले वैसे ही गिनने में आते हैं। लो, यहाँ तक आया। **अनुमोदन करते हैं। करना, कराना, अनुमोदन करना समान कहे हैं।** सेठी! क्या (कहते हैं)?

मुमुक्षु : जवाबदारी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसमें जवाबदारी क्या? वस्तुस्थिति ऐसी है।

अब कहते हैं, **यहाँ लज्जा तो इस प्रकार है कि हम किसी की विनय नहीं करेंगे तो लोग कहेंगे यह उद्धत है,...** इसीलिए तो यह लड़के और सब उद्धत हो गये। कहे न? वहाँ समान न माने तो। सेठी का दृष्टान्त लिया। लो, सेठी! यदि ऐसा नहीं करें तो **लोग कहेंगे यह उद्धत है, मानी है, इसलिए हमें तो सर्व का साधन करना है।** अपने को तो सबका मन रखना है। समझ में आया? जाधवजीभाई!

मुमुक्षु : पुराने हों उनकी बात....

पूज्य गुरुदेवश्री : पुराने को क्या करना? चिमनभाई! यह चिमनभाई को कहते हैं। पुराने परिचित किसे कहना? आहाहा! जहाँ भ्रष्ट है, श्रद्धा से भ्रष्ट, मार्ग से भ्रष्ट, ज्ञान से भ्रष्ट, वीतरागचारित्र से भ्रष्ट हैं, भले वे साधु नाम धराते हों। आचार्य, उपाध्याय (कहलाते हों) यह तो कल कहा न? ऐसे मत के प्रमुखों की त्रस की स्थिति पूरी होने को आयी है। मिथ्यामत के प्रमुख, उनके सेठ, संघ के संघवी, सेठरूप से सामने बैठें, उनके आधार से सब संघ माने, ऐसे सब सेठ भी कहते हैं, सत्य धर्म से भ्रष्ट के प्रमुख होते हैं, उन सबकी

त्रस की स्थिति पूरी होने को आयी है। ऐसी बात है, बापू! क्या हो ? मार्ग तो ऐसा है। ऐ.. रविभाई! यह श्वेताम्बर है न,... यहाँ आये हैं ? हिम्मतभाई आये हैं ? ठीक, आज अवकाश है, रविवार है।

इस प्रकार लज्जा से दर्शनभ्रष्ट के भी विनय... वन्दन, आदर करे तो वह भी उनके जैसे हैं। अपने को सबका मन रखना, किसी को ऐसा न हो। अपने को बनाये रखना और सब धर्मी है न, ये लोग भी धर्म करते हैं न, ऐसा मानकर ऐसे अज्ञानी धर्म से भ्रष्ट हैं, उनका आदर करे, विनय करे, वे सब मिथ्यादृष्टि, बोधि अर्थात् वीतराग के मार्ग से दूर हैं। यहाँ सब व्याख्या स्पष्ट चलती है, हों! सोनगढ़ में। बाहर नहीं चलती। कल रामजीभाई कहते थे। अहमदाबाद में और भावनगर में और मुम्बई में (ऐसा नहीं चलता)।

मुमुक्षु : वहाँ मर्यादा में चलता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बस, बस। यह बात। वहाँ उसकी मर्यादा में ऐसी बात आती है। जो समझे वह समझे। यहाँ तो स्पष्ट बात (चलती है)। सेठी का उदाहरण देकर यहाँ तो कहा जाता है। सेठ सामने के व्यक्ति। बाद में कहेंगे, तुम तो पहले से मानते आये हो। तुम्हारा घर बड़ा कहलाता है। तुम्हारे गाँव में साधु आवें तो तुम्हारे आहार-पानी देना पड़े। एक बार, दो बार कभी एक बार तो कहो, ऐ सेठी! लज्जा से भी करे तो दर्शनभ्रष्ट के समान है।

तथा भय इसप्रकार है कि यह राज्यमान्य है... बड़ा साधु, कोई ऐसे आचार्य हों। राजा उन्हें मानता है, भाई! और उन्हें कुछ मन्त्र-तन्त्र आते हैं। **मंत्र, विद्यादिक की सामर्थ्ययुक्त है, इसकी विनय नहीं करेंगे तो कुछ हमारे ऊपर उपद्रव करेगा;...** ऐसा करके उसका विनय और आदर करे तो भी वह भ्रष्ट है। आहाहा! पण्डितजी! मार्ग तो यह है, भगवान! जानते हैं कि यह तो श्रद्धाभ्रष्ट है, तत्त्व से विरुद्ध है, सनातन वीतरागमार्ग दिगम्बर धर्म केवली ने कहा हुआ, प्ररूपित किया हुआ और जाना हुआ, अनुभव किया हुआ, उस मार्ग से विमुख होकर, भ्रष्ट होकर सब नया खड़ा किया है। समझ में आया ? ऐसों को भय से भी। लज्जा से और फिर भय से विनय आदि करे। **हमारे ऊपर उपद्रव करेगा; इस प्रकार भय से विनय करते हैं...** तो भी वे सब उसके जैसे हैं,

क्योंकि पापी है, उसका अनुमोदन करते हैं, इसलिए अनुमोदन करनेवाले वैसे ही मिथ्यादृष्टि बोधिरहित हैं। मार्ग ऐसा है। कहो, सुजानमलजी! गारव। अब रस गारव, गारव।

गारव तीन प्रकार कहा है; रसगारव, ऋद्धिगारव, सातागारव। रसगारव अर्थात्? मीठे-मीठे आहार मिले, इष्ट मिले, पुष्ट भोजन, पानी, मकान ऐसा मिलेए **तब उससे प्रमादी रहता है...** और दरकार नहीं करता कि मैं किसकी विनय करता हूँ और किसे मानता हूँ, इसकी दरकार नहीं करता। समझ में आया? जिसकी तड़ में लड्डू, ऐसा कहते थे न? हमारे एक थे। उसमें हम तो मिलते हैं। ऐई! वासुदेव! वहाँ से कुछ मिले, जीमन मिले, अमुक मिले। पहनने को मिले और जहाँ **मिष्ट, इष्ट, पुष्ट...** शब्द कैसे प्रयोग किये हैं, देखो! मिष्ट, इष्ट, पुष्ट। मीठा आहार, इष्ट आहार-प्रियकर और पुष्ट। ऐसा भोजन और पानी और मौसम्बी मिलती हो तो.. आहाहा! ऐसे गारव में, अभिमान में उसके अन्दर में प्रमादी रहकर दरकार नहीं कि मैं किसकी विनय करता हूँ और किसकी नहीं करता। भानरहित सब जीव बोधिरहित हैं। भगवान के मार्ग से रहित हैं। रिखबदासजी! तुम्हारे गाँव में तो बहुत बड़ी गड़बड़ आयी है।

ऋद्धिगारव ऐसा है कि कुछ तप के प्रभाव आदि से ऋद्धि की प्राप्ति हो... कोई ऐसा हो गया हो। राजा माने, करे, वह माने, कोई लब्धि हो उस प्रकार के पुण्य के कारण हो गयी हो। **ऋद्धि की प्राप्ति हो उसका गौरव आ जाता है,...** अभिमान हो जाता है। **उद्धत, प्रमादी रहता है...** दरकार नहीं, हम तो ऐसे हैं। हमें माननेवाले बहुत हैं, हम तपस्या करते हैं। बारह-बारह महीने के आंबेल करते हैं, ऐसे आंबेल हमने तो वर्ष में छियानवें बार किये हैं। अमुक जिन्दगी में और अमुक और अमुक। उसके कारण लोगों को मान बढ़ जाता है और बाहर के तप के कारण कोई ऋद्धि भी हो जाती है। उस ऋद्धि की प्राप्ति के कारण गौरव (हो जाता है), उद्धत, प्रमादी रहे और दरकार करे नहीं।

तथा सातागारव... शरीर निरोग हो। किसी दिन रोग न आया हो। दरकार न हो। **कुछ क्लेश का कारण न आये...** शरीर में कभी दुःख ही न आया हो, सौंठ भी न लगायी हो, ऐसा निरोग शरीर (हो), **तब सुखीपना आ जाता है,...** साताशिलिया अपनी भाषा में समझे न? साताशिलिया। अनुकूलता में बस खाना-पीना और लहर। गद्दे तकिये सोने को (मिले), ऐसा जानकर **उससे मग्न रहते हैं – इत्यादिक गारवभाव की**

मस्ती से... मस्ती आ जाए। रस में मस्ताई आ जाए। किसी को गिने नहीं। अब दूसरों को क्या गिने, अपने तो सबको मानते हैं। अपने तो समभाव है, भाई! अपने जयनारायण, सर्वत्र चावल रखना (चढ़ाना) । शाम और सवेरे में वर्ष लगे तब जाते हैं न ? लक्ष्मी पूजने। सब मूढ़ जीव हैं। कहाँ है लक्ष्मी मन्दिर ? बोटाद में है। लक्ष्मी का मन्दिर है, वहाँ जाते हैं। बहुत जाते हैं। ऐसे मूढ़ जीव, जिन्हें अभी व्यवहार की भी खबर नहीं होती, वे सामायिक, प्रौषध और तपस्या करें, बिना एक के शून्य, मिथ्यादृष्टि हैं। समझ में आया ? गारव की मस्ती हो जाती है।

भले-बुरे का कुछ विचार नहीं करता,... यह वह क्या करता हूँ ? ...खबर नहीं। **तब दर्शनभ्रष्ट की भी विनय करने लग जाता है। इत्यादि निमित्त से दर्शन-भ्रष्ट की विनय करे तो उसमें मिथ्यात्व का अनुमोदन आता है;...** जयन्तीभाई ! सत्यमार्ग था, ऐसा प्रसिद्ध किया है। समझ में आया ? **तो उसमें मिथ्यात्व का अनुमोदन आता है;... 'पावं अणुमोयमाणाणं '** है न पाठ में। **उसे भला जाने तो आप भी उसी समान हुआ,...** उसे भला जाने तो स्वयं उसके जैसा हुआ। कितने ही तो और ऐसा कहें, अपने से तो अच्छे हैं। बात सत्य।.....

यहाँ तो वीतराग जैन स्वरूप तीर्थंकरों ने कहा हुआ जैनमार्ग, वह दिगम्बरमार्ग अर्थात् दिगम्बर मुनि की दशा, वह जैनधर्म, वह जैनदर्शन, वह जैनदर्शन का मत। समझ में आया ? ऐसे मत से हटकर विरुद्ध श्रद्धा (होकर) नये शास्त्र बनाये और नया वेश बनाया और उसे मार्ग माना। ऐसों की कोई विनयादि करे तो वह भी पापी है। कहो, मोहनभाई ! न्यालभाई ! है या नहीं ? वहाँ सेठिया थे न ? सेठिया सामने बैठे। पाट के पाये के पास। ऐसा स्वरूप है। वडिया.. वडिया। वडिया कहलाता है ? वडा। वडा के सेठ, नगरसेठ। समझ में आया ? जय नारायण करना पड़े। संघ छोड़ा जाए नहीं। सेठ छोड़े तो कहे यह नहीं मानता होगा इसे ? गाँव में चर्चा होवे। चलो, भाई ! सुनने तो जाएँ अपन। इसलिए वह भी उसका आदर किया, ऐसा कहते हैं। वह भी मिथ्यात्व को ही पोषण दिया है। वह भी मिथ्यादृष्टि है। विपरीत श्रद्धा को पोषण करता है, ऐसा कहते हैं। लो।

आप भी उसी समान हुआ, तब उसके बोधि कैसे कही जाये ? मूल अन्तिम शब्द यह है न ? **'तेसिं पि णत्थि बोही पावं अणुमोयमाणाणं'** कुन्दकुन्दाचार्य, सर्वज्ञ

परमेश्वर तीर्थंकरों ने कहा हुआ यह प्रसिद्ध करते हैं। कहो, समझ में आया? भगवानदास अभी यहाँ नहीं है। उसे जहाँ हो वहाँ बैठावे। बाबा होवे तो भी बड़ा गृहस्थ व्यक्ति, इसलिए सामने (बैठावे)। आहाहा!

अब दूसरी बात करते हैं। कैसा मार्ग होता है, यह बात करते है। जैनदर्शन, जैनधर्म, जैनभाव और द्रव्यमुद्रा, जैन की भावमुद्रा और द्रव्यमुद्रा कैसी होती है? यहाँ जो सच्चा-सत्य मुनिपना है, उसे यहाँ जैनदर्शन और जैनधर्म कहने में आया है। क्योंकि वहाँ मोक्षमार्ग शुरु हुआ है न!

गाथा-१४

दुविंह पि गंथचायं तीसु वि जोएसु संजमो ठादि।
णाणम्मि करणसुद्धे उब्भसणे दंसणं होदि।।१४।।

द्विविधः अपि ग्रन्थत्यागः त्रिषु अपि योगेषु संयमः तिष्ठति।
ज्ञाने करणशुद्धे उद्भभोजने दर्शनं भवति।।१४।।

दोनों परिग्रह त्याग तीनों योग में संयम-सहित।
के कहा दर्शन ज्ञान शुद्ध-करण कराहारी-सहित।।१४।।

अर्थ **- जहाँ बाह्याभ्यंतर भेद से दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग हो और मन-वचन-काय ऐसे तीनों योगों में संयम हो तथा कृत-कारित-अनुमोदना ऐसे तीन करण जिसमें शुद्ध हों वह ज्ञान हो तथा निर्दोष जिसमें कृत, कारित, अनुमोदना अपने को न लगे, ऐसे खड़े रहकर पाणिपात्र में आहार करे, इसप्रकार मूर्तिमन्त दर्शन होता है।**

भावार्थ **- यहाँ दर्शन अर्थात् मत है; वहाँ बाह्य वेष शुद्ध दिखाई दे वह दर्शन; वही उसके अंतरंगभाव को बतलाता है। वहाँ बाह्य परिग्रह अर्थात् धन-धान्यादिक और अंतरंग परिग्रह मिथ्यात्व-कषायादिक, वे जहाँ नहीं हों, यथाजात दिगम्बर मूर्ति हो तथा इन्द्रिय-मन को वश में करना, त्रस-स्थावर जीवों की दया करना, ऐसे संयम का मन-वचन-काय द्वारा शुद्ध पालन हो और ज्ञान में विकार करना, कराना, अनुमोदन करना - ऐसे तीन कारणों से विकार न हो और निर्दोष पाणिपात्र में खड़े रहकर आहार लेना**

– इसप्रकार दर्शन की मूर्ति है, वह जिनदेव का मत है, वही वंदन–पूजनयोग्य है, अन्य पाखंड वेष वंदना–पूजा योग्य नहीं है।।१४।।

गाथा–१४ पर प्रवचन

दुविंह पि गंथचायं तीसु वि जोएसु संजमो ठादि।
णाणम्मि करणसुद्धे उब्भसणे दंसणं होदि।।१४।।

अर्थ – **जहाँ बाह्याभ्यंतर भेद से दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग हो...** देखो! यह मुनिपना ऐसा होता है। बाह्य और अभ्यन्तर दोनों। अकेले बाह्य नग्न हो गये, वे कोई मुनि नहीं हैं। मात्र अट्ठाईस मूलगुण पालन करे, वह भी मुनि नहीं है। यह तो पहले आ गया है। भेदज्ञान से बाह्य, नहीं आया? (गाथा ११) **भेदविज्ञान द्वारा अपने आत्मस्वरूप का चिन्तवन करना, अनुभव करना...** माने ऐसा सब। अट्ठाईस मूलगुण हो, नग्न मुनि हो, छह द्रव्य माने परन्तु वह सब विकल्प और निमित्त से भेदज्ञान करके आत्मा का अनुभव करे, उसे सम्यग्दर्शन कहा जाता है। उसे अन्दर भले क्रिया वह राग की हो, मुनि को निमित्त नगण्य होता है परन्तु अन्दर में तो उससे भिन्न भेदज्ञान के कारण अन्दर स्थिर होते हैं। स्वरूप में उनकी दृष्टि और शुद्ध उपयोग में होते हैं।

दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग हो... वस्त्र–पात्र का (एक) टुकड़ा भी न हो, नग्न दिगम्बर मुद्रा। आहाहा! यही अनादि का सनातन जैनधर्म का स्वरूप, जैनधर्म का मत, जैनधर्म का स्वभाव ऐसा होता है। समझ में आया? यह भी सच्चा और वह भी सच्चा, ऐसे दोनों नहीं चलते – ऐसा कहते हैं। ऐई!

मन–वचन–काय ऐसे तीनों योगों में संयम हो... मन, वचन और काया से अन्दर संयम की स्थिरता हो। वस्तु के स्वभाव में मन, वचन, काया सहित नौ–नौ कोटि से राग से भिन्न करके अपने स्वरूप में संयम में हों। उसे जैनमुनि, जैनदर्शन, जैन का मत, और जैन की मुद्रा कहा जाता है। आहाहा! गजब काम! **तथा कृत–कारित–अनुमोदना ऐसे तीन करण जिसमें शुद्ध हों वह ज्ञान हो...** देखो! ज्ञान कैसा सच्चा होता है? – कि उसका सम्यग्ज्ञान अपने को होता है। करावे उसे भी सच्चा ज्ञान होता है और जिसका

ज्ञान सच्चा हो, उसे अनुमोदन करे। खोटे ज्ञान को अनुमोदन करावे, ऐसा नहीं हो सकता। बहुत जानपना है... ओहोहो! अमुक जोरदार है। भले अपना सम्प्रदाय नहीं है परन्तु जानपना बहुत, विद्वान बहुत। धूल का विद्वान है। समझ में आया? .....भाई! यह सब बहुत कठिन बात है।

मुमुक्षु : न मिलते हों तो...

पूज्य गुरुदेवश्री : न मिलते हों तो सच्ची श्रद्धा में जो हो, उसे मानना। यहाँ तो मार्ग यह है, ऐसा कहा है न? ऐसा तो निर्णय करे कि मार्ग ऐसा है। होवे तो जो सम्यग्दृष्टि-ज्ञानी हो, उसे मानना, परन्तु पूर्ण जैनदर्शन का रूप तो मुनि है, (ऐसा) यहाँ तो कहना है। आहाहा! समझ में आया?

कृत-कारित-अनुमोदना ऐसे तीन करण (नौ कोटि से) जिसमें शुद्ध हों वह ज्ञान हो... ऐसा कहते हैं। ज्ञान में खोटा कोरा जिसका ज्ञान है, उसे करे नहीं, करावे नहीं और अनुमोदन करे नहीं। बाद में तो कहेंगे कि सम्यग्दर्शन बिना ज्ञान सच्चा नहीं होता। बाद की गाथा में लेंगे। यहाँ तो पहले से यह उठाया है। चाहे जितना जानपना हो परन्तु सम्यग्दर्शन, आत्मा का अनुभव और दृष्टि नहीं है, उसे ज्ञान सच्चा नहीं होता। आहाहा! जिसे करण, करावन, अनुमोदन में भी ज्ञान की शुद्धि निश्चित वर्तती हो। खोटा ज्ञान स्वयं को न हो, खोटा ज्ञान करावे नहीं और खोटा ज्ञान हो, उसे अनुमोदन करे नहीं। सच्चा ज्ञान हो, सच्चा ज्ञान करावे और सच्चा ज्ञान हो, उसे अनुमोदन करे। देखो! ऐसा डाला है। आचार्य ने अन्दर करण डाला है। समझ में आया? आहाहा! गजब भाई!

और **तथा निर्दोष जिसमें कृत, कारित, अनुमोदना अपने को न लगे, ऐसे खड़े रहकर पाणिपात्र में आहार करे,...** खड़े-खड़े आहार ले, हाथ में। वह उनके लिये बनाया हुआ न हो, कराया न हो, अनुमोदन न हो—ऐसा आहार। उनके लिये बनाया आहार ले तो भी उसमें अनुमोदना आ जाती है। वह वस्तु ऐसे करे नहीं। उद्दिष्ट आहार। पण्डितजी! चौका लगाओ, आहार-पानी लेने आओ, यहाँ बहुत... अरे! मार्ग तो यह है, भाई! क्या हो? लोगों ने ऐसा बचाव करके मार्ग को भ्रष्ट कर डाला है। क्या करना? क्या करना अर्थात्? साधुपना किसलिए लिया था? साधुपना है नहीं न! अभी दृष्टि का ठिकाना नहीं और ऐसे आचरण लेकर बड़े होकर बैठे और आचरण का व्यवहार का भी ठिकाना नहीं। समझ में आया?

जिसमें कृत, कारित, अनुमोदना अपने को न लगे, ऐसे खड़े रहकर पाणिपात्र में... खड़े-खड़े पाणि (पात्र) में-हाथ में आहार ले। पाणि अर्थात् हाथ। पात्र-वात्र हो, वह जैनधर्म से भ्रष्ट है और अकेले पात्र-वात्र न हो, इसलिए (साधु) है, ऐसा नहीं। स्वरूप की दृष्टि से भ्रष्ट है, वह भ्रष्ट है। बाह्य-अभ्यन्तर दोनों कहा न? अभी आगे स्पष्टीकरण करेंगे। अकेला नहीं कहते कि बाह्यलिंग ऐसा, बाह्यलिंग ऐसा। (साथ में) अभ्यन्तर राग के विकल्प का कर्तापना नहीं है। अकेला ज्ञानस्वभाव है, ऐसा प्रगट हुआ है, ऐसा भान है, उसमें स्थिरता है। उसे अट्ठाईस मूलगुण के विकल्प होते हैं और मुद्रा नग्न होती है, उसे जैनदर्शन का रूप, जैनमुद्रा और जैन का मत उसे कहा जाता है। वस्तु के स्वभाव का मत। समझ में आया?

इस प्रकार मूर्तिमन्त दर्शन होता है। देखो! देखो! यह दर्शन की व्याख्या की। '**उब्भसणे दंसणं होदि**' ऐसा है न? '**उब्भसणे दंसणं होदि**' देखो! उनके लिये किया हुआ, कराया हुआ नहीं लेते और ज्ञान शुद्ध होता है तथा बाह्य अभ्यन्तर परिग्रह का त्याग होता है, उसे मूर्तिमन्त दर्शन कहा जाता है, वह जैनदर्शन का रूप है। आहाहा! भीखाभाई! जैन अर्थात् वस्तुदर्शन। ऐसा वस्तुदर्शन है। उसे जो माने, वह सम्यग्दृष्टि है। भले स्वयं साधु नहीं हो सकता। समझ में आया? परन्तु ऐसा ही मार्ग है, इससे दूसरा मार्ग है, वह सब भ्रष्ट हुए, उन्होंने निकाला है—ऐसा अन्तर में माने, उसे भेदज्ञान होकर स्वरूप की दृष्टि होवे तो वह भी धर्मी है। धर्म का ऐसा पूरा रूप भले उसके पास न हो परन्तु पूरा रूप ऐसा है—ऐसा उसे प्रतीति में और भान में वर्तता होता है। समझ में आया?

इस प्रकार मूर्तिमन्त दर्शन... ऐसी मूर्ति अर्थात् जिसका अन्तर का स्वरूप और बाह्य निर्दोष आहार-पानी लेते हों, निर्दोष जिनका ज्ञान हो और निर्दोष जिनकी अन्तरदशा हो, निर्दोष जिनकी बाह्य मुद्रा हो। दिगम्बर मुद्रा। उसमें कुछ भी फेरफार नहीं हो, उसका नाम मूर्तिमन्त जैन का स्वरूप, मार्ग का स्वरूप, वह मूर्तिमन्त दर्शन कहा जाता है। दास! इसे दर्शन कहते हैं। इसे समकित कहते हैं, ऐसा नहीं। यह जैनदर्शन अर्थात् मार्ग का-दर्शन का रूप ही यह है। उसे माने और उसे पहिचाने और उसे अन्दर राग से भिन्न करके अनुभव करे, वह समकिती है। उसमें यदि कहीं देव-गुरु-शास्त्र में अन्तर माने तो उसे सम्यग्दर्शन नहीं रहता। भारी कठिन काम! श्रीमद् के माननेवालों को ऐसा सुने तो भारी कठिन पड़ता

है। वहाँ तो सब धीमा चलता है। कहा था न? वहाँ दीक्षा ली थी। चेतनजी ने। नहीं? किसी के पास ली थी। वरखचन्दजी के पास ली थी। आहाहा! कहाँ दीक्षा? किसे कहना दीक्षा?

***भावार्थ* – यहाँ दर्शन अर्थात् मत है;...** पहले से कहा है '**दंसणमग्गं**'। वहाँ भी धर्म का स्वरूप, मत का स्वरूप ऐसा है – यह कहा। गजब बात, भाई! पाठ में से ही निकाली है, हों! कहने का आशय आचार्य का यह है। आहाहा! आशय यह है। लोगों को पक्षपात से ऐसा लगता है कि ऐसा है और वैसा है। कुन्दकुन्दाचार्य ऐसे पक्षपात में खड़े नहीं करते, इसलिए कितनी ही गाथा प्रक्षेप है और अमुक है... उनके सुधरे हुए। अरे! मार्ग ही यह है। प्रक्षेप-प्रक्षेप क्या? जब दर्शन के मतों में संघर्ष था, तब यह लिखा गया है; इसलिए इसमें आ गया है। धूल भी नहीं, सुन न! मार्ग ही त्रिकाल ऐसा है। बाहर में चाहे जितने मतों में संघर्ष हो, लूखा हल्का हो, उत्कृष्ट हो, उसके साथ इस मार्ग को कोई सम्बन्ध नहीं है। समझ में आया?

यहाँ दर्शन अर्थात् मत है;... जैनदर्शन का मत क्या है? – कि **वहाँ बाह्य वेष शुद्ध दिखाई दे, वह दर्शन; वही उसके अंतरंगभाव को बतलाता है।** बाह्य शुद्ध (हो), एकदम नग्न। आहाहा! अत्यन्त वीतराग मुद्रा दिखायी दे। जैसा बालक हो, वैसी उनकी मुद्रा हो। आहाहा! अकेले नग्न नहीं, परन्तु **बाह्य वेष शुद्ध दिखाई दे वह दर्शन; वही उसके अंतरंगभाव को बतलाता है।** अन्तरंग भाव उसका वीतराग होता है, ऐसा उसे ख्याल में आता है। ऐसा नग्न है, इसलिए वीतरागता है—ऐसा नहीं परन्तु नग्नदशा सहज बन गयी, वहाँ आगे अन्दर में वीतरागता ही होती है, ऐसा दिखता है। समझ में आया? यह गजब बातें, भाई!

दर्शन अर्थात् मत है; वहाँ बाह्य वेष शुद्ध दिखाई दे, वह दर्शन; वही उसके अंतरंगभाव को बतलाता है। इसमें ऐसा नहीं लेना, हों! कि नग्नपना है, इसलिए अन्तरभाव में वीतराग है, ऐसा लेना—ऐसा नहीं। यहाँ तो कहते हैं कि जिसे ऐसा विकल्प जहाँ उठ (छूट) गया है, वस्त्र रखने का, पात्र रखने का, इतनी दशा जहाँ अन्दर हो गयी है, उसकी बाह्य मुद्रा से अनुमान होता है कि ओहो! इसकी वीतरागता ऐसी होती है। समझ में आया? अकेले विकल्प से यह छोड़ा, रखा, वह तो वस्तु ही कहाँ है? अन्तर की निर्विकल्पदशा, साधुपद की दशा जहाँ अन्तर में प्रगट हुई है, उसे तो ऐसा ही लिंग नग्न

सहज पर की अपेक्षारहित होता है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? **वही उसके अंतरंगभाव को बतलाता है।**

वहाँ बाह्य परिग्रह अर्थात् धन–धान्यादिक... नहीं होते। धन–धान्यादिक अर्थात् वस्त्र–पात्र कुछ नहीं। **अंतरंग परिग्रह मिथ्यात्व–कषायादिक,...** लो! अन्तरंग परिग्रह मिथ्यात्व। राग को अपना मानना, देह की क्रिया अपनी मानना—ऐसा जो मिथ्यात्व का परिग्रह, उसे नहीं होता। समझ में आया? बाह्य परिग्रहरहित है, ऐसे अन्तर मिथ्यात्व और रागादि के परिग्रह से रहित है। दोनों साथ में चलते हैं ऐसे, अन्तर वीतरागता और बाहर की वीतरागता की मुद्रा। आहाहा! समझ में आया? प्रवचनसार में आता है न? बाहर से आँखें देखकर यह वीतरागता है... वीतरागता की भूमिका है, इसलिए उनकी भूमिका में ऐसे ही विकल्प होते हैं, ऐसा निर्णय कर। प्रवचनसार में चरणानुयोग की शुरुआत करते हुए उसमें आता है। धन्य अवतार! जिसका सफल हुआ, जन्म–मरण को मिटाने का अवतार किया और ऐसा ही मार्ग है, कहते हैं। समझ में आया? ऐसे को जैनदर्शन कहते हैं, बाकी जैनदर्शन नहीं कहलाता। वाड़ा में चाहे जैसे बड़े–बड़े नाम दें, उपाधियाँ दें, तरणतारण आचार्य भगवन्त... उपाध्याय। आहाहा! भारी कठिन काम। यह व्यक्ति के प्रति निन्दा की बात नहीं है, हों! वस्तु का स्वरूप ऐसा है, भाई! मार्ग की सैद्धान्तिक स्थिति तीनों काल, तीन लोक में यही वस्तु की मर्यादा है। उसमें दूसरा क्या आवे? समझ में आया? इसलिए कुन्दकुन्दाचार्य सर्वज्ञ से जाना हुआ, देखा हुआ, अनुभव किया हुआ तीनों काल में यह मुक्तिमार्ग है, प्रणेता (हम खड़े हैं) ऐसा कहते हैं न? आहाहा! जहाँ वीतरागदशा मुनिपने की हो, वहाँ कितनी मर्यादा विकल्प की होती है और संयोग कितना होता है, वह सब हमारे अनुभव में वर्तता है, इसलिए हम इस मार्ग को कहेंगे। आहाहा! समझ में आया?

मिथ्यात्व और कषाय। अनन्तानुबन्धी आदि कषायें जहाँ नहीं हैं, तीन कषाय (चौकड़ी) जहाँ नहीं, मिथ्यात्व नहीं, **यथाजात दिगम्बर मूर्ति हो...** यथाजात। जैसा जन्मा, वैसा दिगम्बर। वैराग्य की मूर्ति, वैराग्य का पुतला हो। रोम–रोम में वैराग्यता परिणमित हो गयी हो। पिण्ड आत्मा में। समझ में आया? उपशमरस जिसकी आत्मा की पर्याय में ढल गया है, ऐसे उपशमरस ढले, ऐसी ही मूर्ति दिगम्बर। ऐसे शान्त... शान्त...

शान्त...। आहाहा! समझ में आया? वलुभाई! यह ऐसा मार्ग है। **यथाजात दिगम्बर मूर्ति हो...** जैसे जन्मे वैसे। और जैसा यथाजात आत्मा का स्वरूप है, वैसा, अन्दर हो।

तथा इन्द्रिय-मन को वश में करना,... इन्द्रिय और मन और **त्रस-स्थावर जीवों की दया करना,...** परसन्मुख का असंयम का विकल्प नहीं, ऐसा उसे संयम हो। '**संजमो ठादि**' है न? '**जोएसु संजमो ठादि**' **इन्द्रिय-मन को वश में करना, त्रस-स्थावर...** एकेन्द्रिय जीव—पृथ्वी का, अग्नि का, वायु का, वनस्पति का यह... एकेन्द्रिय। उसे भी घात कर कोई आहार दे, पानी दे तो ले नहीं और चलते हुए भी किसी को दुःख हो, ऐसा प्रमाद उन्हें नहीं होता। आहाहा! चलते सिद्ध हैं! मुनि अर्थात? आहाहा! परमेश्वर! अल्प काल में परमेश्वर केवलज्ञान होनेवाला है, ऐसा जैनमार्ग वीतराग का है। समझ में आया?

जीवों की दया करना,... दया अर्थात् नहीं मारना। **ऐसे संयम का मन-वचन-काय द्वारा शुद्ध पालन हो...** ऐसी मुनिदशा जहाँ अन्दर हो, ऐसा कहते हैं। **ज्ञान में विकार करना, कराना, अनुमोदन करना ह्न ऐसे तीन कारणों से विकार न हो...** मिथ्याज्ञान न हो, ऐसा कहते हैं। देव-गुरु-शास्त्र का, षट्द्रव्य आदि का ज्ञान मिथ्या न हो। उनके विषय में विकार करना, विपरीत ज्ञान करना, कराना या अनुमोदना (न हो)। गजब बात! '**णाणम्मि करणसुद्धे**' जिसके ज्ञान के तीनों करण शुद्ध हों। कहीं भी मिथ्याज्ञान का अनुमोदन न करे, मिथ्याज्ञान को कराना (न हो) भले करो, थोड़ा करो तो सही (ऐसे करावे नहीं)। वे कहते हैं न? पहले से लड़कों को न समझाना। ऐई! बालपोथी तुम्हारी। हरिभाई ने की है वह।....है न? पढ़ा तो (कहे), अरे! ऐसा पहले लड़कों को (सिखलाना?) तब क्या मिथ्या कहना? भाई भी कहते थे। नहीं? देवचन्दजी! लड़कों की परीक्षा ली, तब रतनजी कहे, ऐसा पहले नहीं सिखलाया जाता। तब खोटा सिखलावे?

ज्ञान तो सत्य करना, कराना और अनुमोदन करना। उसमें असत्य तो कहीं आता नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! क्या हो? जगत को... इसलिए यह मेल नहीं खाता। ऐसा ही मार्ग उसका शुरुआत से होता है। समझ में आया? ज्ञान भी सच्चा करे, ज्ञान सच्चा करावे और कर्ता को सच्चे को अनुमोदन करे। खोटा करे, उसे पहले खोटा कराना, फिर सच्चा कराना, ऐसा होगा? बालक किसलिए मानना उसे? बालक कहाँ है? वह तो आत्मा है।

बालक देह के संयोग स्थिति से आत्मा को वैसा मानना, वह बात झूठी है। आत्मा बालक कैसा? बालक-युवक कैसा? आत्मा जड़ कैसा? अर्थात् वृद्धावस्था कैसी?

यह भगवान आत्मा तो ज्ञान और आनन्द के जीवन से जीनेवाला तत्त्व है, उससे टिकनेवाला तत्त्व है। कहीं शरीर के कारण टिकता है? ज्ञानस्वभाव, आनन्दभाव के प्राण से अनादि से टिका है। कहते हैं कि ऐसे को-धर्मी को ज्ञान में विकार अपना नहीं होता और दूसरे को होवे, उसे कराता नहीं और करता हो, उसे अनुमोदन नहीं करता। ऐसा निर्विकारी निर्दोष ज्ञान होता है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? ऐसा कि ज्ञान में कुछ भूल हो, होनेवाली हो तो? कि नहीं, ज्ञान निर्दोष होता है।

और निर्दोष पाणिपात्र में खड़े रहकर आहार लेना... निर्दोष आहार-पानी, वह भी हाथ में लेकर। पाणिपात्र है न? हाथ पात्र। खड़े रहकर (लेते हैं)। वह **दर्शन की मूर्ति है,...** वह जैनदर्शन की मूर्ति है। वीतराग ने कहे हुए शास्त्र का यह मार्ग है। समझ में आया? जयन्तीभाई! यह तो सब सम्प्रदाय का आया। कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने सम्प्रदाय का पक्ष पोषण किया है (ऐसा लोग कहते हैं)। अरे! चल... चल..। ऐसे और ऐसे.. वीतराग का स्वरूप ही ऐसा है, भाई! समझ में आया? ऐसी जो जैनमूर्ति। ऐसा कहा न? देखो न! **इस प्रकार दर्शन की मूर्ति है, वह जिनदेव का मत है,...** वह जिनदेव का अभिप्राय ऐसा मोक्ष का मार्ग होता है। उसे जिनदेव का अभिप्राय कहा जाता है। समझ में आया? **वही वंदन-पूजनयोग्य है, अन्य पाखंड वेष वंदना-पूजा योग्य नहीं है।** यह दिगम्बर मुद्रा और दिगम्बर वीतरागी दशा, इसके अतिरिक्त दूसरा पाखण्डी वेश पूजने के, वन्दन के योग्य नहीं है। आहाहा! गजब भाई! यह १४वीं (गाथा) पूरी हुई।

गाथा-१५

आगे कहते हैं कि इस सम्यग्दर्शन से ही कल्याण-अकल्याण का निश्चय होता है -

सम्मत्तादो णाणं णाणादो सव्वभावउवलद्धी।
उवलद्धपयत्थे पुण सेयासेयं वियाणेदि।।१५।।

सम्यक्त्वात् ज्ञानं ज्ञानात् सर्वभावोपलब्धिः।
उपलब्धपदार्थे पुनः श्रेयोऽश्रेयो विजानाति ।।१५।।

सम्यक्त्व से सद्ज्ञान उससे सर्व भाव सुज्ञात हों।
नित अर्थ उपलब्धक ही जाने श्रेय अरु अश्रेय को।।१५।।

_अर्थ_ – सम्यक्त्व से तो ज्ञान सम्यक् होता है तथा सम्यक्ज्ञान से सर्व पदार्थों की उपलब्धि अर्थात् प्राप्ति अर्थात् जानना होता है तथा पदार्थों की उपलब्धि होने से श्रेय अर्थात् कल्याण और अश्रेय अर्थात् अकल्याण इन दोनों को जाना जाता है।

_भावार्थ_ – सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान को मिथ्याज्ञान कहा है, इसलिए सम्यग्दर्शन होने पर ही सम्यग्ज्ञान होता है और सम्यग्ज्ञान से जीवादि पदार्थों का स्वरूप यथार्थ जाना जाता है तथा जब पदार्थों का यथार्थ स्वरूप जाना जाये तब भला-बुरा मार्ग जाना जाता है। इसप्रकार मार्ग के जानने में भी सम्यग्दर्शन ही प्रधान है।।१५।।

गाथा-१५ पर प्रवचन

आगे कहते हैं कि इस सम्यग्दर्शन से ही कल्याण-अकल्याण का निश्चय होता है – अन्तर का सम्यग्दर्शन है, ऐसा जैन का मार्ग है, ऐसे मार्ग का अन्तर में भान होकर प्रतीति हुई है, ऐसे समकित दृष्टि को ही कल्याण-अकल्याण का निर्णय होता है, अज्ञानी को कल्याण-अकल्याण का निर्णय नहीं होता।

सम्मत्तादो णाणं णाणादो सव्वभावउवलद्धी।
उवलद्धपयत्थे पुण सेयासेयं वियाणेदि।।१५।।

_अर्थ_ – सम्यक्त्व से तो ज्ञान सम्यक् होता है... जिसने आत्मा शुद्ध आनन्द परिपूर्ण भगवान को देखा, जाना—ऐसा अन्दर जानने में आकर प्रतीति हो, ऐसा सम्यग्दर्शन हो, वहाँ ज्ञान सच्चा होता है। ऐसा सम्यग्दर्शन नहीं, वहाँ ज्ञान कुछ भी गड़बड़ में-विपरीतता में चढ़े बिना नहीं रहता। आहाहा! समझ में आया? **सम्यक्त्व से तो ज्ञान सम्यक् होता है...** अन्दर चैतन्यस्वरूप ही वीतरागमूर्ति है। यह वीतरागमूर्ति तो बाह्य और अभ्यन्तर जैनदर्शन का रूप दिखलाया परन्तु यह आत्मा ही स्वयं अन्तर वीतरागस्वरूप

है। ऐसी अन्तर्मुख होकर प्रतीति सम्यक्त्व हुआ, उस सम्यक्त्वी का ही ज्ञान सच्चा होता है। जहाँ सम्यक्‌पना नहीं, वहाँ ज्ञान सच्चा नहीं होता। समझ में आया? भले थोड़ा ज्ञान हो परन्तु उसका ज्ञान सच्चा होता है। देखो! यह सम्यग्दर्शन का वजन है। दृष्टि की स्थिति है। दर्शनपाहुड़ है न! **सम्यक्त्व से तो ज्ञान सम्यक् होता है...**

तथा सम्यक्‌ज्ञान से सर्व पदार्थों की उपलब्धि... कहते हैं। सम्यग्दर्शन हो, वहाँ सम्यक्‌ज्ञान होता है और सम्यक्‌ज्ञान में समस्त पदार्थ का विवेक होता है। जड़ चैतन्य, सत्य, असत्य आदि क्या है? द्रव्य, गुण, पर्याय (क्या है)? मार्ग, मार्ग से विरुद्ध, यह सब ज्ञान में इसका विवेक हो सकता है। समझ में आया? समयसार में तो एकदम टोटल का मार्ग कहकर बतलाया है। परन्तु उसमें यह सब होता है। समझ में आया? ऐसे का ऐसा मान ले कि समयसार में ऐसा है और माने सबका खीचड़ा। देव, गुरु, शास्त्र मिथ्या को भी माने और हमारे हो गया सम्यग्दर्शन, ऐसा नहीं हो सकता, इसके लिये यहाँ सम्यक् बतलाया है। आहाहा! भाई! यह तो तिरने का उपाय है। भवसमुद्र का अन्त लाने की अन्त की बात है। बाकी तो... अरे! यह क्या? चार गति का भव क्या? रागदाह, उसकी आकुलता का सब वेदन है। स्वर्ग में हो या नरक में हो। यह तो आकुलता तोड़ने के लिये नाश करने का उपाय है। वह राग से और पर से भिन्न आत्मा का अनुभव करके सम्यक्त्व करना, वह सम्यक्त्व होवे तो ज्ञान सच्चा होता है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? कभी पढ़ा है या नहीं? मगनभाई! अष्टपाहुड़ पढ़ा है कभी? पहले सुना था। आठ वर्ष पहले।....प्रवचनप्रसाद। अपने यह अमृतलालभाई। अमृतलालभाई थे न? वे संवत् २०१३ में गुजर गये हैं। २०१३ पहले पढ़ा था। यह और २०१७ में पढ़ा। २०१३ पहले पढ़ा था, उसमें आया था, सत्य बात है।

कहते हैं **सम्यक्‌ज्ञान से सर्व पदार्थों की उपलब्धि अर्थात् प्राप्ति अर्थात् जानना होता है...** सम्यग्दर्शन होवे तो सम्यग्ज्ञान होता है और सम्यग्ज्ञान होवे तो उसे सब पदार्थ का वास्तविक बोध होता है। उसमें उसे कुछ फेरफार नहीं लगता। उसके ज्ञान में फेरफार आता ही नहीं, ऐसा कहते हैं। सम्यग्दर्शन है न! इसलिए उसके सम्यग्ज्ञान में पदार्थ का जैसा स्वरूप है, देव का, गुरु का, शास्त्र का, मोक्षमार्ग का, समकित का, ज्ञान का, चारित्र का, तप का, अज्ञान का, बालतप का, उपादान-निमित्त का, निश्चय-व्यवहार का... (सब ज्ञान सच्चा होता है)। समझ में आया? जहाँ सम्यग्दर्शन है, वहाँ सम्यग्ज्ञान

होता है और सम्यग्ज्ञान हो, वहाँ सब पदार्थों का यथार्थरूप का भान होता है, ऐसा कहते हैं। प्राप्ति अर्थात् उपलब्धि – जानना है।

तथा पदार्थों की उपलब्धि होने से... जब वस्तु का ज्ञान यथार्थ हुआ अर्थात् **श्रेय अर्थात् कल्याण और अश्रेय अर्थात् अकल्याण इन दोनों को जाना जाता है।** उसके ज्ञान में आ जाता है कि यह कल्याण का कारण है और यह अकल्याण का कारण है। समझ में आया? यह मार्ग कल्याण का मार्ग है और यह अकल्याण का है। ऐसा समकित होने से ज्ञान सम्यक् होता है, इसलिए पदार्थ का वास्तविक स्वरूप उसके ज्ञान में आ जाता है। इसलिए उसे कल्याण-अकल्याण का विवेक उसमें वर्तता है। आहाहा! यह तो अष्टपाहुड़ चलता है, अष्टपाहुड़। वे ऐसा कहते हैं, पहले यह बनाया है, फिर पंचास्तिकाय। अनुमान करते हैं। पहला हो या चाहे जो हो, मार्ग यह है। भावपाहुड़, मोक्षपाहुड़ की सभी गाथाएँ एक सरीखी जैसी आती है न, जितनी गम्भीरता समयसार की है, वह गम्भीरता इसमें नहीं है। भावपाहुड़ में। भले विस्तार से सब समझाया है... बहुत आवे, उसमें क्या? साधारणजन को समझाने के लिये उसे स्पष्ट स्वरूप है। प्रत्येक गाथा में भिन्न-भिन्न करके थोड़ा-थोड़ा अन्तर सब गाथाओं में। ....समझ में आया? प्रत्येक गाथा न्याय के मार्ग में क्या है, वह सीखते हों।

कल्याण और अकल्याण कहते हैं, उन दोनों का ज्ञान होता है। क्या कहा, समझ में आया इसमें? जिसे सम्यग्दर्शन हो, उसका ज्ञान सच्चा होता है और वह ज्ञान सच्चा होता है, उसे सब पदार्थों की उपलब्धि अर्थात् जानना होता है। यह जाना, उसमें कल्याण-अकल्याण के मार्ग दोनों उसके ज्ञान में आ जाते हैं। समझ में आया?

***भावार्थ* – सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान को मिथ्याज्ञान कहा है,...** आहा! ऐसा जैनदर्शन है, ऐसी उसे अन्दर में श्रद्धा का ज्ञान, भान नहीं, उसके ज्ञान को मिथ्याज्ञान कहते हैं, ऐसा कहना है। समझ में आया? **इसलिए सम्यग्दर्शन होने पर ही सम्यग्ज्ञान होता है...** सम्यग्दर्शन होता है, उसे सम्यग्ज्ञान होता है। सम्यग्दर्शन बिना सम्यग्ज्ञान नहीं होता। समझ में आया? **और सम्यग्ज्ञान से जीवादि पदार्थों का स्वरूप यथार्थ जाना जाता है...** समझ में आया? सम्यग्ज्ञान से जीव, अजीव, पुण्य-पाप, संवर-निर्जरा-मोक्ष इत्यादि को यथार्थ जानता है। **तथा जब पदार्थों का यथार्थ स्वरूप जाना जाये,**

तब भला–बुरा मार्ग जाना जाता है। कल्याण–अकल्याण का आया न? श्रेय–अश्रेय। तब यह मार्ग भला है और यह मार्ग खोटा है, ऐसा ज्ञान होता ही है। मिथ्या को सच्चा और सच्चे को मिथ्या खतौनी नहीं करता। जहाँ सम्यग्दर्शन है, वहाँ ज्ञान सच्चा (होता है), वहाँ पदार्थ का ज्ञान सच्चा ही होता है, उसमें कल्याण–अकल्याण के मार्ग की उसे भलीभाँति खबर होती है। ऐसी गजब बात! साधारण लोगों को तो (कठिन लगती है)। महिलाएँ कहें, हमारी बुद्धि थोड़ी, इतना बड़ा हमें जानना?

मुमुक्षु : .....बुद्धि कहाँ छोड़ी?

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसी बुद्धि छोड़ी, किसने कहा? परन्तु आत्मा महिला है ही कहाँ? आत्मा किसने कहा स्त्री है? किसने कहा? वह तो शरीर की–देह की, जड़ की, पुतली की पर्याय है। वह कहाँ आत्मा है, वह तो मिट्टी है। आत्मा अन्दर जो है, वह आत्मा तो सबके एक समान ही है। यह शरीर तो उसमें नहीं, परन्तु पुण्य–पाप के विकल्प नहीं, ऐसा आत्मा है। आत्मा महिला कहाँ से आया? और आत्मा रागवाला कहाँ से आया? आत्मा आस्रववाला कहाँ से आया? ऐसे आत्मा के लिये ऐसा नहीं जानना कि यह शरीर हमारा ऐसा है और अमुक ऐसा है, इसलिए वे बड़े पुरुष हों, वे सब समझ सकते हैं और हम नहीं। ऐसा नहीं है। स्त्री का आत्मा भी अन्तर्मुहूर्त में सम्यक्त्व प्राप्त कर पाँचवाँ गुणस्थान प्राप्त करते हैं। समझ में आया? आत्मा है या नहीं? पुरुष का आत्मा होवे तो वह ठोठ विद्यार्थी जैसा रहे। हम पुरुष हैं, उसके अभिमान में मर जाए। ऐ.. सुजानमलजी! हम पुरुष हैं, हमें सब सामग्री मिली है। भगवान ने पुरुष को ही मोक्ष कहा है, स्त्री को मोक्ष नहीं कहा। आगे आयेगा। नियम में ऐसा होता है। मोक्ष है, स्त्री के योग्य दशा प्रगट होती है, उसके आत्मा की वह आत्मा से होती है। मन होता है, वह अलग बात है। मन तो पुरुष को भी होता है परन्तु उसे अभी केवलज्ञान नहीं है। इसका अर्थ क्या है? केवलज्ञान नहीं है, वह अपने पुरुषार्थ की कमजोरी है। प्रभुता की शक्ति को प्रगट करने की कचास है। उसमें आया न?

प्रभुता की शक्ति भगवान आत्मा, पूर्ण प्रभुता की शक्ति प्रगट करने की कमजोरी है। आहाहा! ....पुरुष के आत्मा को वह कमजोरी होती है, स्त्री के आत्मा को होती है। नपुंसक, हिजड़ा सम्यक्त्व प्राप्त करता है। क्षायिक समकिती श्रेणिक राजा वहाँ (अभी

नरक में) नपुंसक है। ऐई! तीर्थंकर होनेवाले हैं, अभी नपुंसक है। नपुंसक है, वह क्षयोपशम ज्ञान होवे तो सम्यक्त्व प्राप्त करता है। नारकी प्राप्त करता है या नहीं? आगे आयेगा। नारकी को भी शील है। सम्यग्दर्शन के साथ उसे मिथ्यात्व का और कषाय का भाव गया है, उतना शीलपना उसे–नारकी को है। बाहर का शरीर देखो तो... आहाहा! कितना दोष है? ऐ... कहाँ गया? महेश! क्या कहता था सवेरे? नारकी को बहुत दु:ख है।

मुमुक्षु : नारकी को बहुत दु:ख है, तब भी सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कैसे करते हैं, कहते हैं। शान्ति घड़ी भर नहीं है, ऐसा सवेरे कहता था, घड़ी की शान्ति नहीं। वह गर्भ समकित कैसे पावे? ऐई! अन्दर वीर्यवाला है। पहले समझ तो सही कि क्या है? नारकी में दु:ख का पार नहीं होता तो वह तो पर है। वह यहाँ स्पर्श कब करता है? आहाहा! पर का लक्ष्य छोड़कर जहाँ स्व का लक्ष्य करे, वहाँ बाहर के दु:ख में हूँ या उसमें आत्मा है ही नहीं। आत्मा तो ज्ञान और आनन्द में है। समझ में आया? इतने–इतने सब साधन मिले और वहाँ तो क्षण की शान्ति नहीं और वह प्राप्त करता है। यह किस प्रकार? शान्ति नहीं न, यह तो सब खाना–पीना... देखो न! शरीर निरोगी, नींद ठीक से आवे, लड्डू चढ़ावे, रोटियाँ चढ़ावे, रोटियाँ चढ़ावे... उसको क्या कहते हैं? पूड़ी और अरबी के भजिया। आहाहा! ऐसी सुविधा और धर्म प्राप्त नहीं करे तथा उसको (नारकी को) शान्ति क्षण की नहीं और धर्म प्राप्त करे, यह तो क्या है यह? अरे! भगवान! बाहर की चीज़ वहाँ कहाँ विघ्न करती है?

जहाँ दृष्टि पर के ऊपर है, उसे उठाकर अन्दर करना, इतनी देर है। अब इसमें बाहर की चीज़ बाधक कहाँ है? अनुकूल होवे तो ठीक पड़े और प्रतिकूलता होवे तो ठीक न पड़े, यह वस्तु में ही कहाँ है? देवचन्दजी! सवेरे बोलता था, ठीक बोलता था। ...अशुभ टलता है, इसलिए उसे ऐसा हुआ, ऐसा कहता था। व्यवहार से अमृत कहा, वह अशुभ टलता है, इसलिए कहा। वाह! यह तो आत्मा है न! जानना है न, पहले जाने तो सही। समझ में आया? भगवान आत्मा अमृत की मूर्ति प्रभु है। उसकी दशा में अमृतपना, वह तो शुद्ध है। वह तो निश्चय है। व्यवहार में शुभ में अशुभ टलता है, इसलिए व्यवहार अमृत कहा जाता है। उसे अमृत का आरोप देकर अमृत कहते हैं, ऐसी शैली वहाँ ली नहीं। ओहोहो! कारण है। यहाँ टलने का साधन तो यह है, परन्तु ऐसे

साधन में पड़े हुए को जो शुभभाव होता है। अज्ञानी उतना राग वहाँ घटता है, वह तो स्वयं व्यवहार है न? व्यवहार में रागादि घटते हैं, इसलिए उसे अमृत कहते हैं। है तो जहर। वर्तमान दु:ख है। समझ में आया? शुभभाव वर्तमान दु:ख है, वह तो जहर है परन्तु उसमें अशुभ टलता है, इतनी अपेक्षा लेकर उसे अमृत कहा है। आहाहा! गजब बात है। ओहोहो! व्यवहार की बात है न! निश्चय तो यहाँ है। समझ में आया?

जब पदार्थों का यथार्थ स्वरूप जाना जाये तब भला–बुरा मार्ग जाना जाता है। इसप्रकार मार्ग के जानने में भी सम्यग्दर्शन ही प्रधान है। पदार्थ का ज्ञान और ज्ञान में प्रधानता सम्यग्दर्शन की है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? यहाँ दर्शनपाहुड़ है। सम्यग्दर्शन मुख्य–प्रधान चीज़ है। उसमें कहा था कि वह मार्ग दूर है। हें? उस मार्ग की श्रद्धा और आत्मा का भान, वह सम्यग्दर्शन का इसमें मूल है। तब उसे आगे बढ़कर ज्ञान और चारित्र होता है। विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा–१६

आगे, कल्याण–अकल्याण को जानने से क्या होता है, सो कहते हैं –

सेयासेयविदण्हू उद्धुददुस्सील सीलवंतो वि।
सीलफलेणब्भुदयं तत्तो पुण लहइ णिव्वाणं।।१६।।

श्रेयोऽश्रेयवेत्ता उद्धृतदु:शील: शीलवानपि।
शीलफलेनाभ्युदयं तत: पुन: लभते निर्वाणम्।।१६।।

अश्रेय श्रेय सुजानता दुश्शील तज हो शीलयुत।
इस शील–फल से अभ्युदय पश्चात् उससे मोक्ष सुख।।१६।।

अर्थ **– कल्याण और अकल्याणमार्ग को जाननेवाला पुरुष ''उद्धृतदु:शील:'' अर्थात् जिसने मिथ्यात्वस्वभाव को उड़ा दिया है – ऐसा होता है तथा ''शीलवानपि'' अर्थात् सम्यक्स्वभावयुक्त भी होता है तथा उस सम्यक्स्वभाव के फल से अभ्युदय को**

प्राप्त होता है, तीर्थंकरादि पद प्राप्त करता है तथा अभ्युदय होने के पश्चात् निर्वाण को प्राप्त होता है।

भावार्थ **– भले-बुरे मार्ग को जानता है, तब अनादि संसार से लगाकर, जो मिथ्याभावरूप प्रकृति है, वह पलटकर सम्यक्स्वभावस्वरूप प्रकृति होती है; उस प्रकृति से विशिष्ट पुण्यबंध करे तब अभ्युदयरूप तीर्थंकरादि की पदवी प्राप्त करके निर्वाण को प्राप्त होता है।।१६।।**

प्रवचन-१४ गाथा-१६ से १८ सोमवार, ज्येष्ठ कृष्ण ३, दिनांक २२-०६-१९७०

दर्शनपाहुड़, अष्टपाहुड़ में १६वीं गाथा। १५ में ऐसा आया कि आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप है, उसका ध्यान होने से सम्यग्दर्शन होता है। आत्मा के स्वभाव जैसे हैं, वैसे ज्ञान में प्राप्ति होती है। इसलिए उसे कल्याण और अकल्याण के मार्ग की सूझ पड़ती है। सूझ पड़ना समझते हो? ध्यान पड़ता है। कहते हैं **कल्याण-अकल्याण को जानने से क्या होता है,...** कल्याण का मार्ग और अकल्याण का मार्ग जानने में आवे तो क्या होता है? यह कहते हैं।

सेयासेयविदण्हू उद्धुददुस्सील सीलवंतो वि।
सीलफलेणब्भुदयं तत्तो पुण लहइ णिव्वाणं।।१६।।

अर्थ **– कल्याण और अकल्याणमार्ग को जाननेवाला पुरुष...** है। जिसे कल्याण क्या और अकल्याण क्या, ऐसा जिसे अन्तर में ज्ञान होता है, वह **'उद्धृतदुःशीलः' अर्थात् जिसने मिथ्यात्वस्वभाव को उड़ा दिया है...** समझ में आया? पुण्य-पाप के भाव, वे धर्म हैं अथवा वे मेरे हैं, ऐसी जो बुद्धि, ऐसी जो मान्यता, वह कल्याण-अकल्याण पदार्थ की भिन्नता के भान में अकल्याण ऐसा जो मिथ्यात्वभाव, उसे उड़ाता है। समझ में आया? **'उद्धृतदुःशीलः'... 'दुःशीलः'** की व्याख्या ही यह है। आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप है, उसे पर में... यह अभी १७वीं गाथा में कहेंगे, पर में सुख है, पर से सुख है। ऐसा जो भाव-मिथ्यात्वभाव वही **'दुःशीलः'** है। समझ में आया? भगवान आत्मा का स्वभाव तो आनन्द-अतीन्द्रिय आनन्द का, चैतन्य का पिण्ड है। ऐसा

जिसे श्रेय-अश्रेय का ज्ञान होता है, वह... **'दु:शील:'** है न यह ? **'उद्धृतदु:शील:'** उड़ा देता है। ओहोहो! मुझमें तो आनन्द है न, आनन्द, ज्ञान और शान्ति का सागर मैं हूँ न! ऐसा कल्याण का स्वरूप जहाँ ज्ञान में आवे तो मिथ्याश्रद्धा, वह जो **'दु:शील:'** भाव, उसका नाश करता है। उड़ाता है अर्थात् नाश करता है। समझ में आया ?

जिसने मिथ्यात्वस्वभाव को उड़ा दिया है... और मिथ्यात्व अर्थात् शुद्ध चैतन्यस्वभाव से विपरीत मान्यता। ऐसा जो राग और संयोग, वे मुझे ठीक पड़ते हैं, वे मेरे हैं - ऐसा जो भाव, उसे मिथ्यात्वस्वभाव कहा जाता है। वह कल्याण-अकल्याण के ज्ञानवाला, मिथ्यात्व जो अकल्याणस्वरूप है, उसका नाश करता है। कहो, बराबर है ? पण्डितजी! आहाहा!

तथा... 'शीलवानपि' एक का नाश हुआ, तब ज्ञानानन्द प्रभु आत्मा की श्रद्धा और ज्ञान की स्थिरता का अंश जगा, वह शीलवन्त है। स्वभाव का स्वभावन्तपना प्रगट हुआ है। वह यहाँ शील कहा जाता है। आहाहा! समझ में आया ? **'शीलवानपि' अर्थात् सम्यक्स्वभावयुक्त भी होता है...** आत्मा ज्ञान चैतन्य प्रभु और अतीन्द्रिय आनन्द का उसका स्वरूप है। वह अकल्याण-कल्याण जाननेवाले को अकल्याण के (भाव का) नाश करता है और कल्याण ऐसे स्वभाव को प्रगट करता है। आहाहा! समझ में आया ?

तथा उस सम्यक्स्वभाव के फल से... अब कहते हैं। भगवान आत्मा ज्ञान और आनन्द सम्पन्न है। ऐसे स्वभाव की प्राप्ति हुई और मिथ्यात्वस्वभाव—पर में ठीक, राग आदि ठीक, संयोग ठीक, ऐसा जो मिथ्यात्वभाव था, उसे जिसने उड़ाया है, इसलिए उसे स्वभाव की प्राप्ति हुई है और इसलिए अभ्युदय होता है। स्वभाव की प्राप्ति में शुद्धि तो प्रगट होती है परन्तु उसमें कोई ऐसा कोई शुभ विकल्प रह जाए तो तीर्थंकर आदि होता है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? इसमें लिखा है। **अभ्युदय को प्राप्त होता है, तीर्थंकरादि पद प्राप्त करता है...** समझ में आया ? गणधर होता है, कोई बलदेव होता है, कोई इन्द्र होता है। आहाहा! कोई चक्रवर्ती होता है। यहाँ निजपद शुद्ध चैतन्य का भण्डार, दरबार जिसका खुला है और जिसने अज्ञान का नाश किया है, ऐसे धर्मी को धर्म की शुद्धि तो शीलरूप प्रगट हो गयी है परन्तु उसमें भी थोड़ी कचास हो और विकल्प होता है, उसमें उस राग से उसे तीर्थंकरगोत्र आदि, गणधर आदि पद बँध (जाता) है,

पश्चात् वह मोक्ष को प्राप्त करता है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? **तथा अभ्युदय होने के पश्चात् निर्वाण को प्राप्त होता है।** ऐसा चैतन्य भगवान सच्चिदानन्दस्वरूप, ऐसा अपना अन्तर में भान होने पर अज्ञानपने का नाश करके शुद्धता को प्रगट करके, उसमें किंचित् रागादि बाकी रहें तो उसे ऊँची पदवी मिलती है। गणधर की, तीर्थंकर की, चक्रवर्ती की, इन्द्र की... समझ में आया? बलदेव की (पदवी मिलती है)। यह पुण्य का फल है और उसके साथ शुद्धता कम है तो वह भविष्य में पुण्य-फल में गया, उसे टालकर पूर्ण शुद्धता प्रगट करेगा। समझ में आया? ऐसा धर्म है, भाई! समझ में आया? भगवान.. भगवान.. भगवान.. भगवान करने से भी कुछ धर्म होगा ऐसा नहीं है - यह कहते हैं। यह भगवान अपना है, उसे याद करके प्रगट करे तो धर्म होता है। आहाहा! समझ में आया?

***भावार्थ* – भले-बुरे मार्ग को जानता है, तब अनादि संसार से लगाकर, जो मिथ्याभावरूप प्रकृति है,..** मिथ्याश्रद्धा का स्वभाव हो गया है। जहाँ हो वहाँ ठीक पड़े, राग में ठीक पड़े, पुण्य में ठीक पड़े, लड़के अनुकूल हों तो ठीक पड़े, वह सब मिथ्यात्वभाव, पाखण्डभाव, दुःखभाव, पापभाव था। मलूकचन्दभाई! लड़के हों उन्हें। न हों उन्हें तो कहाँ पति-पत्नी दो व्यक्ति हैं। न हो तो मुझे नहीं है, ऐसा करके भी वहाँ दाह (भोगता है)। कहते हैं कि यह ठीक हमें अनुकूलता पड़ती है, बाहर की सामग्री मिलने से मुझे ठीक है, यह मिथ्यात्वस्वभाव है, ऐसा कहते हैं। सेठी! कहो, बाबूभाई जैसे लड़के मिलें, पिताजी साहेब... पिताजी साहेब... ऐसा कहें। कहते हैं वह ठीक है, यह मान्यता मिथ्यात्वस्वभाव है, ऐसा कहते हैं। विनय करे, ऐसा करे... समझ में आया? आहाहा!

कहते हैं, एक ओर भगवान आत्मा, जिसमें अतीन्द्रिय आनन्द और ज्ञान का सागर आत्मा है और एक ओर इस जगत की संयोगी चीज़ें—स्त्री, परिवार, शरीर, वाणी, मन, और अन्दर का पुण्य और पाप का भाव, वह कोई भी चीज़ ठीक है, ऐसी जो मिथ्या प्रकृति का स्वभाव अनादि से, उसे सेवन करता है। समझ में आया? आहाहा! ऐसी बात है। देखो! दर्शनपाहुड़ में कैसी (बात की है), जिसका स्वभाव ही मिथ्यात्व हो गया है, ऐसा कहते हैं। मिथ्याभ्रम, भ्रम हो गया है। भगवान आत्मा आनन्दमूर्ति है, निजानन्द का निजपद है, उसके सन्मुख देखता नहीं। स्वभाव ऐसा हो गया है, जहाँ कुछ ठीक हो, यह

ठीक... शरीर सुन्दर तो ठीक, पैसा (होवे) तो ठीक, इज्जत तो ठीक, मकान तो ठीक, लड़का तो ठीक, लड़कियाँ तो ठीक, लड़की कुछ अंग्रेजी ठीक से पढ़े तो उसका इसे अभिमान। नागरभाई ! मेरी लड़की एम.ए. हुई है, अमुक किया है। परन्तु लड़की तुझे थी कब ? सुन न ! इसका भी अभिमान होता है। मिथ्यात्वस्वभाव हो गया है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? आहाहा ! लो, यह तो समझ में आये ऐसा है या नहीं ? रमणीकभाई !

भगवान आत्मा निजानन्द आतमराम के स्वभाव को भूलकर पर की अनुकूलता या प्रतिकूलता में ठीक-अठीक का मिथ्यात्वभाव जिसे घुंट गया है, मिथ्यात्वस्वभाव ही उसका हो गया है, ऐसा कहते हैं। वह उसका यथार्थ श्रेय-अश्रेय का ज्ञान होने पर उस मिथ्यात्वस्वभाव को उड़ा देता है। यह नहीं, यह नहीं, यह नहीं और अपना शीलस्वभाव को प्रगट करता है। **प्रकृति है, वह पलटकर सम्यक्स्वभावस्वरूप प्रकृति होती है;...** प्रकृति अर्थात् स्वभाव। प्रकृति अर्थात् परमाणु की प्रकृति की बात नहीं है। मिथ्यात्वभाव। जहाँ जाए वहाँ कुछ अनुकूलता होवे तो ठीक है, कुछ प्रतिकूलता (आवे तो) ठीक नहीं। इसका अर्थ हुआ कि प्रतिकूलता का अंश भी ठीक नहीं, उसे अनुकूलता ठीक लगती है। राग-द्वेष ही ठीक हैं, ऐसा (लगता है)। आहाहा ! समझ में आया ?

भगवान आत्मा तो वीतराग चिदानन्दस्वरूप है। सच्चिदानन्द की मूर्ति आत्मा है। सत् शाश्वत् ज्ञान और आनन्द का भण्डार है। उसकी प्रकृति अर्थात् स्वभाव न जानकर दूसरे पदार्थों में मुझे ठीक पड़ता है या अठीक (पड़ता है), दोनों एक ही बात है। जिसे प्रतिकूल जरा भी सहन नहीं होता और ठीक नहीं लगता, उसे अनुकूलता की कोई भी सामग्री ठीक लगे, ऐसा उसके पेट में पड़ा है। पंचाध्यायी की बात अपने आ गयी है। नहीं ? उसमें भी आ गयी। उसमें आयी थी। समझ में आया ?

इस तरह शरीर में कठोर रोग आवे, वह ठीक नहीं पड़े, लगे तो इसका अर्थ यह कि निरोगता की सामग्री ठीक लगती है। आहाहा ! आत्मा ठीक लगता है, ऐसा इसे नहीं है। आहाहा ! समझ में आया ? लड्डू और दाल और ऐसी अरबी आयी। ऐसा जहाँ मुँह में आया, वहाँ ठीक लगता है, उसे जहर अठीक लगता है। दोनों राग-द्वेष की प्रकृति, वह मिथ्यात्वस्वभाव है, ऐसा यहाँ कहते हैं। ऐसा जिसका स्वभाव अनादि से हो गया है। कैसे है, देखा ?

अनादि संसार से लगाकर, जो मिथ्याभावरूप प्रकृति... स्वभाव मानकर हो गया है। पर्याय में, हों! वस्तु तो वस्तु है। **वह पलटकर सम्यक्स्वभावस्वरूप प्रकृति होती है;...** मैं तो ज्ञानानन्द, चिदानन्द ज्ञाता-दृष्टा हूँ। मुझमें पुण्य-पाप, वे ठीक... परन्तु वे मुझमें हैं नहीं। आहाहा! ऐसा उसका स्वभाव होता है। **उस प्रकृति से विशिष्ट पुण्यबंध करे...** ऐसा स्वभाव के अन्दर में थोड़ा भी अभ्युदय राग बाकी रहे तो अनुकूल सामग्री (मिले)। समकिती को जैसा हो, वैसा मिथ्यादृष्टि को कभी नहीं हो सकता, इतना सिद्ध करना है। समझ में आया?

तब अभ्युदयरूप तीर्थंकरादि की पदवी प्राप्त करके निर्वाण को प्राप्त होता है। पश्चात् वह मोक्ष को प्राप्त होता है। ऐसा जरा बीच में थोड़ा धर्मशाला का भाव बाकी रह गया हो तो वहाँ थोड़ा रुक जाता है। पश्चात् तो उसे छोड़ने का ही अभिप्राय है। ठीक है-ऐसा नहीं है। समझ में आया? वह प्रकृति राग आया, वह ठीक है (ऐसा) तो है नहीं। हुआ है, इसलिए उसके फलरूप से मिलेगा। फिर उसे छोड़कर केवलज्ञान प्राप्त करेगा। आहाहा! यह तो इस भव में केवलज्ञान नहीं है, इसलिए इस अपेक्षा से बात ली है। समझ में आया? अपने को इस भव में पूर्ण पद की प्राप्ति नहीं है।

गाथा-१७

आगे कहते हैं कि ऐसा सम्यक्त्व जिनवचन से प्राप्त होता है, इसलिए वे ही सर्व दुःखों को हरनेवाले हैं -

जिणवयणमोसहमिणं विसयसुहविरेयणं अमिदभूदं।
जरमरणवाहिहरणं खयकरणं सव्वदुक्खाणं।।१७।।

जिनवचनमौषधमिदं विषयसुखविरेचनममृतभूतम्।
जरामरणव्याधिहरणंक्षयकरणं सर्वदुःखानाम्।।१७।।

नित विषय-सुख-रेचक सुधा-सम जर-मरण-व्याधि-हरण।
सब दुःख-नाशक औषधी-सम हैं सदा जिनवर वचन।।१७।।

अर्थ – **यह जिनवचन हैं सो औषधि हैं। कैसी औषधि हैं ? कि इन्द्रिय विषयों में जो सुख माना है उसका विरेचन अर्थात् दूर करनेवाले हैं। पुनश्च कैसे हैं अमृतभूत अर्थात् अमृत समान हैं और इसीलिए जरामरणरूप रोग को हरनेवाले हैं तथा सर्व दु:खों का क्षय करनेवाले हैं।**

भावार्थ – **इस संसार में प्राणी विषयसुखों को सेवन करते हैं, जिनसे कर्म बँधते हैं और उससे जन्म–जरा–मरणरूप रोगों से पीड़ित होते हैं; वहाँ जिनवचनरूप औषधि ऐसी है जो विषयसुखों से अरुचि उत्पन्न करके उसका विरेचन करती है। जैसे गरिष्ठ आहार से जब मल बढ़ता है, तब ज्वरादि रोग उत्पन्न होते हैं और तब उसके विरेचन को हरड़ आदि औषधि उपकारी होती है, उसी प्रकार उपकारी है। उन विषयों से वैराग्य होने पर कर्मबन्धन नहीं होता और तब जन्म–जरा–मरण रोग नहीं होते तथा संसार के दु:खों का अभाव होता है। इस प्रकार जिनवचनों को अमृत समान मानकर अंगीकार करना ।।१७।।**

गाथा–१७ पर प्रवचन

आगे कहते हैं कि ऐसा सम्यक्त्व जिनवचन से प्राप्त होता है,... वीतराग की वाणी से ऐसा सम्यग्दर्शन हो सकता है। क्यों वीतराग की वाणी से हो सकता है? **इसलिए वे ही सर्व दु:खों को हरनेवाले हैं..** वीतराग सर्वज्ञ की वाणी, उनके कहे हुए भाव, वे सर्व दु:खों का नाश करनेवाले हैं। देखो! यह गाथा ली। 'प्रश्न व्याकरण' में ऐसा आता है। श्वेताम्बर में शुरुआत में आता है।

जिणवयणमोसहमिणं विसयसुहविरेयणं अमिदभूदं।
जरमरणवाहिहरणं खयकरणं सव्वदुक्खाणं ।।१७।।

जिनवचनमौषधमिदं विषयसुखविरेचनममृतभूतम्।
जरामरणव्याधिहरणंक्षयकरणं सर्वदु:खानाम् ।।१७।।

ओहो! वीतराग की वाणी वीतराग को पोषण करनेवाली है। राग का नाश करनेवाली वाणी है। कितना कहते हैं?

अर्थ – **यह जिनवचन हैं सो औषधि हैं।** वीतराग परमेश्वर की वाणी है, वह

औषध है। वाणी औषध है अर्थात् उसने कहा हुआ भाव। वाणी तो शब्द है। **कैसी औषधि हैं ? कि इन्द्रिय विषयों में जो सुख माना है उसका विरेचन अर्थात् दूर करनेवाले हैं।** आहाहा! देखो! कहते हैं कि वीतराग की वाणी मैं आत्मा आनन्दस्वरूप है, इसके अतिरिक्त पुण्य-पाप और पुण्य-पाप के फल, वे दु:खरूप, भाव दु:खरूप और बाहर दु:ख के निमित्त हैं। उनमें कहीं सुख नहीं है... वीतराग की वाणी, ऐसा कहती है। समझ में आया ? मिथ्यास्वभाव हो गया है न इसका ? इसलिए कहते हैं, मिथ्यात्वस्वभाव में हुआ क्या था ? कि शब्द में, रूप में, रस में, गन्ध में, स्पर्श में, भोग में सुख है, ऐसा माननेवाले भगवान आत्मा में आनन्द नहीं, ऐसा माननेवाले मिथ्यादृष्टि अज्ञानी हैं। आहाहा! समझ में आया ?

जिनवचन औषध है। किसमें ? विषय के विरेचन-रेच करा डाले। रेच.. रेच। हरड़ का रेच लेते हैं न ? हरड़ का। वह आयेगा, अन्दर में आयेगा। निकाल डालता है। इसी प्रकार वीतराग की वाणी तीन काल-तीन लोक में इन्द्र आदि के सुख, वे दु:खरूप और जहर हैं। यह पाँच-पच्चीस करोड़ का आसामी हो, शरीर सुन्दर और रूपवान हो, स्त्री, पुत्र, अच्छे हों, मकान, बंगले पाँच-पाँच लाख के बनाये हों, उसमें सुख है, यह माननेवाले जहर को पीते हैं। उस जहर का वीतराग वाणी रेच करानेवाली है। आहाहा! अभेचन्दजी! आहाहा!

छोड़ रे छोड़, भाई! यह पुण्य-पाप के भाव जो तुझे होते हैं, वह भी विरेचन कर, क्योंकि वह राग है और उसके फलरूप से बाहर में तू कहीं माने कि यह ठीक है... यह ठीक है... यह ठीक है... समझ में आया ? यह सब पर के विषय का भाव, उसे वीतरागी वाणी रेच करा देती है। उसमें कहीं सुख नहीं है, तेरे पुण्य-पाप के भाव में और सामग्री में सुख के निमित्त नहीं हैं। वह सुख के निमित्त नहीं हैं। आहाहा! समझ में आया ?

जिसे इस भोग में, शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श में ठीकपना भासित होता है, वही प्रकृति मिथ्यात्व है, ऐसा कहते हैं। उसे वीतराग की वाणी रेच करा डालती है। आहाहा! समझ में आया ? तुझमें आनन्द है न! पर में कहीं सुख नहीं है, जरा भी (सुख की) गन्ध नहीं, सब दु:ख है। ऐसा वीतराग की वाणी फरमाती है। आहाहा! कहो, समझ में आया इसमें ? जाधवजीभाई! कितना सुख होगा ? यह सब पैसेवाले कहते हैं न लोग ? धूल में

भी नहीं, दु:खी है। आकुलता.. आकुलता.. आकुलता है। उसे सुख मानता है। वीतराग की वाणी उस पर चोट मारती है। छोड़, वह दु:ख है। विषय है, वह दु:ख है। इन्द्राणी की अनुकूलता के विषय दु:ख है। समझ में आया? सुख तो तेरे स्वरूप में है। सच्चिदानन्द प्रभु आत्मा है। शाश्वत् ज्ञान और आनन्द तू है, ऐसा वीतराग की वाणी पुकार कर विषय को बदला डालती है। समझ में आया? आहाहा! कहो, समझ में आया या नहीं इसमें?

इसी प्रकार रोटी अनुकूल गर्म-गर्म आयी। तुअर की दाल बघारी हुई एकरस, मैथी और मिर्च क्या करे? कलछिया में डालकर। अग्नि में डालते हैं न? बघार... बघार कहते हैं। छम्म... दाल में डालते हैं न? छम्म। लड्डू ऐसे साथ में खाये, वहाँ ठीक लगा (तो) तू मूढ़ है, कहते हैं। वीतराग की वाणी उसे रेच करा डालती है। सुजानमलजी! देखो! यह कैसी शैली से बात की है। आहाहा! भाई! तूने पर में कहीं ठीकबुद्धि, हितबुद्धि, श्रेयबुद्धि है, वह सब मिथ्यात्वभाव है। उसे वीतराग की वाणी रेच कराती है (कि) छोड़। भगवान आत्मा में आनन्द है, वहाँ दृष्टि को स्थापित कर। वह वीतराग की वाणी ऐसा कहती है। आहाहा!

वीतराग वाणी (ऐसा कहती है कि) हमारी भक्ति करने से भी तुझे राग होता है और राग है, वह दु:ख है, उसका रेच करानेवाली वीतराग की वाणी है। आहाहा! समझ में आया? ऐई! ऐसा मोटर में बैठा हो, ऐसी लाख की मोटर हो। आती है न? क्या कहलाती है बड़ी? .....ऐसे अन्दर बैठा हो। वह मानो बैल जैसा। उसे ऐसा लगता है कि मैं कुछ हूँ। अरे! हैं? यह यों ही साईकिल के ऊपर बैठता है न? साईकिल के ऊपर। वह साईकिल नहीं, वह क्या कहलाती है तुम्हारी? वह हाँकते हैं वह। यह बैठकर आते हैं न? अभी ऐसे हाँकते हों। परन्तु तुझे यह क्या हो गया?

मुमुक्षु : घोड़े की पूँछ ....

पूज्य गुरुदेवश्री : ... का अर्थ यह। लोग कहते हैं न? घोड़ा की पूँछ ... अन्दर तो ... होवे परन्तु बैठे वहाँ उसे ... आ जाता है। परन्तु क्या है? समझ में आया? आहाहा! ये लोग कहते होंगे, बात सत्य है। घोड़े पर बैठे, साईकिल में बैठे, मोटर में बैठे, कोई विमान में बैठे, एयरोप्लेन में बैठे, राकेट में बैठे। आहाहा! क्या है? धूल भी नहीं। मर गये।

पर में कहीं भी तुझे उत्साह आया, वह मिथ्यात्वभाव है – ऐसा कहते हैं। यह भगवान की वाणी उसे उड़ाती है, छोड़। वहाँ उत्साह करता है ? यहाँ उत्साह करनेयोग्य है। समझ में आया ? आहाहा ! इसका अर्थ यह कि ध्रुव में ध्येय कराती है। अन्दर आनन्द का धाम है, वहाँ दृष्टि कराती है। वीतरागभाव में दृष्टि कराती है और रागभाव में से दृष्टि उठाती है। आहाहा ! यह व्यवहाररत्नत्रय के राग को जहर कहकर जिनवाणी उसे उड़ा डालती है।

....अपने सागरवाले। मुन्नालाल। छहढाला में व्यवहारकारण है, ऐसा कहा है, उसका अर्थ दूसरा है। निश्चय का व्यवहारकारण नहीं हो सकता। यह अर्थ... है यहाँ ? छहढाला में... नियत को हेतु व्यवहार। ...उसका कारण, वह व्यवहार। उसका कारण, इसलिए व्यवहार, ऐसा नहीं। ऐसा जरा अर्थ किया है, ठीक किया है। वस्तु जहाँ आनन्दकन्द ध्रुव नित्य पर की अपेक्षारहित है, उसे व्यवहार उसका कारण है, ऐसा नहीं हो सकता। समझ में आया ? है न इसके अन्दर – छहढाला में शीर्षक में रखा है। क्या कहा ? छहढाला एक अध्ययन – पण्डित मुन्नालाल... ऐसा लिखा है... 'सम्यग्दर्शन ज्ञान चरण शिवमग सो दुविध विचारो, सत्यारथ रूप सो निश्चय कारण सो व्यवहारो', ऐसा नहीं। 'जो सत्यारथ रूप सो निश्चय और कारण...' जिसे पर का कारण लागू पड़े, वह व्यवहार है, अभूतार्थ है। उसका कारण है, ऐसा नहीं। ऐसा अर्थ किया है। वीतरागीमूर्ति चैतन्य स्वयं पर की अपेक्षारहित स्वयंसिद्ध तत्त्व है, उसे पर का कारण और पर का व्यवहारकारण, ऐसा नहीं है। ठीक किया है। ...समझ में आया ?

यहाँ कहते हैं, **इन्द्रिय विषयों में जो सुख माना है...** देखो ! है न ? पाँचों इन्द्रियों में कुछ भी दूधपाक, कढ़ी ऐसा सामने आवे और घी की तली हुई पूड़ी, पोची-पोची पूड़ी मर गया। कहते हैं। सुन न ! तेरा स्वभाव मिथ्यात्व हो गया है। समझ में आया ? उसमें सुख की तेरी कल्पना है, उसका भगवान विरेचन कराते हैं, छोड़, उसमें कहीं सुख नहीं है। वह तो दुःख है, उसे तू सुख मानता है ? आहाहा ! कहो, समझ में आया ? यह पैसेवाले सुखी हैं और धनाढ्य सुखी हैं। मूढ़ है ? ऐसी प्रकृति तूने कहाँ से कर ली ? ऐसा कहते हैं। ऐई ! मलूकचन्दभाई को कहना, मुद्दे की (बात) है ? इनके लड़के हैं और पैसे वाले। सुखी कहना, यह कहते हैं, मूढ़ है ? तुझे पाँच इन्द्रिय के विषय में सुख भासित

होता है ? तुझे और दूसरों को है, उसमें तुझे सुख भासित होता है ? प्रकृति तेरी मिथ्यात्व हो गयी है। कहो, समझ में आया इसमें ? उसे जिनवचन अन्दर से धक्का मारते हैं। छोड़, विषय। मृतक कलेवर में कहीं सुख नहीं है। हेय कर डाल, कहते हैं। आहाहा!

छह खण्ड का धनी भोगता है न? भोगता नहीं, सुन! छह खण्ड का धनी समकिती, क्षायिक समकिती, छियानवे हजार स्त्रियाँ। अरे! राग आवे उसे तो दुःख लगता है, काला नाग देखता है उसे। आहाहा! वृत्ति बदल गयी है और तुझे अन्दर जहाँ कुछ ठीक लगे, अनुकूलता है (तो कहते हैं) तेरी स्वभाव की प्रकृति ही मिथ्यात्व हो गयी है। समझ में आया? आहाहा! पूरी दुनिया से दृष्टि उठा, मूल तो ऐसा कहते हैं।

परज्ञेय में कुछ भी ठीक लगे तो आत्मा आनन्दकन्द प्रभु है, उसका तूने अनादर किया है। शाश्वत् वस्तु भगवान आत्मा नित्यानन्द का नाथ स्वयं है, उसका तू अनादर करता है और राग में सुख नहीं, पर में सुख नहीं, उसे मानता है, वह मिथ्यात्व प्रकृति है। गुलाँट खा। वीतराग वाणी ऐसा कहती है। पर्यायबुद्धि, पर में सुखबुद्धि छोड़ – मूल तो ऐसा कहती है। आहाहा! वाह! .... **'जिणवयणमोसहमिणं'** यह शब्द वहाँ कहाँ है? विषयसुख का भेद कर। यह क्या कहते हैं ? समझ में आया ? जिसे राग अच्छा लगता है, उसे राग के फलरूप से पुण्य और पुण्य के फलरूप से सामग्री सब अच्छी लगती है। समझ में आया ? रागभाव तो अचेतन है। उसमें जिसे ठीक लगता है, (वह) जहरबुद्धि है, मिथ्याप्रकृति है। आहाहा! समझ में आया ?

इन्द्रिय विषयों में जो सुख माना है... ऐसी साधारण भाषा है परन्तु उसमें भाव गहरे हैं। **उसका विरेचन अर्थात् दूर करनेवाले हैं**। आहाहा! वीतराग की वाणी में पुण्य और पाप के दोनों भाव और उनके फलरूप से चीज़ें, उसमें से दृष्टि उठाते हैं। समझ में आया ? वहाँ दृष्टि लगायी है और ठीक लगता है, वही मिथ्यात्वभाव है। उस मिथ्यात्वभाव को वीतराग वाणी छेद करती है। छोड़! पहले में जरा कहा था पहले (कि) अभ्युदय को पाता है, तीर्थंकर (पद) पाता है। वापस यहाँ (यह कहते हैं) दृष्टि को यहाँ स्थिर करनी है। यह तो एक फल बताया कि इसे ऐसा होगा परन्तु उसमें सुख नहीं मानता। आहाहा! समझ में आया ?

पाँच इन्द्रिय के विषय में सुख माना था, उसका विरेचन अर्थात् दूर करनेवाली

वाणी है। अर्थात् आत्मा में आनन्द है, ऐसी दृष्टि करानेवाली वीतराग की वाणी है। आत्मा में धर्म है। धर्म अर्थात् तेरा स्वभाव, ऐसी वीतराग की वाणी पर में से दूर कराकर स्व में स्थापित करती है। आहाहा! समझ में आया? सुजानमलजी! ऐसी बात है। आहाहा! लड़का अच्छा होवे तो ठीक। लड़का नहीं परन्तु उसके साले का साला ठीक होवे तो उसे अच्छा रहे। लड़का हो, उसका साला हो और उसका साला। वह पावे तो भाई! सुखी हुआ जाए, सुखी। न हुआ जाए ऐसा होगा? यहाँ बैठे-बैठे बोलते थे। धूल भी नहीं, अब सुन न! आहाहा!

मुमुक्षु : भगवान आत्मा का अनादर हो जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वीतराग की वाणी उस अभिप्राय को दूर कराती है। समझ में आया? अन्दर भरे बर्तन पड़े हैं और ऐसी जूठन चाटने जाता है, उसे वीतराग की वाणी मार्ग कटाती है। छोड़, यह दृष्टि। आहाहा! यदि कहीं भी मिठास रह गयी (तो वह) मिथ्यात्व प्रकृति है, ऐसा यहाँ कहते हैं। नागरभाई! बराबर होगा या नहीं यह? यह तो अन्तर कहते हैं। दृष्टि का अन्तर बतलाते हैं। दर्शनपाहुड़ है न! समकित है न? मिथ्यात्व है, उसे गुलाँट खिलाकर समकित (कराते हैं) स्व का आश्रय कर और स्व में सुख है, ऐसी बुद्धि को यहाँ स्थापित कर। ऐसा वीतराग की वाणी कहती है। आहाहा!

पुनश्च कैसे हैं अमृतभूत अर्थात् अमृत समान हैं... वास्तविक जो भगवान आत्मा अमृत की मूर्ति आत्मा है, आत्मा अतीन्द्रिय अमृत की मूर्ति है। उस अमृतमूर्ति को बतलानेवाली वाणी है, इसलिए वाणी अमृत है। श्रीमद् में आया है न यह?

वचनामृत वीतराग के परम शान्त रस मूल;
औषध जो भव रोग के, कायर को प्रतिकूल॥

कायर, हीन, क्लीव, नपुंसक जैसों को यह वाणी कठिन लगती है कि अर..र..र! आहा! यह क्या? अमृतभाई! राग के प्रेमी, पुण्य के प्रेमियों को यह बात कहते हैं कायर को अच्छी नहीं लगती। समझ में आया? पुण्य के प्रेमी, वे विषय के प्रेमी हैं। यह वीतराग की वाणी अमृतभूत है दुःख का भेद कराकर, पर में सुखबुद्धि है उसका नाश कराकर (अमृत पिलाती है)। अभी तो यह दर्शनशुद्धि की बात चलती है। आहाहा! समझ में आया?

इसीलिए जरामरणरूप रोग को हरनेवाले हैं... आहा! परमात्मा की वाणी में जरामरणरूप रोग, इस जरामरणरूप रोग को हरनेवाली है। **तथा सर्व दुःखों का क्षय करनेवाले हैं।** समझ में आया? देखो! यहाँ तो वाणी उसे कहते हैं कि जो राग और राग के फल का निषेध करावे और वीतरागस्वरूप आत्मा को उसमें स्थापित करे, उसका नाम वीतराग की वाणी है, ऐसा यहाँ कहते हैं।

जिनवाणी की परीक्षा क्या? वीतराग वाणी की परीक्षा क्या और कसौटी क्या? समझ में आया? चार अनुयोग में चाहे जो वाणी हो, परन्तु राग और राग के फल में इसका प्रेम उड़ाना चाहते हैं और भगवान आत्मा आनन्द की मूर्ति प्रभु है, उसका प्रेम कराते हैं। रति आती है न? निर्जरा में, नहीं? रति, रतिकर है। इतना ही कल्याण है, इतना ही मार्ग है। आहाहा! दर्शनपाहुड़ है न? मूल दर्शन तो उसे कहा परन्तु उसका वापस सबका मूल तो सम्यग्दर्शन है। वह सम्यग्दर्शन पर की (सुखबुद्धि) उड़ाकर, चाहे तो तीर्थंकरगोत्र का भाव हो, परन्तु वह दुःखबुद्धि है, इसलिए उसे दुःख है। यह विषय, तेरा ध्येय यह नहीं होता। ध्येय तो ध्रुव के ऊपर होता है। जिसमें आनन्द और अनन्त-अनन्त सर्वज्ञ शक्तियाँ विद्यमान हैं, ऐसे ध्रुव पर दृष्टि करावे, वह वीतराग की वाणी कहलाती है। समझ में आया?

पर में सुखबुद्धि है, वह पर्यायबुद्धि है, मूढ़बुद्धि है, मिथ्यात्वस्वभाव का पाखण्डभाव है – ऐसा कहते हैं। उसे भगवान उड़ा देते हैं। छोड़ यह दृष्टि। भगवान! तुझमें आनन्द है न, नाथ! आहाहा! आनन्द से तो परिपूर्ण है और राग से तो बिल्कुल खाली है। आहाहा! गर्मी के दिन हों, बहुत प्यास लगी हो और उसमें मौसम्बी का पानी मिले और उसके ऊपर डाली हुई हो आईसक्रीम। ऐई! गला सूखा हुआ हो। गटक... गटक... (पीता है) वह तो जड़ की क्रिया है। प्रेम लग जाता है।

मुमुक्षु : वह तो पुद्गल की पर्याय है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो पुद्गल की कही, वह तो जड़ की कही न! उसमें प्रेम लग जाता है, वहाँ चिपटा है। तेरी प्रकृति मिथ्यात्वस्वभाव है। आहाहा! ऐसा कहते हैं। यह तो एक का दृष्टान्त दिया है। ऐसे पाँच.. समझ में आया? आहाहा! इन्द्रिय के विषयों को जीतना, ऐसा आता है न ३१वीं गाथा में? इसका अर्थ किया—खण्ड-खण्ड इन्द्रिय-

भावेन्द्रिय और उसके विषय सबको जीतना। सबका विषय छोड़। क्योंकि सब विषयों में कहीं सुख नहीं है। समझ में आया?

वह यह सुखस्वरूप भगवान है, ऐसी दृष्टि करावे, वह जिनवचन कराता है, कहते हैं। समझ में आया? यह बात वीतरागमार्ग में चारों ही अनुयोगों में दृष्टि करानी हो तो पर से उड़ाकर स्व में कराते हैं। आहाहा! निर्धन हो, खाने का संकट हो, उसमें पाँच-पचास लाख पड़े हों। फूलेफले। हम तो कैसे सुखी हो गये!

मुमुक्षु : इसके बाप-दादा...

पूज्य गुरुदेवश्री : इसके बाप-दादा का क्या था? ....आत्मा था या नहीं? यह नहीं था और था, उसमें सुख कहाँ था? ऐई! छोटाभाई के पास नहीं था। पूनमचन्द के पास...

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु इसके लड़के के पास है, उसकी हूँफ तो रहे। और वह वहाँ... आहाहा! उसका वैभव। यह तो कहते हैं, हम ऐसे वैभव में न रहें तो हमें जीना क्या? ....क्या कहते हैं? स्विट्जरलैण्ड क्या भाषा है? ऐई! यहाँ हमारे पद्धति ही ऐसी होती है। बाग और बगीचा... उसकी भाषा है। हमारा रहन-सहन ही ऐसा होता है। सेठी! मलूकचन्दभाई का बड़ा लड़का है न! मलूकचन्द का बड़ा लड़का। दो करोड़ रुपये। और बाग-बगीचा और वैभव... वैभव... वैभव... स्विट्जरलैण्ड में है। यह वहाँ नहीं गया, हों! ....वहाँ कहीं सुख नहीं है, सुखबुद्धि लगी तो मूढ़ है, ऐसा यहाँ तो कहते हैं। ....आहाहा! यह विष्ठा की शैय्या में सोना और प्रसन्न होना... मूढ़ है, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

यह विकल्प का भाग उठता है, और उसकी सामग्री के ऊपर इसका लक्ष्य जाए तो कहते हैं यह दुःख की भट्टी है, बापू! उसका रेच करानेवाली वीतराग की वाणी है, छोड़। वीतराग हुए, वे राग को छेदकर हुए हैं। व्यवहार को छेदकर हुए हैं। आहाहा! समझ में आया? अभी तो यहाँ सम्यग्दर्शन तक की यह तो बात है। समझ में आया?

मुमुक्षु : व्रत लेंगे...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कहेंगे आगे। आता है न उसमें। है न कहीं? २२ गाथा में

है। **चारित्र का पालन करे, तब सम्यक्त्वी माना जावे,...** भावार्थ में है। **यहाँ आशय ऐसा है कि यदि कोई कहे कि सम्यक्त्व होने के बाद में तो सब परद्रव्य–संसार को हेय जानते हैं। जिसको हेय जाने, उसको छोड़ मुनि बनकर चारित्र का पालन करे, तब सम्यक्त्वी माना जावे, इसके समाधानरूप यह गाथा है,...** मुनि हो तो समकित हो, ऐसा नहीं है, सुन न! ऐसे विपरीत! वह गाथा ही यह है, देखो! इसका समाधान— **जिसने सब परद्रव्य को हेय जानकर निजस्वरूप को उपादेय जाना,...** पर में से, विषयसुख में से बुद्धि उठ गयी। आत्मा में सुखबुद्धि हुई। **तब मिथ्याभाव तो दूर हुआ, परन्तु जबतक (चारित्र में प्रबल दोष है तबतक) चारित्र–मोहकर्म का उदय प्रबल होता है (और) तबतक चारित्र अंगीकार करने की सामर्थ्य नहीं होती। जितनी सामर्थ्य है उतना तो करे और शेष का श्रद्धान करे, इसप्रकार श्रद्धान करने को ही भगवान ने सम्यक्त्व कहा है।** देवीलालजी! आहाहा!

ऐसा कहते हैं, समकित तो उसे कहते हैं कि चारित्र अंगीकार करे। जिसे हेय जाना, उसे किसलिए लक्ष्य में रखे? अब सुन न! वह तो उसे चारित्रदोष होता है। चारित्रदोष होवे तो समकित को नुकसान करता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! रोटी और छाछ खाता हो और चक्रवर्ती देखता हो, कैसे उसके बत्तीस ग्रास! छियानवें करोड़ पचा नहीं सकें। छियानवें करोड़ सैनिक सेना उसके बत्तीस ग्रास पचा नहीं सकें, यह वह खाता है। मात्र हीरा की भस्म, माणिक की भस्म।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो जड़ की बात चलती है। मोती की भस्म। गेहूँ पाव सेर ले, उसमें से सेर घी डाले, उस सेर घी में ऐसी सब भस्म डाले और उन्हें गेहूँ पीवे। भस्मवाला, हों! उस गेहूँ का आटा करके उस आटे की रोटी बनावे। भिखारी को तो नहीं मिलती।

मुमुक्षु : देखने को भी नहीं मिलती।

पूज्य गुरुदेवश्री : देखने को नहीं मिलती। तथापि कहते हैं कि उस भाव में ज्ञानी को सुखबुद्धि नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : पुण्य भोगता है परन्तु वापस पुण्य में फर्क किसलिए बताते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन भोगता है ? परन्तु है कहाँ ? यह भी अभी कहाँ भोगता है ? मूढ़ है, यह तो मानता है। आहाहा! ऐसे पुण्यशाली हैं और यह सब पुण्य है। ऐसा है... ऐसा है। पुण्य तो पुण्य में रहा, यहाँ कहाँ अन्दर घुस गया है ? आहाहा! अरे रे! जगत को सत्य और असत्य का अन्तर नहीं है। बापू! तुझे खबर नहीं, भाई! आहाहा! कल नहीं कहा था ? सवेरे कहा था। नहीं ?

जीव ने नारकी के रौवरौव नरक के दु:ख भोगे ? नहीं, यह भोगता है, वह जीव नहीं। वह तो राग है, द्वेष है। द्वेष को आत्मा भोगे ? आत्मा में द्वेष कैसा ? आहाहा! सम्यग्दृष्टि जीव को रोम-रोम में लोहे के सरिया कोई डाले तो भी उसे उस ओर के झुकाववाले दु:ख का विकल्प ही नहीं है। समझ में आया ? अस्थिरता की अलग वस्तु है। यह मुझे दु:ख है, इसलिए ऐसा होता है – ऐसा नहीं। संयोगों का दु:ख है, इसलिए मुझे ऐसा होता है – ऐसा नहीं। संयोग प्रतिकूल हैं, इसलिए दु:ख होता है, यह मान्यता मिथ्यादृष्टि की है। आहाहा! जैसे यह अनुकूल है; इसलिए सुख है और प्रतिकूल है; इसलिए दु:ख है, दोनों मिथ्या बातें हैं, मूल तो यहाँ ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? आहाहा!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : भाव होता है, उसने पर को विषय बनाया, मिठास लगी, वही महामिथ्यात्वभाव है। वीतराग वाणी उसे मार, डण्डा मारती है। छोड़ दृष्टि। राग छूटे नहीं परन्तु राग की एकता तो छोड़। यहाँ तो एकता की बात छुड़ाते हैं। राग तो छूटेगा, अभी चारित्र पूर्ण होगा तब (छूटेगा)। राग की एकता छोड़, उसके प्रति प्रेम है, वह छोड़ और स्वरूप में प्रेम कर। ऐसी वीतराग की वाणी चार अनुयोग में फरमाती है। आहाहा! समझ में आया ? पर का अचिन्त्यपना, चमत्कारपना, महिमापना छोड़ और तेरा भगवान तेरे पास तू है। उसका अचिन्त्यपना... समझ में आया ? अलौकिकपना उसमें है, उसमें प्रेम कर। ऐसा वीतराग वाणी फरमाती है। आहाहा! समझ में आया ?

धर्मी को लड़का ही नहीं होता। कहा था न ? एक बार बात हुई थी न ? लड़का कब उसे ? बात हुई थी न ? है न डॉक्टर ?.... (संवत्) १९९० का वर्ष। प्राणजीवन डॉक्टर और उसका साढू। दोनों को सोलह-सोलह आने का वेतन। १९९० का वर्ष। कहा

तुमने क्या पढ़ा है ? पढ़ो तो खबर पड़े कि तुमने किस दृष्टि से पढ़ा है। बहुत पढ़ा है। एक तो दृष्टान्त दो। ऐसा एक धर्मी था, ऐसा धर्म में दृढ़ था। वह परदेश में गया। उसकी परीक्षा करने के लिये एक व्यक्ति ने कहा, तुम्हारे पन्द्रह वर्ष के लड़के का लड़का मर गया है... वह धर्मी कहे, हमारा लड़का नहीं मरता, हम धर्मी हैं। कहा, ठीक है तुम्हारा पढ़ा हुआ ? लड़का कब उसका था कि मरे तो उसे दुःख हो। लड़का मर गया, उसमें इसे क्या हुआ ? विधुर हो जाए। आठ-आठ लड़के समकिती को हों। मरकर अकेला रहे। उससे भी क्या है ? अकेला ही है, ऐसा सम्यग्दर्शन में अकेलापना भासित हुआ है। आहा ! अरे ! कुछ... नहीं रही, अवस्था हो गयी। धर्मी जीव की ८०-८० वर्ष, ८५ हुए। लड़के सब जवानी ४० वर्ष की थी, तब सब थे। और... गये, हों ! इसलिए दुःखी है। अरे ! मूढ़ है। ऐसा कहाँ से करेगा नहीं तो।

मुमुक्षु : अब धर्म करने का समय आया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : धर्म करने का समय है परन्तु वह क्या है ? उसके कारण... है ? वह तो उसके कारण विकल्प था और उसके कारण विकल्परहितपना है ? उसका अभाव हुआ, इसलिए निर्विकल्प हुआ है ? यह तो स्वयं के कारण से होता है। समझ में आया ? ऐ... जाधवजीभाई ! ऐसी बातें हैं यह।....

मुमुक्षु : आप पैसे की बात करते हो और ललचा जाते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी नहीं वहाँ। वहाँ तो पत्थर है, दुःख के निमित्त हैं। वहाँ होली सुलगती है। यहाँ तो अमेरिका के आवे वे मूर्ख हों वे आवें... है न पत्र में ? है या नहीं तुम्हारे पास ? पढ़ो तो सही।.... धूल में भी नहीं वहाँ कुछ।

मुमुक्षु : बहुत विचार करने पर झनझनाहट छूट जाती है। और वह मूरख है।

पूज्य गुरुदेवश्री : चिमनभाई छोड़ने गये थे ? वे सब मूर्ख होंगे ? यहाँ तो अमेरिका से पढ़कर आवे तो दो-दो लाख रुपये कन्या दे। दो हजार क्या लाख का आवे। एक व्यक्ति कहता था कि हमारे पास पैसा है, लड़की बड़ी हुई है। परदेश में कोई दूल्हा मिल जाये (तो) पचास हजार देकर कन्या दी, दूँ। परन्तु यहाँ.... मन नहीं होता। अपना मुमुक्षु था। नाम नहीं देते। समझ में आया ? अरे ! ऐसे के ऐसे। ऐई ! परदेश में दूल्हा मिल जाए तो पचास हजार देकर भी वहाँ दूँ। यहाँ पैसे देने का मन नहीं होता। ऐसे के ऐसे। लड़की

को दें... कीमत करे अच्छे घर की।.... मलूकचन्दभाई! इस जगत की कसौटी की कीमत सब विपरीत है, कहते हैं। विपरीत समझ में आती है।

कहते हैं, भगवान की वाणी तो **जरामरणरूप रोग को हरनेवाले हैं तथा सर्व दुःखों का क्षय करनेवाले हैं।**

***भावार्थ* – इस संसार में प्राणी विषयसुखों को सेवन करते हैं, जिनसे कर्म बँधते हैं...** कर्म वापस मिथ्यात्व। विषयसुख में सुख है, ऐसा माना है, वह तो मिथ्यात्व बँधता है, दर्शनमोहकर्म बँधता है। आहाहा! गजब बात, भाई! ऐसा होगा तो फिर कोई विवाह नहीं करेगा। सम्बन्ध हुआ हो तो फिर विवाह तो करना चाहिए न? क्या करे? किसके साथ सम्बन्ध किया? मुर्दे के साथ? अब मुर्दे के साथ विवाह करना। मूर्ख है, यहाँ तो कहते हैं। आता है न मोक्षमार्गप्रकाशक में? मुर्दे के साथ सगाई की और अब पन्द्रह दिन, महीने, दो महीने में विवाह करूँगा। मूर्ख है, कहते हैं। कहो, समझ में आया? आहाहा!

प्रभु आत्मा आनन्दमूर्ति की सगाई छोड़कर पर में सगाई में कुछ माने (तो) कहते हैं, मूढ़ और विषयसुख का भोक्ता है। भले बाहर में अभी संयोग कम हो परन्तु तुझे तो पूरी दुनिया के अनुकूल विषयों का भोगनेवाला तू है। समझ में आया? आहाहा! यह वीतराग वाणी उसका रेच कराती है।

वहाँ जिनवचनरूप औषधि ऐसी है जो विषयसुखों से अरुचि उत्पन्न करके उसका विरेचन करती है। आहाहा! कहीं सुख की गन्ध भी नहीं, नाथ! तेरा सुख तो तुझमें है, ऐसा भगवान कहते हैं। ऐसा भगवान इससे मनाते हैं। समझ में आया? भगवान आत्मा कहीं सुखबुद्धि करे, ऐसा तेरा स्वभाव ही नहीं है। तूने मिथ्यात्वस्वभाव खड़ा किया है। **विषयसुखों से अरुचि उत्पन्न करके...** ओहोहो! इसका अर्थ अकेले भोग, ऐसा नहीं परन्तु राग और राग का विषय, सबके प्रति रुचि उड़ा, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? इस प्रकार फिर विषय छोड़े और स्त्री, पुत्र छोड़े, इसलिए विषय छोड़े—ऐसा नहीं है। नग्न बाबा हुआ, ऐसा नहीं है। जिसे अन्दर दया, दान, व्रत के परिणाम राग हैं, जिसे उसके प्रति प्रेम है, वह सब विषयसुख के ही अभिलाषी हैं। आहाहा! समझ में आया? देवचन्दजी! भगवान का मार्ग ऐसा है। भगवान अर्थात् तू। **विषयसुखों से अरुचि उत्पन्न करके उसका विरेचन करती है।**

जैसे गरिष्ठ आहार से जब मल बढ़ता है,... ऊँचे-ऊँचे मैसूरपाक खाये हों तो पेट में मल बढ़े न ? मलशुद्धि में नहीं लेते ? मलशुद्धि। हमें देते थे जमुभाई ! **गरिष्ठ आहार से जब मल बढ़ता है, तब ज्वरादि रोग उत्पन्न होते हैं...** पेट में मल बढ़े न... दूधपाक खाये, पूड़ी खाये ऐसे लगातार दो-चार-पाँच दिन खाया हो तो बुखार आवे। समझ में आया ? **तब उसके विरेचन को हरड़ आदि औषधि उपकारी होती है,...** हरड़ दे, हिमेज दे।

उन विषयों से वैराग्य होने पर कर्मबन्धन नहीं होता... लो ! वैराग्य हुआ, पर के प्रति वैराग्य। पाँच इन्द्रिय के विकल्प, भोग और विषय सब पर है। तेरा स्वरूप सच्चिदानन्द निर्मलानन्द है। उसमें दृष्टि कर और परभाव को छोड़। **कर्मबन्धन नहीं होता और तब जन्म-जरा-मरण रोग नहीं होते तथा संसार के दुःखों का अभाव होता है। इस प्रकार जिनवचनों को अमृत समान मानकर अंगीकार करना।** अमृत समान जानकर अन्दर श्रद्धा करना, यह मोक्ष का मार्ग है। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)

गाथा-१८

आगे, जिनवचन में दर्शन का लिंग अर्थात् भेष कितने प्रकार का कहा है, सो कहते हैं -

एगं जिणस्स रूवं बिदियं उक्किट्ठसावयाणं तु।
अवरट्ठियाण तइयं चउत्थ पुण लिंगदंसणं णत्थि ।।१८।।

एकं जिनस्य रूपं द्वितीयं उत्कृष्टश्रावकाणां तु।
अवरस्थितानां तृतीयं चतुर्थं पुनः लिंगदर्शनं नास्ति ।।१८।।

है एक लिंग जिनरूप उत्तम श्रावकों का दूसरा।
है आर्यिका का तीसरा चौथा न लिंग दर्शन कहा।।१८।।

अर्थ - दर्शन में एक तो जिनका स्वरूप है; वहाँ जैसा लिंग जिनदेव ने धारण

किया वही लिंग है तथा दूसरा उत्कृष्ट श्रावकों का लिंग है और तीसरा 'अवरस्थित' अर्थात् जघन्यपद में स्थित ऐसी आर्यिकाओं का लिंग है तथा चौथा लिंग दर्शन में है नहीं।

भावार्थ **– जिनमत में तीनों लिंग अर्थात् भेष कहते हैं। एक तो वह है जो यथाजातरूप जिनदेव ने धारण किया तथा दूसरा ग्यारहवीं प्रतिमा के धारी उत्कृष्ट श्रावक का है और तीसरा स्त्री आर्यिका का है। इसके सिवा चौथा अन्य प्रकार का भेष जिनमत में नहीं है। जो मानते हैं वे मूल-संघ से बाहर हैं।।१८।।**

प्रवचन-१५ गाथा-१८ से २० मंगलवार, ज्येष्ठ कृष्ण ४, दिनांक २३-०६-१९७०

अष्टपाहुड़। पहले दर्शनपाहुड़ की १८वीं गाथा। १७ में ऐसा कहा, वीतराग के वचन विषय का विरेचन कराते हैं। आत्मा का विषय शुद्ध चैतन्य की दृष्टि कराकर, पर के विषय में सुखबुद्धि है, उसे वीतराग की वाणी टालती है। समझ में आया? विषय में, पाँचों इन्द्रिय के विषय में परलक्ष्यी जितना भाव होता है, वह सब दु:खरूप है। विषय के भोग का भाव, शब्द सुनने का भाव, रूप का, गन्ध का, रस का और स्पर्श का (भाव), वह सब विकारी भाव है। वे विषय हैं, वे दु:खरूप हैं। वीतराग की वाणी उनका रेच कराती है। विषय है, उनकी अरुचि कराकर वीतरागस्वरूप आत्मा आनन्द है, उसकी रुचि कराकर स्थिरता करने को कहती है। देवचन्दजी! समझ में आया? पाँच इन्द्रिय के विषयों की ओर लक्ष्य जाता है, वह सब शुभ और अशुभभाव है। आहाहा! वीतराग की वाणी सुनने में लक्ष्य जाता है, वह भी एक शुभभाव का विषय है।

मुमुक्षु : सुनना या नहीं सुनना?

पूज्य गुरुदेवश्री : बात यह है। वस्तु का स्वरूप (यह है)। पाँचों ही इन्द्रिय के (विषय) शुभ या अशुभ, उस ओर के झुकाववाला भाव सब राग है।

मुमुक्षु : स्वयंभूरमण समुद्र में मेंढ़क है, उसे कहाँ विषय है?

पूज्य गुरुदेवश्री : देवता कहाँ? मेंढ़क। है न, हजार योजन का बड़ा मच्छ है।

मुमुक्षु : वह कहाँ सुनता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : अन्दर आत्मा में है न! भगवान आनन्द का सागर है। चैतन्यमूर्ति

नारायणस्वरूप ही–परमात्मस्वरूप ही आत्मा है। आहाहा! ऐसे आत्मा का संग करना और बाह्य का संग छोड़ना, ऐसा वीतराग की वाणी कहती है। समझ में आया? यह १७वीं गाथा कही। अब १८वीं।

आगे, जिनवचन में दर्शन का लिंग अर्थात् भेष कितने प्रकार का कहा है, सो कहते हैं ह्न परमात्मा वीतराग का स्वभाव जो आत्मा का है, वैसा ही वीतरागभाव प्रगट हुआ है। वे परमात्मा जैन में लिंग का–वेश का रूप कैसा होता है, उसका वर्णन इस १८वीं गाथा में है।

एगं जिणस्स रूवं बिदियं उक्किट्ठसावयाणं तु।
अवरट्ठियाण तइयं चउत्थ पुण लिंगदंसणं णत्थि।।१८।।

***अर्थ* – दर्शन में एक तो जिनका स्वरूप है;...** जैसे वीतराग परमात्मा अन्तर में वीतरागता प्रगट करके बाह्यलिंग नग्नदशा थी। केवली परमात्मा की दिगम्बर मुद्रा थी, वह 'जिन' का रूप है। यह एक वेश है।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : उनने किया, नहीं किया, इसका प्रश्न कहाँ है? उनने कहा और जो किया, तद्नुसार उनने आचरण किया। कहे अनुसार न करने का अर्थ क्या?

मुमुक्षु : भगवान ने...

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा नहीं होता। जैसा किया है, वैसा कहा है। वीतराग परमात्मा वह जिनलिंग नग्न दिगम्बर और अन्तर में सर्वज्ञ वीतरागदशा, यह 'जिन' का उत्कृष्ट वास्तविक वेश है। समझ में आया?

वहाँ जैसा लिंग जिनदेव ने धारण किया वही लिंग है... देखो! वीतराग परमात्मा जो हुए, वे अन्तर में द्रव्य का आश्रय करके, स्थिर होकर केवलज्ञान को प्राप्त हुए, तब उनकी दशा बाह्य में अत्यन्त नग्न–दिगम्बरदशा थी। दिगम्बरदशा के बिना अन्तर में केवलज्ञान नहीं होता। दिगम्बरदशा से नहीं होता परन्तु दिगम्बरदशा न हो और हो जाए, ऐसा भी नहीं होता। आहाहा! भारी सूक्ष्म काम। यहाँ तो सब उड़ाया, जितना जिनलिंग वीतराग का है, उसे धारण करे, वह जिनलिंग कहलाता है।

तथा दूसरा उत्कृष्ट श्रावकों का लिंग है... देखो! मुनि का वह लिंग है। मुनि को भी नग्नदशा का लिंग है। जहाँ स्वरूप की सावधानी में गया है, उसे बाह्य में नग्नदशा के अतिरिक्त दूसरा विकल्प नहीं होता। उससे यह विरुद्ध है... समझ में आया? यह जिनदेव वीतरागदेव हैं। इन्होंने नग्न-दिगम्बरदशा धारण की थी, उसे वीतरागमार्ग में लिंग कहा जाता है। मुनि का लिंग भी ऐसा ही होता है। अन्तर्भानसहित, हों! अकेला नग्नपना नहीं। अभी आगे कहेंगे। समझ में आया?

तथा दूसरा उत्कृष्ट श्रावकों का लिंग है... दसवीं, ग्यारहवीं प्रतिमा को उत्कृष्ट (श्रावक) कहते हैं। वास्तविक ग्यारहवीं प्रतिमा-क्षुल्लक। वह नग्न-दिगम्बर से निचले दर्जेवाले। ग्यारह प्रतिमाधारी पाँचवें गुणस्थानवाले, एक लंगोटी होती है या एक साधारण वस्त्र का टुकड़ा होता है।

मुमुक्षु : ओढ़ने में काम नहीं आता।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह पैर नीचे ढँके तो सिर पर नहीं ढँके और सिर ढँके तो नीचे पैर नहीं ढँके, इतना टुकड़ा होता है। ऐसा उत्कृष्ट श्रावक का दूसरे नम्बर का लिंग जैनदर्शन में अनादि से केवलज्ञानी परमात्मा ने यह देखा है। समझ में आया?

और तीसरा 'अवरस्थित' अर्थात् जघन्यपद में स्थित ऐसी आर्यिकाओं का लिंग है... आर्यिका एक कपड़ा रखती है। इसके अतिरिक्त दूसरा कपड़ा नहीं होता। वह आर्यिका। सच्ची आर्यिका, हों! अन्तर अनुभव, दृष्टि हुई है और अन्तर में आनन्द की लहरें वर्तती हैं। पंचम गुणस्थान के योग्य अतीन्द्रिय आनन्द की भूमिका। जिसे चौथे गुणस्थानवाले सर्वार्थसिद्धि के देव से भी शान्ति का अंश बढ़ गया है। ऐसे भावलिंग में उसका बाह्यलिंग अकेला एक वस्त्र रखे, एक ही वस्त्र (रखे), ऐसा उनका लिंग होता है। ये तीन लिंग जैनदर्शन वीतरागमार्ग, सर्वज्ञ परमात्मा के मार्ग में तीन लिंग को लिंगरूप से गिनने में आया है। **तथा चौथा लिंग दर्शन में है नहीं।** चौथा भेद। वेशरूप से कोई चौथा वेश नहीं है। कहो समझ में आया?

भावार्थ – **जिनमत में तीनों लिंग अर्थात् भेष कहते हैं। एक तो वह है जो यथाजातरूप जिनदेव ने धारण किया...** वह है। जैसा जन्मा, जैसा माता ने जन्म दिया, वैसा नग्नरूप। वह तो छूट नहीं सकता, इसलिए वह तो रहता है। बाकी अन्दर में से तो

देह के प्रति भी जहाँ ममता नहीं है, ऐसा भावलिंग अन्दर में आत्मा के आनन्द का जिसे प्रगट हुआ है। समझ में आया? उसे यह तीन भेष होते हैं। एक यथार्थ जिनदेव, मुनि का।

दूसरा ग्यारहवीं प्रतिमा के धारी उत्कृष्ट श्रावक का है... देखो! अकेली ग्यारहवीं ली है। **और तीसरा स्त्री आर्यिका का है। इसके सिवा चौथा अन्य प्रकार का भेष जिनमत में नहीं है। जो मानते हैं, वे मूलसंघ से बाहर हैं।** मूलसंघ जो अनादि का वीतरागपरमात्मा, सर्वज्ञ परमेश्वर एक समय में जिन्हें तीन काल–तीन लोक का ज्ञान (वर्तता है) और वीतराग केवलज्ञानी (हुए), ऐसे परमात्मा ने जो यह मार्ग कहा, वह मूल संघ की स्थिति है। उससे दूसरे प्रकार माने, वे सब भ्रष्ट हैं। समझ में आया? यह वस्त्र–पात्र रखकर मुनिपना माने, वस्त्र–पात्र रखकर साधुपना माने, वे सब मूल / अनादि सनातन वीतरागमार्ग से भ्रष्ट हुए हैं। मार्ग यह है। सम्प्रदाय के आग्रही को जरा कठिन पड़े ऐसा है। देवीचन्दजी!

अनादि वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा, जिन्होंने राग के एक कण का भी नाश करके वीतरागता प्रगट की और अल्पज्ञता का नाश करके सर्वज्ञता प्राप्त हुई, ऐसे परमेश्वर ने इस मूल संघ की जो स्थिति थी, उसमें ऐसे तीन लिंग थे। इसके अतिरिक्त मूल संघ से भ्रष्ट हुए, वे दूसरे लिंग में मुनिपना मानते हैं, दूसरे वस्त्र आदि रखकर आर्यिका, साध्वीपना मानते हैं, वे सब अनादि सनातन सत्यमार्ग से भ्रष्ट मिथ्यादृष्टि हैं। देवीचन्दजी! ऐसा मार्ग है। मार्ग तो ऐसा है। लोगों को रुचे, न रुचे। अनादि से दूसरी बात सुनी होती है, खबर भी नहीं होती कि सत्य क्या है और दूसरे वाड़ा में जन्मे हों और वहीं के वहीं उनके भेष की बातें सुनी हों, इसलिए यह साधु है और साध्वी है, (ऐसा मानते हैं)। कहते हैं कि वे सब मूलमार्ग अनादि का सनातन सत्य नारायण परमात्मा को प्राप्त होने की विधि जो वीतरागमार्ग में है, उस वीतरागमार्ग में तीन लिंग ही मान्य है। चौथा लिंग नहीं हो सकता। आहाहा! ऐसी बात तो अब स्पष्ट है, भाई! सेठी! आहाहा!

वह महाराष्ट्र में वेश होता है। वह वस्त्र ऐसा हो, उन्हें सब स्वामी कहे। गृहस्थों को। चाहे जो हो। वह... स्वामी, ऐसा कहे। अपने मोहनभाई ने नहीं कहा था? एक बार मोटर में जा रहे थे और रात्रि का भाग था और मार्ग पूछना था। था तो गृहस्थ था। लोटे जैसा वस्त्र ठेठ तक। लोटे जैसा। स्वामी! स्वामी कहा न? स्वामी के साथ दूसरा शब्द

था। ऐ स्वामी! यह रास्ता कहाँ आया है? वहाँ तो स्वामी कहने की पद्धति ही है। गृहस्थ हो, राजा हो, भिखारी हो, समझे न? कसाई हो, स्वामी ही कहना पड़ता है। यह तो वहाँ की रीति है, कहते हैं। मोहनभाई ने कहा था। यह मोहनभाई के साथ थे न? सवेरे... निकले... वहाँ से कुछ मार्ग फटता था तो ज्ञात नहीं होता था, इसलिए उससे पूछा। चाहे जो हो। स्वामी! यह मार्ग कहाँ आया? वह कहीं वेश नहीं गिना जाता। ऐसा मुझे यहाँ कहना है। समझ में आया? वेश तो इस प्रकार के होते हैं। इस वीतरागमार्ग में पाँचवें गुणस्थानवाली आर्यिका और श्रावक का वेश ऐसा होता है। एक लंगोटी और थोड़ा (वस्त्र का) टुकड़ा और श्राविका / आर्यिका को एक कपड़ा (होता है)। पहनने का, ओढ़ने का वह का वह कपड़ा। इतनी ममता टल गयी है कि उसे संयोग में इतनी ही चीज़ होती है और मुनि हो तथा आत्मज्ञानसहित जो मुनि हुए हैं, जिन्हें अन्तर भावलिंग, अन्तर्दृष्टि, आत्मा का अनुभव (हुआ है), जिन्होंने सच्चिदानन्द प्रभु का आनन्द का रस प्रगट हुआ है... आहाहा! और उस आनन्द के उपरान्त स्थिरता की आनन्द की दशा उग्र हो गयी है, उनका वेश तो नग्न ही होता है। जिन का रूप, वह उनका रूप होता है। इसके अतिरिक्त सनातन सर्वज्ञ के पन्थ से दूसरे वेश की दशा गिनने में नहीं आयी है।

मुमुक्षु : थोड़ी तो छूट रखी।

पूज्य गुरुदेवश्री : छूट क्या रखे? परन्तु जैसा हो, उसमें छूट किसकी रखी? थोड़ा टुकड़ा कपड़ा रखे और मुनिपना माने, वह तो आगे कह गये हैं, (कि) निगोद में जाएगा। उनके प्रमुख होकर घूमेंगे, उनकी त्रस की स्थिति पूरी होने को आयी है।

मुमुक्षु : साहेब!....

पूज्य गुरुदेवश्री : इसमें लिखा है, ऐसा कहते हैं या? ऐई..! सेठिया आया था या नहीं अन्दर? प्रमुख है। साधारण जीव हो तो बेचारे फिर स्वर्ग आदि में जाए, पश्चात् परम्परा से निगोद में जाएँगे।

मुमुक्षु : वाड़ा वहीं का वहीं...

पूज्य गुरुदेवश्री : वाड़ा तो वहाँ ही रहेगा, दूसरा जाएगा कहाँ? तत्त्व के विराधक, सर्वज्ञ परमेश्वर वीतरागदेव का मार्ग अनादि सनातन, उसके जो विराधक हैं, उनकी स्थिति तो अमुक भव में तो उन्हें निगोद की दशा ही है। चाहे तो आचार्य नाम धरावे, चाहे

तो उपाध्याय नाम धरावे। समझ में आया? ऐसी बात है, भाई! भगवान तीर्थंकरदेव ने ऐसा कहा है। लो, १८वीं गाथा (पूरी हुई)। **इसके सिवा चौथा अन्य प्रकार का भेष जिनमत में नहीं है। जो मानते हैं, वे मूल-संघ से बाहर हैं।** देखो! मूलसंघ जो अनादि का है, उससे सब बाह्य हैं।

गाथा-१९

आगे कहते हैं कि ऐसा बाह्यलिंग हो उसके अन्तरंग श्रद्धान भी ऐसा होता है और वह सम्यग्दृष्टि है –

छह दव्व णव पयत्था पंचत्थी सत्त तच्च णिद्दिट्ठा।
सद्दहइ ताण रूवं सो सद्दिट्ठी मुणेयव्वो।।१९।।

षट् द्रव्याणि नव पदार्थाः पंचास्तिकायाः सप्ततत्त्वानि निर्दिष्टानि।
श्रद्दधाति तेषां रूपं सः सद्दृष्टिः ज्ञातव्यः।।१९।।

छह द्रव्य अस्तिकाय पंच पदार्थ नौ सातों सु तत्त्व।
के रूप का श्रद्धान करता जानना सद्दृष्टि वह।।१९।।

अर्थ – छह द्रव्य, नव पदार्थ, पाँच अस्तिकाय, सात तत्त्व – यह जिनवचन में कहे हैं, उनके स्वरूप का जो श्रद्धान करे उसे सम्यग्दृष्टि जानना।

भावार्थ – (जाति अपेक्षा छह द्रव्यों के नाम) जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल – यह तो छह द्रव्य हैं तथा जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष और पुण्य, पाप – यह नव तत्त्व अर्थात् नव पदार्थ हैं; छह द्रव्य काल बिना पंचास्तिकाय हैं। पुण्य-पाप बिना नव पदार्थ सप्त तत्त्व हैं। इनका संक्षेप स्वरूप इसप्रकार है – जीव तो चेतनास्वरूप है और चेतना दर्शनज्ञानमयी है; पुद्गल स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, गुणसहित मूर्तिक है, उसके परमाणु और स्कंध दो भेद हैं; स्कंध के भेद शब्द, बन्ध, सूक्ष्म, स्थूल, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप, उद्योत इत्यादि अनेक प्रकार हैं; धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य – ये एक-एक हैं, अमूर्तिक हैं, निष्क्रिय हैं, कालाणु असंख्यात द्रव्य हैं। काल को छोड़कर पाँच द्रव्य बहुप्रदेशी हैं, इसलिए

अस्तिकाय पाँच हैं। कालद्रव्य बहुप्रदेशी नहीं है, इसलिए वह अस्तिकाय नहीं है; इत्यादिक उनका स्वरूप तत्त्वार्थ सूत्र की टीका से जानना।

जीव पदार्थ एक है और अजीव पदार्थ पाँच हैं, जीव के कर्मबन्ध योग्य पुद्गलों को आना आस्रव है, कर्मों का बँधना बन्ध है, आस्रव का रुकना संवर है, कर्मबन्ध का झड़ना निर्जरा है, सम्पूर्ण कर्मों का नाश होना मोक्ष है, जीवों को सुख का निमित्त पुण्य है और दु:ख का निमित्त पाप है; ऐसे सप्त तत्त्व और नव पदार्थ हैं। इनका आगम के अनुसार स्वरूप जानकर श्रद्धान करनेवाले सम्यग्दृष्टि होते हैं।।१९।।

गाथा-१९ पर प्रवचन

आगे कहते हैं कि ऐसा बाह्यलिंग हो, उसके अन्तरंग श्रद्धान भी ऐसा होता है और वह सम्यग्दृष्टि है... ऐसा बाह्यलिंग हो, उसे अन्तरंग श्रद्धा ऐसी होती है। यहाँ व्यवहार की श्रद्धा कहेंगे, पश्चात् (गाथा) २० में निश्चय और व्यवहार दोनों रखेंगे।

छह दव्व णव पयत्था पंचत्थी सत्त तच्च णिद्दिट्ठा।
सद्दहइ ताण रूवं सो सद्दिट्ठी मुणेयव्वो।।१९।।

भगवान ने छह द्रव्य देखे हैं। केवलज्ञानी परमात्मा ने जगत में अनन्त आत्मायें, अनन्त परमाणु यह जड़, असंख्य कालाणु, एक धर्मास्ति, एक अधर्मास्ति, आकाश (ऐसे) छह द्रव्य। ऐसे लिंगवाले को छह द्रव्य की श्रद्धा तो बराबर होती है, तो उसका बाह्यलिंग कहलाता है; नहीं तो बाह्यलिंग नहीं कहलाता।

मुमुक्षु : छह द्रव्य, पाँच कहे तो क्या बाधा है?

पूज्य गुरुदेवश्री : छह द्रव्य। है न पाँच? कहे हैं न, श्वेताम्बर काल को अलग द्रव्य नहीं मानते। जीव, अजीव की पर्याय को (काल) मानते हैं परन्तु वह तो सब अन्तर है, वहाँ अब इस साधारण बात का कहाँ प्रश्न? बड़े पूरे मूलसंघ से बाह्य ही मार्ग है। वह वीतराग का मार्ग नहीं है। जगत को जँचे, न जँचे, उसके घर रहा। सेठी! ऐसा कुन्दकुन्दाचार्य महाराज सन्तों की जो रीति थी, उस प्रकार से यह बात करते हैं। भगवान के पास गये थे। भगवान सीमन्धर परमात्मा के पास (गये थे)। वहाँ जाकर आकर ये शास्त्र रचे हैं। समझ

में आया? सीमन्धर भगवान त्रिलोकनाथ परमात्मा महाविदेहक्षेत्र में वर्तमान केवलीरूप से विराजते हैं। त्रिकाल ज्ञानरूप विराजते हैं। उनके पास गये, आठ दिन रहे, सुना और फिर यहाँ आकर यह बनाया। भगवान तो ऐसा कहते थे। परमेश्वर वीतरागदेव का यह मार्ग है। सम्प्रदाय के पक्षकार को न जँचे, इससे कहीं सत्य वस्तु दूसरी हो जाए (ऐसा नहीं है)। ऐसी बात है। आहाहा! और वह बाह्यलिंग ऐसा होता है, उसे ऐसी श्रद्धा अन्दर होती है। अकेला बाह्यलिंग नहीं, ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

उसे छह द्रव्य की श्रद्धा होती है। अनन्त आत्मायें हैं, अनन्त परमाणु ये रजकण, अनन्तगुणें हैं, ऐसी एक समय की पर्याय में यह सब जानने की, श्रद्धा की पर्याय ऐसी होती है। नव पदार्थ की श्रद्धा होती है। छह द्रव्य के अन्तर्भेद करके नौ कहलाते हैं। दो द्रव्य और सात पर्यायें। स्पष्टीकरण करेंगे।

पाँच अस्तिकाय,... काल के अतिरिक्त पाँच अस्तिकाय तत्त्व हैं। वीतराग कथित हैं। जगत में जाने हुए, देखे हुए और कहे हुए। उनकी इन्हें अन्तर में श्रद्धा हो। यहाँ तो अभी नौ तत्त्व के नाम भी न आते हों, छह द्रव्य के नाम भी न आते हों और हो गये श्रावक! धूल में भी नहीं। सब एक रहित शून्य हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : णमो अरिहन्ताणं...

पूज्य गुरुदेवश्री : णमो अरिहन्ताणं और ऐसा तो आता हो। समझ में आया? कहीं प्रतिक्रमण न आता हो, दूसरा न आता हो तो भी बैठा दे। नग्न हो, नग्न हो तो क्या? समझ में आया?

सात तत्त्व – यह जिनवचन में कहे हैं,... सात तत्त्व। स्पष्टीकरण करेंगे। **उनके स्वरूप का जो श्रद्धान करे... 'सद्दहइ ताण रूवं'** उस द्रव्य के और तत्त्व के रूप का **श्रद्धान करे, उसे सम्यग्दृष्टि जानना।** उसकी दृष्टि सच्ची है। इसके अतिरिक्त कम-ज्यादा माने, उसकी दृष्टि सच्ची नहीं है।

भावार्थ – **(जाति अपेक्षा छह द्रव्यों के नाम) जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल – यह तो छह द्रव्य हैं...** जगत में छह वस्तुएँ हैं। **जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष और पुण्य, पाप – यह नव तत्त्व अर्थात् नव**

पदार्थ हैं; छह द्रव्य काल बिना पंचास्तिकाय हैं। पुण्य-पाप बिना नव पदार्थ सप्त तत्त्व हैं। इनका संक्षेप स्वरूप इस प्रकार है...

जीव तो चेतनास्वरूप है... भगवान आत्मा तो चेतनास्वरूप है। वह जीव। रागस्वरूप या पुण्यस्वरूप, ऐसा नहीं। आत्मा वह तो चेतना जाननेवाला-देखनेवाला ऐसा भगवान आत्मा का स्वभाव है। शरीर, वाणी, मन और पुण्य-पाप उसमें नहीं है। आहाहा! गजब किया। बात ही ऐसी लगती है लोगों को। परन्तु यह सब है न? है वह उसमें रहा, चैतन्य में कहाँ है? जीव उसे कहते हैं, आत्मा उसे कहते हैं कि जिसमें जानने और देखने का चेतनस्वभाव है। जाननेवाला-देखनेवाला भगवान ज्ञातादृष्टा से भरपूर भगवान है। उसे आत्मा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया?

चेतना दर्शनज्ञानमयी है;... दृष्टा और ज्ञाता। आत्मा चेतना और चेतना, वह दृष्टा और ज्ञाता। यह अपने आ गया है। मोक्ष अधिकार (में आ गया है)। **पुद्गल...** पुद्गल है यह परमाणु, यह पुद्गल शरीर जड़ है। शरीर, दाल, भात, लड्डू, यह सब मकान, पैसा सब पुद्गल-जड़ है।

मुमुक्षु : भले रहे, उसमें क्या बाधक है।

पूज्य गुरुदेवश्री : किसने इनकार किया? भले रहे। जानने की बात है। है, ऐसा उसे ज्ञान करना चाहिए। है तो उसके घर में। यहाँ कहाँ आ गये हैं?

पुद्गल स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, गुणसहित मूर्तिक है,... इसमें तो रंग, गन्ध, रस, स्पर्श परमाणु में-इस जड़ में है। यह जड़ शरीर, वाणी, मन, पुद्गल पैसा, दाल, भात यह सब चेतना—ज्ञानदर्शन गुणरहित हैं। इनमें ज्ञानदर्शन का गुण नहीं है। जड़ है, यह तो मिट्टी है। यह लकड़ियाँ, पैसा। क्या होगा यह पैसा, यह क्या होगा? कहते हैं, रंग, गन्ध, रस, स्पर्श से भरपूर एक मूर्तिक तत्त्व जड़ है। यह दिखता है, वह मूर्त। दिखता है, वह मूर्त है और आत्मा तो अमूर्त है। आहाहा! सुना नहीं, परन्तु इसकी खबर नहीं होती इसे। पैसे मेरे, धूल मेरी, स्त्री मेरी। थे कब? परन्तु वे तो उनके हैं, वे तेरे कहाँ से हो गये? तेरा तो चेतन है। जानने-देखने से भरपूर दर्शन-ज्ञान का भण्डार भगवान है। आहाहा! पुद्गल, वह जड़ है।

उसके **उसके परमाणु और स्कंध दो भेद हैं;...** इस पुद्गल में छोटे में छोटा

अन्तिम भाग हो, वह परमाणु कहलाता है। दो परमाणु पूरा स्कन्ध पिण्ड... पिण्ड (कहलाता है)। **स्कंध के भेद शब्द,...** यह जड़ का भेद है, आत्मा का नहीं। आत्मा बोलता नहीं, आत्मा तो जानने-देखनेवाला है। आहाहा! शब्द जड़ है, पुद्गल का भेद है, वह तो जड़ की दशा है। आहाहा! **बन्ध,..** परमाणु में बन्ध पड़े न, सूक्ष्म स्कन्ध। **स्थूल,..** यह दाल, भात, सब्जी सब बाहर का। **संस्थान,..** यह सब आकार हुए न? देखो न! इस शीशपैन का यह आकार, यह आकार, ये सब आकार वह जड़ का आकार है। **भेद,..** पड़े। उसमें से पृथक् पड़े। **तम,..** अन्धकार। यह अन्धकार, वह पुद्गल जड़ है। **छाया,..** इस शरीर की छाया पड़ती है न नीचे? वह जड़ है, अजीव है, पुद्गल है, मिट्टी है। समझ में आया? **छाया, आतप,...** इस प्रकार का आतप पड़ता है न? सूर्य का। **उद्योत...** चन्द्र का। **इत्यादि अनेक प्रकार जड़-पुद्गल हैं;...** ऐसा इसे श्रद्धा में बराबर रखना चाहिए। ये मेरे नहीं परन्तु उसके इस स्वरूप वे हैं। आहाहा! समझ में आया?

धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य ह्न ये एक-एक हैं,... धर्मास्ति एक तत्त्व है। चौदह ब्रह्माण्ड में एक धर्मास्ति नाम का अरूपी तत्त्व है, एक अधर्मास्ति नाम का अरूपी तत्त्व है, यह जीव और जड़ (पुद्गल) गति करे, उसमें धर्मास्ति का निमित्त है; स्थिर हो, उसमें अधर्मास्ति का निमित्त है। यह दो। **आकाशद्रव्य...** जिसमें रहने का स्वभाव है। पुद्गल आदि उसमें रहते हैं, वह आकाश है। खाली भी होता है। वे **ये एक-एक हैं, अमूर्तिक हैं, निष्क्रिय हैं,...** उनमें परिणमन है परन्तु क्षेत्रान्तर नहीं होता, वह क्रिया यहाँ लेनी है। समझ में आया? परिणमन है। बदलते हैं, परन्तु क्षेत्रान्तर नहीं होते। धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश जहाँ है वहाँ है, अनादि के ऐसे के ऐसे हैं। आहाहा! ऐसी इसे श्रद्धा (होती है)। बाह्यलिंग ऐसा हो, उसे ऐसी श्रद्धा होती है। उस श्रद्धा को अभी व्यवहारश्रद्धा कहा जाता है। **कालाणु असंख्यात द्रव्य हैं।** काल है, काल है, वह असंख्य है। असंख्य अणु, हों! प्रदेश तो एक है। असंख्य अणु हैं।

काल को छोड़कर पाँच द्रव्य बहुप्रदेशी हैं,... काल के अतिरिक्त पाँच द्रव्यों में बहुत प्रदेश हैं। **इसलिए अस्तिकाय पाँच हैं। कालद्रव्य बहुप्रदेशी नहीं है, इसलिए वह अस्तिकाय नहीं है;...** काल को अस्ति है परन्तु काय नहीं। बहुप्रदेश नहीं। यह तो साधारण बात आ गयी है। **इत्यादिक उनका स्वरूप तत्त्वार्थसूत्र की टीका से जानना।**

जीव पदार्थ एक है और अजीव पदार्थ पाँच हैं, जीव के कर्मबन्ध योग्य पुद्गलों को आना आस्रव है,.. द्रव्य से बात ली है। जीव को कर्मबन्धन के योग्य जो परिणाम हैं, वह आस्रव है और रजकण आते हैं, वह जड़ है। यहाँ जड़ से बात ली है। जीव जैसे पुण्य और पाप के भाव करता है, वह भाव है, वह आस्रव-मैल है। आहाहा! और उसके कारण नये आवरण आते हैं, उन्हें भी आस्रव कहा जाता है। आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म बातें हैं। करसनजीभाई! कभी सुनी नहीं। कभी धन्धे से फुरसत नहीं मिलती। नौकरी की हो, धन्धा करे और मुश्किल से जिन्दगी निकाले, उसमें धर्म क्या और आत्मा क्या, सुना भी नहीं हो, समझे तो कहाँ से? आहाहा!

कर्मों का बँधना बन्ध है,.. आत्मा अपने स्वरूप को भूलकर जितनी भूल करता है, उतने प्रमाण में उसे नये रजकणों का बन्ध होता है। कर्म का बन्ध होता है, उसे यहाँ बन्ध-द्रव्यबन्ध गिना है। **आस्रव का रुकना संवर है,..** पुण्य और पाप के भाव रुकें और आत्मा के अन्तर की एकाग्रता हो, उसे संवर अर्थात् धर्म की शुद्धि की बात कहा जाता है, इसका नाम धर्म है। आहाहा! पुण्य और पाप के दो भाव, उनसे हटकर भगवान शुद्ध चैतन्यमूर्ति आत्मा मैं एकाग्रता हो, उसे धर्म की शुद्धि प्रगट हुई, ऐसा कहा जाता है। धर्म इसका नाम है।

कर्मबन्ध का झड़ना निर्जरा है,.. पर की ही बात की है। कर्म के रजकण खिरें, आत्मा के स्वरूप का आश्रय लेकर आनन्द का नाथ भगवान का आश्रय (लेकर) उसके गर्भ में जाकर-स्वभाव में जाकर स्थिर होता है, इससे कर्म के रजकणों का बन्ध टल जाता है, उसे निर्जरा कहा जाता है। **सम्पूर्ण कर्मों का नाश होना मोक्ष है,..** मोक्ष का यह अर्थ है। सब कर्मों का अभाव होकर अकेली पवित्रता प्रगट हो जाए। आत्मा की पवित्रता पूर्ण प्रगट हो, उसका नाम मोक्ष है। आहाहा! समझ में आया?

जीवों को सुख का निमित्त पुण्य है... लो, यह धूल-बूल पूर्व के पुण्य के कारण मिलती है न? शरीर ठीक (मिले), वह बाह्य के धूल के सुख का निमित्त पुण्य कहलाता है। यह व्यवहारिक सुख दुनिया मानती है न? पैसे में सुख है और स्त्री में सुख है। धूल में भी नहीं। सुख तो तेरे स्वरूप में है। उस दुःख को यहाँ सुखरूप से लोग कहते हैं, इस अपेक्षा से कहा है। पुण्य-पाप की व्याख्या करते हैं न।

दु:ख का निमित्त पाप है; ऐसे सप्त तत्त्व और नव पदार्थ हैं। इनका आगम के अनुसार स्वरूप जानकर.. बराबर सर्वज्ञ परमेश्वर ने जो जानकर कहा है, उनका स्वरूप जानकर श्रद्धा करे तो वह बाह्यलिंगवाले को व्यवहार समकिती उसे कहा जाता है। समझ में आया? अकेला बाह्यलिंग काम नहीं करता, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

गाथा-२०

अब व्यवहार निश्चय के भेद से सम्यक्त्व को दो प्रकार का कहते हैं –

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
ववहारा णिच्छयदो अप्पाणं हवइ सम्मत्तं।।२०।।

जीवादीनां श्रद्धानं सम्यक्त्वं जिनवरैः प्रज्ञप्तम्।
व्यवहारात् निश्चयतः आत्मैव भवति सम्यक्त्वम्।।२०।।

जिनवर कहें व्यवहार से जीवादि का श्रद्धान है।
सम्यक्त्व निश्चय से निजातम प्रतीति सम्यक्त्व है।।२०।।

_अर्थ_ – जिन भगवान ने जीव आदि पदार्थों के श्रद्धान को व्यवहार सम्यक्त्व कहा है और अपने आत्मा के ही श्रद्धान को निश्चय सम्यक्त्व कहा है।

_भावार्थ_ – तत्त्वार्थ का श्रद्धान व्यवहार से सम्यक्त्व है और अपने आत्मस्वरूप के अनुभव द्वारा उसकी श्रद्धा, प्रतीति, रुचि, आचरण सो निश्चय से सम्यक्त्व है, यह सम्यक्त्व आत्मा से भिन्न वस्तु नहीं है, आत्मा ही का परिणाम है सो आत्मा ही है। ऐसे सम्यक्त्व और आत्मा एक ही वस्तु है, यह निश्चय का आशय जानना।।२०।।

गाथा-२० पर प्रवचन

अब व्यवहार-निश्चय के भेद से सम्यक्त्व को दो प्रकार का कहते हैं.. लो, ठीक!

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
ववहारा णिच्छयदो अप्पाणं हवइ सम्मत्तं।।२०।।

जीव-अजीव पुद्गल आदि **पदार्थों के श्रद्धान को व्यवहार सम्यक्त्व कहा है..** अर्थात् शुभराग है। समझ में आया? **जिन भगवान ने.. कहा है..** परमात्मा ने ऐसे द्रव्य, नवतत्त्व इत्यादि की श्रद्धा ऐसा जो शुभराग है, उसे व्यवहारसमकित (कहा है)। जिसे निश्चयसमकित हो, उसके ऐसे भाव को व्यवहारसमकित कहा गया है। समझ में आया? **और अपने आत्मा के ही श्रद्धान को निश्चय सम्यक्त्व कहा है।** आत्मा सच्चिदानन्द निर्मलानन्द पवित्रता का धाम है, ऐसा अन्तर में अनुभव होकर श्रद्धा करने का नाम सच्चा समकित है। यह सच्चा साबित हुआ, उसे सच्ची श्रद्धा हुई। आहाहा! समझ में आया? ऐसे बाह्यलिंगवाले को ऐसा होवे तो उसके बाह्य व्यवहार कहने में आता है। अज्ञानी को तो कहते हैं, श्रद्धा भी मिथ्या, लिंग भी मिथ्या, वह तो दोनों से भ्रष्ट है। आहाहा! भारी काम अष्टपाहुड़ का! प्राभृत है न? सार है न? सार। मक्खन है। मूल तत्त्व वीतराग परमात्मा ने अनादि से देखा हुआ, जाना हुआ, कहा हुआ यह तत्त्व है। समझ में आया?

कहते हैं, बाह्यलिंग तीन कहे, उन्हें ऐसे छह द्रव्य की श्रद्धा आदि हो, वह व्यवहार-शुभराग है और उसे भी व्यवहार कब कहा जाता है? और उसे बाह्यलिंग निमित्तरूप से भी कब कहा जाता है? कि उसे जीव-आत्मा अखण्ड आनन्द का कन्द शुद्धचैतन्यमूर्ति हूँ, ऐसी अन्तर में रागरहित निर्विकल्प दृष्टि हो, उसे भगवान ने सच्चा समकित कहा है। समझ में आया? देखो!

और अपने आत्मा के ही श्रद्धान को निश्चय सम्यक्त्व कहा है। है न? '**अप्पाणं हवइ सम्मत्तं**' आत्मा के समकित, ऐसा वापस यहाँ तो यह लिया है। समझ में आया? शरीर, वाणी, लिंगरहित का आत्मा तत्त्व और ऐसे आस्रव और बन्ध के विकल्परहित तत्त्व, ऐसा जो आत्मा चेतना—दर्शन-ज्ञान के स्वभाववाला आत्मा, उसका अन्तर में अनुभव होकर प्रतीति होना, उसे सच्चा समकित, सच्चा हुआ ऐसा कहने में आता है। नहीं तो वहाँ तक मिथ्या है। समझ में आया? आहाहा! गजब बात भाई! ऐसा निश्चय सम्यग्दर्शन, निर्विकल्प आत्मा वस्तु है। विकल्प अर्थात् रागरहित, परन्तु है महापदार्थ, महाज्ञान, दर्शन आनन्द के स्वभाव से भरपूर। ऐसे आत्मा के स्वभावसन्मुख

होकर विकल्प टूटकर निर्विकल्प श्रद्धा का अनुभव होना, उसे भगवान सच्चा समकित / निश्चय समकित / यथार्थ समकित / वास्तविक समकित कहा जाता है। उसे ऐसा व्यवहार समकित होता है, उसे ऐसे व्यवहारलिंग होते हैं, इस प्रकार तीनों की बात की, देखो! समझ में आया?

जिसे निश्चय नहीं है, उसे व्यवहार भी सच्चा नहीं है, तो उसके लिंग की भी गिनती नहीं है। ऐसे नग्नपने के द्रव्यलिंग तो अनन्त बार धारण किये। समझ में आया? परन्तु जिसे निश्चय सम्यक् (हुआ है), शुद्ध चैतन्यभगवान परमेश्वर ने कहा ऐसा आत्मा अन्दर सच्चिदानन्द प्रभु है, उसकी प्रभुता की प्रतीति, प्रभुता का ज्ञान होकर अन्दर में होना, इसका नाम सच्चा समकित (कहते हैं)। ऐसा सच्चा समकित हो, वहाँ छह द्रव्य की श्रद्धा आदि हो, वह व्यवहार समकित, उपचरित समकित (कहा जाता है)। ऐसा हो, वहाँ लिंग ऐसा होता है, यह निमित्त की दशा का वर्णन है। समझ में आया? व्यवहारश्रद्धा वह अभ्यन्तर निमित्त, यह बाह्य निमित्त। दोनों निमित्त की व्याख्या है। निमित्त ऐसा होता है। ऐसे निमित्त के अतिरिक्त दूसरा निमित्त नहीं होता, ऐसा कहते हैं। क्या कहा, समझ में आया?

फिर से। जिसे निश्चय स्वभाव का सम्यग्दर्शन, शुद्धचैतन्य परमात्मा स्वयं ही मैं हूँ—ऐसी अन्तर्मुख होकर भान होकर प्रतीति होना, वह सच्चा समकित, वह सम्यग्दर्शन, सत्यदर्शन है। ऐसे सत्यदर्शनवाले को व्यवहार समकित का विकल्प छह द्रव्य का, नौ तत्त्व का हो, वह निमित्त कहने में आता है। इस अभ्यन्तर में ऐसा व्यवहार निमित्त उसे होता है, दूसरा निमित्त नहीं हो सकता और उसे इन तीन लिंग का निमित्त बाह्य में होता है। चौथा लिंग-भेष उसे नहीं होता, ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

अकेली नग्नदशा धारण हो तो भी मुनिपना नहीं है। अकेला व्यवहार समकित और पंच महाव्रत के विकल्प हों, वह यहाँ व्यवहार ही नहीं है। निश्चय बिना व्यवहार कैसा? तो वह भी व्यवहार भी नहीं और मुनि भी नहीं। आहाहा! गजब काम। समझ में आया? जिसे एक लंगोटी हो और कपड़ा एक ही छोटा हो और ग्यारह प्रतिमा धारण करने का विकल्प हो परन्तु जिसे अन्तर अनुभव की दृष्टि और समकित नहीं है, उसे श्रावक नहीं कहते, उसे क्षुल्लक-बुल्लक नहीं कहते, (ऐसा) कहते हैं। पण्डितजी! बात तो ऐसी है।

इसी प्रकार आर्यिका। एक कपड़ा रखे, एक बार आहार ले परन्तु वह यदि अन्तर

निश्चयसम्यग्दर्शन हो तो व्यवहार समकित के विकल्प को निमित्त और तब उस लिंग को निमित्त कहने में आता है। परन्तु वस्तु न हो तो निमित्त किसका? समझ में आया? आहाहा! परन्तु निमित्त होवे तो ऐसा ही होता है, दूसरा निमित्त नहीं होता—ऐसा सिद्ध करते हैं।

मुमुक्षु : निमित्त न हो ऐसा होगा?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं हो, ऐसा बनेगा ही नहीं। होवे तो ऐसा ही होगा। सेठी! कहो, समझ में आया या नहीं इसमें? यह तो सादी बात है। यह सम्प्रदाय के आग्रही मान बैठे हों, उसे तो यह चोट लगे ऐसा है कि ऐसा मार्ग कहाँ से निकाला? बस, यह एक ही मार्ग सच्चा, दूसरे खोटे? आहाहा! मार्ग ऐसा है, बापू! क्या कहें? भगवान तीन लोक के नाथ परमेश्वर ने यह कहा है। इसके अतिरिक्त का मार्ग वह व्यवहार और निश्चय एक भी सच्चा नहीं है। समझ में आया?

***भावार्थ* – तत्त्वार्थ का श्रद्धान व्यवहार से सम्यक्त्व है..** वह तत्त्वार्थश्रद्धान नहीं, हों! उमास्वामी में जो तत्त्वार्थश्रद्धान है (तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्), वह तो निश्चय समकित है। नव तत्त्व के भेदवाली श्रद्धा, वह व्यवहार समकित है—ऐसा यहाँ समझना, देवीचन्दजी! यह **तत्त्वार्थ का श्रद्धान व्यवहार से सम्यक्त्व है..** यह तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शन नहीं। यह तत्त्वार्थश्रद्धान वह सम्यग्दर्शन तो निश्चयसमकित है परन्तु ऐसी श्रद्धा में नव तत्त्व और छह द्रव्य की श्रद्धा का भेदवाला विकल्प है और यहाँ व्यवहार समकित कहा है। मूल में कहा है? देखो न! **'जीवादीसद्दहणं'** ऐसा शब्द है न? उन्होंने यह प्रश्न किया था वहाँ, १५५ गाथा समयसार में आती है न? **'जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं'** १५५ गाथा। विद्यानन्दजी ने वहाँ दिल्ली में पूछा था। कहा, **'जीवादीसद्दहणं'** निश्चय है। ज्ञान की परिणति होना, उसका नाम समकित है। अकेले जीवादि नव तत्त्व, वह नहीं। वहाँ पाठ है, जीवादि का श्रद्धान अर्थात् कि ज्ञान का उस रीति से परिणमना, ज्ञान उसरूप परिणम जाए, निर्विकल्प वीतरागी पर्यायरूप हो, उसे समकित कहा जाता है। आहाहा! सुना भी न हो और बैठे तो कहाँ से हो? ऐसा का ऐसा अनादि से चौरासी के अवतार में भटकता है। भटकने में होशियार है। वास्तविक दोष टालने में होशियार नहीं है। आहाहा!

विपरीत मान्यता से और विपरीत राग-द्वेष के भाव से दु:खी है। अनादि का जीव

दिगम्बर साधु हुआ परन्तु अन्तर में विपरीत श्रद्धा के कारण से दु:खी है। नग्न मुनि हुआ, अट्ठाईस मूलगुण पालन किये परन्तु उन्हें निमित्तरूप से कहने में नहीं आया। क्योंकि उपादान प्रगट नहीं हुआ, तो निमित्त कहना किसे? आहाहा! निमित्त कहो या व्यवहार कहो। वह असद्भूतव्यवहार है, यह असद्भूत का उपचार भाग है। वह असद्भूत... बाकी तो राग, वह असद्भूत उपचार है, ख्याल में आवे वह (असद्भूत उपचार है) ख्याल में न आवे, वह असद्भूत अनुपचार है। ऐसी बात है।

आत्मा... यहाँ तो कहते हैं कि तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यक्त्व अर्थात् सच्ची प्रतीति है, वह कौन सी? उमास्वामी ने कहा वह क्या? और यह कहा वह क्या? **'जीवादीसद्दहणं'** यहाँ नव तत्त्व के भेदवाली श्रद्धा को तत्त्वार्थश्रद्धान (कहा है)। क्योंकि पाठ में **'जीवादीसद्दहणं'** है न? उसका स्पष्टीकरण करते हैं न? अर्थात् तत्त्वार्थश्रद्धान जो वहाँ उमास्वामी ने कहा है, उसे कितने ही व्यवहार सम्यक्त्व मानते हैं। सबको पूछा था, यह तत्त्वार्थश्रद्धान, वह क्या? व्यवहार श्रद्धा, व्यवहार श्रद्धा। परन्तु व्यवहार श्रद्धा तो राग है। उसका मार्ग है यह? पुस्तक में है न। ऐ.. सेठी! इन सेठी को कहाँ भान था? यह सब ऐसे के ऐसे हाँ, हाँ (करते थे)।

मुमुक्षु : उस छपी हुई पुस्तक में कहते हैं या सोनगढ़ की छपी हुई में।

पूज्य गुरुदेवश्री : लो, ठीक। तुम्हारी छपी हुई पुस्तक में लिखा है, कहते हैं। किसने छापी है? पन्नालाल। तुम्हारी-दिगम्बर की होगी। है न पुस्तक? लाओ न। उसमें लिखा है, तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्, यह व्यवहार है। अरे! ऐसे के ऐसे पण्डित भी समझते नहीं। ऐई! देवचन्दजी!

मुमुक्षु : बहुत लज्जा की बात है...

पूज्य गुरुदेवश्री : लज्जा की बात है... यह तो वस्तु की स्थिति ऐसी है। व्यक्तिगत कुछ नहीं। ऐसा स्वरूप ही है, भाई! क्या हो? आहाहा! जब तत्त्वार्थसूत्र का तत्त्वार्थश्रद्धान को व्यवहार समकित कहे, तब निश्चय का अधिकार आया कहाँ? और ऐसे व्यवहार समकितवाले को पाँच ज्ञान ज्ञेय कहे? मति, श्रुत, अवधि और पाँच ज्ञान ऐसे को कहे? उसे चारित्र कहा? सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग:। व्यवहार समकित तो फिर ज्ञान भी व्यवहार और चारित्र भी व्यवहार। तीनों व्यवहार (हुए)। समकित व्यवहार और

चारित्र निश्चय, ऐसा कहाँ से आवे उसमें ? आता है। यहाँ तो कहना है, तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शन, इस पाठ में दो स्पष्टीकरण है न ? **'जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं ववहारा'** इसका स्पष्टीकरण करते हैं।

मुमुक्षु : उसे व्यवहार कहा है। निश्चय कहा तो...

पूज्य गुरुदेवश्री : तो भी **'अप्पाणं हवइ सम्मत्तं'** भगवान ज्ञानमूर्ति निर्विकल्प का अन्तरभान और प्रतीति होना, वह सच्चा समकित, बाकी खोटा समकित है। इस निश्चय समकित बिना व्यवहार समकित भी कहने में नहीं आता। व्यवहाराभास है और उसका लिंग भी है, वह भी व्यवहाराभास असद्‌भूत झूठा है। समझ में आया ?

यहाँ व्यवहार है और वहाँ निश्चय है, ऐसा कोई कहे तो उसका कारण ? यहाँ तो **'जीवादीसद्दहणं'** को व्यवहार स्पष्ट (अलग) किया है और निश्चय **'अप्पाणं हवइ सम्मत्तं'** ऐसा कहा है। इसलिए यहाँ का तत्त्वार्थश्रद्धान व्यवहार लिखा है, वह बराबर है और वहाँ जो कहा है, **'जीवादीसद्दहणं'** नव तत्त्वार्थश्रद्धान कहा न ? नाम तो सातों ही तत्त्वों के डाले हैं। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। वह तो अन्दर का ज्ञान होकर अन्तरसन्मुख होकर प्रतीति हुई है, उसकी बात है। निश्चय सम्यग्दर्शन की व्याख्या है। समझ में आया ? यहाँ यह तत्त्वार्थश्रद्धान है, वह व्यवहार समकित की व्याख्या है। सेठी ! वहाँ सबको पूछे पहले। तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शन पूछते थे, वह तो व्यवहार है। चाँदमलजी को पूछा था। वे कहें, व्यवहार है तो कहे यह शब्द में भूल हो गयी, भाषा में भूल हो गयी। ठीक। मेरी भूल नहीं। ऐसे के ऐसे। चाँदमलजी थे न ? उदयपुर के। समझ में आया ? उसमें है, वह तो बताया था, लिखा हुआ था, वह बताया था।

यहाँ कहते हैं, जिसे आत्मा का निश्चय सम्यग्दर्शन—निर्विकल्प राग का कर्ता नहीं, देह की क्रिया मेरी नहीं, देह की क्रिया का कर्ता नहीं, वह मेरी पर्याय जितना भी भाव नहीं। ऐसी जिसे चैतन्यद्रव्य की ध्रुवता के लक्ष्य से जो दृष्टि हुई, उसे सच्चा समकित और सच्चा स्थिर हुआ, वह चौथे गुणस्थान में आया। इसके बिना श्रावक और मुनि सब एक बिना के शून्य हैं। यह लिंग ऐसे होवे तो उसे। दूसरे लिंग होवें, उसकी तो बात ही नहीं है। उसकी तो श्रद्धा भी मिथ्या और लिंग भी मिथ्या, सब मिथ्या है। समझ में आया ? मार्ग तो यह है। जँचे, न जँचे वह स्वतन्त्र है। अनादि से इसे जँचा नहीं। आहाहा !

यहाँ तो कहते हैं, जिसे बाह्यलिंग ऐसा होता है, अभ्यन्तर में भी अट्ठाईस मूलगुण के विकल्प मुनि को होते हैं, उन्हें ऐसा निश्चय सम्यग्दर्शन होवे तो उसे व्यवहार कहने में आता है। इसमें कितना समझना ? विपरीत बहुत घुस गया है, उतने प्रमाण में इसे सब सुलटा समझना पड़ेगा।

और अपने आत्मस्वरूप के अनुभव द्वारा उसकी श्रद्धा, प्रतीति, रुचि, आचरण, सो निश्चय से सम्यक्त्व है,.. देखो! भगवान आत्मा अपने आत्मस्वरूप का अनुभव करके। भाषा देखो! ऐसे श्रद्धा-वृद्दा काम न आवे, कहते हैं। यह आत्मा ज्ञायक चिदानन्द आनन्दस्वरूप है, ऐसा अन्तर में ज्ञान होकर, अनुभव होकर, अनुभव में प्रतीति होना, उसकी श्रद्धा, उसकी प्रतीति, उसकी रुचि और उसमें आचरण-आत्मा का स्थिर होना, इसका नाम निश्चय समकित है। देखो! यहाँ तो **आचरण सो निश्चय से सम्यक्त्व है,...** (ऐसा कहा है)। भाई! क्या कहा है ? इतना आचरण वहाँ आता है। उसे यहाँ निश्चय समकित कहा है। समझ में आया ? यह स्वरूपाचरण। अनन्तानुबन्धी का अभाव होकर अन्दर स्थिर हुआ है। शान्ति प्रगट हुई है, प्रतीति के साथ शान्ति प्रगट हुई है। आहाहा! गजब काम, भाई! बहुत से तो पुस्तक तो रखी है परन्तु पढ़ते कहाँ हैं ? और पढ़े तो अपनी दृष्टि से पढ़े, अर्थ करे अपनी दृष्टि से। आहाहा! कुन्दकुन्दाचार्य को पक्षकार कहते हैं। रामजीभाई के थे न ? वे 'चुडगर' यह पढ़ा था कि ऐसा होता है वहाँ सम्प्रदाय की बात है। यह वहाँ पहले मिला था, अष्टपाहुड़, यह मिला था। (संवत्) १९९० में। राजकोट में।... उसमें लिखा था। जहाँ-तहाँ आवे, नग्नपना, वह मुनिपना। सम्प्रदाय नहीं, यह तो वस्तु की स्थिति है। समझ में आया ?

मुमुक्षु : वहाँ समकित की व्याख्या बराबर कहे।

पूज्य गुरुदेवश्री : वहाँ समकित की बराबर। उसने स्वयं प्रकाशित किया है न!.. वह तो बराबर लिखा है परन्तु उसके वांचन में सब अन्तर है।

यहाँ कहते हैं, अपना भगवान, वे पर भगवान और वीतरागदेव को मानना, वह भी विकल्प और राग है और परद्रव्य है। वह समकित नहीं। लोगों में दृष्टान्त देते हैं। छाछ चाहिए हो तो फिर... क्या कहलाता है वह ? दोना छिपावे ? हमारी मामी थी न ? वहाँ भैंस रखते। यहाँ तो हमारे भैंस रखने का कहाँ साधन था। साधन नहीं था। साधारण। फिर

छाछ-वाछ लेने जायें तो दो सेर अच्छी छाछ दे। घर में मेहमान आये हों और ज्यादा चाहिए हो तो बर्तन सामने करना पड़े। देखो! यह बर्तन है, इसमें नहीं आयेगी। दस सेर छाछ चाहिए। बोघणु समझते हो? बर्तन। सगी मामी थी। अकेले थे न जगजीवनभाई थे। गुजर गये। कढ़ी बनानी हो न, फिर प्रतिदिन सेर छाछ दे। यह पोसावे? घर में पाँच-सात मेहमान हों। कढ़ी, दाल, भात, सब्जी... इसी प्रकार यहाँ मार्ग है, उसे स्पष्ट रखे बिना हम समझेंगे किस प्रकार? मार्ग तो ऐसा है, भाई! कड़क लगो, विपरीत लगो, पक्ष लगो तो भी मार्ग तो यह है। दूसरा मार्ग यदि आड़ा-टेढ़ा कुछ माने तो वीतरागमार्ग से भ्रष्ट हुए मिथ्यादृष्टि हैं। जाधवजीभाई! ऐसा है। देखो।

व्यवहार... पाठ में व्यवहार पहला है न? फिर निश्चयश्रद्धारूपी आचरण। **आचरण सो निश्चय से सम्यक्त्व है,..** वहाँ फिर वे ले लेवे कि आचरण ऐसा। स्वरूप की स्थिरता आत्मा की हो तो वह (कहना है)। वह बात यहाँ नहीं है। ले जाए न, क्या करे? यहाँ तो ऐसा स्वरूप आत्मा का है। ज्ञायक, आनन्द अनन्त गुण का अरूपी पिण्ड आत्मा है, उसके सन्मुख होकर, स्वभाव-सन्मुख होकर राग और पर्याय से विमुख होकर अन्तर में अनुभव में प्रतीति होना, (वह सम्यग्दर्शन है)। उसमें प्रतीति के साथ स्थिरता भी ऐसी होती है, वह आचरण है। भूमिका की योग्यता। उसे निश्चय समकित-सच्चा समकित कहा जाता है, उसे चौथा गुणस्थान सच्चा है, बाकी सब गप्प है। कहा नहीं?

आत्मा आनन्द और ज्ञान आदि अनन्त स्वभावी वस्तु है। वस्तु है न? पदार्थ है न? आत्मा तत्त्व है न? तत्त्व। वह आत्मा तत्त्व है, उसका स्वभाव सत् है। सत्य का सत्स्वभाव है। ज्ञान, दर्शन, आनन्द ऐसा गुण का पुंज, वह आत्मा है। ऐसी पर्यायबुद्धि छोड़कर, विकल्पबुद्धि छोड़कर, निमित्तबुद्धि छोड़कर त्रिकाल ज्ञायक पर दृष्टि होने से जो राग की एकता टूटी, स्वभाव की एकता हुई, उसे श्रद्धा, प्रतीति और स्थिरता का अंश समकित में भी जो आया, उसे निश्चय समकित कहने में आता है। आहाहा! कहो, समझ में आया? उसे अभी चौथा गुणस्थान कहते हैं। ऐसा जहाँ नहीं, वह तो समकित भी नहीं है, जैन भी नहीं है और वह श्रावक और साधु है ही नहीं। वाड़ा के हैं। यह थैली के ऊपर लिखा शाकर और अन्दर हो करियातुं (चिरायता)। करियातुं समझते हो? चिरायता। चिरायता होता है न? अन्दर (होवे) चिरायता और ऊपर लिखे शाकर (मिश्री)। इसलिए

चिरायता कहीं मीठा हो जायेगा ? इसी प्रकार ऊपर कहे, हम जैन हैं, हम श्रावक और साधु हैं। अन्दर में चिरायता—मिथ्याश्रद्धा भरी है। राग से धर्म माने, पुण्य से धर्म माने, लिंग खोटा हो, वह भी हमारा मार्ग है—ऐसी अन्दर मिथ्याश्रद्धा है, वह जहर की है। बाहर में लिंग नाम धरावे कि हम जैन श्रावक और मुनि हैं, वह सब एकरहित शून्य हैं। समझ में आया ?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : दूसरे की बात ही कहाँ है ? जैन के अतिरिक्त अन्यमत के जितने भेद हैं, वे सब मिथ्यादृष्टि के पोषक हैं। समझ में आया ? चाहे तो वह नानकपन्थ हो और चाहे तो कबीरपन्थ हो और चाहे तो वेदान्तपन्थ हो, सभी मिथ्यात्व के पक्के पोषक हैं। यह वेदान्त, कहा न ! एक आत्मा सर्वत्र माननेवाले, वह भी मिथ्यात्व का पोषक है। समझ में आया ? (वीतराग का) ऐसा मार्ग सत्य है, बापू !...

मुमुक्षु : समन्वय का जमाना है।

पूज्य गुरुदेवश्री : समन्वय का जमाना... जहर का और अमृत का समन्वय करता है कोई ? खाते समय सब्जी खाये और माँस साथ में खाये, ऐसा करते होंगे समन्वय ? करो सब्जी के दो भाग शाकाहारी और माँसाहारी, करो समन्वय।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों हैं अवश्य, यह समन्वय। परन्तु वह विपरीत। मार्ग ऐसा है, भाई !

यह सम्यक्त्व आत्मा से भिन्न वस्तु नहीं है,.. समकित है, वह (कहीं) आत्मा से भिन्न दशा नहीं है। वह तो आत्मा की वीतरागी पर्याय है। **आत्मा ही का परिणाम है, सो आत्मा ही है।** लो, वापस कहा है न ? '**अप्पाणं**' कहा है न ? **ऐसे सम्यक्त्व और आत्मा एक ही वस्तु है, यह निश्चय का आशय जानना।** इसका नाम सत्य का अभिप्राय भगवान ने ऐसा कहा है। इसके अतिरिक्त दूसरा सब व्यवहार उपचार है परन्तु ऐसा निश्चय हो, वहाँ ऐसा ही विकल्प होता है, लिंग भी ऐसा होता है। वेशरूप से। वेश न हों, वह अलग बात है। गृहस्थाश्रम में तो अनेक प्रकार हैं।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)

गाथा-२१

अब कहते हैं कि यह सम्यग्दर्शन ही सब गुणों में सार है, उसे धारण करो –

एवं जिणपण्णत्तं दंसणरयणं धरेह भावेण।
सारं गुणरयणत्तय सोवाणं पढम मोक्खस्स।।२१।।

एवं जिनप्रणीतं दर्शनरत्नं धरत भावेन।
सारं गुणरत्नत्रये सोपानं प्रथमं मोक्षस्य।।२१।।

यों जिन-कथित दर्शन रतन गुण रत्नत्रय में सार है।
सोपान पहला मोक्ष का धारण करो सब भाव से।।२१।।

_अर्थ_ – ऐसे पूर्वोक्त प्रकार जिनेश्वर देव का कहा हुआ दर्शन है सो गुणों में और दर्शन-ज्ञान-चारित्र इन तीन रत्नों में सार है-उत्तम है और मोक्षमन्दिर में चढ़ने के लिए पहली सीढ़ी है, इसलिए आचार्य कहते हैं कि हे भव्यजीवो ! तुम इसको अंतरंग भाव से धारण करो, बाह्य क्रियादिक से धारण करना तो परमार्थ नहीं है, अंतरंग की रुचि से धारण करना मोक्ष का कारण है।।२१।।

प्रवचन-१६ गाथा-२१ से २३ बुधवार, ज्येष्ठ कृष्ण ८, दिनांक २४-०६-१९७०

अष्टपाहुड़। दर्शनपाहुड़ की २१वीं गाथा **अब कहते हैं कि यह सम्यग्दर्शन ही सब गुणों में सार है,..** सम्यग्दर्शन, यह धर्म का पहला पाया और (पहला) धर्म का सोपान है।

एवं जिणपण्णत्तं दंसणरयणं धरेह भावेण।
सारं गुणरयणत्तय सोवाणं पढम मोक्खस्स।।२१।।

_अर्थ_ – ऐसे पूर्वोक्त प्रकार.. ऊपर कहा न? छह द्रव्य की श्रद्धा, आत्मा की श्रद्धा, ऐसा ऊपर कहा। आत्मा शुद्ध चैतन्य है, उसके सन्मुख होकर निर्विकल्प श्रद्धा (होना), उसका नाम सच्चा, समकित का प्रथम दर्शन है। समझ में आया? **जिनेश्वर देव**

का कहा हुआ दर्शन.. वीतराग परमेश्वर, जिन्हें त्रिकाल ज्ञान है। उन्होंने कहा जो सम्यग्दर्शन, **सो गुणों में और दर्शन-ज्ञान-चारित्र इन तीन रत्नों में सार है...** सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र—ऐसी तीन दशा, उसमें भी सम्यग्दर्शन सार है। इसके बिना ज्ञान और चारित्र नहीं होते। समझ में आया?

और मोक्षमन्दिर में चढ़ने के लिए पहली सीढ़ी है,... मोक्ष का मन्दिर चढ़ने का पहला सोपान है। जिसे आत्मा सर्वज्ञ ने कहा, वैसा आत्मा जिसे पर्याय में पूर्ण प्राप्त करना है, ऐसा जो मोक्ष, उसकी पहली सीढ़ी अथवा सीढ़ी का पहला सोपान सम्यग्दर्शन है। समझ में आया? जैनदर्शन में जो निर्ग्रन्थ पर्याय वीतराग की और निर्ग्रन्थ लिंग दिगम्बर, वह जैनदर्शन है। उसकी श्रद्धा अन्तर आत्मा में स्वभाव-सन्मुख होकर वीतरागी श्रद्धा प्रगट करना, वह पहला सोपान, मोक्ष की निसरणी का पहला सोपान है।

इसलिए आचार्य कहते हैं कि हे भव्यजीवो ! तुम इसको अंतरंग भाव से धारण करो,... सभी विपरीत मान्यताएँ छोड़कर आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, पुण्य और दया-दान का विकल्प अर्थात् राग, आस्रवतत्त्व, वह तो आस्रव है, उससे भिन्न ऐसा ज्ञानस्वभावी आत्मा, उसका अनुभव करके, उसकी पहले प्रतीति करो। **अंतरंग भाव से धारण करो,...** ऐसा। समझ में आया? '**भावेण**' शब्द है न? '**दंसणरयणं धरेह भावेण**' ऐसा पाठ है। भाव से धारण करो। समझ में आया?

बाह्य क्रियादिक से धारण करना तो परमार्थ नहीं है,... राग के विकल्प से देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा की हो, नव तत्त्व की श्रद्धा विकल्प, राग से की हो, वह कहीं सारभूत नहीं है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? देहादिक की क्रिया तो ठीक परन्तु देव-गुरु, सच्चे देव अरिहन्त, गुरु निर्ग्रन्थ चारित्रवन्त भावलिंगी सन्त और शास्त्र—सर्वज्ञ ने कहे दिगम्बर शास्त्र, वे सच्चे हैं—ऐसी जो श्रद्धा का भाव, वह राग की क्रिया का भाव है। समझ में आया? वह कहीं वास्तविक समकित नहीं है। परमार्थ समकित नहीं है। समझ में आया? और समकित जहाँ नहीं है, वहाँ ज्ञान, और चारित्र, व्रत और तप कुछ नहीं हो सकता। ईकाई बिना के शून्य हैं। पहला सोपान ही यह है। पहले के सोपान का ठिकाना न हो और ऊपर चढ़ जाए (ऐसा नहीं होता)। समझ में आया?

मुमुक्षु : व्रत धारण में आ जाए।

पूज्य गुरुदेवश्री : आ जाए, यह तो कहा गया। व्रत धारण करे अर्थात् चारित्र हो गया अर्थात् उसे समकित होगा ही। मूढ़ है। धूल भी नहीं। व्रत तो राग है महाव्रत आदि, बारह व्रत आदि तो आस्रवतत्त्व, विकल्प है, आस्रवतत्त्व है। उसे अंगीकार किया, इसलिए वह तो मिथ्यादृष्टि है।

मुमुक्षु : कोई व्रत नहीं लेगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन लेता है ? व्रत थे कब ? अज्ञानी को व्रत थे कब ? क्या है सेठीजी ? बराबर है ? आज बोले नहीं।

बाह्य क्रियादिक से धारण करना.. अर्थात् कि व्रत लिये, देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा मानी, पंच महाव्रत ऐसे विकल्प से श्रद्धा, वह श्रद्धा है ही नहीं, वह तो मिथ्याश्रद्धा है। काम भारी सूक्ष्म जगत को। समझ में आया ? **धारण करना तो परमार्थ नहीं है,.. 'भावेण'** भावेण के सामने व्याख्या की।

अंतरंग की रुचि से धारण करना मोक्ष का कारण है। अन्तरंग चैतन्यस्वरूप, इन पुण्य, पाप, शुभ-अशुभ विकल्परहित और अनन्त ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्दसहित ऐसा आत्मा का स्वभाव है। बेहद ज्ञान, बेहद आनन्द, बेहद श्रद्धा, बेहद दर्शनोपयोग / दर्शन, बेहद वीर्य—ऐसे अनन्त चतुष्टय स्वभावस्वरूप आत्मा है। उसकी अन्तरंग रुचि करके सम्यक्त्व धारण करो, क्योंकि वह मोक्ष का पहला सोपान है। आहाहा! कहो, समझ में आया ? दर्शनपाहुड़ है न ? दर्शन तो उसे यह कहा 'दंसणमग्गं' जिनवर का मार्ग बाह्य में दिगम्बर दशा जिसकी हो, अभ्यन्तर तीन कषाय का नाश हो, ऐसी निर्ग्रन्थ मार्ग की, जैनदर्शन का मार्ग और उसे जैनदर्शन कहा जाता है, ऐसी श्रद्धा करने जाए जब, ऐसे तीन दर्शन, ज्ञान, चारित्र को प्राप्त और अट्ठाईस मूलगुण के बाह्य विकल्प (हों) और बाह्य में एकदम नग्नदशा, इसका नाम जैनदर्शन, अर्थात् यह वस्तु का स्वरूप। इसकी श्रद्धा करने जाए, वहाँ आत्मा निर्मलानन्द शुद्ध चैतन्य है, ऐसी अनन्त चतुष्टय पर दृष्टि पड़े, तब उसे सम्यग्दर्शन होता है। समझ में आया ? स्वयं महा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द ऐसा स्वभाव यह आत्मा है। ऐसे स्वभाव को पकड़कर अनुभव करके प्रतीति करना, इसका नाम प्रथम सब गुण में सार सम्यग्दर्शन है।

ऐसा वापस उसमें आता है न ? नहीं ? स्थानकवासी में श्लोक आते थे न ? श्लोक

आते थे, भूल गये। सब बोलते न ? प्रथम श्लोक। किसी को याद नहीं होगा। स्थानकवासी कोई होगा और उसमें वापस किसी को याद होगा। ऐई! नागरभाई! स्थानकवासी में वह था न ? पहले नहीं आता था ? दर्शनसार है और चारित्रसार है, ऐसा श्लोक आता है। वह सब भूल गये होंगे। यह तो उसमें आता था। '**सारं दंसणणाणं, सारं तप, संयम**' यह '**सारं दंसणणाणं**' (बोले) परन्तु उसे '**सारं दंसणणाणं**' की खबर नहीं होती। भाषा बोले '**सारं दंसणणाणं**' तुम सब उसमें थे या नहीं, उसमें बोलनेवाले ? इन्हें खबर नहीं होती कि '**सारं दंसणणाणं**' अर्थात् क्या ? समझ में आया ? वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर, जिन्होंने एक समय में तीन काल-तीन लोक देखे, जाने। '**जिणपण्णत्तं**' कहा है न ? इसलिए वास्तव में तो '**जिणपण्णत्तं**' अर्थात् जब केवलज्ञान हुआ, तब प्ररूपणा करता हैं। इसके बिना तीर्थंकर की प्ररूपणा नहीं हो सकती। समझ में आया ? '**जिणपण्णत्तं**' है न ? वीतराग परमात्मा अन्दर पूर्णदशा-सर्वज्ञदशा हुई, केवल त्रिकाल ज्ञान हुआ, तब उन्हें प्रणीतं- उन्होंने कहा हुआ। इसके बिना तीर्थंकर नहीं कहते, इससे पहले नहीं कहते। समझ में आया ? ऐसा कहते हैं। तीर्थंकरदेव सर्वज्ञ परमेश्वरपना प्राप्त हुए, पूर्ण त्रिकाल ज्ञान हुआ, तब जो '**पण्णत्तं**' कहा। क्योंकि तब तीर्थंकर को वाणी होती है। उससे पहले वाणी प्ररूपित नहीं करते। ऐसे भगवान सर्वज्ञदेव त्रिकाल ज्ञानी परमेश्वर ने कहा, ऐसा जो वस्तु का स्वरूप, उसे आत्मा के स्वभाव में चतुष्टयरूप से अनन्त ज्ञान पड़ा, ऐसा जो जिनस्वरूप अपना है, उसकी अन्तर में दृष्टि होकर, वेदन-अनुभव होकर, आनन्द के स्वाद के अन्दर ज्ञेय का ज्ञान होकर प्रतीति होना, इसका नाम प्रथम सम्यग्दर्शन रत्न कहा जाता है। कहो, समझ में आया ?

मुमुक्षु : और विस्तार से...

पूज्य गुरुदेवश्री : इतना कहा न, ऐई! यह विस्तार। विस्तार क्या ? पहले आ गया न ? छह द्रव्य की, तत्त्व की श्रद्धा, सात तत्त्व की, नौ पदार्थ की, पंचास्तिकाय की ऐसी श्रद्धा करना, वह तो व्यवहार विकल्प है, राग है। आत्मा उससे भिन्न है। व्यवहार विकल्प श्रद्धा है, भगवान ने कहे छह द्रव्य सच्चे, भगवान सच्चे, यह सब विकल्प है, वह तो राग है क्योंकि वह तो परद्रव्य के ऊपर उसका लक्ष्य है। यहाँ तो स्वद्रव्य के ऊपर लक्ष्य करके -होकर स्ववस्तु में अनन्त ज्ञान और आनन्द स्वयं परमात्मस्वरूप है, उसका ज्ञान होना, तब वह अन्तरात्मा होता है। जहाँ तक राग और पुण्य की क्रिया धर्म है—ऐसा मानता है,

तब तक बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि मूढ़ है। वह अन्तरात्मा अपना स्वरूप ही परमस्वरूप, परमस्वरूप पूर्ण अनन्त ज्ञान, आनन्द का अन्तरभान होकर, रुचि होकर प्रतीति हुई, उसे सम्यग्दर्शन अथवा वह अन्तरात्मा हुआ, क्योंकि अन्तर में जो स्वरूप था, उसका उसे दशा में भान हुआ। वह पूर्ण परमात्मा पर्याय में साधने को साधक है। समझ में आया? भाई, गजब!

अंतरंग की रुचि से धारण करना मोक्ष का कारण है। सब परसन्मुख का लक्ष्य छोड़कर और भगवान आत्मा, अनन्त-अनन्त आनन्द का धाम, सच्चिदानन्द प्रभु, सत् शाश्वत् आनन्द का धाम, ज्ञान, उसके अन्तर में जाकर, अन्तर अनुभव होकर प्रतीति होना, वह धर्म का पहला सोपान है। इसके अतिरिक्त सब बिना एक के शून्य है। नागरभाई! ऐसा है, भाई! आहाहा! यह २१वीं (गाथा पूरी) हुई।

गाथा-२२

अब कहते हैं कि जो श्रद्धान करता है, उसी के सम्यक्त्व होता है –

***जं सक्कइ तं कीरइ जं च ण सक्केइ तं च सद्दहणं।**
केवलिजिणेहिं भणियं सद्दमाणस्स सम्मत्तं।।२२।।

यत् शक्नोति तत् क्रियते यत् च न शक्नुयात् तस्य च श्रद्धानम्।
केवलिजिनैः भणितं श्रद्दधानस्य सम्यक्त्वम्।।२२।।

जो शक्य है वह करो और अशक्य की श्रद्धा करो।
नित केवली-जिन कहें श्रद्धावान के सम्यक्त्व हो।।२२।।

अर्थ **– जो करने को समर्थ हो वह तो करे और जो करने को समर्थ नहीं हो उसका श्रद्धान करे, क्योंकि केवली भगवान ने श्रद्धान करने को सम्यक्त्व कहा है।।२२।।**

भावार्थ **– यहाँ आशय ऐसा है कि यदि कोई कहे कि सम्यक्त्व होने के बाद में तो सब परद्रव्य-संसार को हेय जानते हैं। जिसको हेय जाने उसको छोड़ मुनि बनकर चारित्र का पालन करे तब सम्यक्त्वी माना जावे, इसके समाधानरूप यह गाथा है,**

---

* नियमसार गाथा १५४

जिसने सब परद्रव्य को हेय जानकर निजस्वरूप को उपादेय जाना, श्रद्धान किया तब मिथ्याभाव तो दूर हुआ, परन्तु जबतक (चारित्र में प्रबल दोष है तबतक) चारित्र-मोहकर्म का उदय प्रबल होता है (और) तबतक चारित्र अंगीकार करने की सामर्थ्य नहीं होती।

जितनी सामर्थ्य है उतना तो करे और शेष का श्रद्धान करे, इसप्रकार श्रद्धान करने को ही भगवान ने सम्यक्त्व कहा है।।२२।।

गाथा-२२ पर प्रवचन

अब कहते हैं कि जो श्रद्धान करता है, उसी के सम्यक्त्व होता है.. नियमसार में भी आता है न ? १५४। '**जदि सक्कदि कादुं**' १५४ गाथा में आता है, नियमसार। उसमें एक दूसरी जगह टीका में भी आता है। **जं सक्कइ तं कीरइ जं च ण सक्केइ तं च सद्दहणं...** ऐसा श्लोक आता है। टीका में आता है, टीका में आता है। अष्टपाहुड़ की टीका में ३३१ पृष्ठ है।

जं सक्कइ तं कीरइ जं च ण सक्केइ तं च सद्दहणं।
केवलिजिणेहिं भणियं सद्दमाणस्स सम्मत्तं।।२२।।

'केवलिजिणेहिं भणियं' देखो! यहाँ भी रखा है, देखा ? केवलज्ञानी परमात्मा हुए, तब उन्होंने ऐसा कहा। आहाहा! भाषा तो देखो! कुन्दकुन्दाचार्य को रखते हैं न कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं, भगवान ऐसा कहते हैं, हों!

***अर्थ* – जो करने को समर्थ हो वह तो करे..** आत्मा में शुद्ध श्रद्धा करके, शक्ति होवे उतना स्वरूप का ज्ञान और स्वरूप में स्थिरता करना। भगवान आत्मा परमानन्दस्वरूप, अतीन्द्रिय आनन्द का पुंज! आहाहा! आत्मा किसे कहना, इसकी खबर नहीं होती। ऐसे अतीन्द्रिय आनन्द का अन्दर में ज्ञान करके और उसकी श्रद्धा करना और उसमें स्थिरता शक्ति होवे तो करना।

और जो करने को समर्थ नहीं हो.. यदि चारित्र की स्थिरता करने की शक्ति न हो... समझ में आया ? स्वरूप शुद्ध चैतन्यद्रव्य ज्ञायकमूर्ति है, ऐसा अनुभव में भान होकर

स्वरूप में स्थिरता की शक्ति न हो तो श्रद्धा तो बराबर करना; गड़बड़ करना नहीं, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? **जो करने को समर्थ नहीं हो..** करने को समर्थ न हो तो **उसका श्रद्धान करे,..** श्रद्धा तो ऐसी रखना कि केवली ने कहा, उस मार्ग को अन्दर में बराबर श्रद्धान करना। समझ में आया? अपने ऐसा मार्ग तो पालन नहीं कर सकते, सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र को जैनदर्शन कहते हैं। यह आया था न? वस्तु का स्वभाव, उसकी श्रद्धा, उसका ज्ञान और उसमें चारित्र की रमणता, वह जैनदर्शन अर्थात् वस्तुदर्शन विश्वदर्शन है और अन्दर में अट्ठाईस मूलगुण के विकल्प और बाह्य नग्नदशा, उसे जैनदर्शन कहा जाता है। वह वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। ऐसा कहते हैं कि इस प्रकार से चारित्र को पालन नहीं कर सके.. हमने तो कहा था कि जैनदर्शन यह है, भाई! परन्तु यह चारित्रस्वरूप में रमणता और उस सहित के अट्ठाईस मूलगुण के विकल्प, पंच महाव्रत के आस्रवतत्त्व का विकल्प, शरीर की दशा नग्न, इस प्रकार यदि पालन नहीं कर सके तो श्रद्धा तो रखना कि मार्ग तो यह है। शिथिल करना नहीं, ऐसा कहते हैं। वे पालन नहीं कर सके और फिर वस्त्र-पात्र रखे और मुनिपना मानने लगे, वे श्रद्धा भ्रष्ट हो गये। समझ में आया? मूल तो यहाँ यह कहना है।

मुमुक्षु : श्रद्धा को बिगाड़ना नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, बिगाड़ना नहीं। मुनिमार्ग, जैनदर्शन अर्थात् वस्तुदर्शन। वस्तु आत्मा ही जिन है। 'जिन सो ही है आत्मा, अन्य सो ही है कर्म, यही वचन से समझ ले, जिन प्रवचन का मर्म।' भगवान आत्मा वीतरागमूर्ति ही आत्मा है। अन्दर वीतराग अर्थात् उसे राग या द्वेष वस्तु में नहीं है। चैतन्यभगवान आत्मा में राग-द्वेष, पुण्य-पाप के विकल्प जो आस्रव, वे तो अन्दर हैं नहीं। हैं नहीं अर्थात् वीतरागीमूर्ति आत्मा अरूपी ज्ञानघन वीतरागमूर्ति है। उसकी श्रद्धा और उसका ज्ञान और उसकी रमणता की वीतरागदशा (होना) और उसके पंच महाव्रत के विकल्प, उसे उस प्रकार के मुनि को जो हों और उस प्रकार की नग्न-दिगम्बर मुद्रा जिसे हो, दूसरी हो नहीं सकती, ऐसा मार्ग है, उसकी तू श्रद्धा करना, भलीभाँति श्रद्धा करना। अरे! परन्तु इतना सब पालन नहीं किया जा सकता। ऐसा चारित्र होवे तो... न पालन कर सके तो श्रद्धा तो बराबर करना कि मार्ग तो यह है। शिथिल करके दूसरी श्रद्धा करना नहीं। (नहीं तो) मिथ्यात्व हो जाएगा, ऐसा कहते हैं।

मुनिपना ऐसा नहीं होता। हमारे से पालन नहीं हो सकता तो लाओ भाई! वस्त्र-पात्र रखकर मुनिपना माने। समझ में आया? (इस प्रकार) श्रद्धा बिगाड़ना नहीं; नहीं तो मर जाएगा समझ में आया?

यह काल ऐसा है कि हमारे से ऐसा चारित्र पालन नहीं हो सकता, नहीं रहता और इसलिए चारित्र हो, वहाँ तो नग्नदशा ही होती है, उसे वस्त्र-पात्र नहीं होते, उसके लिये बनाया हुआ आहार वह नहीं लेता। ऐसे विकल्प उसे नहीं होते। वह एक बार आहार करे, खड़े-खड़े आहार करे, कहीं पात्र लेकर जाए नहीं,... उपाश्रय में लावे, ऐसा मार्ग वीतराग का नहीं। वापस गुरु को बतावे। अरे! गप्प ही गप्प मार्ग है सब। वीतरागमार्ग से सब भ्रष्ट भेष कर जाता है। समझ में आया? ऐई मलूकचन्दभाई!

गौतम तक डाल दिया है। उपासक में। और आनन्द श्रावक था, उसने संथारा किया था। सब कल्पना से ग्रन्थ रचे हुए। वह कोई शास्त्र भगवान के नहीं हैं। आनन्द ने संथारा किया, बीस वर्ष व्रत पालन किये, भगवान गाँव के बाहर आये हुए। गौतमस्वामी आहार लेने गये, झोली पात्र साफ करके जाए न। सुना है या नहीं। ऐ...भाईलालभाई! सुना है न? ऐई... रिखबदासजी! सुना है या नहीं? गौतम आहार लेने गये थे। आहार लिया हाथ में भार कितना उठाते होगे। अध मण। मजदूर लगे। मुनि है या मजदूर है? झोली और पात्र और पानी... गये और सुना कि संथारा किया है। वहाँ जाऊँ, गये, पूछा, मुझे अवधिज्ञान हुआ है। नहीं, ऐसा नहीं होता। गौतम गणधर को इतनी भी खबर नहीं थी? बारह अंग की रचना की थी, ग्यारह अंग उपरान्त बारह अंग रचे। उन्हें खबर नहीं हो कि श्रावक को ऐसा अवधिज्ञान होगा? वह कहे, ऐसा नहीं होता, प्रायश्चित लो। गणधर कहते हैं। महाराज! ऐसा तो कहे नहीं, विनयवन्त है। महाराज! सच्चे का प्रायश्चित होता है या खोटे का होता है? खोटे का प्रायश्चित होता है। मैं कहीं खोटा नहीं, मैं तो सच्चा हूँ। गणधर को शंका पड़ी। भगवान के पास गये। आहार-पानी का अध मण का वजन... सब बातें गप्प ही गप्प, झूठ-झूठ। ऐसा नहीं हुआ और ऐसा था नहीं। भगवान को आहार बताया। भगवान को कहा, महाराज! इस प्रकार आनन्द ने कहा, इसलिए किसे प्रायश्चित आवे? अरे! जा। भगवान ने कहा। वहाँ उससे क्षमा, उसकी बात सच्ची है। गणधर आहार-पानी रखे, वहाँ पड़ा रहा होगा अकेला। सम्हालनेवाला

व्यक्ति रखा हो तो साधु... अरे! बात जोड़ दी है न? उपासक में ऐसी बात जोड़ दी है। ऐई! चेतनजी!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : शास्त्र में है। भगवान को... यह तो उपासक शास्त्र है न? अभी ग्यारह अंग है न? अज्ञानियों ने कल्पित बनाये हुए। साधु मिथ्यादृष्टि हुआ, उसने यह ग्यारह अंग रचे हैं। समकिती ने नहीं और केवली के तो हैं ही नहीं। मार्ग यह है। यहाँ कहा न? मूल संघ से भ्रष्ट हुए, उन्होंने मार्ग को कुचल डाला और दूसरे प्रकार से भेष और दूसरे प्रकार से मार्ग मनवाया, वह सब भ्रष्ट मिथ्यादृष्टि हैं। समझ में आया?

मुमुक्षु : .....भोग देकर....

पूज्य गुरुदेवश्री : अज्ञान का भोग देकर नया वाड़ा खड़ा किया। यहाँ तो दूसरा कहना है, गौतमस्वामी वापस वहाँ क्षमा के लिये गये। तब तक आहार-पानी रहता होगा? कपड़े सम्हाले कौन? कपड़ा ढँका रखा होगा। अरे! ऐसी बात मुनि को? किसे मुनि कहना, इसका भान नहीं होता। मुनि तो अन्तरस्वरूप का अनुभव और आनन्द में झूमते हैं। जिन्हें एक आहार-पानी निर्दोष लेने की वृत्ति उठे। सुनने की, कहने की। इसके अतिरिक्त वस्त्र-पात्र और यह खाने-पीने के लिये लेने जाना और वहाँ खाना, यह मार्ग वीतराग का है ही नहीं। यह तो अज्ञानियों ने-पाखण्डियों ने दूसरा मार्ग चलाया है। ऐई! समझ में आया? मार्ग तो यह है। इसलिए कहते हैं कि ऐसा पालन न कर सके तो शिथिलपना करके श्रद्धा बदलना नहीं, ऐसा यहाँ कहते हैं।

मुमुक्षु : अनेकान्त है तो भगवान को...

पूज्य गुरुदेवश्री : भले अनेकान्त हो। वस्तु का स्वभाव है तत्प्रमाण होगा या उससे विरुद्ध होगा? ऐसा अनेकान्त होगा? समझ में आया? इसलिए यह गाथा रखी है। आधार दिया, **'केवलिजिणेहिं भणियं'** उसमें (बीस गाथा में) भी ऐसा कहा था **'जिणवरेहिं पण्णत्तं'** भगवान तीन काल के जाननेवाले परमेश्वर, ऐसे तीर्थंकर को वाणी का योग था, तब उन्होंने यह कहा, ऐसा कहते हैं। केवली होने के बाद ऐसा कहा है। समझ में आया? आहाहा! इससे विरुद्ध कहा, वह सब श्रद्धा भ्रष्ट है, मिथ्यादृष्टि है, वह जैन ही नहीं है। ऐ.. नागरभाई!

अपने लालचन्दभाई थे न ? वांकानेर, नहीं ? वकील थे। कड़क थे, कड़क। साधु, कोई बड़ा आचार्य आया होगा। गृहस्थ आया वह कहे, चलो, भाई सुनने तो आओ। देखो तो सही, कुछ शंका होवे तो प्रश्न करो। यह दिगम्बर हो गये थे, श्रद्धा में। लालचन्द वकील। तुम आओ, बड़े महाराज आये हैं, शंका होवे तो पूछो, तुम्हें यह श्रद्धा बदलनी है तो। यह कहे कि परन्तु मैं तो मुसलमान और श्वेताम्बर की श्रद्धा को दोनों को एक सरीखा मानता हूँ। वह कहे, हाय.. हाय.. ! उसमें लिखा है न ? मोक्षमार्गप्रकाशक में है। मुसलमान की श्रद्धा गृहीतमिथ्यात्व की है, ऐसी इन लोगों की भी गृहीतमिथ्यात्व है। दोनों को गृहीतमिथ्यात्वरूप से समान मानता हूँ। भले मिथ्यात्व के रस में थोड़ा बहुत अन्तर हो परन्तु गृहीतमिथ्यात्वरूप से मैं दोनों को समान मानता हूँ, इसलिए मुझे कुछ पूछने आना नहीं है। लालचन्द सेठ थे, गुजर गये। समझ में आया या नहीं ? मोक्षमार्गप्रकाशक में है न ? मुसलमान, ईश्वरकर्ता माननेवाले, नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य, श्वेताम्बर और फिर स्थानकवासी, इन सबको अन्यदर्शन में डाला है। ऐई ! जाधवजीभाई ! बहुत वर्ष हुए, अब सुनने बैठे तो सही। ऐसा मार्ग है, भाई ! यहाँ कुछ लज्जा-बज्जा और किसी की शर्म और सिफारिश काम आवे, ऐसा नहीं है। समझ में आया ?

कहते हैं, श्रद्धा करना। यह नहीं किया जा सके तो श्रद्धा तो करना कि चारित्र तो वीतरागीदशा होती है। नग्नदशा बाह्य में हो, उसे अट्ठाईस मूलगुण के विकल्प, आस्रव तत्त्व का यह राग होता है, उसे साधुपना कहा जाता है। उसमें फेरफार मानना नहीं; मानेगा तो श्रद्धा भ्रष्ट हो जायेगा। समझ में आया ?

केवली भगवान ने श्रद्धान करने को सम्यक्त्व कहा है। केवली परमात्मा कहते हैं कि ऐसा चारित्र पालन न कर सके, ऐसा मुनिपना पालन-रह न सके (तो) श्रद्धा तो रखना कि मार्ग तो यह है। मुनिपने का मार्ग तो दिगम्बरदशा और वीतरागी अन्तरदशा (होता है)। यह मुनि का मार्ग है; इसके अतिरिक्त दूसरा मार्ग नहीं है। समझ में आया ?

***भावार्थ* – यहाँ आशय ऐसा है कि यदि कोई कहे कि सम्यक्त्व होने के बाद में तो सब परद्रव्य-संसार को हेय जानते हैं।** आत्मा का भान हो तो आत्मा आनन्दमूर्ति है, पुण्य-पाप के रागरहित है, परद्रव्य से रहित है, ऐसा तो भान होता है। **परद्रव्य-संसार को हेय जानते हैं। जिसको हेय जाने, उसको छोड़ मुनि बनकर...** उसे छोड़े तो मुनि

हो। रखे, तब तक मुनि कैसे कहलाये? **चारित्र का पालन करे, तब सम्यक्त्वी माना जावे,..** ऐसा चारित्र करे, रागादिक को हेय जाने, गृहस्थाश्रम में स्त्री, कुटुम्ब छोड़े तो ऐसा मुनिपना होता है, तो जाने कि उसे समकित है—ऐसा अज्ञानी का तर्क है। समझ में आया?

जिसको हेय जाने उसको छोड़ मुनि बनकर चारित्र का पालन करे तब सम्यक्त्वी माना जावे,.. जिसे हेय जाना, उसे आचरे तो उसको समकित कैसा? ऐसा अज्ञानी का तर्क है। बहुत समय से उन मगनभाई का प्रश्न था। यह जाना है कि राग हेय है तो उसे राग होता क्यों है? कहते थे न यह प्रश्न? सुरेन्द्रनगर, मगनलाल तलकशी, वह कहे, आत्मा में जाना कि आत्मा तो विकल्प और रागरहित है तो फिर ज्ञानी को राग होता कैसे है? विषय की वासना का राग कैसे होता है? जिसे हेय जाना है, शुभराग को हेय जाना है, उसे उसका भाव होता कैसे है? इतनी श्रद्धा ढीली है। ऐसा कहते थे। मगनभाई ऐसा पूछते थे। वैसे तो विचारक थे और वांचन करते थे। ऐसा नहीं। चारित्र पालन नहीं कर सके, मुनिपना नहीं ले सके, इसलिए समकित नहीं होता – ऐसा नहीं है।

राजा श्रेणिक क्षायिक समकिती, देखो! चारित्र तो नहीं, व्रत तो नहीं परन्तु मरने के समय जरा विकल्प भी ऐसा आया कि आत्मघात किया। परन्तु उन्हें अन्दर में ज्ञातादृष्टापना है। उदय ने उदय का काम किया, देह ने देह की क्रिया का किया और आत्मा ने आत्मा का काम किया। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! कहो, समझ में आता है या नहीं इसमें? ऐई! हिम्मतभाई!

इसके समाधानरूप यह गाथा है,... देखो, कोई कहे कि भाई! सम्यग्दर्शन हो, आत्मा पूर्णानन्द प्रभु वीतरागस्वरूप का भान हो, निर्दोष स्वभाव आत्मा का है, उसमें सदोषपना नहीं है, ऐसा भान हो तो सदोष को छोड़े तो समकिती कहलाता है। सदोष रखे तो समकिती कैसे कहलाये? ऐसा अज्ञानी का प्रश्न है। जो सर्प को सर्प जाने, वह सर्प को पकड़ता क्यों है? ऐसा प्रश्न किया था। वह राग को, पुण्य-पाप को छोड़नेयोग्य मानता है, वह पुण्य-पाप करता कैसे है? उसे पुण्य-पाप होते कैसे हैं? ऐसा कहता है। अरे! सुन।

जिसने सब परद्रव्य को हेय जानकर निजस्वरूप को उपादेय जाना,.. श्रद्धान

किया। यह रागादि हेय हैं, पुण्य-पाप का विकल्प-वृत्ति उठती है, वह आदरणीय नहीं है, शुद्ध आत्मा आनन्दमूर्ति प्रभु सच्चिदानन्द ही आदरणीय है। ऐसा अन्दर भान हुआ तो **मिथ्याभाव तो दूर हुआ,..** राग मेरा है और राग से मुझे कल्याण होता है—ऐसा मिथ्यादृष्टिपना, वह तो मिटा है। समझ में आया? **सब परद्रव्य को हेय जानकर निजस्वरूप को उपादेय जाना,..** क्या कहा? विकल्पमात्र दया, दान, व्रत का राग, वह हेय है – छोड़नेयोग्य है। आत्मा भगवान एक ही आदरणीय है। सच्चिदानन्द निर्मलानन्द प्रभु वीतरागमूर्ति आत्मा निर्दोष स्वभाव का कन्द, आत्मा अर्थात् निर्दोष स्वभाव का रस, वही आदरणीय है और राग आदरणीय नहीं है। ऐसा जिसने जाना, श्रद्धान किया, **तब मिथ्याभाव तो दूर हुआ,..** मिथ्याश्रद्धा तो गयी। राग आदरणीय है, ऐसी मान्यता तो गयी। राग छोड़नेयोग्य है और भगवान आत्मा पूर्णानन्द आदरणीय है, उसमें मिथ्याश्रद्धा तो गयी। समझ में आया?

परन्तु जबतक (चारित्र में प्रबल दोष है तबतक) चारित्र-मोहकर्म का उदय प्रबल होता है (और) तबतक चारित्र अंगीकार करने की सामर्थ्य नहीं होती। अर्थात् कि चारित्रमोह का उदय होता है और उसमें जुड़ान होता है, इसलिए चारित्र अंगीकार करने की शक्ति नहीं होती। कहो, समझ में आया? **जितनी सामर्थ्य है, उतना तो करे...** शक्ति में जितना स्वरूप में स्थिरता का होता है, उतना पुरुषार्थ वह करे **और शेष का श्रद्धान करे,...** आत्मा में अन्दर अनुभव के आनन्द में स्थिर होना। समझ में आया? वही चारित्र है और वही मोक्ष का मार्ग है, ऐसी उसकी श्रद्धा तो करना।

इस प्रकार श्रद्धान करने को ही भगवान ने सम्यक्त्व कहा है। ऐसी जो अन्तर में श्रद्धा करे, उसे परमेश्वर ने समकित कहा है। भले चारित्र पालन नहीं कर सके। संसार में हो, छियानवें हजार स्त्रियों के वृन्द में विषय की वासना में ज्ञानी दिखायी दे, परन्तु उस वासना को हेय जानकर, आनन्द को उपादेय जाना है। ऐसा मिथ्याभाव जिसके टल गया है और सच्ची श्रद्धा हुई है। ऐसी श्रद्धा करनेवाला कहीं बचाव नहीं करता कि मुझसे नहीं होता, इसलिए चारित्र होवे तो समकित कहलाये अथवा वह चारित्र न होवे तो क्या बाधा है? समझ में आया? ऐसा नहीं है। चारित्र होवे, वही मोक्ष का मार्ग है, परन्तु मुझसे चारित्र की उग्रता नहीं हो सकती। मुझमें वह योग्यता नहीं है। छहढाला में आता है या

नहीं ? 'चारित्र मोहवश लेश न संयम पै सुरनाथ जजै हैं।' संयम नहीं है परन्तु संयम की (भावना है)। उसमें आया था न ? चेतन दृग। संयम धारने की चटाचटी। समकिती को संयम धारण करने की चटाचटी है, परन्तु कर नहीं सकता।

ऋषभदेव भगवान तीन ज्ञान के धनी, क्षायिक समकिती, तिरासी लाख पूर्व तक चारित्र नहीं था। तिरासी लाख पूर्व किसे कहना ? एक पूर्व में सत्तर लाख छप्पन हजार करोड़ वर्ष जाते हैं। ऐसा एक पूर्व। ऐसे तिरासी लाख पूर्व गृहस्थाश्रम में रहे। चारित्र नहीं था। क्षायिक समकित था, तीन ज्ञान थे।

श्रेणिक राजा (को) क्षायिक समकित था। रानियाँ थीं, राज्य था। उनका राग था, उसे छोड़ नहीं सके। समझ में आया ? परन्तु समकित है, वह क्षायिक समकित था। नरक में गये, चौरासी हजार वर्ष की स्थिति में। वहाँ भी तीर्थंकरगोत्र बाँधते हैं। वहाँ अभी भी तीर्थंकरगोत्र बाँधते हैं। पण्डितजी ! पहले नरक में तीर्थंकरगोत्र बाँधे ? बाँधे। यहाँ से शुरुआत करके वे प्रतिसमय बाँधते हैं। क्या कहा ? तीर्थंकरगोत्र जब से वह बँधती है, तब से ऐसी की ऐसी चालू रहा करती है ठेठ जब आठवें गुणस्थान में जायेंगे तब बन्ध होगा। आगामी भव में जब केवल (ज्ञान) प्राप्त करने की तैयारी होगी, क्षपकश्रेणी चढ़ेंगे, तब तक चलेगा। ऐ.. देवीचन्दजी ! क्या कहा समझ में आया ? नरक में है, बुरी लेश्या है, तथापि समय-समय में तीर्थंकरगोत्र के परमाणु का बन्धन उसे हुआ करता है। शुरु यहाँ से किया था। शुरुआत कहीं नरक में नहीं होती। वह तो केवलज्ञानी और तीर्थंकर और श्रुतकेवली के समीप में क्षायिक समकित शुरु होता है। समझ में आया ? तथापि अभी तीन कषाय है। चारित्र आंशिक (मुनि के योग्य) नहीं है, श्रावक के व्रत और शान्ति चाहिए, श्रावक के योग्य अन्दर शान्ति चाहिए, वह भी नहीं है। पंचम गुणस्थान की जो शान्ति चाहिए, वह नहीं है, तो भी श्रद्धा ऐसी दृढ़ हुई है, पक्की क्षायिक (हुई है) कि उसमें चारित्र नहीं होने पर भी वह क्षायिक समकित निर्जरा करता है। आहाहा !

अज्ञानी व्रत और तप (करके) मरकर गल जाए बेचारा, क्लेश करके महीने-महीने के अपवास करे, समझ में आया ? आजीवन ब्रह्मचर्य (पालन करे), बेचारा सूख जाए परन्तु मिथ्यात्व को समय-समय पोसता जाता है। निर्जरा तो नहीं परन्तु अनन्त संसार समय-समय में बढ़ता जाता है क्योंकि राग से धर्म मानता है और क्रिया, वह मेरी

है—ऐसा मानता है। पंच महाव्रत, वे धर्म हैं-ऐसा मानता है, इसलिए अज्ञानी को समय-समय में मिथ्यात्व का बन्धन अनन्त संसार का बढ़ता जाता है। यह तो कुछ अन्तर! समझ में आया?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : बाहर का प्रत्याख्यान भी नहीं था। प्रत्याख्यान था, परद्रव्य को, राग को आदरना नहीं, यह। परद्रव्य और राग आदरणीय नहीं है, यह इसका प्रत्याख्यान था। मिथ्यात्व का त्याग था, प्रत्याख्यान कहो या त्याग कहो। अन्दर मिथ्यात्व का त्याग था। कहा न अन्दर!

मिथ्याभाव तो दूर हुआ,... राग का विकल्प भी सूक्ष्म है, वह आदरणीय है, यह मान्यता ही मिथ्यादृष्टि / अज्ञानी की है। वह भाव मिटा, यह कहीं कम बात है? वह मिटा, इसलिए अनन्तानुबन्धी की स्थिरता-शान्ति हुई, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? आहाहा! क्या हो? लोगों ने ऐसा मार्ग कर डाला है न कि इस सत्य को मार्ग में-श्रद्धा में आना उन्हें कठिन हो गया है। समझ में आया? ज्ञान का फल विरति है, ऐसा कहते हैं। जिसे सच्चा ज्ञान हुआ हो, उसे विरति / चारित्र आता ही है परन्तु आवे तब न? ज्ञान हुआ, इसलिए चारित्र साथ ही होता है, ऐसा किसने कहा? इतना स्वरूपाचरण है। समझ में आया?

कहते हैं कि पालन न कर सके तो बचाव नहीं करना कि यह भी मार्ग है। समझ में आया? वस्त्र-पात्र रखकर भी साधुपना पंचम काल में पालन किया जा सकता है, ऐसा नहीं मानना; नहीं तो मर जायेगा। समझ में आया? यहाँ तो ऐसा कहना चाहते हैं। कुन्दकुन्दाचार्य बात को स्पष्ट-स्पष्ट करते हैं। कोई भी सिफारिश-विफारिश यहाँ नहीं चलती। ओहो!

विपरीत श्रद्धा - लकड़ियाँ (उल्टी मान्यता) डालनेवालों का संघ नहीं करना। ऐसा मूलाचार में कहा है। क्योंकि तुझे अकेला न सुहावे तो विवाह कर लेना परन्तु ऐसे कुसंगियों का और मिथ्यादृष्टियों के संघ में रहना नहीं। यह मिथ्यात्व की विपरीतता पुष्ट करेगा। ऐसा कहेगा, ऐसा होता है, होता है। पंचम काल है, कमजोरी है। सबको समान मार्ग होगा? कुछ अपवाद होता है या नहीं? या अकेला चारित्र का-उत्सर्ग का मार्ग

होगा? और अपवाद अर्थात् क्या? वह तो विकल्प उठे, वह अपवाद है। उत्सर्ग तो वीतरागदशा, वह उत्सर्ग है। पंच महाव्रत का विकल्प उठे, वह अपवाद है, परन्तु वस्त्र-पात्र ग्रहण का विकल्प, वह अपवाद है (ऐसा माने), वह तो मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! समझ में आया पण्डितजी! ऐसा मार्ग है। मार्ग तो ऐसा है।

मार्ग में अनन्त तीर्थंकरों ने... इसीलिए कहा, **'केवलिजिणेहिं भणियं'** भाई! परमेश्वर ने कहा है न! केवलज्ञान होने के पश्चात् जिन-तीर्थंकर ने कहा है, यह मार्ग अनादि-सनातन ऐसा है और तू इसमें से कुछ गड़बड़ करने जायेगा तो मिथ्यादृष्टि होकर भटक मरेगा। श्रद्धा करना कि मार्ग तो यह है। दिगम्बर होना, मुनिपने में चारित्रदशा की तीन कषाय का अभाव होना। समझ में आया? अट्ठाईस मूलगुण का ही विकल्प, उसे एक बार आहार आदि हो वह हो। दो-दो बार आहार और पात्र फिरे, सवेरे और शाम चाय और दूध (ले, वह मार्ग नहीं है)। समझ में आया?

मुमुक्षु : चार-चार बार लेते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो एक बार या दो बार। कोई कहता था न कि हम आयेंगे, भुजिया बनाकर रखना। कौन कहता था? सूरत में। परन्तु यहाँ कहता था। पालीताणा में कौन अभी कहता था? बहुत लोग बैठे हों। साध्वी आवे। भुजिया बनाकर रखना (ऐसा कहे)। भुजिया समझते हो या नहीं? पकौड़ी। सवेरे रोटी चले परन्तु दोपहर में (भुजिया), सवेरे दूध, दोपहर को रोटी, दोपहर दो बजे भुजिया, शाम को खिचड़ी और कढ़ी। यह तो कोई भिखारी है या साधु है? दो-दो बार आहार खाना और साधु?

यहाँ तो कहते हैं कि दिगम्बर मुनि जो होते हैं, वे एक बार करपात्र में आहार लेते हैं। इसके अतिरिक्त दूसरी बार आहार नहीं, दूसरी बार पानी नहीं, ऐसा मार्ग है। यह मार्ग पालन न कर सके तो बचाव नहीं करना, श्रद्धा करना। समझ में आया? बराबर है? नागरभाई! अनादि का परमात्मा का कहा हुआ ऐसा मार्ग है। केवली तीर्थंकरदेव ने कहा हुआ यही मार्ग महाविदेह में चालू है। सीमन्धर भगवान परमात्मा यह कह रहे हैं। आहाहा! समझ में आया? बहुत जोर दिया है। उसमें पाठ भी कहा है न? नियमसार, १५४। यहाँ लिखा है नियमसार कुन्दकुन्दाचार्य, लो!

'जदि सक्कदगि कादुं जे पडिकमणादिं करेज्ज झाणमयं।' प्रतिक्रमण तो उसे

कहना, अपने सवेरे आया है। ध्यान में, अन्तर आनन्द में रमना, उसका नाम प्रतिक्रमण है। '**सत्तिविहीणो जा जइ**' यदि शक्ति न हो तो '**सद्दहणं चेव कायव्वं**' श्रद्धा सच्ची रखना। नहीं, नहीं यह तो विकल्प यह भी सच्चा प्रतिक्रमण है, भले स्थिर न हो सके, ध्यान में न आया जाए परन्तु विकल्प करना, वह भी एक प्रतिक्रमण है। णमो अरिहन्ताणं कहके बैठे वह भी सामायिक है, ऐसा मानना नहीं। मर जायेगा। णमो अरिहन्ताणं (बोलकर) ऐसा कहे, हमने दो घड़ी सामायिक की। वह तो विकल्प राग है। वह सामायिक कैसी ? समझ में आया ? आहाहा ! सेठी !

सामायिक तो उसे कहते हैं, (कि) आत्मा के आनन्द का स्वाद आवे और शुद्धोपयोग अन्दर हो। समझ में आया ? उसे सामायिक कहते हैं। सामायिक यह दो आसन बिछाये और बैठे और हो गयी (सामायिक)। णमो अरिहन्ताणं। पाप आने नहीं दिये, वह सामायिक। धूल भी सामायिक नहीं है, वह तो असामायिक है। राग की क्रिया, पुण्य का विकल्प, उसे धर्म माने, उसे सामायिक माने। असामायिक को सामायिक माने, वह मिथ्यादृष्टि है। ऐ.. सुजानमलजी ! रेती फिरे, बस जाओ... रेती ऐसी होती है न ? बापू ! ऐसा मार्ग नहीं है, भाई ! यह मार्ग परमात्मा का, केवली ने कहा हुआ मार्ग दूसरा है, भाई !

तब तक श्रद्धान कर्तव्य है, ऐसा पाठ है। पालन न किया जा सके, चारित्र न हो सके... समझ में आया ? तो श्रद्धा ऐसी रखना, गड़बड़ करना नहीं, (वरना) मिथ्यात्व में जाकर भटकना पड़ेगा। समझ में आया ? अष्टपाहुड़ में भी है। ३३१ पृष्ठ, उस दिन कहा था न ? ३३१, वहाँ भी श्लोक कहते हैं '....' जो चारित्र का मार्ग है, जो केवलज्ञानी का मार्ग है, जो मार्ग वीतराग का है, उस अनुसार तू कर नहीं सके तो श्रद्धा तो करना 'सक्कइ' शक्ति होवे तो करना। 'न सक्कइ' श्रद्धा करना कि मार्ग यह है। कुमार्ग को मार्ग मानना, मार्ग को कुमार्ग मानना, वह तो मिथ्यात्व है। यह बोले अवश्य, समझे नहीं कुछ भी वापस। शाम, सवेरे पहाड़े बोले। कुसाधु को साधु माने तो मिथ्यात्व... पाँचवें श्रमणसूत्र में आता है। वह बोले थे या नहीं पहाड़े ? आहाहा !

उसमें वापस न्याय दिया है। देखो ! क्या ? सोलह प्रकार के तीर्थंकरगोत्र बँधते हैं न, सोलह प्रकार। उसमें शक्ति त्याग कहा है। ऐसा विकल्प होता है कि शक्ति प्रमाण त्याग करता हो। हठ करके करे, वह मार्ग है ही नहीं। शक्तित्याग तप आता है न ? सोलह

में। शक्तिप्रमाण करना। ऐसे के ऐसे ले लिये व्रत। किसके व्रत? अभी भान नहीं होता, तेरा व्रत कहाँ से आया? ले लो व्रत, महाव्रत ले लो, साधु हो जाओ, जाओ। डरो नहीं, भाई! तुम डरो नहीं। संसार छोड़ो, मुनि होओ।

मुमुक्षु : मुनि हुए बिना धर्म कैसे होगा?

पूज्य गुरुदेवश्री : बात सत्य है। धर्म तो चारित्र, वही है। परन्तु मुनिपना चारित्र अर्थात् कहीं समकित बिना आता होगा? अभी समकित की ठिकाना नहीं होता, श्रद्धा का ठिकाना नहीं होता, और ले लो मुनिपना। कहते हैं – ऐसा करना नहीं। सच्ची श्रद्धा करनेवाला पावे अजरामर ठाणा। अजर और अमर, जरा और वृद्धावस्थारहित मोक्षपद है, उसे प्राप्त करेगा। अकेले सम्यग्दर्शन से प्राप्त करेगा, ऐसा कहते हैं। वह धर्म का मूल— पहली सीढ़ी है। आहाहा! चारित्र आये बिना रहे नहीं। यह कहाँ प्रश्न है? परन्तु यहाँ तो कहते हैं,... वह क्रम-क्रम से चारित्र पाकर मुक्ति पायेगा। लाखों, करोड़ों वर्षों तक समकिती जीव क्षायिक हो और चारित्र न हो। समझ में आया?

भरत चक्रवर्ती। लो, कहाँ चारित्र था। उन्हें अन्त में हुआ। उनका तो बड़ा आयुष्य था। चौरासी लाख पूर्व का। वह भी तिरासी लाख वर्ष में केवल (ज्ञान) को प्राप्त हुए हैं। समझ में आया? गृहस्थाश्रम में थे, समकिती थे, छियानवें हजार रानियाँ थी, चक्रवर्ती थे। कहते हैं कि राग आता है, उसे हेय और दुःखदायक मानते हैं। आदरणीय है नहीं और जब तक चारित्र न हो, तब तक मेरी मुक्ति होगी नहीं, ऐसा जानते हैं। समझ में आया? ...तीर्थंकर आते हैं न? जिन तीर्थंकरों को सिद्धि निश्चित है, तो भी चारित्र—अन्दर स्वरूप की रमणतारूपी चारित्र के बिना मुक्ति नहीं होती। तीर्थंकर को भी गृहस्थाश्रम में रहे, चारित्र नहीं होता। आहाहा! अर्थात् यह बाहर का गृहस्थाश्रम छोड़ा, इसलिए चारित्र (हुआ) ऐसा नहीं है। अन्तर में चरणम् इति चारित्र। आत्मा आनन्द भगवान स्वरूप सच्चिदानन्द है, उसमें चरना, चरना अर्थात् रमना, रमना अर्थात् चारित्र। आहाहा! चारित्र अर्थात् बाहर में वेश बदल डाला, पंच महाव्रत के विकल्प आये, वह चारित्र, (ऐसा नहीं है)। वह तो अचारित्र है। आहाहा! जगत को भारी कठिन काम। रतिभाई! ऐसा मार्ग है। भाग्यशाली जीवों को यह मिलता है। ऐसी बात कहाँ है? समझ में आया? आहाहा!

जितना किया जा सके, उतना तो वीर्य को स्फुरित करके करना। नहीं हो सके तो

श्रद्धान तो करना। श्रद्धान करनेवाले को केवली भगवान ने... देखो! ऐसा कहा न? **'केवलिजिणेहिं भणियं'** परमात्मा ने कहा है कि वह समकिती है। चारित्र नहीं है, मुनिपने की दशा जो चाहिए, वह मुझे नहीं है। ऐसा मानता है, जानता है, उस श्रद्धा में तो फेरफार नहीं है। यदि श्रद्धा में फेरफार हुआ तो तेरा मूल मिथ्या हुआ। मिथ्यात्व का मूल हुआ, समकित हटकर निगोद का सोपान हुआ। समझ में आया? २१, २२ दो (गाथाएँ) हुई। २३।

गाथा-२३

अब कहते हैं कि जो ऐसे दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित हैं, वे वंदन करने योग्य हैं-

दंसणणाणचरित्ते तवविणये [1]णिच्चकालसुपसत्था।
एदे दु वंदणीया जे गुणवादी गुणधराणं।।२३।।

दर्शनज्ञानचारित्रे तपोविनये नित्यकालसुप्रस्वस्था:।
ऐते तु वन्दनीया ये गुणवादिन: गुणधराणाम्।।२३।।

दृग ज्ञान चारित्र तप विनय में सदा सुस्थित जो रहें।
गुणधरों से गुण प्रशंसित वे नित्य वंदन-योग्य हैं।।२३।।

अर्थ **- दर्शन-ज्ञान-चारित्र, तप तथा विनय इनमें जो भले प्रकार स्थित हैं, वे प्रशस्त हैं, सराहने योग्य हैं अथवा भले प्रकार स्वस्थ हैं लीन हैं और गणधर आचार्य भी उनके गुणानुवाद करते हैं, अत: वे वन्दने योग्य हैं। दूसरे जो दर्शनादिक से भ्रष्ट हैं और गुणवानों से मत्सरभाव रखकर विनयरूप नहीं प्रवर्तते हैं वे वंदने योग्य नहीं हैं।।२३।।**

गाथा-२३ पर प्रवचन

अब कहते हैं कि जो ऐसे दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित हैं, वे वंदन करने योग्य हैं... तीन इकट्ठे होकर चारित्र हो, वह वन्दन करने योग्य है। साधुरूप से

१. पाठान्तर ह्न णिच्चकालसुपसत्ता

चारित्रवन्तरूप से, मोक्ष के मार्गरूप के चारित्रवन्त के गुरुरूप से वे वन्दन करनेयोग्य हैं। समझ में आया?

दंसणणाणचरित्ते तवविणये णिच्चकालसुपसत्था।
एदे दु वंदणीया जे गुणवादी गुणधराणं।।२३।।

दर्शन-ज्ञान-चारित्र,.. आत्मा के स्वरूप का सम्यग्दर्शन और उसे चारित्र ऐसा हो, उसकी भी प्रतीति उसे आ गयी है। उसका ज्ञान-आत्मा का स्वसंवेदन ज्ञान। शास्त्र-ज्ञान की यहाँ बात नहीं है। भगवान ज्ञान का ज्ञान। चैतन्यज्ञानस्वरूपी प्रभु का ज्ञान और उसका चारित्र। आत्मा आनन्दमूर्ति की रमणता। आत्मा में आतमराम। 'निजपद रमे सो राम कहिये।' वह आत्मा के निज आनन्द में रमे, उसे चारित्र कहते हैं। आहाहा!

तप... इच्छा का निरोध हो। उसे इच्छा छूट जाए, उसका नाम तप कहा जाता है। वस्तु के भानसहित, हों! अकेला तप तपे, वह तप नहीं है; वह तो बालतप और अज्ञानतप है। समझ में आया? महाव्रत के परिणाम, वे धर्म हैं, वे चारित्र हैं – ऐसा माननेवाले मिथ्यादृष्टि को तो तप हो नहीं सकता। वह तो मिथ्यादृष्टि है। समझ में आया? चारित्र नहीं है, वहाँ तप कहाँ से आया? चारित्र, स्वरूप की दृष्टिपूर्वक अन्दर रमणता है और उसे इच्छा टूटकर अमृत की उग्रता आती है। 'तपयन्ति इति तप:' आत्मा तपता है। ऐसे सोना जैसे गेरु से शोभता है, सोना-सोना गेरु से शोभता है; उसी प्रकार भगवान आत्मा चारित्रसहित उग्र पुरुषार्थ से स्थिरता द्वारा शोभता है। उसे तप कहा जाता है। आहार को छोड़ना और यह छोड़ूँ, वह तो सब लंघन है। समझ में आया?

विनय... सच्चे वीतराग का मार्ग और उसके समकिती ज्ञानी और चारित्रवन्त की विनय। अज्ञानी का विनय नहीं। समझ में आया? **इनमें जो भले प्रकार स्थित हैं, वे प्रशस्त हैं, सराहने योग्य हैं...** ऐसे हों, वे अनुमोदन करनेयोग्य हैं। ऐसे हों, वे सराहने योग्य हैं। **अथवा भले प्रकार स्वस्थ हैं लीन हैं...** स्व.. स्व.. यह आत्मा आनन्द, ऐसा स्व; उसमें स्थ-लीन। स्व-स्थ। स्व ऐसा चैतन्य भगवान, उसमें लीन अर्थात् स्थ। आहाहा! यह शरीर-देह तो हड्डियाँ हैं, मिट्टी है और पुण्य-पाप के विकल्प उठते हैं, वह तो विकार है। उसमें टिकना, वह चारित्र नहीं है, वह विनय नहीं है। विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन-१७   गाथा-२४ से २६   गुरुवार, ज्येष्ठ कृष्ण ७, दिनांक २५-०६-१९७०

साधुरूप से साधु मानकर, इसकी बात चलती है। पहले तो दर्शन होता है। उसे सम्यग्दर्शन (होता है)। आत्मा शुद्ध चैतन्यवस्तु सर्वज्ञ भगवान ने देखी है, ऐसा आत्मतत्त्व, उसे सम्यग्दर्शन में भान होता है। आत्मा शुद्ध चैतन्य का अनुभव होता है। तदुपरान्त उसे आत्मा का ज्ञान होता है।

आज लेख आया है। कौन जाने क्यों डाला लगता है ? जैन गजट में। आत्मज्ञान, वही आवश्यक है। किसी ने लिखा है। भाई ने दिया। चन्दुभाई ने स्पष्टीकरण किया है। कोई मुनि है न ? वहाँ जाते हों और पैसे-वैसे देते हों तो उसका लेख लिया। जैन गजट में है। आत्मज्ञान की आवश्यकता। अभी इसकी आवश्यकता है। यह डाला क्यों ? कि भाई वहाँ जाते हों, वहाँ। पैसा-वैसा उगाहने। पैसा लेते हों तो लेख देना ही पड़े।

जिसे आत्मज्ञान हो। ज्ञान आया न ? आत्मा ज्ञानानन्द सच्चिदानन्द शुद्धस्वरूप है, ऐसा उसे ज्ञान होता है। सम्यग्दर्शन हो और उसका ज्ञान हो। तदुपरान्त चारित्र हो। वीतरागदशा, जिसे अन्तर (में) तीन कषाय का नाश होकर प्रगट हुई हो, तप हो, इच्छानिरोधरूप भाव हो और विनय हो, विनय-कोमलता हो। मुनि अथवा पंच परमेष्ठी के प्रति उसे बहुत भाव होता है।

अथवा **इनमें जो भले प्रकार स्थित हैं,...** इनमें रहे और **सराहने योग्य हैं...** उन्हें साधु मानकर गुरुरूप से स्वीकार कर माननेयोग्य हैं। **अथवा भले प्रकार स्वस्थ हैं लीन हैं...** स्व-स्थ। आत्मा ज्ञानानन्द है, उसमें स्थ हैं - लीन हैं। देखो! यह तत्त्वार्थश्रद्धान में वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा के मार्ग में मुनिपना कैसा होता है, उसकी बात चलती है। **और गणधर आचार्य भी उनके गुणानुवाद करते हैं,...** गणधर, महामुनि पूर्व में हुए हों, उनके वे गुणगान करते हैं। परम्परा सन्त जो हुए, भगवान और भगवान के बाद, उनके वे प्रशंसक होते हैं। समझ में आया ? **अतः वे वन्दने योग्य हैं।**

मुमुक्षु : इतना सब कहाँ देखें, हम तो नग्न-दिगम्बर हैं या नहीं, इतना देखते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं। निषेध करते हैं। नग्न-दिगम्बर इतना नहीं। इसके लिये तो यह बात ली है। ऐई!

दूसरे जो दर्शनादिक से भ्रष्ट हैं और गुणवानों से मत्सरभाव रखकर विनयरूप नहीं प्रवर्तते हैं... लो, शान्ति से समझना। वीतरागमार्ग अनादि का यह भाव था और मुनि की बाह्य दिगम्बर दशा थी। ऐसे मुनि को, जो सम्प्रदाय में से भ्रष्ट हुए, वस्त्र-पात्र रखकर मुनिपना माननेवाले, वे इनकी विनय नहीं करते, वे अभिमानी हैं—ऐसा कहते हैं। किसकी ? धर्मात्मा की। आत्मा का अन्तर ज्ञान-दर्शन-चारित्र है और बाह्य नग्न-दिगम्बर जैनदर्शन में होते हैं। दिगम्बर के अतिरिक्त साधुपद नहीं हो सकता, परन्तु अकेला दिगम्बर नहीं। अन्तर अनुभव, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप और विनयसहित (होते हैं)।

मुमुक्षु : दिगम्बर हैं, ऐसा कहो तो हम प्रसन्न होंवे परन्तु दर्शन-ज्ञान-चारित्र की बात आवे, तब उलझन होती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसके लिये तो यह बात चलती है। यह आगे आयेगा। अकेला आचार, उसमें आयेगा। २६ गाथा। **आचार्य यथाजातरूप को दर्शन कहते आये हैं, वह केवल नग्नरूप ही यथाजातरूप होगा...** ऐसा नहीं। २६वीं गाथा, भावार्थ में चौथी लाईन। समझ में आया ? मात्र नग्न तो अनन्त बार हुआ। उसमें क्या ? भान बिना। परन्तु बात यह है कि अन्तर में आत्मदर्शन, आत्मज्ञान और वस्तु की वीतरागता सर्वज्ञ परमेश्वर ने कही, वैसा हो और उसकी दशा बाह्य में शरीर नग्न ही हो। दिगम्बर हो। उसे वस्त्र का धागा भी नहीं हो सकता। समझ में आया ? अनादि का मार्ग यह है। उसको इसे जानना चाहिए, ऐसा कहते हैं।

(यहाँ कहते हैं) **जो दर्शनादिक से भ्रष्ट हैं...** वीतराग का ऐसा मार्ग अनादि सनातन है, उससे ये श्वेताम्बर आदि भ्रष्ट हुए। वे **गुणवानों से मत्सरभाव...** रखते हैं। ऐसे धर्मात्मा सन्त थे, उनका विनय नहीं करते और अभिमान रखते हैं। **वे वंदने योग्य नहीं हैं।** ऐसा मार्ग है, भाई! समझ में आया ? (गाथा) २३ (पूरी हुई।)

गाथा-२४

अब कहते हैं कि जो यथाजातरूप को देखकर मत्सरभाव से वन्दना नहीं करते हैं, वे मिथ्यादृष्टि ही हैं –

सहजुप्पण्णं रूवं दट्ठं जो मण्णए ण मच्छरिओ।
सो संजमपडिवण्णो मिच्छाइट्ठी हवइ एसो।।२४।।

सहजोत्पन्नं रूपं दृष्ट्वा यः मन्यते न मत्सरी।
सः संयमप्रतिपन्नः मिथ्यादृष्टिः भवति एषः।।२४।।

जो देख सहजोत्पन्न रूप न मानता ईर्ष्यादि से।
वह भले संयम-युक्त पर स्पष्ट मिथ्यादृष्टि है।।२४।।

अर्थ – जो सहजोत्पन्न यथाजातरूप को देखकर नहीं मानते हैं, उसका विनय सत्कार प्रीति नहीं करते हैं और मत्सर भाव करते हैं, वे संयमप्रतिपन्न हैं, दीक्षा ग्रहण की है, फिर भी प्रत्यक्ष मिथ्यादृष्टि हैं।।२४।।

भावार्थ – जो यथाजातरूप को देखकर मत्सरभाव से उसका विनय नहीं करते हैं तो ज्ञात होता है कि इनके इस रूप की श्रद्धा-रुचि नहीं है, ऐसी श्रद्धा-रुचि बिना तो मिथ्यादृष्टि ही होते हैं। यहाँ आशय ऐसा है कि जो श्वेताम्बरादिक हुए वे दिगम्बर रूप के प्रति मत्सरभाव रखते हैं और उसका विनय नहीं करते हैं, उनका निषेध है।।२४।।

गाथा-२४ पर प्रवचन

अब कहते हैं कि जो यथाजातरूप को देखकर मत्सरभाव से वन्दना नहीं करते हैं, वे मिथ्यादृष्टि ही हैं –

सहजुप्पण्णं रूवं दट्ठं जो मण्णए ण मच्छरिओ।
सो संजमपडिवण्णो मिच्छाइट्ठी हवइ एसो।।२४।।

यहाँ आचार्य महाराज – कुन्दकुन्दाचार्य अनादि वीतरागमार्ग और केवली का कहा हुआ स्वरूप, ऐसा जो आत्मदर्शन, आत्मज्ञान, आत्मचारित्र, उस सहित की दशा जैनमार्ग

में, वीतरागमार्ग में, केवली के पन्थ में शरीर की दशा दिगम्बर थी। इसके अतिरिक्त यह भ्रष्ट होने के बाद दूसरे पन्थ निकले हैं। सेठी! कहते हैं, माता से जन्मा, ऐसी देह और अन्तर में रागरहित अनुभव की दशा, ऐसे मुनि को देखकर न माने, उसे न जाने, उसे बहुमान न दे। **उसका विनय सत्कार प्रीति नहीं करते हैं... मण्णए** इसमें से सब निकाला है। समझ में आया? विनय, सत्कार नहीं करते, वे **मत्सर भाव करते हैं, वे संयमप्रतिपन्न हैं, दीक्षा ग्रहण की है, फिर भी प्रत्यक्ष मिथ्यादृष्टि हैं**। कठिन बात! समझ में आया?

***भावार्थ* – जो यथाजातरूप को देखकर...** महादिगम्बर सन्त, आत्मा के ज्ञान-दर्शन-चारित्रवाले। अकेले नग्न नहीं। ऐसे नग्न तो अनन्त बार हुए। जिनकी दशा भी अन्तर छठवें गुणस्थान के योग्य ऐसी वीतरागता प्रगट हुई है और बाह्य में अत्यन्त दिगम्बर (देह)। ऐसे जीव को देखकर मत्सरभाव से विनय नहीं करते। दूसरे अभिमानी (ऐसा मानते हैं कि) हम भी साधु हैं, हम महाव्रतधारी हैं, हमने भी दीक्षा ली है – ऐसा मानकर सच्चे सन्त की विनय और आदर नहीं करे तो प्रत्यक्ष मिथ्यादृष्टि है। संयम प्रतिपन्न होता है। इन्द्रियदमन और बाह्य पालन करते हों तो भी प्रत्यक्ष मिथ्यादृष्टि है। इसमें कोई सम्प्रदाय की अपेक्षा से बात नहीं है, वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा ने कहा हुआ ऐसा तत्त्व अनादि है।

जो यथाजातरूप को देखकर मत्सरभाव से उसका विनय नहीं करते हैं तो ज्ञात होता है कि इनके इस रूप की श्रद्धा-रुचि नहीं है, ऐसी श्रद्धा-रुचि बिना तो मिथ्यादृष्टि ही होते हैं। यहाँ आशय ऐसा है कि जो श्वेताम्बरादिक हुए, वे दिगम्बर रूप के प्रति मत्सरभाव रखते हैं... भगवान के बाद छह सौ वर्ष में सनातन वीतरागमार्ग का जैनदर्शन, उसमें से श्वेताम्बर निकले, श्रद्धा से भ्रष्ट होकर वस्त्र रखकर मुनिपना मानने लगे। उनकी अपेक्षा से बात (ली) है यहाँ।

मुमुक्षु : पण्डितजी ने बहुत स्पष्ट किया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पण्डितजी ने स्पष्ट किया है। पाठ में भी यह है न, **संजमपडिवण्णो मिच्छाइट्ठी मण्णए ण मच्छरिओ** इसका अर्थ ही हुआ न! आहाहा! जिन्हें छठवीं, सातवीं भूमिका में आनन्द की दशा प्रगट हुई है, उन मुनि को तो नग्नदशा होती है, उन्हें वस्त्र-पात्र नहीं हो सकते। वस्त्र-पात्र होवे और अन्दर मुनिपना प्रगट हो, ऐसा कभी नहीं

हो सकता और वस्त्र-पात्र न हो तथा नग्नपना हो तो मुनिपना प्रगट होता है, ऐसा भी नहीं है। समझ में आया ? बात बहुत (सूक्ष्म है)।

भगवान आत्मा... ऐसे सम्यग्दर्शन में-श्रद्धा में ही पहले यह आया हो कि मुनि हों, वे वीतरागी होते हैं, उन्हें दिगम्बरदशा होती है, उन्हें अट्ठाईस मूलगुण के, महाव्रतादि के विकल्प हों, ऐसा तो सम्यग्दर्शन होते ही भान में आ जाता है। गुरु का पद ऐसा चारित्र हो, उसे (भान में) आ गया होता है। समझ में आया ? जिसे इसकी खबर नहीं और ऐसे सन्तों को देखकर मत्सर रखता है। क्योंकि वह तो मानो हमारे साधु नहीं है, ऐसा करके श्वेताम्बर आदि साधु उनका आदर नहीं करते, विनय नहीं करते तो प्रत्यक्ष मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी हैं; वे जैन हैं नहीं।

मुमुक्षु : कैसे वन्दन कर सके ? गृहीतमिथ्यादृष्टि हो जाए।

पूज्य गुरुदेवश्री : ....पहले तो ऐसा का ऐसा चलता था न ? पहले तो उनके साधु थे, वे भी दिगम्बर मन्दिर जाते थे। पहले कहाँ अलग पड़े थे। फिर २५-५०, १०० वर्ष व्यतीत हुए, पश्चात् मन्दिर अलग बनाये। मार्ग तो ऐसा है। यह कहीं किसी के पक्षपात की बात नहीं है। समझ में आया ? अनादि सर्वज्ञ वीतराग केवलज्ञानी परमेश्वर का मार्ग चला आ रहा था, वह भगवान के पश्चात् छह सौ वर्ष तक तो मार्ग रहा। पश्चात् बारह वर्ष का दुष्काल पड़ा। यह लेख तो इसमें नहीं परन्तु बारौठ में आता है। बारौठ समझे ? क्या कहते हैं ? भाटचारण नहीं। बारौठ अलग जाति है। क्या कहलाता है ? भाई ! ब्रह्मभट्ट कहलाता है। बनिया को सेठ कहा जाता है, लुहार को ठक्कर कहा जाता है, इसी प्रकार उसे ब्रह्मभट्ट कहा जाता है। अभी एक आया था न ? ब्रह्मभट्ट - बारौठ। काकूभाई। उसे यहाँ प्रेम है, वह तो बेचारा कहे, यह देवी-देवला की विपरीतता कहाँ घुस गयी ? जैन होकर देवी-देवला को मानना, यह तो मिथ्यात्व है। मैंने कहा, मिथ्यात्व ही है परन्तु भान बिना लोगों को कुछ खबर नहीं। समझ में आया ? उसे श्रद्धा में पक्का रखना पड़ेगा, ऐसा कहते हैं। जिसे सच्ची श्रद्धा करनी है, उसे तो ऐसे दिगम्बर मुनि अन्तरध्यानी, ज्ञानी, आनन्द में रमनेवाले और उन्हें दिगम्बर दशा ही होती है, ऐसे मुनि को जैनदर्शन में साधुरूप से स्वीकार किया है। इससे विरुद्ध माने तो वे सब मिथ्यादृष्टि हैं। पण्डितजी ! यहाँ कहीं गुप्त रखने की बात नहीं है। आचार्य ने, कुन्दकुन्दाचार्य ने खुल्ला किया है।

यहाँ आशय ऐसा है कि जो श्वेताम्बरादिक... श्वेताम्बर मन्दिरवासी या यह स्थानकवासी या यह तेरापन्थी, ये तीनों ही जैनदर्शन में से भ्रष्ट होकर निकले हुए हैं। किसी व्यक्ति के प्रति वह (द्वेष) नहीं है, मार्ग ऐसा है। यह तो कुन्दकुन्दाचार्य ने तो जो स्पष्ट बात थी, वह रखी है। श्रद्धा करो, सच्ची श्रद्धा तो करो, कहते हैं। चारित्र न लिया जा सके और तद्नुसार न हो तो भले (न हो) परन्तु श्रद्धा तो बराबर करो कि गुरु चारित्रवन्त तो ऐसे होते हैं। समझ में आया? यहाँ तो ठिकाना नहीं कुछ बाहर का और पाँच महाव्रत के विकल्प को चारित्र मानते हैं। है अचारित्र, पंच महाव्रत तो राग है। अचारित्र को चारित्र मानते हैं; आस्रव को संवर मानते हैं। (महाव्रत का राग) तो आस्रव है। समझ में आया? और सच्चा पन्थ जो यह वीतराग का पन्थ है, उसकी निन्दा करे तो आचार्य कहते हैं कि वह प्रगट मिथ्यादृष्टि है। कहो, समझ में आया इसमें? इसमें कहीं सम्प्रदाय की बात नहीं, हों! वस्तु का स्वरूप ऐसा है। दूसरा क्या हो? **दिगम्बर रूप के प्रति मत्सरभाव रखते हैं...** देखो न! लिखा है न, पण्डित जयचन्दजी हैं। जयपुर के हैं। ऐ सेठी! तुम्हारे गाँव के। पण्डित जयचन्दजी हो गये हैं न? जयपुर के। बहुत अच्छा लिखा है। समझ में आया?

वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव, जिन्हें एक समय में तीन काल-तीन लोक का ज्ञान था, सौ-सौ इन्द्र जिन्हें पूजते हैं, उन भगवान की यह वाणी है। सीमन्धर भगवान महाविदेह में विराजते हैं, उनके पास संवत् ४९ में कुन्दकुन्दाचार्य गये थे। नग्न-दिगम्बर। आठ दिन रहकर यह सब शास्त्र रचे हैं। मार्ग ऐसा है, भाई! दूसरी गड़बड़ की हो, वह मार्ग नहीं है। आहाहा! भारी कठिन काम। सम्प्रदाय की श्रद्धा बैठी हो, वे कहें, हमारे स्थानकवासी के सिद्धान्त सच्चे हैं; वे मन्दिरमार्गी कहें - हमारे सिद्धान्त सच्चे हैं; तेरापन्थी कहे - हमारी मान्यता सच्ची है। श्वेताम्बर जैन परम्परा भगवान के साथ मिलाते हैं, स्थानकवासी भगवान के साथ मिलाते हैं, तेरापन्थी भी मिलाते हैं कि हमारा महावीर पहले ऐसा था। अरे...! भाई! यह तो परमेश्वर का कथन और वीतराग का स्वरूप ऐसा है।

जिसकी दशा सम्यग्दर्शन हो, तब उसे सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा यथार्थ होती है; विपरीत नहीं होती और साधु हो तब तो उसकी वीतरागदशा अन्दर में प्रगट हुई होती है। क्षण और पल में आनन्द में झूलते हुए शुद्धोपयोग में आकर शुभ में आते हैं। छठवें में

आवें तो जरा दया का, सुनने का विकल्प-राग उठता है। वह विकल्प छूटकर सातवें (गुणस्थान की) दशा शुद्धोपयोग में रमते हैं। एक अन्तर्मुहूर्त में जिन्हें हजारों बार शुद्धोपयोग की रमणता होती है। जिन्हें अन्दर निद्रा पौन सैकेण्ड की होती है। उनकी अन्तरदशा और बाह्य नग्नदशा को साधुपद कहते हैं। समझ में आया? ऐसा कोई पक्ष का मार्ग नहीं है। वस्तु का स्वभाव ऐसा है। कहो, अमुलखभाई! ऐसा ही है। इनकी तो... बीस-पच्चीस वर्ष पहले, हों! परन्तु बोले ऐसा... समझ में आया?

वे दिगम्बर रूप के प्रति मत्सरभाव रखते हैं... दिगम्बर के मुनि और दिगम्बर के समकिती श्रावक, धर्मी को वे नहीं मानते, उनका आदर नहीं करते और द्वेष करते हैं। समझ में आया? वे प्रत्यक्ष मिथ्यादृष्टि हैं, ऐसा कहते हैं। **उसका विनय नहीं करते हैं, उनका निषेध है।** लो, वे लोग उसका विनय नहीं करते, इसका निषेध करते हैं। भाई! तुझे मार्ग की खबर नहीं है। मार्ग से भ्रष्ट होकर निकले हैं। दुष्काल पड़ा, तब वस्त्र का थोड़ा टुकड़ा रखकर उसमें से पूरा श्वेताम्बर पन्थ निकला है। स्थानकवासी उसमें से अभी पाँच सौ वर्ष पहले निकले हैं। तेरापन्थी दो सौ वर्ष पहले निकले हैं। वस्तु का ऐसा स्वरूप है। कहो, समझ में आया? सम्प्रदायवालों को ऐसा लगता है कि यह तो तुम्हारा सच्चा। सच्चा नहीं, यह तो वस्तु का स्वरूप ऐसा है। हमारी-तुम्हारी यहाँ बात ही कहाँ है? बापू! आहाहा! जिसे अभी खबर ही नहीं। अष्टपाहुड़ तुम्हारे वहाँ उमराला में है या नहीं? किसी के पास होगा। है? होगा। अष्टपाहुड़ कुन्दकुन्दाचार्य का है। वहाँ होगा अवश्य, पुस्तक तो होगी।

गाथा-२५

आगे इसी को दृढ़ करते हैं –

अमराण वंदियाणं रूवं दट्ठूण सीलसहियाणं।
जे गारवं करंति य सम्मत्तविवज्जिया होंति।।२५।।

अमरैः वंदितानां रूपं दृष्टवा शीलसहितानाम्।
ये गौरवं कुर्वन्ति च सम्यक्त्वविवर्जिताः भवंति।।२५।।

सुर-वंद्य शील-सहित श्रमण को देख जो गारव करें।
विनयादि करते नहीं समकित हीन ही जानो उन्हें।।२५।।

अर्थ **– देवों से वंदने योग्य शीलसहित जिनेश्वरदेव के यथाजातरूप को देखकर जो गौरव करते हैं, विनयादिक नहीं करते हैं, वे सम्यक्त्व से रहित हैं।**

भावार्थ **– जिस यथाजातरूप को देखकर अणिमादिक ऋद्धियों के धारक देव भी चरणों में गिरते हैं, उसको देखकर मत्सरभाव से नमस्कार नहीं करते हैं, उनके सम्यक्त्व कैसा ? वे सम्यक्त्व से रहित ही हैं।।२५।।**

गाथा-२५ पर प्रवचन

आगे इसी को दृढ़ करते हैं – भगवान कुन्दकुन्दाचार्य, सम्यग्दृष्टि जीव को ऐसे मुनि की श्रद्धा होती है और ऐसे मुनि को जो न माने, अनादर करे, वह मिथ्यादृष्टि है – ऐसा कहते हैं। समझ में आया? ऐसा बोले, कुसाधु को साधु माने तो मिथ्यात्व; साधु को कुसाधु माने (तो मिथ्यात्व)। आता है या नहीं? माणेकलालभाई! आता है?

मुमुक्षु : पच्चीस प्रकार के...

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, पच्चीस प्रकार के मिथ्यात्व में। मार्ग को कुमार्ग माने तो मिथ्यात्व; कुमार्ग को मार्ग (माने) तो मिथ्यात्व (ऐसा) बोले परन्तु उसमें एक भी बात सच्ची नहीं होती। अर्थ की खबर नहीं होती। मैं तो इसका अर्थ वहाँ पहले यह करता था, पाँचवाँ... आता है न? ...दो दिन की होती है न? क्या कहलाता है? दो दिन नहीं पढ़ा जाए, ऐसा होता है न? चौदस और पाखी। असज्झाय के दिन होते हैं। असज्झाय समझे न? तुम्हारे नहीं पढ़ा जाता। चौदस और पाखी। अषाढ़ शुक्ल चौदस और पाखी। तब इस पाँचवें श्रमणसूत्र का ही व्याख्यान में अर्थ करते थे, क्योंकि मुझे कुछ... मैंने कहा, यह क्या कहते हैं? ....मिथ्यात्व को छोड़ा है और समकित अंगीकार किया है। समकित अर्थात् क्या? प्रतिक्रमण में आता है या नहीं? कितनी बार पहाड़े बोले होंगे शाम-सवेरे? ....हराम कुछ इसके अर्थ का भान होवे तो। शाम-सवेरे पहाड़े बोलते जायें। आहाहा! बापू! यह तो वीतरागमार्ग है। सर्वज्ञ परमेश्वर का कहा हुआ, देखा हुआ, जाना हुआ और

अनुभव करके कहा है। आहाहा! इसमें कुछ भी फेरफार माने तो वह श्रद्धा से भ्रष्ट है। जैन नहीं, मिथ्यादृष्टि है – ऐसा यहाँ तो कुन्दकुन्दाचार्य फरमाते हैं। समझ में आया? देवीचन्दजी! दुनिया के साथ अनमेल तो लगता है परन्तु मार्ग ऐसा है, वहाँ क्या हो?

अमराण वंदियाणं रूवं दट्ठूण सीलसहियाणं।
जे गारवं करंति य सम्मत्तविवज्जिया होंति।।२५।।

अर्थ – **देवों से वंदने योग्य शीलसहित...** जिसके अन्तर में वीतरागस्वभाव जिन्हें प्रगट हुआ है, ऐसा कहते हैं। शील अर्थात् (यह) चारित्रशील। शीलपाहुड़ आगे आयेगा। जिन्हें वीतरागीदशा अन्तर अनुभव में प्रगट हुई है। वस्तु भगवान आत्मा वीतराग की मूर्ति ही आत्मा तो है। उसका आश्रय लेकर वीतराग का शीलस्वभाव, अकषाय आनन्दकन्द जिसकी दशा प्रगट हुई है, ऐसे मुनि **देवों से वंदने योग्य...** हैं। देव को भी वन्दनेयोग्य है। **जिनेश्वरदेव के यथाजातरूप को देखकर जो...** ओहो! ऐसे वीतरागभावी और बाह्य दिगम्बरदशा को देखकर विनयादि न करे। उनका विनय न करे, आदर न करे, बहुमान न दे, वह समकित से वर्जित है। **वे सम्यक्त्व से रहित हैं।** वे समकित से रहित मिथ्यादृष्टि हैं। कहो, समझ में आया इसमें?

यह तो बहुत वर्षों में यह पढ़ा जाता है। (संवत्) २०१७ में पढ़ा गया था। मार्ग तो यह है। चार बार पढ़ा गया। पहले (संवत्) २००२ के वर्ष में पढ़ा गया। पश्चात् २०११ में, पश्चात् २०१७ में और यह २०२६ में। जाधवजीभाई! यदि पहले सुने तो भड़क जाए परन्तु अब तो बहुत सुननेवाले हैं। कन्धे पड़ी है बात। पूरा सम्प्रदाय घूमकर बदला तो कोई कारण होगा या नहीं? सम्प्रदाय में तो लोग बहुत मानते थे। समझ में आया? मार्ग यह नहीं है, कहा। भाई! वीतराग का यह साधुपना नहीं है, वीतराग का वेश नहीं है, ये वीतराग के शास्त्र कहे, वे यह शास्त्र नहीं है। श्वेताम्बर ने शास्त्र किये, वे नये रचे हैं, सब कल्पित रचे हैं। कठिन बात है, भाई! समझ में आया?

मुमुक्षु : कुन्दकुन्दाचार्य...

पूज्य गुरुदेवश्री : सौ वर्ष पहले निकल गये थे।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : बाद में। पहले से निकले, वे भ्रष्ट होकर निकले न? कुन्दकुन्दाचार्य के होने से पहले सौ वर्ष पहले मार्ग निकल गया था।

मुमुक्षु : अधिक....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह फिर और विशेष (हुआ)। पहले से ऐसा तो है। साधुपना वस्त्रसहित मनवाया, कल्पित शास्त्र बनाये, मल्लिनाथ तीर्थंकर को स्त्री मनवाया, भगवान को रोग ठहराया, भगवान को आहार ठहराया। यह सब जैनदर्शन से अत्यन्त विरुद्ध है। समझ में आया? ऐ.. धनजीभाई! ऐसा मार्ग है। अब तो यहाँ सवा पैंतीस वर्ष जंगल में हो गये। अब तो बहुत सुननेवाले (हुए हैं)। सुजानमलजी!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो खबर है। यह तो सब मन्दिरमार्गी माननेवाले। उसमें कुछ ठिकाना नहीं। मनसुखभाई! भाई से मिले थे न? कहा था न।

मुमुक्षु : मैंने तो खास पूछा था।

पूज्य गुरुदेवश्री : पूछा था। मुझे खबर है। कहा था। भाई भी श्वेताम्बर को मानते थे। कहा था, मुझे याद है। भाई भी श्वेताम्बर को मानते थे। मनसुखभाई! मनसुखभाई ने दीक्षा ली थी, उनकी लड़की ने दीक्षा ली थी। हम थे, तब दीक्षा ली थी। दो लड़कियाँ थीं। (संवत्) २००० के वर्ष में। एक मर गयी, बापू! मार्ग तो दूसरा है, भाई!

साधुपना न ले सके, इसका दोष नहीं है परन्तु साधुपना नहीं है और वस्त्रसहित साधुपना भ्रष्ट होकर मानना, यह बड़ा मिथ्यात्व का पोषण है। देवीचन्दजी! मार्ग तो ऐसा है, भाई! शान्ति से, मध्यस्थता से भगवान ने कहा हुआ कुन्दकुन्दाचार्य स्पष्ट करके सभा के बीच बात करते हैं। राग-द्वेष बिना। भाई! मार्ग तो ऐसा है, हों! ऐसे सन्त दिगम्बर मुनि आत्मध्यानी, ज्ञानी, जिन्हें आनन्द का उफान अन्दर से आता है। ऐसे, हों! अकेले नग्न घूमें और कुछ है नहीं, वह तो द्रव्यलिंग भी नहीं है। समझ में आया? साधु नग्न होते हैं और उनके लिये बनाया हुआ आहार ले, चौका करके दे, वह तो द्रव्यलिंग भी नहीं है और भावलिंग भी नहीं है। कोई कहे नग्नमुनि हैं। नग्न तो अनन्त बार हुआ, पशु की भाँति, उसमें क्या हुआ?

अन्तर राग के विकल्प से भिन्न अखण्डानन्द प्रभु शुद्ध चैतन्य है, उसका अनुभव और सम्यग्दर्शन हो, तदुपरान्त पश्चात् स्वरूप की स्थिरता का प्रचुर स्वसंवेदन हो, उसे नग्न दशा होती है, उसे यहाँ मुनिपना कहा जाता है। मार्ग तो ऐसा है, भाई! किसी व्यक्ति को, सम्प्रदाय को दु:ख हो, यह बात नहीं है और सत्य बात तो ऐसी कौनसी होगी कि जो सबको ठीक लगे? सबको चैन पड़े ऐसी बात कैसी होगी? मार्ग तो यह है। उसकी इसे पहिचान और श्रद्धा करना पड़ेगी।

***भावार्थ* – जिस यथाजातरूप को देखकर अणिमादिक ऋद्धियों के धारक देव भी चरणों में गिरते हैं,...** बड़े देव आकर... आहाहा! जिन्हें आनन्द का सागर अन्दर उछला है। चैतन्य प्रभु अतीन्द्रिय आनन्द का सागर जिनकी दशा में स्थिरता में उछला है, उन्हें वस्त्र-पात्र ग्रहण का विकल्प होता ही नहीं, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? उनके लिये बनाया हुआ आहार-पानी का एक बूँद भी लेने का उन्हें विकल्प नहीं होता। उनकी बात चलती है। समझ में आया? जिन्हें अणिमा आदि छोटा रूप धारण करना हो तो करे, बड़ा रूप धारण करना हो तो करे। देव.. देव.. अणिमादि अर्थात देव, ऐसे भी जिन्हें पैरों पड़ते हैं।

उसको देखकर मत्सरभाव से नमस्कार नहीं करते हैं,... कुन्दकुन्दाचार्य ने यह बात तो मात्र सम्प्रदाय के लिये की है, सत्य को प्रसिद्ध करने के लिये, भगवान का मार्ग ऐसा है, उसको बताने के लिये (की है)। समझ में आया? कुन्दकुन्दाचार्य थे। महाभावलिंगी सन्त थे, परमेश्वर के पास गये थे। उनकी भी साधुओं से टकरार हो गयी थी। विवाद उठा था न? यहाँ गिरनार... गिरनार। सरस्वती बोलती है। यह पत्थर की सरस्वती बोलती है। सरस्वती बोली कि यही दिगम्बर धर्म है। पहले अनादि का यह है। इसका अर्थ फिर उन्होंने दूसरा किया कि यही अर्थात् कि नये हैं, हम पुराने हैं। आहाहा! अरे! दुनिया वह कुछ... तथापि किया पहले दिगम्बर का। अम्बिका बोली। पत्थर की देवी में से। पुण्यशाली इतने थे कि पत्थर बोले! वह बोले वह सच्चा। आवाज उसमें से निकली, यही दिगम्बर अनादि का है। श्वेताम्बर बाद में निकले हैं। समझ में आया?

यह स्थानकवासी तो अभी पाँच सौ वर्ष हुए। श्वेताम्बर में से निकले हैं। श्वेताम्बर पैंतालीस मानते हैं, ये बत्तीस (सूत्र) मानते हैं और यह तुलसी तो अभी निकले। यह तो

और श्रद्धा से अधिक भ्रष्ट होकर निकले हैं। एक... एक... एक... श्रद्धा भ्रष्ट होकर निकले हुए पन्थ हैं। श्वेताम्बर श्रद्धा भ्रष्ट से निकले, उसमें से स्थानकवासी अधिक भ्रष्ट होकर निकले, उसमें से तेरापन्थी अधिक भ्रष्ट होकर निकले हुए हैं। मार्ग यह है। स्थानकवासी तेरापन्थी, हों! दिगम्बर के तेरापन्थी तो सच्चे पन्थी हैं। कहो, ऐसा मार्ग है। ऐ... रतिभाई! यह बहुत सब तो स्थानकवासी हैं। ऐ... केशुभाई! ये स्थानकवासी हैं। मन्दिरमार्गी कोई-कोई हैं। यह मोहनभाई मन्दिरमार्गी हैं। पक्ष का व्यामोह और बहुत वर्ष के माने हुए पच्चीस-पचास वर्ष के संस्कार हों, वे यह सुने तो उन्हें ऐसा लगे... अर..र..र! इनका ही सच्चा? परन्तु इनका सच्चा अर्थात् स्वरूप ऐसा है। वीतराग के मार्ग में मुनि का स्वभाव ही ऐसा होता है। जिसे तीन कषाय का नाश होकर मुनिपना प्रगट हुआ है, उनकी दशा दिगम्बर ही होती है। उन्हें वस्त्र-पात्र और टुकड़ा ऐसा उन्हें नहीं होता। ऐसा अनादि का जैन वीतरागमार्ग में चलता पन्थ है। समझ में आया?

कहते हैं कि **मत्सरभाव से नमस्कार नहीं करते हैं,...** ऐसे मुनि महाधर्मात्मा। कुन्दकुन्दाचार्य के समय भी सामने उन्हें नहीं मानते थे। यह अमृतचन्द्राचार्य हुए, लो न! ९०० वर्ष पहले। ओहोहो! तीर्थंकर जैसा काम कुन्दकुन्दाचार्य ने किया। अमृतचन्द्राचार्य मुनि दिगम्बर वनवासी, (उन्होंने) गणधर जैसा कार्य किया है। परन्तु सामनेवाले आदर नहीं करते, विरोध करते थे। उस समय। कुन्दकुन्दाचार्य का, अमृतचन्द्राचार्य का (विरोध करते थे)। आहाहा! जिन्होंने अमृत बहाया है। सन्त मुनि-दिगम्बर मुनि महापरमात्मा की आराधना करके अल्प काल में परमात्मा होनेवाले हैं। होनेवाले हैं, कोलकरार से एकाध-दो भव में केवलज्ञान लेनेवाले हैं। समझ में आया? ऐसे भरतक्षेत्र में विचरते थे। पहिचाना नहीं, माना नहीं परन्तु अविनय और अनादर किया है। समझ में आया?

मुमुक्षु : अपने आत्मा का अनादर किया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसका ही किया परन्तु बाहर से तो (उनका अनादर किया) इसकी दृष्टि में ही बैठा नहीं कि यह वस्तु क्या है? यह वस्त्र लेकर बैठे और मुनिपना सातवाँ गुणस्थान तो आता नहीं। शुद्धोपयोग की अप्रमत्तदशा आनी चाहिए, वह तो आती नहीं तो तू किसका साधू? इतना भी ख्याल नहीं आया। क्योंकि मुनि हो, उसे तो क्षण में अप्रमत्त शुद्धोपयोग आता है। सच्चे मुनि की बात है, हों! अकेले नग्न की नहीं। शुद्धोपयोग

ऐसे ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान सब भूल जाए। और उसकी टीका की है इस जैन गजट में। इन लोगों ने शुद्धोपयोग को सरल बनाया। चौथे-पाँचवेंवाले को शुद्धोपयोग होता है। शुक्लध्यान। शुद्धोपयोग अर्थात् शुक्लध्यान (ऐसा) उसने लिखा है और शुभोपयोग होवे तो धर्मध्यान। मुनि होवे उसे, ऐसा वे लोग मानते हैं। मुनि न हो परन्तु शुद्धोपयोगी शुक्लध्यानी अभी चौथे गुणस्थान में होता है। अरे! गजब करते हैं न! जैन गजट में यह लेख है। आत्मज्ञान का साथ में लिखा, यह एक लेख है। शुद्धोपयोग अर्थात् शुक्लध्यान और शुभोपयोग अर्थात् धर्मध्यान। अरे भाई! शुभराग है, वह धर्मध्यान भी नहीं है और शुद्धोपयोग, वह शुक्लध्यान हो तो ही होता है, ऐसा भी नहीं है। आहाहा! सातवें (गुणस्थान) तक धर्मध्यान है। चौथे गुणस्थानवाले को शुद्धोपयोग होता है तो शुक्लध्यान तो नहीं।

मुमुक्षु : कुन्दकुन्दाचार्य को नहीं था?

पूज्य गुरुदेवश्री : था न, अकेला शुद्धोपयोग ही था। मार्ग बहुत अलग प्रकार (का है)। यहाँ तो कुन्दकुन्दाचार्य को जो बाहर का अनुभव हुआ था, वह बात रखी है। ऐसा मार्ग परमेश्वर का है। हम सच्चे मुनि हैं और दुनिया को मार्ग की सच्ची बात करते हैं। यथानुभूत मार्ग, आता है या नहीं? (प्रवचनसार) चरणानुयोग (चूलिका) में आता है। हम यथानुभूत मार्ग के यह प्रणेता रहे, कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं। वीतराग ने कहा हुआ साधुपद ऐसा होता है और उसमें विकल्प किस प्रकार के होते हैं, बाहर की दशा कैसी (होती है), उसके यथानुभूत (प्रणेता) यह रहे। ऐसों को मान्य नहीं रखा। इसलिए स्पष्ट करने के लिये साधुपद की जैनदर्शन में कैसी उत्कृष्ट दशा होती है, बाहर संयोग का अभाव कितना होता है, उसके वर्णन के लिये बात करते हैं। समझ में आया?

मत्सरभाव से नमस्कार नहीं करते हैं, उनके सम्यक्त्व कैसा? महा परमेश्वर जैसे मुनि थे। कुन्दकुन्दाचार्य, अमृतचन्द्राचार्य, पूज्यपादस्वामी, भूतबलि। उस समय तो श्वेताम्बर नहीं थे। गिरनार में धरसेनाचार्य नग्न दिगम्बर महामुनि अन्तिम स्थिति में दो मुनियों को बुलाया था। पुष्पदन्त-भूतबलि, जिन्होंने यह षट्खण्डागम बनाया। वीतरागी मुनि थे, ऐसा धवल में पाठ है। मोह और राग-द्वेषरहित ऐसे मुनियों को दिया और उन्होंने पढ़ाया। कण्ठस्थ किया। पूरा हुआ तो देवों ने-व्यन्तरदेवों ने, वहाँ आसपास गिरनार में रहते हों न, उस समय। यह तो दो हजार वर्ष पहले की बात है। देवों ने उसका महोत्सव

किया। षट्खण्डागम है न यह ? धवल, महाधवल यह तो टीका है। भगवान की तीर्थंकरदेव की वाणी। केवलज्ञान में (जो आया), उस वाणी के सब शास्त्र हैं। षट्खण्डागम। समझ में आया ? और कुन्दकुन्दाचार्य ने पश्चात् यह समयसार बनाया। यहाँ तो मध्यस्थ होकर, राग-द्वेषरहित होकर कुछ समझना चाहे तो (समझ में आये ऐसा है)। देव का स्वरूप, चारित्रवन्त गुरु का स्वरूप, भगवान ने कहे हुए अनेकान्त तत्त्व के शास्त्र का स्वरूप (समझे)। समझ में आया ?

(यहाँ) कहते हैं, अरे! **उनके सम्यक्त्व कैसा ? वे सम्यक्त्व से रहित ही हैं।**

गाथा-२६

अब कहते हैं कि असंयमी वंदने योग्य नहीं है –

अस्संजदं ण वन्दे वत्थविहीणोवि तो ण वंदिज्ज।
दोण्णि वि होंति समाणा एगो वि ण संजदो होदि।।२६।।

असंयतं न वन्देत वस्त्रविहीनोऽपि स न वन्द्येत।
द्वौ अपि भवतः समानौ एकः अपि न संयतः भवति।।२६।।

नहिं वंद्य वस्त्र-विहीन केवल असंयत भी वंद्य नहिं।
दोनों हि एक समान उनमें एक भी संयत नहीं।।२६।।

अर्थ – **असंयमी को नमस्कार नहीं करना चाहिए। भावसंयम नहीं हो और बाह्य में वस्त्र रहित हो वह भी वंदने योग्य नहीं है, क्योंकि ये दोनों ही संयम रहित समान हैं, इनमें एक भी संयमी नहीं है।**

भावार्थ – **जिसने गृहस्थ का भेष धारण किया है, वह तो असंयमी है ही, परन्तु जिसने बाह्य में नग्नरूप धारण किया है और अंतरंग में भावसंयम नहीं है तो वह भी असंयमी ही है, इसलिए यह दोनों ही असंयमी हैं, अतः दोनों ही वंदने योग्य नहीं हैं अर्थात् ऐसा आशय नहीं जानना चाहिए कि जो आचार्य यथाजातरूप को दर्शन कहते आये हैं, वह केवल नग्नरूप ही यथाजातरूप होगा, क्योंकि आचार्य तो बाह्य-अभ्यंतर**

सब परिग्रह से रहित हो उसको यथाजातरूप कहते हैं। अभ्यंतर भावसंयम बिना बाह्य नग्न होने से तो कुछ संयमी होता नहीं है – ऐसा जानना।

यहाँ कोई पूछे – बाह्य भेष शुद्ध हो, आचार निर्दोष पालन करनेवाले के अभ्यंतर भाव में कपट हो उसका निश्चय कैसे हो तथा सूक्ष्मभाव केवलीगम्य हैं, मिथ्याभाव हो उसका निश्चय कैसे हो, निश्चय बिना वंदने की क्या रीति ?

उसका समाधान – ऐसे कपट का जबतक निश्चय नहीं हो तबतक आचार शुद्ध देखकर वंदना करे उसमे दोष नहीं है और कपट का किसी कारण से निश्चय हो जाय तब वंदना नहीं करे, केवलीगम्य मिथ्यात्व की व्यवहार में चर्चा नहीं है, छद्मस्थ के ज्ञानगम्य की चर्चा है। जो अपने ज्ञान का विषय ही नहीं, उसका बाधनिर्बाध करने का व्यवहार नहीं है, सर्वज्ञ भगवान की भी यही आज्ञा है। व्यवहारी जीव को व्यवहार का ही शरण है।।२६।।

(नोट ह्र एक गुण का दूसरे आनुषंगिक गुण द्वारा निश्चय करना व्यवहार है, उसी का नाम व्यवहारी जीव को व्यवहार का शरण है।)

गाथा-२६ पर प्रवचन

अब कहते हैं कि असंयमी वंदने योग्य नहीं है –

अस्संजदं ण वन्दे वत्थविहीणोवि तो ण वंदिज्ज।
दोण्णि वि होंति समाणा एगो वि ण संजदो होदि।।२६।।

***अर्थ* – असंयमी को नमस्कार नहीं करना चाहिए।** जिसे भाव संयम नहीं है, मात्र असंयमी है, उसे साधुरूप से, चारित्रस्वरूप से, गुरुरूप से वन्दन नहीं हो सकता। समझ में आया ?

मुमुक्षु : बाह्य वस्त्ररहित है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बाह्य वस्त्ररहित हो तो भी वन्दनयोग्य नहीं है। नग्न मुनि हुए, वस्त्र न रखे परन्तु अन्दर में आत्मज्ञान और आत्मदर्शन का भान न हो। यह हम दया पालते हैं, हम व्रत पालते हैं, ऐसे कर्ता होता है और हो दिगम्बर, वह भी मिथ्यादृष्टि है, दिगम्बर

होने पर भी (मिथ्यादृष्टि है)। समझ में आया? उसे अट्ठाईस मूलगुण के विकल्प उठते हैं, उसका वह कर्ता होता है, हम करते हैं, हम करते हैं। वे सब मिथ्यादृष्टि हैं। दिगम्बर हो तो भी मिथ्यादृष्टि हैं। समझ में आया?

क्योंकि ये दोनों ही संयम रहित समान हैं,... पहला तो प्रत्यक्ष असंयमी है। बाह्य में वस्त्र-पात्र रखे, स्त्री-पुत्र हो और संयमी हो। तथा वह वस्त्र-पात्र नहीं रखता और अन्दर में भावसंयम-सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का कुछ भान भी नहीं। अकेला नग्नपना लेकर बैठा है। कहते हैं कि दोनों संयमरहित हैं। **इनमें एक भी संयमी नहीं है।** लो! किसे ऐसा विचार करना है? निर्णय का समय भी कहाँ है? जिस सम्प्रदाय में जन्मा, उच्छरियो उसे मानकर बैठा, परीक्षा किये बिना। दिगम्बर में जन्मा तो कहे अपना सच्चा। परन्तु मार्ग किस प्रकार है, इसकी कुछ खबर नहीं होती, उसमें वह जन्मा। जैनकुल में समुप्पन्न जिस कुल में जन्मा और जिसका संग हुआ, उसे माना। जाधवजीभाई! समझ में आया?

***भावार्थ* – जिसने गृहस्थ का भेष धारण किया है, वह तो असंयमी है ही,..** समझ में आया? स्त्री, पुत्रवाला हो, वस्त्र-पात्रवाला हो, वह तो प्रत्यक्ष संयमरहित है ही। उसे संयम नहीं होता। असंयमी है। **परन्तु जिसने बाह्य में नग्नरूप धारण किया है..** बाह्य से नग्न दिगम्बर हुआ **और अंतरंग में भावसंयम नहीं है...** अन्तर सम्यग्दर्शन, आत्मा का अनुभव और छठवें गुणस्थान में क्षण-क्षण में जो आनन्द की, शुद्धोपयोग की स्थिरता आवे, वह तो है नहीं। आहाहा! दो-दो घण्टे, चार-चार घण्टे, छह-छह घण्टे सोवे, कहते हैं वे कैसे साधु? भले नग्न हों। चार-छह घण्टे नींद ले, वे तो मिथ्यादृष्टि हैं। आहाहा! ऐसा कहते हैं। मुनि को तो ऐसी दशा प्रगट हुई होती है, जिन्हें एक पौन सैकेण्ड के अन्दर जरा निद्रा आती है। शीघ्र... अप्रमत्तदशा आ जाती है। यह आता है या नहीं? छहढाला में, 'पिछली रयन...' पिछली रात्रि में। पहले के तीन पहर (में) नहीं। यह तो जहाँ अंधेरा हुआ तो सो जाए। अरे! इसके द्रव्य का भी ठिकाना नहीं है। पिछली रात्रि में, वह भी एक आसन से। एक ओर ऐसा होवे तो वहाँ का वहीं रहे। ऐसा का ऐसा, फिरना—ऐसा नहीं। ऐसी मुनि की दशा होती है। भावलिंगी सन्त। समझ में आया? यह तो रतनचन्दजी ने लिखा है, हों! छठे गुणस्थान की स्थिति पौन सैकेण्ड के अन्दर होती है।

उसमें से अपने लिख लिया था न? आता है न? है उसमें, धवल में। पृष्ठ में लिखा है। लेख में आया है न, समाचार पत्र में आया है। सच्चे सन्त तो ऐसे क्षण में आनन्द का शुद्धोपयोग, क्षण में विकल्प आता है। उनकी दशा... ओहोहो! धन्य अवतार! धन्य दशा! धन्य मोक्ष का यह मार्ग!! समझ में आया?

कहते हैं **अंतरंग में भावसंयम नहीं है तो वह भी असंयमी ही है,..** भले नग्न दिगम्बर हो, परन्तु अन्दर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की कुछ खबर भी नहीं। नग्न हो गये और भिक्षावृत्ति से (गोचरीवृत्ति से) खाये, वे भी मिथ्यादृष्टि है। समझ में आया? भारी कठिन काम। यह तो नाड़ी पकड़कर बात करते हैं। कि भाई! वीतराग का मार्ग ऐसा है। नग्न होकर घूमे, इसलिए साधु है (ऐसा नहीं है)। 'मुनिव्रत धार अनन्त बारे ग्रीवक उपजायो।' समझ में आया? ऐसा पाठ कहा न? **'वत्थविहीणोवि तो ण वंदिज्ज'** वस्त्ररहित हो तो भी वन्दनयोग्य नहीं है। अन्दर सम्यग्दर्शन, ज्ञान का भान नहीं। यह क्रिया मैं करता हूँ, देह की क्रिया मेरी है, यह उपदेश देता हूँ, यह मेरा उपदेश मैं कर सकता हूँ, वह वाणी का कर्ता है, वह तो असंयमी है, कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? **इसलिए यह दोनों ही असंयमी हैं, अत: दोनों ही वंदने योग्य नहीं हैं...**

यहाँ आशय ऐसा है अर्थात् ऐसा आशय नहीं जानना चाहिए कि... ऐसा नहीं जानना कि **जो आचार्य यथाजातरूप को दर्शन कहते आये हैं,...** यथाजात को दर्शन कहा है न? पहले से कहते आये हैं न? **'दंसणमग्गं वोच्छामि'** यथाजात। भगवान ने जैसा आत्मा कहा, वैसा जिन्हें अन्तर में आनन्द की लहर से प्रगट हुआ है। आहाहा! और बाहर में नग्नदशा है। आभ्यन्तर यथाजात और बाहर यथाजात। चरणानुयोग में आता है, भाई! आता है न? दोपना अंगीकार किया। यथाजात शब्द आता है। दोनों यथाजात। चरणानुयोगसूचक (चूलिका) प्रवचनसार। एक भाव यथाजात, एक विकल्प—महाव्रतादि का विकल्प उठता है, वह छिलका है, राग है और विकार है, जहर है। उससे रहित आत्मा के सम्यग्दर्शन उपरान्त आत्मा की लहर जिसे उठती है। समझ में आया? वह यथाजात। अन्दर जैसा है वैसा अन्दर में-पर्याय में प्रगट हुआ। आहाहा!

नियमसार में कहते हैं कि अरे! केवली और मुनियों में अन्तर माने, वह मूढ़ है। वीतरागभाव दोनों को वर्तता है, ऐसा कहते हैं। जरा सा अन्तर पहले कहा, परन्तु फिर

अन्तर निकाल दिया। वीतराग। मुनि अर्थात्... आहाहा! धन्य अवतार। समझ में आया? मुनि अर्थात् वस्त्र छोड़ दिये और नग्न हो गये और गोचरी करके खाये और चले, इसलिए साधु है? किसने कहा? जिसे स्वरूप अन्तर राग से रहित पूरा परमात्मा स्वयं सिद्धसमान स्वरूप है। उसे राग और विकल्प की वृत्ति से भिन्न करके, जिसने आत्मा के आनन्द के स्वाद अन्तर में लिया है, तदुपरान्त अतीन्द्रिय आनन्द का प्रचुर स्वसंवेदन वर्तता है।

कुन्दकुन्दाचार्य (समयसार) पाँचवें श्लोक में (गाथा में) कहते हैं। प्रचुर स्वसंवेदन है, उसमें से हमारे इस समयसार का-वैभव का जन्म है। हमारे वैभव से हम कहेंगे, कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं। हमारा वैभव कैसे प्रगट हुआ है? प्रचुर स्वसंवेदन। अहो! अतीन्द्रिय भगवान आत्मा का उग्र स्वसंवेदन। क्योंकि चौथे गुणस्थान में भी संवेदन-आत्मा के ज्ञान का संवेदन तो होता है परन्तु प्रचुर स्वसंवेदन—ऐसा शब्द प्रयोग किया है। अहा! गजब बात करते हैं! हमें प्रचुर स्व-अपना सं—सं-प्रत्यक्ष ऐसा आनन्द का वेदन, पंच महाव्रत के विकल्प—रागरहित आनन्द का हमें वेदन वर्तता है कहते हैं। आहाहा! समझ में आया?

ऐसा आशय नहीं जानना चाहिए कि जो आचार्य यथाजातरूप को दर्शन कहते आये हैं, वह केवल नग्नरूप ही यथाजातरूप होगा,... देखा? बाहर से सब कहा न? अकेले समकित की बात नहीं। दर्शन कहने पर यह कि जिसे आत्मा में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र—तीनों, वीतरागता, पंच महाव्रत के विकल्प और नग्नदशा (होती है), वह जैन का दर्शन है, वह जैन का रूप और वह जैन का मत है। समझ में आया? **वह केवल नग्नरूप ही यथाजातरूप होगा,..** ऐसा नहीं है। **क्योंकि आचार्य तो बाह्य-अभ्यंतर सब परिग्रह से रहित हो, उसको यथाजातरूप कहते हैं।** आहाहा! लोग मध्यस्थ होकर पढ़ते नहीं, विचार नहीं करते, तुलना नहीं करते और ऐसे के ऐसे अनादि से अन्धे की तरह चलते जाते हैं।

आचार्य तो बाह्य-अभ्यंतर सब परिग्रह से रहित.. बाह्य में वस्त्र-पात्र का त्याग और अन्तर में मिथ्यात्व और राग का त्याग। आहाहा! राग की एकताबुद्धि पड़ी है और फिर बाहर का नग्नपना लिया, वह कहाँ से आया? अभी मिथ्यात्व का तो त्याग नहीं

और बाहर का त्याग उसे कहाँ से आया? समझ में आया? पहले तो मिथ्यात्व का त्याग चाहिए कि आत्मा आनन्दस्वरूप सच्चिदानन्द प्रभु है। जो विकल्प उठे दया, दान, व्रत का, भक्ति का राग है, वह तो आस्रव है, बन्ध है, दु:ख है, जहर है। उससे भिन्न अन्दर भगवान के भान बिना, अनुभव बिना, समकित बिना मिथ्यात्व का त्याग नहीं हो सकता। अभी मिथ्यात्व का त्याग नहीं और बाहर के त्याग इतने अधिक जमा दिये। नग्नपना और स्त्री, पुत्र छोड़ा, यह कहाँ से आया? कहते हैं। समझ में आया? भारी कठिन काम है। यहाँ तो जंगल में हैं, इसलिए कोई व्यवधान नहीं। सम्प्रदाय में तो खड़े नहीं रहने दे। सुजानमलजी!

(संवत्) १९८५ में एक शब्द कहा, जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बाँधे, वह धर्म नहीं है। हाय.. हाय.. छोड़ते हैं.. छोड़ते हैं.. १९८५ में। ४१ वर्ष हुए। बड़ी सभा थी, बोटाद। हों! दो बोल साधारण कहे, हों! पंच महाव्रत है, वह आस्रव है। पंच महाव्रत के भाव, वह विकल्प की वृत्ति है कि ऐसा नहीं मारूँ, ऐसा करूँ, वह तो वृत्ति राग है, आस्रव है और जिस भाव से तीर्थंकर गोत्र बँधे, वह धर्म नहीं है। हाय.. छोड़ते हैं.. छोड़ते हैं.. कहकर वह पाठ से उठ गया। उस समय सभा में तो जगजीवनजी थे, यह सब माननेवाले। बहुत भोले साधु हैं, बहुत भोले, ऐसा करके यह सब माने। नहीं?

मुमुक्षु : रंक जैसे।

पूज्य गुरुदेवश्री : रंक यह कहने का हेतु था। ध्रांगध्रा के राजा थे न? उन्हें दस्त का बहुत होता था। इसलिए रथयात्रा निकली हो तो दस्त के लिये जाना (पड़े) उसका करना क्या? घोड़ागाड़ी में रखते थे। वह डालकर दस्त को जाते थे। उसे ऐसा नहीं होता था, इसलिए उसे रंक कहते थे। ध्रांगध्रा के दरबार को दर्द ऐसा हो। वेग हुई हो दस्त की तो एक मिनिट नहीं रोक सके। ध्रांगध्रा का दरबार। वह राजा था, उसे भी ऐसा होता था। इसलिए राजा कहते, यह सब भोले-भोले हैं, ऐसा करके अच्छे हैं, अच्छे हैं (ऐसा माने) ऐई! खीमचन्दभाई! यह बड़े... तुमने देखे थे या नहीं? आहाहा!

हे वीतराग! तेरे पन्थ में राग का भाग जिसे रहा, उसे धर्म माने, वह वीतरागी जीव नहीं है, वह जैन नहीं है। आहाहा! समझ में आया? तेरा भगत... वीतराग को कहते हैं, तेरा भगत तो वीतरागता का भगत है, प्रभु! वह कहीं राग का भगत नहीं है। यहाँ तो उत्कृष्ट

बात कहनी है। अहो! जिसने नग्नपना धारण किया है, परन्तु बाह्याभ्यन्तर परिग्रहरहित नहीं है तो उसे यथाजात नहीं कहते।

अभ्यंतर भावसंयम बिना बाह्य नग्न होने से तो कुछ संयमी होता नहीं हैह्न ऐसा जानना। लो, **ऐसा जानना।** ऐसा लिखा है, हों! ऐसा जानना, दो शब्द। जिसे अभ्यन्तर वीतरागी दशा शुद्धोपयोग में झूलता है। पंच महाव्रत का विकल्प तो शुभराग है। आहाहा! उसे वीतरागमार्ग में मुनि संयमी कहते हैं। क्षण में उसे शुद्धोपयोग में अन्दर आनन्द में उपयोग आ जाता है। क्षण में छठवाँ (गुणस्थान) आ जाता है। ऐसे अभ्यन्तर परिग्रहरहित (होता है)। **अभ्यंतर भावसंयम बिना बाह्य नग्न होने से तो कुछ संयमी होता नहीं हैह्न ऐसा जानना।** समझ में आया?

यहाँ कोई पूछे ह्न बाह्य भेष शुद्ध हो, आचार निर्दोष पालन... पालन करता हो। बाह्य भेष नग्न हो। शुद्ध आचार आगम प्रमाण व्यवहार की क्रिया (पालन करता हो)। उसके लिये बनाया हुआ आहार-पानी न ले, बराबर निर्दोष क्रिया करता हो **अभ्यंतर भाव में कपट हो...** अभ्यन्तर में मुनिपना हो नहीं। मुफ्त में बाहर कपट से मनवाता हो, **उसका निश्चय कैसे हो...** उसका निर्णय किस प्रकार हो। **तथा सूक्ष्मभाव केवलीगम्य हैं, मिथ्याभाव हो, उसका निश्चय कैसे हो, निश्चय बिना वंदने की क्या रीति?**

उसका समाधान – ऐसे कपट का जबतक निश्चय नहीं हो, तबतक आचार शुद्ध देखकर वंदना करे उसमे दोष नहीं है... शुद्ध, आचार शुद्ध चाहिए। ज्ञानाचार, दर्शनाचार, तपाचार, वीर्याचार, (चारित्राचार) जो पाँच व्यवहार हैं। यह निर्दोष होना चाहिए। पाँच में गड़बड़ होवे, वह तो व्यवहार से भी आदरनेयोग्य नहीं है। समझ में आया? गजब मार्ग, भाई! जैन का बाबा होना कठिन लगता है, (ऐसा) कहते हैं। नानजीभाई! **कपट का किसी कारण से निश्चय हो जाय तब वंदना नहीं करे,...** फिर जाने कि यह तो बाह्य वेश की क्रिया के कर्ता हैं, वस्तु-वस्तु है नहीं, तो आदर नहीं करे। इसकी विशेष बात है...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन-१८　गाथा-२६ से २८　शुक्रवार, ज्येष्ठ कृष्ण ८, दिनांक २६-०६-१९७०

२६ वीं गाथा। यह दर्शनपाहुड़ है। धर्म में सम्यग्दर्शन, यह मुख्य है। धर्म तो उसे यहाँ कहा, धर्म और धर्म का मत (कि) अन्तर में आत्मा जो है, सर्वज्ञ परमेश्वर ने जैसा कहा, वह आनन्द का धाम आत्मा है। ऐसा आत्मा, उसके सन्मुख होकर राग, संयोग और एक समय की पर्याय से विमुख होकर, स्वभाव का-अन्तर का भान होकर प्रतीति होना और उस प्रतीति सहित ज्ञान और चारित्र हो (अर्थात्) वीतरागता (हो) और बाह्य नग्नदशा हो, उसे जैनधर्म का मत अथवा जैनधर्म कहा जाता है। समझ में आया? उसमें भी सम्यग्दर्शन मुख्य है। सम्यग्दर्शन न हो तो उसे ज्ञान भी नहीं होता, उसे चारित्र भी नहीं होता और बाह्य का द्रव्यलिंग नग्न होता है तो भी वह साधु नहीं है, वह धर्मी नहीं है। यह बात चलती है।

अभ्यंतर भावसंयम बिना बाह्य नग्न होने से तो कुछ संयमी होता नहीं है – ऐसा जानना। अभ्यन्तर आत्मा आनन्दस्वरूप है, ऐसा अन्तर में भान (हो) और स्वरूप में लीनता, आनन्द की रमणता, ऐसा जो संयम, उसका नाम भगवान ने संयम कहा है और इस संयम के बिना बाह्य नग्न हो, वस्त्र छोड़कर अकेला नग्न हो, वह कहीं साधु नहीं है, वह कोई संयमी नहीं है।

यहाँ कोई पूछे – बाह्य भेष शुद्ध हो,.. बाह्य भेष-बाह्य नग्नपना शुद्ध हो, ऐसा कहते हैं। **आचार निर्दोष..** पालता हो। निर्दोष (आचार हो)। उसके लिये बनाया हुआ आहार-पानी न लेता हो, जंगल में रहता हो आगम प्रमाण उसका आचरण व्यवहार से अच्छा हो। **अभ्यंतर भाव में कपट हो...** अर्थात् अभ्यन्तर में सम्यग्दर्शन नहीं हो। वस्तु का भान न हो। उसके लिये क्या करना? **उसका निश्चय कैसे हो..** ऐसा प्रश्न है **तथा सूक्ष्मभाव केवलीगम्य हैं,..** एक यह प्रश्न है। सूक्ष्मभाव तो केवली जानते हैं। बहुत एक-एक समय का भाव, **मिथ्याभाव हो, उसका निश्चय कैसे हो,..** सूक्ष्मभाव केवलीगम्य है। ऐसा मिथ्यात्व अन्दर जरा सूक्ष्म हो और ऐसी नग्नदशा, संयम में अट्ठाईस मूलगुण, पंच महाव्रत पालता हो। पंच महाव्रत अर्थात् शुभराग, ऐसी जिसकी क्रिया हो और अन्दर में सम्यग्दर्शन न हो, आत्मा का भान न हो। उसे हमें किस प्रकार समझना?

निश्चय बिना वंदने की क्या रीति? उसका निश्चय न हो तो उसे हमें वन्दन करना? साधु मानना या नहीं मानना? ऐसा शिष्य का प्रश्न है।

उसका समाधान – ऐसे कपट का जबतक निश्चय नहीं हो, तबतक आचार शुद्ध देखकर वंदना करे, उसमे दोष नहीं है... आगम प्रमाण निर्दोष आहार—पानी, वस्त्ररहित नग्नपना और अट्ठाईस मूलगुण में कोई भी दोष न हो, ऐसा शुद्ध आचार देखकर वन्दना करे तो उसमें दोष नहीं होता। जिसका व्यवहार शुद्ध हो। **कपट का किसी कारण से निश्चय हो जाय, तब वंदना नहीं करे,..** क्योंकि वह तो श्रद्धा भ्रष्ट है, उसे कुछ वस्तु की खबर नहीं है।

केवलीगम्य मिथ्यात्व की व्यवहार में चर्चा नहीं है,.. केवलीगम्य एक समय का कोई मिथ्यात्वभाव (होवे तो), उसकी कहीं व्यवहार में चर्चा नहीं है समझे? **जो अपने ज्ञान का विषय ही नहीं, उसका बाधनिर्बाध करने का व्यवहार नहीं है,...** जो अपने ज्ञान का विषय नहीं है, उसे विरोध करना या अविरोध करना, उसका कुछ सवाल नहीं है। **सर्वज्ञ भगवान की भी यही आज्ञा है। व्यवहारी जीव को व्यवहार का ही शरण है।** निर्दोष आहार-पानी लेता हो, नग्नपना हो, अन्तर में बाह्यपने में विरुद्ध न दिखता हो। अन्तर नहीं परन्तु बाह्य से विरुद्ध न दिखता हो तो व्यवहार से जैनदर्शन, ऐसा मानकर वन्दन करनेयोग्य है।

गाथा-२७

आगे इस ही अर्थ को दृढ़ करते हुए कहते हैं ह्न

ण वि देहो वंदिज्जइ ण वि य कुलो ण वि य जाइसंजुतो।
को वंदमि गुणहीणो ण हु सवणो णेय सावओ होइ।।२७।।

नापि देहो वंद्यते नापि च कुलं नापि च जातिसंयुक्तः।
कः[1] वंद्यते गुणहीनः न खलु श्रमणः नैव श्रावकः भवति।।२७।।

१. 'कं वन्देगुणहीनं' षट्पाहुड में पाठ है।

नहिं देह वंदन–योग्य कुल नहिं जाति भी नहिं वंद्य है।
गुण–हीन पूजे कौन? वह श्रावक नहीं नहिं श्रमण है।।२७।।

अर्थ **– देह को भी नहीं वंदते हैं और कुल को भी नहीं वंदते हैं तथा जातियुक्त को भी नहीं वंदते हैं, क्योंकि गुणरहित हो उसको कौन वंदे ? गुण बिना प्रकट मुनि नहीं, श्रावक भी नहीं है।**

भावार्थ **– लोक में भी ऐसा न्याय है जो गुणहीन हो उसको कोई श्रेष्ठ नहीं मानता है, देह रूपवान हो तो क्या, कुल बड़ा हो तो क्या, जाति बड़ी हो तो क्या, क्योंकि मोक्षमार्ग में तो दर्शन–ज्ञान–चारित्र गुण हैं, इनके बिना जाति–कुल–रूप आदि वंदनीय नहीं हैं, इनसे मुनि–श्रावकपणा नहीं आता है, मुनि–श्रावकपणा तो सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र से होता है, इसलिए इनके धारक हैं वही वंदने योग्य हैं, जाति, कुल आदि वंदने योग्य नहीं हैं।।२७।।**

गाथा–२७ पर प्रवचन

आगे इस ही अर्थ को दृढ़ करते हुए कहते हैं –

ण वि देहो वंदिज्जइ ण वि य कुलो ण वि य जाइसंजुतो।
को वंदमि गुणहीणो ण हु सवणो णेय सावओ होइ।।२७।।

भगवान के मार्ग में देह जड़... यह देह तो मिट्टी है। यह कहीं वन्दनयोग्य नहीं है। यह तो जड़ है, मिट्टी, पुद्गल अजीव है। यह कहीं गुण नहीं कि इसे वन्दन करना। **कुल को भी नहीं वंदते हैं..** उत्तम कुल में हो। सेठिया नहीं आये? उत्तम कुल के हों। राजकुल के, कोई नगर सेठ के कुल इत्यादि। उस उत्तम कुल का हो तो कोई वन्दन करनेयोग्य नहीं है। इससे कहीं गुण नहीं है, यह कहीं गुण नहीं है। और **जातियुक्त..** भी हो। माता के पक्ष में (ननिहाल में) बहुत ऊँची जाती हो। समझ में आया? इससे कहीं जाति की अपेक्षा से कुछ वन्दन करनेयोग्य नहीं है। **क्योंकि गुणरहित हो, उसको कौन वंदे?** जिसमें आत्मा सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र नहीं है, ऐसे गुणरहित कुल और जाति के वेश या देह, वह वन्दन करनेयोग्य नहीं है। समझ में आया? देखो! यह धर्मी का धर्म

विवेक। उसे जानना पड़ेगा या नहीं? नवतत्त्व की श्रद्धा में चारित्र, सम्यग्दर्शनसहित किसे होता है? कैसे होता है? उसे इसे बराबर श्रद्धा को पहिचानना पड़ेगा। नहीं तो नव तत्त्व में विरुद्ध श्रद्धा होगी तो वह श्रद्धा मिथ्यात्व है। समझ में आया? आहाहा!

कहते हैं, **गुण बिना प्रकट मुनि नहीं, श्रावक भी नहीं है।** यह तो प्रकट शब्द कहाँ से आया इतना। शब्द समझाते हैं। '**को वंदमि गुणहीणो ण हु सवणो णेय सावओ होइ**' जहाँ अन्दर आत्मा सर्वज्ञ ने कहा वैसा, पुण्य-पाप के रागरहित, शरीर-देह आदि की मिट्टी की क्रियारहित ऐसा भगवान आत्मा का सम्यग्दर्शन, अनुभव और दर्शन हो और उसका ज्ञान हो और उसमें स्थिरतारूपी संयम हो तो वह वन्दन करनेयोग्य है। गुण वन्दन करनेयोग्य है। पण्डितजी! आहाहा! यह बड़े कुल के हैं या बहुत रूपवान हैं या राजा का कुँवर है, इसने दीक्षा ली है, इसकी रानी, माँ बड़े कुल की थी, इसलिए उसके कारण वन्दन करनेयोग्य है, ऐसा नहीं है।

यहाँ तो परमेश्वर तीर्थंकरदेव केवलज्ञानी ने जो आत्मा और आत्मा का सम्यग्दर्शन (कहा)। यहाँ तो संयमसहित की बात है न? सम्यग्दर्शन आत्मा का पहला धर्म का सोपान ऐसा जिसे प्रगट हो, जिसे सच्चा अन्तर आत्मज्ञान हो और स्वरूप में संयम और चारित्र की रमणता आनन्द की उग्र हो, वह गुण वन्दन योग्य है, वेश और जाति, कुल और रूप ये कोई वन्दन के योग्य नहीं हैं।

भावार्थ **– लोक में भी ऐसा न्याय है जो गुणहीन हो, उसको कोई श्रेष्ठ नहीं मानता है,...** गुण के बिना लोक में भी मानते हैं? **देह रूपवान हो तो क्या, कुल बड़ा हो तो क्या,..** कुल.. कुल..। कुल बड़ा हो, इससे क्या? जाति बड़ी हो तो क्या? **मोक्षमार्ग में तो दर्शन-ज्ञान-चारित्र गुण हैं,...** लो! भगवान के मार्ग में तो आत्मा परमानन्द की मूर्ति है, ऐसा अन्तर सम्यग्दर्शन, (वह गुण है)। देखो! यह धर्म की पहली सीढ़ी। आहाहा! समझ में आया? और उसका ही—आत्मा का ज्ञान और आत्मा में रमणता की वीतरागता की संयम दशा, वह वन्दन करनेयोग्य है। कहो, समझ में आया?

इनके बिना जाति-कुल-रूप आदि वंदनीय नहीं हैं,... इसके बिना जाति हो या बड़ा पैसेवाले का लड़का था और करोड़पति था... आहाहा! समझ में आया? वह कोई आदर करनेयोग्य नहीं है। **इनसे मुनि-श्रावकपणा नहीं आता है,...** लो! श्रावकपना

नहीं आता, ऐसा कहते हैं। बड़ा राजा का लड़का हो और रानियाँ छोड़ी हों अथवा संसार... बारह व्रत धारण किये हों विकल्प, परन्तु भान आत्मा का नहीं, सम्यग्दर्शन नहीं। वीतराग परमेश्वर कहते हैं, केवलज्ञानी कहते हैं ऐसा उसे अन्तर्मुख चैतन्य की श्रद्धा और सम्यग्दर्शन नहीं है। उसका ज्ञान नहीं और अन्तरचारित्र तो सम्यग्दर्शन के बिना होता नहीं तो उसे श्रावक भी कहा नहीं जाता। कहो, समझ में आया?

मुनि-श्रावकपणा तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से होता है,... लो! वेश से और बाहर के आचरण से नहीं होता। अन्तरस्वरूप भगवान आत्मा, शुद्ध शुद्धस्वरूप (विराजमान है)। उपयोग की व्याख्या नहीं की थी? एक बार कहा था। पंचाध्यायी में उपयोग है न? पंचाध्यायी में शुद्धोपयोग है, आचार्य-उपाध्याय-साधु को शुद्धोपयोग होता है। सब गुणों का वर्णन किया है न? पण्डितजी! आचार्य, उपाध्याय और साधु को शुद्धोपयोग होता है, ऐसा वर्णन पंचाध्यायी में है। मोक्षमार्गप्रकाशक में, प्रवचनसार में इत्यादि बहुत अधिकार में है। यहाँ तो शुद्धोपयोग कहते हैं कि शुद्धोपयोग हो, उसे शुक्लध्यान होता है। शुक्लध्यानी को शुद्धोपयोग (होता है) लो, ऐसा लेख आया है। आठवें गुणस्थान में शुक्लध्यान होता है, वहाँ शुद्धोपयोग होता है। आहाहा!

मुमुक्षु : इस काल में शुक्लध्यान नहीं होता।

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे! नहीं होता। शुद्धोपयोग नहीं होता, उसमें शुक्लध्यान नहीं होता परमशुद्धोपयोग को प्राप्त मुनि हैं। समझ में आया? परमशुद्धोपयोग को प्राप्त (हो), उन्हें मुनि कहते हैं। आहाहा! गजब काम, भाई! समझ में आया? अकेले पंच महाव्रत के विकल्प और क्रिया करे, वे कहीं मुनि नहीं हैं और उस पंच महाव्रत के विकल्प का कर्ता होवे, वह तो मिथ्यादृष्टि है। मैं कर्ता हूँ, मेरा कर्तव्य राग का है। वह तो राग है, आस्रव है। समझ में आया? शुद्धोपयोगपना, वही साधुपना है। यह बात तो पूरी भुला दी गयी है। वह परम शुद्धोपयोग तीनों को गिना है। आचार्य, उपाध्याय, साधु। शुभराग दया, दान, व्रत, तप का जो राग है, वह तो शुभराग है। वह तो शुभोपयोग है, वह तो बन्ध का कारण जहर है, राग है। आहाहा! समझ में आया?

अन्तर में ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान तीन के भेद भूलकर शुद्ध अन्तर रमणता एकाकार हो, उसे भगवान शुद्धोपयोगरूपी चारित्र, उसे मुनि, उसे आचार्य, उसे उपाध्याय कहते हैं

और उसके पहले श्रावक हो, उसे भी शुद्धोपयोग किसी-किसी समय होता है। अरे! सम्यग्दृष्टि हो, उसे भी शुद्धोपयोग किसी-किसी समय होता है परन्तु परम शुद्धोपयोग मुनि को होता है। समझ में आया? कुछ खबर नहीं होती (यों ही) हाँक रखते हैं। गजट में लिखा है। कल आया है न? जैन गजट। गजट अर्थात् क्या?

मुमुक्षु : समाचार।

पूज्य गुरुदेवश्री : समाचार? गजट अर्थात् समाचार, ठीक। यह जैन के समाचार ये? ऐसे? आहाहा! जैन परमेश्वर के समाचार तो यह हैं कि यह महाव्रत का भक्ति का राग / विकल्प उठता है न? उस राग से भिन्न तेरी चीज़ है। उसका अन्तर में सम्यग्दर्शन बिना तेरी कोई भी क्रिया धर्म में नहीं आती। आहाहा! क्या हो? लोगों को लूटा है न? समझ में आया?

शुद्धपरिणति, शुद्धभाव... उसमें भी नहीं कहा? बनारसीदास में। 'शुद्धता विचारे ध्यावे, शुद्धता में केलि करे' अभी के लिये कहा होगा या? आठवाँ? अभी तो आठवाँ नहीं है। यहाँ तो अभी की बात ली है।

मुमुक्षु : यहाँ नहीं, सीमन्धर भगवान के पास है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सीमन्धर भगवान तो आत्मा स्वयं है। सीम-मर्यादा का धारक। राग में न जाए, विकल्प में न जाए, ऐसा आत्मा स्वयं सीमन्धर भगवान है। आहाहा! उसके समीप में जाए तो उसे शुद्धोपयोग हुए बिना नहीं रहता। आहाहा! समझ में आया? वह सीमन्धर भगवान तो पर हैं। यहाँ कहाँ दे ऐसा है कुछ? आहाहा! गजब काम! सीम अर्थात् मर्यादा के धारक। आत्मा का स्वभाव ही ऐसा मर्यादित है कि कभी ज्ञायकस्वरूप उस रागरूप होता ही नहीं। पंच महाव्रत के रागरूप आत्मा हुआ ही नहीं। वह तो राग आस्रव है। उसे अज्ञानी धर्म मानता है और कहता है कि यह हमारा चारित्र है। जाधवजीभाई!

मुमुक्षु : व्यवहारचारित्र है।

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहारचारित्र कैसा? यह तो निश्चय हो, स्वरूप की दृष्टि हुई, ज्ञान और रमणता होवे तो पंच महाव्रत के विकल्प को व्यवहारचारित्र अर्थात् चारित्र नहीं है, उसे चारित्र कहना, इसका नाम व्यवहारचारित्र है। कुछ भान न हो और उसे व्यवहार आया कहाँ से? समझ में आया?

कहते हैं **मुनि–श्रावकपणा तो सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र से होता है,...** लो, समझ में आया? कोई बारह व्रत के विकल्प करे, इसलिए श्रावकपना है, ऐसा नहीं – ऐसा कहते हैं। समझ में आया? भगवान की भक्ति बहुत करे, पाँच–पाँच लाख मन्दिर के लिये खर्च करे, (इसलिए श्रावक है—ऐसा नहीं है)। अभी यह करते हैं न? नहीं खर्च किये? यह तो बड़ा करते हैं। ऐई! वजुभाई! वापस बड़ा करे, उसके प्रमाण में सबका करना पड़ेगा या नहीं? दस लाख का। कम से कम दस लाख का। उसके प्रमाण में वापस सब होगा या नहीं? मानस्तम्भ के समय पाँच–पाँच हजार लोग आये थे। आहाहा! पाँच–साढ़े पाँच हजार लोगों का बड़ा शहर बँधाया था, इससे भी यह तो बड़ा जबरदस्त काम है। यह तो परमागम। वीतराग के वचन की मूर्ति। वाणी की मूर्ति। कहो, समझ में आया? यह तो हो गया, इसलिए ऐसा होता है, परन्तु है तो यह शुभभाव। लाख दे या दो लाख दे, या पाँच लाख दे तो वह राग मन्द किया हो तो शुभभाव होता है; धर्म–बर्म नहीं। ऐ... मलूकचन्दभाई! इतने तो इनके लड़के दे नहीं देंगे परन्तु दे तो भी शुभभाव होगा, ऐसा यहाँ कहते हैं।

मुमुक्षु : धर्म होगा, ऐसा कहो तो दें।

पूज्य गुरुदेवश्री : धर्म होगा कहाँ से? धूल में धर्म होगा वहाँ? पैसा ही इसका कहाँ था? इसके पिता का भी नहीं थे और इसका भी कहाँ थे? वे तो जड़ के हैं। जड़ के पैसे जड़ हैं, वह मैं देता हूँ, ऐसा जो जड़ का अभिमानपना, वही मिथ्यात्व है। आहाहा!

मुमुक्षु : पैसा रख छोड़े तो क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : रखे तो भी वे मेरे हैं, ऐसा माने तो भी मिथ्यात्व है।

मुमुक्षु : चारों और से दण्डते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : क्योंकि पैसा जड़ है या चैतन्य? पैसे जड़रूप रहे हैं या आत्मा के होकर रहे हैं?

मुमुक्षु : वे आत्मा के होकर नहीं रहे परन्तु आत्मा को गर्मी देते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : गर्मायी नहीं, धूल भी नहीं आती वहाँ।

मुमुक्षु : प्रभु! देवे तो भी शुभभाव है और न दे तो अशुभभाव है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कहा न, न दे तो अशुभभाव। वह तो स्वयं मेरे हैं, ऐसा मानता है इसलिए। मैं तो दूसरी बात कहता हूँ। वे रजकण पैसे हैं, उनका मैं मालिक हूँ, ऐसा माने तो मिथ्यात्व है।

मुमुक्षु : बाहर का पाप नहीं यह तो मिथ्यात्व का पाप है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा यहाँ तो कहा जाता है।

मुमुक्षु : पहले चारित्र के पाप को हल्का कर डाला।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो अजीवतत्त्व है। अजीवतत्त्व का तू मालिक है? जगत के परमाणु, मिट्टी को भगवान ने पुद्गलतत्त्व कहा। वह पुद्गलतत्त्व इस जीवतत्त्व का है? यह मानता है कि वे मेरे हैं और मैं उन्हें देता हूँ। यह तो कहते हैं, उनका स्वामी होकर दे तो मिथ्यात्व है। राग की मन्दता की हो तो शुभ (भाव है, उसमें) मिथ्यात्वसहित का जरा पुण्य बँधेगा। पुण्य में तो अघाति में अन्तर पड़ेगा परन्तु मिथ्यात्व का लकड़ा (विपरीतता) तो साथ में बड़ी है। समझ में आया?

यहाँ तो कहते हैं कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र बिना, ये गुण हैं और इनके बिना श्रावक या मुनि नहीं हो सकता। दान दे तो श्रावक हो, ऐसा व्रत पालन करे तो श्रावक हो ऐसा नहीं कहा। देखो! सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र। श्रावक को थोड़ा चारित्र होता है, मुनि को विशेष होता है। उसका भाग तो दोनों को होता है। समझ में आया? **मुनि-श्रावकपणा नहीं आता है,...** सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र के बिना मुनिपना, श्रावकपना नहीं आता है। **मुनि-श्रावकपणा तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से होता है, इसलिए इनके धारक हैं, वही वंदने योग्य हैं,...** लो, उनके धारक हैं, वे वन्दनयोग्य हैं। **जाति, कुल आदि वंदने योग्य नहीं हैं।** श्रावक का नाम तो दिया है न! मूल पाठ में है। '**सवणो णेय सावओ**' इतना। इसके बिना नहीं। वन्दन करनेयोग्य नहीं।

सवेरे आया था, नहीं? ईश्वरकर्ता माने जगत। वैष्णव। और साधु होकर छह काय की दया मैं पालन कर सकता हूँ। छह काय के शरीर पुद्गल हैं, उनकी मैं दया पाल सकता हूँ, दोनों एक प्रकार के मिथ्यादृष्टि हैं। कहो, समझ में आया? क्योंकि यह छह काय का कर्ता हुआ, वह ईश्वर पूरी दुनिया का कर्ता हुआ। यहाँ तो आया था कि कर्ता

होता है, उसकी मुक्ति नहीं होती और इन दोनों को कर्तृत्वबुद्धिवालों को मिथ्यादृष्टि जानना। ये सम्यग्दर्शन से रहित हैं।

मुमुक्षु : दया का पालना...

पूज्य गुरुदेवश्री : दया का पालना अपना; पर का नहीं। पर का कौन पाल सकता है। छह काय है, उसका ज्ञान करके अपने स्वरूप में रहना, वह दया है। पर की दया कौन पाले? वह तो जड़ परपदार्थ शरीर है। शरीर को रहना और आत्मा को रहना, वह तो उसकी पर्याय से रहता है। तुम्हारे से रहता होगा वहाँ?

मुमुक्षु : बचाना यही बनियों का काम न?

पूज्य गुरुदेवश्री : बचाया। किसे बचावे? अपने को बचाना आता नहीं और किसको बचाने जाए। उसका आयुष्य हो तो बचता है, न हो तो उसके कारण मर जाता है। तुम्हारे कारण बचता है वहाँ? दया का शुभभाव आता है। शुभभाव आया, इसलिए वह बच जाए और उसकी दया पल जाए, इस बात में कुछ दम नहीं है। समझ में आया?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : इसका अर्थ कि उसे ऐसा शुभभाव होता है और उसे वह धर्म नहीं मानता, ऐसा कहते हैं। सेठी! जयपुर में तो रहते थे। आहाहा!

निश्चय दया तो राग की उत्पत्ति न हो और आत्मा के स्वभाव का आश्रय करके वीतरागी पर्याय का अंश जो प्रगट होता है, उसे भगवान दया और अहिंसा कहते हैं। ऐसी दया का व्याख्या की है, हों! आत्मावलोकन में अन्त में की है न! सब बोल रखे हैं। आत्मावलोकन। नहीं? गृहस्थ... कैसे? दीपचन्दजी। दीपचन्दजी ने यह बनाया है, हों! दया की व्याख्या। लाओ न, कहाँ है? इसमें नहीं। आत्मावलोकन। यह तो दया की व्याख्या गृहस्थ ने की है। दीपचन्दजी साधर्मी दिगम्बर श्रावक ने भी दया की व्याख्या कैसी की है! देखो! पढ़ते नहीं, लोगों को विचारना नहीं। ऐई! पर की दया, वह भी एक भगवान का धर्म है, करुणा भी जीव का एक स्वभाव है। वह तो अनन्तानुबन्धी का अभाव हुआ, वह करुणा। उसका नाम दया कहा जाता है। दया का लक्षण। यही पृष्ठ आया, हों! खोलने पर आया, सामने यही है, लो, छठवाँ बोल है। दया का लक्षण।

विकारमय परिणामों द्वारा अपने निजस्वभाव का घात नहीं करना, अपने स्वभाव का पालन करना ही दया है।

मुमुक्षु : यह तो श्रावक का...

पूज्य गुरुदेवश्री : श्रावक का नहीं। भगवान प्रमाण कहा है सब। पण्डितजी! ऐसा कहते हैं, श्रावक का नहीं, उसमें नहीं कहा? पुरुषार्थसिद्धियुपाय में। जितने अंश में राग की उत्पत्ति (होना), उतनी हिंसा है और आत्मा के स्वभाव की जितनी शुद्धता की उत्पत्ति, उसका नाम अहिंसा और दया है। दया की व्याख्या। देखो! '**यत् निजस्वस्वभावं विकारभावेन न घातयति**' राग से जीव की शान्ति का घात होता है। '**न घातयति न हिनस्ति, निजस्वभावं पालयति तदेव (सैव) दया ॥६ ॥**' (छद्मस्थ जीवों की परम प्राप्ति की सकल रीति।) दीपचन्दजी का आत्मावलोकन है। समझ में आया? प्रकाशदासजी! आत्मावलोकन है। पर की दया तो राग है, विकल्प है। हो, आता है परन्तु वह तो (राग है)। क्या हो? राग है, वही वास्तव में हिंसा है।

मुमुक्षु : धवल में लिखा है कि करुणा स्वभाव है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह करुणा, वह तो आत्मा के अकषायभाव को कहा है। आत्मा का अकषायभाव, उसे करुणा कहा है। केवली को करुणा कहा है। केवली को पर की दया का भाव होगा?

मुमुक्षु : केवली को करुणा के सागर हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : करुणा के सागर अर्थात् अविकारी परिणाम के सागर। सेठी! मार्ग तो ऐसा है, बापू! वीतराग परमात्मा का ऐसा तत्त्व है। पूरी दुनिया से यह दूसरा प्रकार है। परमेश्वर केवलज्ञानी तीर्थंकरदेव... समझ में आया? उनकी सब व्याख्या अलग है, हों!

यति और श्रावक का लक्षण, देखो! ***समस्त इन्द्रियों के भोगों से और शरीरादि परिग्रह से सर्व में ममत्वरहित होना, वह यति का लक्षण है। उनमें एकदेश ममत्व का त्याग होना, वह श्रावक का लक्षण है। (छद्मस्थ जीवों की परमात्म प्राप्ति की सकल रीति, श्लोक-7)। सब व्याख्या, एक-एक की।***

शुद्ध का लक्षण, लो, ठीक! ***रागादि विकार रहित ही शुद्ध का लक्षण है।*** प्रत्येक की व्याख्या की है। (श्लोक 10)

वैराग्य का लक्षण— ***राग-द्वेष खेदरहित, ज्ञानसहित उदासीन भाव होना, वह वैराग्य कहलाता है।*** (श्लोक 8)। ऐसे स्त्री-पुत्र छोड़े राग, वह तो सब वे... रागी हैं। भान नहीं होता आत्मा का और स्त्री,पुत्र छोड़े और हो गये वैरागी। समझ में आया? यहाँ तो राग-द्वेष और खेदरहित उदासीनभाव। वापस ज्ञानसहित। वह भी आत्मा के सम्यग्ज्ञानसहित। उसे वैराग्य कहा जाता है। सब एक-एक की व्याख्या की है।

दान का लक्षण। और दान आया, ऐई! ***निजस्वभावभाव शक्तिरूप ही जीवद्रव्य है।*** क्या कहते हैं? दान... दान। निजस्वभाव—आत्मा का आनन्दस्वभाव, वीतरागस्वभाव, शुद्धस्वभाव, वह भावशक्तिरूप जीवद्रव्य है। भावशक्तिरूप जीवद्रव्य-शक्तिवान। ***निजस्वभावभाव शक्तिरूप ही जीवद्रव्य है। अव्यक्त जो निजस्वभावभाव, वह अभिव्यक्त हो जाने पर उस समय अपनेरूप परिणमन करता है, वह दान है।*** भगवान आत्मा अपना भाव जो वीतरागस्वभाव है, उसका जब अभ्यन्तर परिणमन वीतरागी परिणति की दशा हो, उसे यहाँ दान कहा जाता है। पण्डितजी! समझ में आया? बाहर के पैसे के दान दिये और आहार-पानी दिया और धूल दिया... कौन दे? वह तो जड़ है। अरे.. अरे! भारी कठिन। बड़ा गृहस्थ हो, करोड़ (पति) और पाँच लाख खर्च करे तो धर्मधुरन्धर की पदवी दे। धूल में भी धर्म नहीं, सुन न अब! समझ में आया? वीतरागमार्ग तो वीतरागभाव से उत्पन्न होता है। जिसमें जरा भी राग का कण रहे, वह सब वीतरागधर्म नहीं है। आहाहा! वस्तु का स्वभाव ऐसा है। देखो न! इसमें नहीं कहा? देखो!

'**जीवद्रव्य निजस्वभावभावशक्तिरूपं**' - ऐसा। जीवभाव। द्रव्य... द्रव्य। वस्तु भगवान आत्मा का द्रव्य यह। कैसा है द्रव्य? निजस्वभावभावशक्तिरूप है। वीतराग स्वभावभाव, अरागी स्वभावभाव, निर्दोष स्वभावभाव। यह उसकी शक्ति है। '**अव्यक्तवत्**' वह अन्दर अव्यक्त है। उसे व्यक्त परिणति में प्रगट करना। समझ में आया? '**यदा स्वपरनामेभ्यः (स्वपरणिामेभ्यः) ददाति तद्धानम् ॥९॥**' देखो! अपने शुद्धभाव को (दे)। पूरा शुद्धभाव तो आत्मा में पड़ा है। शुद्धस्वरूपी ही आत्मा है। उसे शुद्ध की परिणतिरूपी पर्याय प्रगट करना, वह आत्मा को दान दिया। उसका नाम वास्तविक दान कहा जाता है। पैसे-वैसे का दान नहीं और उसमें राग मन्द पड़ता है, वह वास्तविक दान नहीं। वह दान नहीं, वह तो अदान है। आहाहा! ऐई! एक तो खर्च न करते हों और ऐसा

सुने, (इसलिए) ठीक है अपने। परन्तु क्या कहते हैं ? वहाँ जानेवाले हैं न ? कुछ कहेंगे सही या नहीं ? कहो, समझ में आया इसमें ?

मुमुक्षु : दान दे तो शुभभाव, न दे तो अशुभभाव...

पूज्य गुरुदेवश्री : दे तो नहीं। उसमें जाने पर, पैसे जाने के काल में राग की मन्दता का भाव होवे तो पुण्य और राग और आत्मा की हिंसा है। कहो, समझ में आया ? क्योंकि रागभाव, वही हिंसा है। यह गजब बात है। शोर मचावे वे सोनगढ़ के नाम से। सोनगढ़ की बात। सोनगढ़ (अर्थात्) लेप न हो, उसे सोनगढ़ कहा जाता है। सोने को जंग लगती है ? इसी प्रकार भगवान आत्मा शुद्ध आनन्द का धाम प्रभु, उसे राग का कीचड़ कैसा ? आहाहा! माना है कि मैं रागवाला हूँ, विकारवाला हूँ, यह मान्यता इसकी झूठी है। यह राग और विकल्परहित मेरी चीज़ निर्विकार है। शुद्ध आनन्द का धाम परमानन्दस्वरूप, ऐसी शक्ति है। उस शक्तिवाला है, उसका पर्याय में परिणमन (होना), वह शक्ति है, वैसा होना, उसका नाम दान और दया कहने में आता है। समझ में आया ? सब व्याख्या बहुत की है। तप की व्याख्या, भावना की व्याख्या। व्रत का लक्षण कहा, देखो! ***अपने परिणामों को रोकना, वह व्रत कहलाता है।*** (श्लोक ५) ***इन्द्रिय, मन और भोगादि की ओर जाते हुए अपने परिणामों को रोकना...*** विकल्प से रोकना और निर्विकल्परूप रहना, वह व्रत है।

यहाँ तो कहते हैं **जाति, कुल आदि वंदने योग्य नहीं हैं**। जाति, कुल तो जड़ है, यह तो हड्डियाँ हैं। आहाहा! समझ में आया ? अन्दर भगवान आत्मा वस्तु है, वस्तु है तो उसमें आनन्द और ज्ञान, शान्ति बसी हुई शक्तियाँ हैं। उस शक्ति की सम्हाल करने पर जो सम्यग्दर्शन और शान्ति होती है, उसे भगवान ने गुण कहा है और वह आदरणीय कहने में आता है। इसके बिना आदरणीय नहीं हो सकता। आहाहा! **इसलिए इनके धारक हैं, वही वंदने योग्य हैं,...** लो। **जाति, कुल आदि वंदने योग्य नहीं हैं**। यह २७वीं (गाथा पूरी) हुई। (अब २८)

गाथा-२८

अब कहते हैं कि जो तप आदि से संयुक्त हैं, उनको नमस्कार करता हूँ –

वंदमि [१]तवसावण्णा सीलं च गुणं च बंभचेरं च।
सिद्धिगमणं च तेसिं सम्मत्तेण[२] सुद्धभावेण।।२८।।

वन्दे तपः श्रमणान् शीलं च गुणं च ब्रह्मचर्यं च।
सिद्धिगमनं च तेषां सम्यक्त्वेन शुद्धभावेन।।२८।।

सम्यक्त्व-युत शुध भाव से उनके तपों को शील को।
मैं वंदता गुण ब्रह्मचर्य रु शिव-गमन के भाव को।।२८।।

अर्थ – आचार्य कहते हैं कि जो तप सहित श्रमणपना धारण करते हैं, उनको तथा उनके शील को, उनके गुण को व ब्रह्मचर्य को मैं सम्यक्त्व सहित शुद्धभाव से नमस्कार करता हूँ, क्योंकि उनके उन गुणों से-सम्यक्त्व सहित शुद्धभाव से सिद्धि अर्थात् मोक्ष के प्रति गमन होता है।

भावार्थ – पहले कहा कि देहादिक वंदने योग्य नहीं हैं, गुण वंदने योग्य हैं। अब यहाँ गुण सहित की वंदना की है। वहाँ जो तप धारण करके गृहस्थपना छोड़कर मुनि हो गये हैं, उनको तथा उनके शीलगुणब्रह्मचर्य सम्यक्त्व सहित शुद्धभाव से संयुक्त हो उनकी वंदना की है। यहाँ शील शब्द से उत्तरगुण और गुण शब्द से मूलगुण तथा ब्रह्मचर्य शब्द से आत्मस्वरूप में मग्नता समझना चाहिए।।२८।।

गाथा-२८ पर प्रवचन

अब कहते हैं कि जो तप आदि से संयुक्त हैं, उनको नमस्कार करता हूँ – कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं, अहो! जिन्हें आत्मज्ञान, आत्मदर्शन और इच्छानिरोधरूपी संयम

१. 'तव समण्णा' छाया ह्न (तपः समापन्नात्) 'तवसउण्णा' तवसमाणं' ये तीन पाठ मुद्रित षट्प्राभृत की पुस्तक तथा उसकी टिप्पणी में है। २. 'सम्मत्तेणेव' ऐसा पाठ होने से पाद भङ्ग नहीं होता।

तथा तप (प्रगट हुए हैं), ऐसे सन्तों को मैं वन्दन करता हूँ, ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

वंदमि तवसावण्णा सीलं च गुणं च बंभचेरं च।
सिद्धिगमणं च तेसिं सम्मत्तेण सुद्धभावेण।।२८।।

अर्थ – **आचार्य कहते हैं कि जो तप सहित श्रमणपना धारण करते हैं,...** तप अर्थात् मुनिपना। मुनिपना अर्थात् चारित्र की वीतरागी दशा। समझ में आया? तप कल्याणक आता है या नहीं? तपकल्याणक अर्थात् क्या? भगवान महावीर आदि जो चारित्ररूप से अन्दर में आये, वह तप कहा जाता है। उसे तप कहते हैं। तीन कषाय का अभाव होकर वीतरागी अन्तरदशा प्रगट हो, ऐसे मुनिपने को तप कहा जाता है। अकेला क्रियाकाण्ड और महाव्रत को पालन करे, उसे तप नहीं कहते और उसे मुनि भी नहीं कहते। आहाहा!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो आवे। समझ में आया? यह तो वस्तु के स्वरूपरूप का ऐसा वर्णन है, हों! किसी व्यक्ति के लिये यहाँ (बात) नहीं है। अभी दिगम्बरों में एक बड़ा लेख लिखा है न? जब तक यह २५००वाँ वर्ष पूरा न हो, तब तक कोई सम्प्रदाय के जीवों को किसी का विरोध हो, ऐसा बोलना नहीं। यह तो वस्तुस्वरूप है। किसी व्यक्ति के प्रति विरोध या द्वेष की बात नहीं है। सब आत्मा हैं। आत्मा हैं सब। उसका स्वरूप क्या है, इस बात की बात है। कोई... तुम्हारा नियम प्रशंसनीय है। भगवान के २५००वें वर्ष का महोत्सव तीनों एकत्रित होकर, चारों एकत्रित होकर (मनायें)। दिगम्बर, श्वेताम्बर, स्थानकवासी और तेरापन्थी। इकट्ठे होकर सब करना। इसके पहले किसी को किसी का विरोध हो, ऐसा बोलना नहीं। सेठी! उसमें तो सब लिखते हैं।

मुमुक्षु : इसका अमल तो घर से होना चाहिए या परघर से होना चाहिए?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह परघर से। उसे सुने कौन। लिखे। कोई व्यक्ति पढ़ेगा। कौन ऐसा सब वर्ग पड़ा है। कुछ नहीं। ऐसा सोचा था या नहीं? महाराष्ट्र में बहुत वांचन (होगा)। कुछ नहीं होता। बारह-बारह हजार, तेरह-तेरह हजार लोग आते थे। किसी को

कुछ नहीं। महाराज कहे वह सच्चा। किसी को कोई शंका भी नहीं और विरोध भी नहीं तथा कितने ही कुछ समझते भी नहीं। बड़ा भाग (ऐसा होता है)। बाह्य का है न? धन्यकुमार। धन्यकुमार बालब्रह्मचारी बड़ा गृहस्थ व्यक्ति, पैसेवाला। वहाँ भी बहुत खर्च किये। भाषण-वाषण करे और ऐसी छाप डाले। बारह-तेरह हजार लोग। वह खड़ा हो तो लोगों को (ऐसा होता है)। गृहस्थ व्यक्ति है, माता-पिता बैठे हैं। दस भाई! दस भाई। नौ का विवाह हुआ है, स्वयं बालब्रह्मचारी है और कितनी कही? जमीन है। हजार एकड़ या ऐसी कुछ कहते थे। एक हजार एकड़ जमीन है। दस भाई, नौ की बहुरू पिचहत्तर लोग हैं। सब आये थे अन्तरिक्ष में परन्तु उसकी छाप जोरदार, हों! जैसे यह बाबूभाई की गुजरात में है न? वैसे उसकी। यह तो वापस दिखाव जरा। खड़ा होकर बोले मानो बड़ा अधिकारी बोलता हो, ऐसा बोले। भाषण करे। लोग सुनते हैं। महाराज यहाँ आये हैं, मुश्किल से मैंने कहा और आये हैं, इसलिए लाभ लेना, अमुक करना। यह बात अपने को मिली है, अपना भाग्य है। लोग शान्ति से सुनते थे।

बापू! मार्ग तो यह है। पहले इसे समझना तो पड़ेगा या नहीं? सच्ची श्रद्धा और सच्चे ज्ञान बिना सब व्यर्थ-व्यर्थ है। आहाहा! जहाँ वस्तु की खबर नहीं कि यह वह आत्मा कौन? समझ में आया? और यह सम्यग्दर्शन किसे कहना? सम्यग्ज्ञान किसे कहना? चारित्र किसे कहना? क्या बाहर का जानपना, वह ज्ञान है? व्रतादि की क्रिया, वह चारित्र है? और भगवान सच्चे और देव-गुरु सच्चे माने, वह समकित है? नहीं; वह तो समकित नहीं। आहाहा!

यह तो स्वयं भगवान पूर्णानन्द का नाथ आत्मा केवली ने कहा है। परमेश्वर ने, सर्वज्ञदेव ने तीर्थंकरदेव ने कहा, ऐसा देह से भिन्न भगवान पूर्ण जिसका शुद्धस्वरूप है, ऐसी अन्तर्मुख होकर अन्तर की प्रतीति होना, अन्तर की अर्थात् वस्तु की प्रतीति होना; जैसी वस्तु है, वैसी अन्तर प्रतीति होना, इसका नाम सम्यग्दर्शन का पहला धर्म का पाया कहा जाता है और वह जहाँ नहीं, वहाँ सब व्यर्थ है। एक बिना के शून्य हैं। वह श्रावक भी नहीं और साधु भी नहीं, ऐसा कहते हैं। क्या हो? कहो, समझ में आया?

तप सहित श्रमणपना धारण करते हैं,... यह तो तप की व्याख्या चलती है। तप अर्थात् यह। अपवास करना और अमुक (करना), वह तप नहीं है। मुनिपना, वह

तपोधन। आत्मा, उसे-साधु को तपोधन कहा जाता है। जिसे तपरूपी धन है। वह तप अर्थात् भगवान आत्मा अनन्त आनन्द की लक्ष्मी का भण्डार है, उसे विश्वास में, अनुभव में लेकर प्रतीति की है और उसमें अन्दर में अन्दर में घुसकर स्थिर होता है। ऐसी चारित्रलक्ष्मी जिसने प्रगट की है, उसे तपोधन कहा जाता है और वह तपोधन जिस जमीन में रहे, उसकी... जमीन भी उसे कहा जाता है न? तपोधन भूमि, तपोभूमि। आहाहा! आता है न उसमें? 'वे साधु जहाँ चरण धरे।'

मुमुक्षु : ते गुरु मेरे मन बसो।

पूज्य गुरुदेवश्री : ते गुरु मेरे मन बसो। उसमें आता है। जहाँ आगे आत्मा आनन्द की लहर में शान्ति.. शान्ति.. शान्ति.. शान्ति.. पूर्ण शान्ति जिसका स्वरूप है, उसमें एकाग्र होकर जिसने शान्ति प्रगट की है और शान्ति में मस्त है, झूलते हैं, वेदन करते हैं, रमते हैं, आहाहा! उन्हें तप और उन्हें मुनिपना कहा जाता है। आहाहा! यह तो भगवान आत्मा छोड़कर सब बातें। या तो भक्ति और या तो दया, या तो व्रत, और या तो अपवास। वह तो पड़ा रहा - भगवान तो पड़ा रहा, वररहित बारात। वररहित समझ में आया? भान भी नहीं होता। कहा न?

किसान का एक आठ वर्ष का लड़का था। उसका विवाह था, उसे अँगूठी पहनायी। विवाह की अँगूठी होती है न? दूसरा छोटा लड़का था। उसका विवाह था। आठ वर्ष का। किसान में छोटे का विवाह करते हैं न? तेरे विवाह में मुझे ले जायेगा या नहीं? उसका वह दोस्त कहे। भाई! मुझे खबर नहीं ले जायेंगे या नहीं? क्योंकि बहुत बार किसी के विवाह में जाते हों, उसके माँ-बाप न ले जाते हों। परन्तु यह तो तेरा विवाह है न, खबर नहीं। यह मेरा विवाह है या किसी का, इसकी खबर नहीं। विवाह में मुझे ले जायेंगे या नहीं? उसका दूसरा भाईबन्ध कहे। भाई! मुझे खबर नहीं, ले जायेंगे या नहीं? परन्तु विवाह तेरा है न? वह लड़का तो बेचारा साधारण।

इसी प्रकार अन्दर में तेरा विवाह माँडा है और तू जागृत होकर न आवे, यह कैसे बने? ऐसा कहते हैं। आहाहा! जिसे अन्दर आत्मा की लगन लगी। राग और विकल्प से पार प्रभु है, उसकी लगन का जिसने अन्दर लगन किया और स्थिर होकर केवलज्ञान लेकर विवाह कर परमात्मा होकर ही रहेगा। ऐसा यहाँ तो कहते हैं। बाहर से क्रियाकाण्ड करके मर जाए तो भी कहीं धर्म नहीं होता। नहीं होता? ऐ..!

मुमुक्षु : ....शुभाशुभभाव से धर्म नहीं होता।

पूज्य गुरुदेवश्री : अच्छा! जबरदस्त है। शुभाशुभभाव से नहीं होता।

मुमुक्षु : शुभाशुभभाव से हो तो अभी तक क्यों नहीं हुआ?

पूज्य गुरुदेवश्री : शुभाशुभभाव से होता है तो नौवें ग्रैवेयक गया, क्यों नहीं हुआ? जबरदस्त है न! नौवें ग्रैवेयक अनन्त बार गया, तो भी कुछ नहीं हुआ तो अब तेरे शुभभाव से होगा? समझ में आया? लड़के भी बोलने तो सीखे हैं न! आहाहा! पहले भी कहता था।

जो तप सहित श्रमणपना धारण करते हैं, उनको तथा उनके शील को,... उनका स्वभाव शुद्ध वीतरागता। **उनके गुण को व ब्रह्मचर्य को...** नीचे प्रत्येक का अर्थ करेंगे। **मैं सम्यक्त्वसहित शुद्धभाव से नमस्कार करता हूँ,...** ऐसे समकितसहित गुणी को मैं भी समकितसहित उन्हें वन्दन करता हूँ। समझ में आया? **क्योंकि उनके उन गुणों से–सम्यक्त्वसहित शुद्धभाव से सिद्धि अर्थात् मोक्ष के प्रति गमन होता है।** देखो! वे गुण जो शुद्ध हैं, आत्मा के सम्यग्दर्शन की निर्मलता की पवित्रतासहित जो शुद्धभाव है, उससे सिद्धि अर्थात् मोक्ष, उसके प्रति गमन होता है। शुद्धस्वभाव से मुक्ति में गमन होता है। शुभभाव से गमन नहीं होता, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? आहाहा!

एक व्यक्ति ने अब ऐसा निकाला है। यहाँ का सब ऐसा आया न? यह तो उनके शास्त्र में पंच महाव्रत को आस्रव कहा होगा। अपने शास्त्र में तो पंच महाव्रत को संवर कहा है। ऐसा और निकाला। अरे! गजब! एक आर्यिका बोलती थी। क्योंकि ऐसा लगे कि इनका तो चला। यह तो महाव्रत को आस्रव कहते हैं। यद्यपि उसे–अज्ञानी को तो महाव्रत भी कहाँ थे? समझ में आया? तब कहे कि दिगम्बर के शास्त्रों में महाव्रत को आस्रव कहा होगा, अपने शास्त्र में (ऐसा नहीं है)। बात सच्ची, हों! उसमें है। महाव्रत को संवर–निर्जरा कहा है। ठाणांग में पाँचवें ठाणे। पाँचवें में निर्जरा ठाणे। कुछ बिना ठिकाने के बनाये हुए शास्त्र हैं। महाव्रत तो विकल्प है। वृत्ति उठती है कि ऐसा करूँ, ऐसा करूँ, वह तो वृत्ति है। आहाहा! वह संवर कैसा और वह निर्जरा कैसी? पाठ है ठाणांग में, इसलिए बेचारे भगवान के नाम से उलझे। भगवान कहते हैं न! परन्तु भगवान के कहे हुए नहीं हैं। सुन न! यह तो उनके सम्प्रदाय के बाँधनेवालों ने भगवान के नाम से चढ़ा दिया है। ऐसी बात है, भाई! नाथाभाई! ठाणांग में आता है, हों!

यह प्रश्न व्याख्यान में भी आता है। है संवर का अधिकार। दया और अहिंसा के साठ नाम दिये हैं, सब आस्रव के हैं। पहला संवर अधिकार है। दया के साठ नाम दिये हैं। सब दया के नाम। अहिंसा,... उसमें माने। प्रश्न व्याकरण अधिकार। यह सब वे लोग बहुत लगाते हैं परन्तु वह तो विकल्प है, राग है। वह अहिंसा कहाँ थी? संवर कैसा? समझ में आया?

(संवत्) १९७६ में प्रश्न किया था। ध्रांगध्रा, ध्रांगध्रा में मगनभाई थे न? मगनभाई, नहीं? ध्रांगध्रा में मगनभाई थे और वजुभाई थे। वजुभाई नहीं, गीजुभाई। गीजुभाई नाम था। १९७६ में गये न पहले? ५० वर्ष हुए। उस ओर से आये थे विरमगाम से। प्रश्न चला था कि इस संवर का क्या? इस शुभयोग को संवर कहा है न? यह प्रश्न चला था, भाई! १९७६ में, हों! १९७६। यह सब 'प्रश्न व्याकरण' में आता है। शुभयोग संवर नहीं होता। लिखा है न? वस्तु का स्वरूप ऐसा नहीं है। कहा था न?

एक बार स्वप्न आया था (संवत्) १९७६ में नग्न। नग्न अर्थात् लंगोटी पहने हुए। नग्न मुनि। मुझे देखा हुआ नहीं कभी। मगनभाई, मगन मूलचन्द। उस ओर से आते थे। 'गारा' गारा.. 'गारा' गाँव है न? गारा ध्रांगध्रा से तीन कोस विरमगाम। वहाँ सब सामने आये थे। जिन्दगी में पहले-पहले गये थे। ....सामने नदी किनारे। बड़ी नदी है और सामने आये। मगनभाई पहले बोले। मैं तो पहचानूँ नहीं कभी, हों! महाराज! देखो! यह एक देहरी है। यहाँ रह जाना है? मैंने कहा, यह क्या? नदी के किनारे इस ओर। नदी में इस ओर देहरी है ऊपर। ऊपर एक देहरी है। चारों ओर स्तम्भ और ऐसी खुली हुई साधारण। यह क्या है? फिर वहाँ गये तब कहे, मुझे स्वप्न आया था। मैंने तो तुम्हें मुनि देखा है, नग्न मुनि। नग्न मुनि अर्थात् क्या? एक लंगोटी पहनी हुई परन्तु यही वेश और यही वेश तुम्हारा। मुनिपने में कभी देखा नहीं, हों! जिन्दगी में। मैंने उन्हें देखा नहीं। यही शरीर और एक लंगोटी थी। तुम दिगम्बर मुनि थे, इसलिए मैंने तुमसे कहा कि यहाँ आ जाओ। ऐसा करके स्पष्टीकरण किया। मगनभाई को पहिचानते थे? मगन मूलचन्द। यह भूराभाई के पिता, भूराभाई के पिता। तब यह प्रश्न व्याकरण की चर्चा बहुत चली थी। प्रश्न व्याकरण ऐसा है, शुभयोग वह... क्या करना? शुभयोग संवर नहीं होता, कहा। समझ में आया? संवर तो आत्मा का भाव रागरहित हो, वह संवर है परन्तु उनके-

श्वेताम्बर के शास्त्रों की लेखन की शैली ही ऐसी है, इसलिए बेचारे लोग बाहर से निकल नहीं सकते। जाधवजीभाई ! देखो !

उनके उन गुणों से–सम्यक्त्वसहित शुद्धभाव से सिद्धि... होती है। देखा? **सिद्धि अर्थात् मोक्ष के प्रति गमन होता है**। २७-२७। अंक में भूल है। २८ लिखा है। यहाँ तो भगवान आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु आत्मा शाश्वत् आनन्द का धाम प्रभु आत्मा भगवान तीर्थंकर ने कहा हुआ, देखा हुआ, जाना हुआ। ऐसे आत्मा के अन्तर में ऐसा पूरा परमानन्द है, ऐसी शुद्ध की प्रतीति अन्दर में भान में आना, ऐसे समकितसहित शुद्धभाव की वृद्धि से मोक्ष में जाया जाता है। किसी राग से और पुण्य से और आस्रव से मोक्ष में नहीं जाया जाता। आहाहा ! ऐसी बात है। शास्त्र का न माने तो? हम तो उसे संवर मानते हैं। वह तो राग है और तू माने तो क्या भला हुआ? आहाहा ! निवृत्ति है न, निवृत्ति है न? कहाँ निवृर्तता था? वह तो अशुभ नहीं, शुभ में आया। दृष्टि तो वहाँ है निवृत्त कहाँ था? प्रवृत्ति में पड़ा है। समझ में आया? विकल्प उठे अहिंसा, सत्य, अचौर्य, यह विकल्प शुभराग है, उन पर दृष्टि है तो प्रवृत्ति में पड़ा है। पण्डितजी ! बराबर है? बाहर प्रवृत्ति नहीं। अन्दर शुभभाव में दृष्टि होवे तो प्रवृत्ति में–मिथ्यात्व की प्रवृत्ति में पड़ा है। आहाहा ! उस राग से भिन्न भगवान पूरा आनन्दकन्द (विराजमान है)। कल्प.. ऐसा कुछ है न तुम्हारे? कबीर में एक भजन, नहीं? कल्प, कल्पवेली ऐसा कुछ है।

एक बार हम 'बोरड' गये थे। एक व्यक्ति बोलता था। बहुत वर्ष की बात है। कल्प चिन्तामणि या ऐसा कुछ भजन है। कबीर का कोई भजन है, बहुत वर्ष हुए। अहमदाबाद से वह भूराभाई का लड़का नहीं आता था? रतिभाई। भूराभाई थे और कोई गृहस्थ था। गाँव का सोनी हो या कोई हो। कबीर का गायन बोले थे। अध्यात्मकल्प बेलड़ी या ऐसा कुछ था। बोला था। मकान में उतरे थे। परन्तु यह अध्यात्म अलग बात है। वह तो सब स्वयं की कल्पना से (की हुई बातें हैं)।

यह तो भगवान आत्मा स्वयं अध्यात्म अर्थात् अन्तरस्वरूप। जिसका द्रव्य अर्थात् वस्तु और शक्ति अर्थात् गुण, ऐसे अनन्त गुणों का धारक अनन्त संख्यावाला एक तत्त्व, उसकी श्रद्धा और ज्ञान का परिणमन होना। अनन्त-अनन्त गुण का परिणमन होना। समझ में आया? उसे यहाँ सम्यग्दर्शन (कहते हैं) और उस सम्यग्दर्शन से शुद्धता बढ़ते-बढ़ते

शुद्ध होने से शुद्धता से मुक्ति होती है। समझ में आया? वे भाई थे न? वाडीलाल मोतीलाल। नहीं? वे (संवत्) १९६६ में, १९६५-६६ की बात है। मैं जैन समाचार माँगाता था। वहाँ दुकान पर। यह कबीर के सब दोहे थे। कबीर के दोहों का बख्शीश दिया था। बारह महीने तक होवे न? देते हैं, भेंटरूप से (देते हैं) कबीर दोहावली थी। पुस्तक वहाँ दुकान पर थी। दोहरा-बोहरा सब पढ़ा हुआ, हों! उस दिन। यह तो १९६५-६६ की बात है। संवत् १९६५-६६। जैन समाचार में भेंट आया था। उस समय अच्छा लगता था। वैराग्यवाला। कबीर दोहावली नामक पुस्तक भेंट आया था। वाडीलाल मोतीलाल की ओर से। अहमदाबाद। यह दोहावली अलग प्रकार की है। समझ में आया?

ऐसे आत्माएँ अनन्त हैं, उससे अनन्तगुने तो परमाणु हैं। उन परमाणु की संख्या से अनन्तगुने तो आकाश के प्रदेश हैं। आहाहा! ऐसा जिसे अन्तर में ज्ञान वर्ते, एक समय की पर्याय में इतनी तो उसे स्वीकृति हो। इतनी स्वीकृति जिसे नहीं, उसे तो एक समय की पर्याय की भी प्रतीति नहीं। उसे समकित नहीं होता और अज्ञानदशा होती है। आहाहा!

इतनी एक समय की पर्याय की प्रतीति। इतना आत्मा, आकाश अनन्तगुणा परमाणु और अनन्त आत्मा, इसकी प्रतीति हो, एक समय की पर्याय का ज्ञान तो भी वह पर्यायदृष्टि है, वहाँ तक वह मिथ्यादृष्टि है। इतनी पर्याय की जिसे खबर नहीं और श्रद्धा नहीं, वह तो तीव्र मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! समझ में आया? यह तो समकित का ध्येय पूरा आत्मा इतना है, ऐसा यहाँ कहना है। समझ में आया? ऐसा पूर्णानन्द प्रभु, उसका अन्तर में विश्वास आकर, माहात्म्य आकर अन्दर में प्रतीति भान होकर हो, वह समकितसहित की शुद्धता बढ़ती जाए, उसे मुक्ति होती है, उसे केवलज्ञान की दशा प्राप्त होती है। अज्ञानी को रागवाले को, क्रियाकाण्डवाले को तो निगोद की दशा धीरे-धीरे प्राप्त करता है। कदाचित् कोई शुभभाव होवे और स्वर्ग में भूतड़ा-बूतड़ा हो, व्यन्तर-व्यन्तर हो। आहाहा! समझ में आया?

***भावार्थ* – पहले कहा कि देहादिक वंदने योग्य नहीं हैं, गुण वंदने योग्य हैं। अब यहाँ गुणसहित की वंदना की है। वहाँ जो तप धारण करके गृहस्थपना छोड़कर...** देखो, जिसने मुनिपना धारण करके गृहस्थपना छोड़ा है। **मुनि हो गये हैं, उनको तथा उनके शीलगुण...** देखो! मुनि हुए, उनके तप की व्याख्या की है। उनका शीलगुण यह ब्रह्मचर्य। **सम्यक्त्वसहित शुद्धभाव से संयुक्त हो, उनकी वंदना की है।**

यहाँ शील शब्द से उत्तरगुण... लेना। उत्तरगुण है न सब? समिति, गुप्ति के भेद सब। **और गुण शब्द से मूलगुण...** लेना। २८ मूलगुण। अर्थात् मूलगुण और उत्तरगुण। बहुत भेद है न? उत्तरगुण के तो बहुत भेद हैं। शील आता है? अठारह हजार शीलामृत धारा। अठारह हजार शीलामृत धारा। समझे न? यह आयेगा आगे कहीं अर्थ में। ऐसा शील और गुण शब्द से २८ मूलगुण।

ब्रह्मचर्य शब्द से आत्मस्वरूप में मग्नता समझना चाहिए। पहले दो बाहर की बातें की, भेद की। यह तो अभेद आया। ब्रह्मचर्य—ब्रह्म अर्थात् भगवान आत्मा, उसका नाम ब्रह्म अर्थात् अन्तर में आनन्द में रमणता करना, उसका नाम ब्रह्मचर्य है। आहाहा! समझ में आया? **ब्रह्मचर्य शब्द से आत्मस्वरूप में मग्नता समझना चाहिए।** लो, चर्या अर्थात् लीनता। किसमें? कि ब्रह्म। भगवान ब्रह्मानन्द प्रभु में विकल्परहित लीनता (होना), इसका नाम स्वरूप में लीनता और ब्रह्मचर्य कहा है। ऐसे जीव को कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि मैं नमन करता हूँ। उस गुण को वन्दन हो, परन्तु शरीर आदि को नहीं। विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा-२९

आगे कोई आशंका करता है कि संयमी को वंदने योग्य कहा तो समवसरणादि विभूति सहित तीर्थंकर हैं, वे वंदने योग्य हैं या नहीं ? उसका समाधान करने के लिए गाथा कहते हैं कि जो तीर्थंकर परमदेव हैं, वे सम्यक्त्वसहित तप के माहात्म्य से तीर्थंकर पदवी पाते हैं, वे भी वंदने योग्य हैं –

चउसट्ठि चमरसहिओ चउतीसहि अइसएहिं संजुत्तो।
अणवरबहुसत्तहिओ कम्मक्खयकारणणिमित्तो ।।२९।।

चतु:षष्टिचमरसहित: चतुस्त्रिंशद्भिरतिशयै: संयुक्त:।
[1]अनवरतबहुसत्त्वहित: कर्मक्षयकारणनिमित्त:[2] ।।२९।।

---

१. 'अणुचरबहुसत्तहिओ' (अनुचरबहुसत्त्वसहित:) मुद्रित षट्प्राभृत में यह पाठ है।
२. 'निमित्ते' मुद्रित षट्प्राभृत में ऐसा पाठ है।

चौंषठ चँवर चौंतीस अतिशय से सहित अरहंत को।
नित बहुत प्राणी हितंकर हेतु कर्म-क्षय नमन हो।।२९।।

अर्थ **– जो चौसठ चंवरों से सहित हैं, चौतीस अतिशय सहित हैं, निरन्तर बहुत प्राणियों का हित जिनसे होता है ऐसे उपदेश के दाता हैं और कर्म के क्षय का कारण हैं ऐसे तीर्थंकर परमदेव हैं, वे वंदने योग्य हैं।**

भावार्थ **– यहाँ चौंसठ चँवर चौंतीस अतिशय सहित विशेषणों से तो तीर्थंकर का प्रभुत्व बताया है और प्राणियों का हित करना तथा कर्मक्षय का कारण विशेषण से दूसरे का उपकार करनेवालापना बताया है, इन दोनों ही कारणों से जगत में वंदने, पूजने योग्य हैं। इसलिए इसप्रकार भ्रम नहीं करना कि तीर्थंकर कैसे पूज्य हैं, यह तीर्थंकर सर्वज्ञ वीतराग हैं। उनके समवसरणादिक विभूति रचकर इन्द्रादिक भक्तजन महिमा करते हैं। इनके कुछ प्रयोजन नहीं है, स्वयं दिगम्बरत्व को धारण करते हुए अंतरीक्ष तिष्ठते हैं – ऐसा जानना।।२९।।**

प्रवचन-१९ गाथा-२९ से ३१ शनिवार, ज्येष्ठ कृष्ण ९, दिनांक २७-०६-१९७०

यह अष्टपाहुड़, इसमें दर्शनपाहुड़, पहला अधिकार (चलता है)। २९वीं गाथा। **आगे कोई आशंका करता है कि...** किसी को ऐसी शंका समझने के लिये होती है कि **संयमी को वंदने योग्य कहा...** तुमने तो ऐसा कहा कि जिसे सम्यग्दर्शन हो, आत्मा का सम्यक्भान, ज्ञान और चारित्र हो, वह वन्दन करनेयोग्य है। जिसे मोक्षमार्ग अन्दर हो। चैतन्य आत्मा का उसे अनुभव हो। जो धर्म का पहला रूप-स्वरूप है। राग और पुण्य के विकल्प से भिन्न ऐसा आत्मा का ज्ञान और श्रद्धान, वह पहली चीज़ होती है। तदुपरान्त स्वरूप में लीनता, संयम, चारित्र होवे तो वह वन्दन करनेयोग्य है। **तो समवसरणादि विभूतिसहित तीर्थंकर हैं, वे वंदने योग्य हैं या नहीं?** तो तीर्थंकर को तो इतनी विशाल विभूति होती है कि (ऐसी विभूति) साधारण प्राणी को नहीं होती। इन्द्र आकर समवसरण-धर्मसभा रचते हैं, चौंसठ चँवर ढोलते हैं, चौंतीस अतिशय होते हैं। कहो, समझ में आया? संयम तो कहाँ, वहाँ संयम रहा नहीं। सेठी! तो वन्दनयोग्य है या नहीं? उनमें गुण है या नहीं? ऐसा कहते हैं। गुण वन्दनीय है, ऊपर कहा है न? (गाथा २७) **'ण वि देहो**

वंदिज्जइ' गुण वन्दनयोग्य है तो इसमें कहाँ (गुण आये) ? यह तो (समवसरण की विभूति है) ऐई! इन्द्रों को भी आश्चर्य हो, ऐसा तो जिसका स्वभावभाव हो और चौंसठ चँवर ऐसे देव ढोले, खम्मा... खम्मा..! देखो न, यह हवा न होवे तो पुस्तक ऐसे रखनी पड़ती है न। ऐसे नहीं रखते, हों! पुस्तक। ऐसा कहता हूँ। गर्मी होवे तो कहीं पुस्तक पढ़ने की, हवा के लिये रखी जाए? उन्हें तो इन्द्र पुण्य के कारण भक्ति से चौंसठ चँवर ढोलते हैं। उन्हें कहीं सर्दी-गर्मी (नहीं लगती)। उन्हें कहीं पसीना नहीं होता। सेठी! उन्हें कोई पसीना नहीं होता। महागुणवन्त परमात्मा वे तो सर्वज्ञ थे। वे **वंदने योग्य हैं या नहीं ? उसका समाधान करने के लिए गाथा कहते हैं कि जो तीर्थंकर परमदेव हैं,..** यह तो परमात्मदशा जिन्हें अन्तर प्रगट हुई, दिव्यध्वनि प्रगट हुई। सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र के बल से (परमात्मदशा प्रगट हुई है)। देखो! यह धर्म! अन्तर आत्मा के पूर्ण स्वभाव की अनुभव-प्रतीति और रमणता (होना), वह धर्म है। उस धर्म द्वारा भगवान को केवलज्ञान हुआ, उन्हें पूर्ण गुण प्रगट हुए। समझ में आया?

सम्यक्त्वसहित तप के माहात्म्य से... भगवान तो पूर्व में आत्मा के आनन्दस्वरूप का अनुभवसहित तप अर्थात् संयम, चारित्रसहित भगवान थे। उनके माहात्म्य से तीर्थंकर पदवी को प्राप्त हुए। **वे भी वंदने योग्य हैं..** यह स्पष्टीकरण यहाँ २९ गाथा में करते हैं।

चउसट्ठि चमरसहिओ चउतीसहि अइसएहिं संजुत्तो।
अणवरबहुसत्तहिओ कम्मक्खयकारणणिमित्तो ।।२९।।

अर्थ – **जो चौसठ चंवरों से सहित हैं,...** भगवान ने आत्मा का ध्यान करके, अनुभव करके जो धर्म का मूलरूप से। आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द को सम्यग्दर्शन में, सम्यग्ज्ञान में प्रथम प्राप्त करके और स्वरूप की स्थिरता के संयम द्वारा, उसमें कोई विकल्प रह गया, उसमें तीर्थंकरगोत्र बँध गया, तथापि उस विकल्प को तोड़कर जिन्होंने वीतरागता प्रगट की और वीतरागता के पश्चात् उन्हें केवलज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द भगवान को प्रगट हुआ। ऐसे भगवान चौंसठ चंवर सहित हैं तथापि वह विभूति कहीं उनकी नहीं है; वह तो पुण्य के कारण, देवभक्ति के कारण चंवर ढोलते हैं। यह पवन-गर्मी पड़ती होगी, इसलिए भगवान के लिये करते होंगे? नहीं। यह ठाकुर को नहीं करते? सर्दी होवे तो अग्नि तापते हैं। सुना है या नहीं? सुना है, अपन ने देखा कब हो?

ठाकुर की प्रतिमा होती है न? सर्दी में उन्हें अग्नि सुलगाकर तापे, गर्मी में पंखा लगाये। पंखा लगाये। भगवान को वहाँ कहाँ (गर्मी लगती है) ? ऐ... नवनीतभाई! कितना भोग चढ़ावे। भोग का काल है, भोग के दर्शन हैं, आज अमुक के दर्शन हैं, लोग भागा-भाग करते हैं। अमरेली में बहुत देखा है। उपाश्रय के साथ में था। महिलाएँ एकदम भागें। आहाहा! दर्शन करने। किसके दर्शन?

यहाँ तो आत्मा पूर्ण आनन्द और पूर्ण ज्ञान का स्वभाव है, ऐसा अन्तर में अनुभव होकर जो कर्तव्य में कर्तव्य करना है, वह यह (है)। समझ में आया? ऐसा अनुभव करके स्वरूप में लीन हुए, उसमें बीच में कोई विकल्प रह गया था तो तीर्थंकरगोत्र बँध गया परन्तु उस विकल्प को तोड़कर फिर केवलज्ञान को प्राप्त हुए। समझ में आया? विकल्प से और तीर्थंकर प्रकृति से प्राप्त नहीं हुए।

मुमुक्षु : तोड़ना क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : विकल्प का अभाव कर दिया। तोड़ने का अर्थ क्या? वह तो राग है। राग का अभाव करके वीतरागता ली, तब केवलज्ञान पाया। समझ में आया? आहाहा!

जो चौसठ चँवरों से सहित हैं, चौतीस अतिशय सहित हैं,... यह पुण्य का प्रभाव बतलाया। **निरन्तर बहुत प्राणियों का हित जिनसे होता है...** ऐसी भगवान की वाणी है। सुननेवाले प्राणी को हित होने में वीतराग की वाणी निमित्त है। समझ में आया? परमात्मा तीर्थंकर होते हैं, (तब) ॐ... ध्वनि पूरी शरीर में से (निकलती है)। और जीव... क्या कहा? देखो **'अणवरबहुसत्तहित्तः' निरन्तर बहुत प्राणियों का हित जिनसे होता है...** बहुत प्राणी का है न? और निरन्तर। वाणी ऐसी है। पात्र जीव भगवान की वाणी सुनें, सभा में आत्मदर्शन प्राप्त करें, उसमें निमित्त है। वह वाणी कहीं प्राप्त नहीं कराती परन्तु भगवान की वाणी में ऐसा आया होता है कि भाई! आत्मा तू स्वयं प्रभु पूर्णानन्द का नाथ है। तू कहाँ खोजने राग में और पर में जाता है! तेरा प्रभु तेरे पास पूर्ण विद्यमान है, वह पामर नहीं है, वह भिखारी नहीं है, वह संसारी नहीं है। समझ में आया? ऐसा वीतराग की वाणी में पूर्ण उत्साह भरपूर वाणी (आती है)। तू पूर्ण है न, भाई! जहाँ नजर डालनी है, वह तो पूर्ण वस्तु है। आहाहा! उसमें से सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र,

यह अन्तर के स्वभाव में से अन्तर्मुख होने से प्रगट होते हैं। ऐसी भगवान की वाणी सुनकर बहुत से अन्तर्मुख होकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्राप्त करते हैं। समझ में आया?

निरन्तर बहुत प्राणियों का हित... बहुत जीव। देखो! मेंढ़क जैसे जीव हों। लो, ऐसे ड्राउं.. ड्राउं.. करे। एकदम वाणी का प्रपात अन्दर से बहता हो। साक्षात् ओमस्वरूप भगवान देवाधिदेव हम हैं, ऐसा ही तू देवाधिदेव है। आहाहा! यह वीतराग की वाणी में ऐसा आता है। समझ में आया? लो, यह और याद आया। वीतराग की वाणी ऐसा कि भगवान ने देखा होगा (वैसा होगा)। वीतराग की वाणी सब जीव को हितकारी होती है, ऐसा कहा न? समझ में आया? उस वाणी में ऐसा आता है कि वह सुने तो उसे अन्तर में उतरने का मन हो और इसलिए उसके हित में निमित्त कहने में आवे। ऐसी बात है। ऐ.. यह क्या कहा? उस दिन कहाँ थे तुम? यह तो (संवत्) १९७२ की बात है। सुना था तुमने? १९७२-७२, कितने वर्ष हुए? २८ + २६ = ५४। ५४ वर्ष पहले की बात है। भगवान ने देखा होगा, वह भव होगा। भगवान की वाणी ऐसी नहीं होती। ऐ.. सेठी! वाणी ऐसी नहीं होती। वीतराग की वाणी— भव का अभाव जिसने किया, उनकी वाणी भव के अभाव की होती है। समझ में आया? सर्वज्ञ परमेश्वर... यहाँ भाषा क्या है? देखो न! कुन्दकुन्दाचार्य की क्या शैली है। देखो! कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा था। भगवान ने भी ऐसा ही उपदेश किया है।

हम भी सम्यग्दर्शन धर्म को प्राप्त हुए, इससे पहले पूर्ण परमात्मा अरिहन्त हो गये, उनके द्रव्य-गुण-पर्याय को जानकर हम अन्तर में उतरे, तब हमें सम्यग्दर्शन हुआ। ऐसा ही उपदेश भगवान की वाणी में आता है। समझ में आया? इससे **'अणवरबहुसत्तहित्तः'** निरन्तर अनन्त-बहुत से प्राणी, अनन्त तो नहीं होते, संख्यात होते हैं। समझ में आया? असंख्यात समकिती हैं परन्तु वे कहीं बाहर सुनने नहीं आते। पशु है न? यहाँ तो संख्यात सुनने आते हैं। देव हो, मनुष्य हो या पशु हो परन्तु वीतराग की वाणी (ऐसी होती है) देखो! यह वाणी की-पुण्य की बात करते हैं, हों!

निरन्तर बहुत प्राणियों का हित जिनसे होता है... जिनसे होता है, ऐसे उन भगवान की वाणी होती है। आहाहा! ऐसे जगा दे, जाग रे जाग! प्रभु! तू पूर्ण प्रभु है न! तेरे विकल्प में भी आना, वह तेरी जाति नहीं। आहाहा! हमारी ओर सुनने का विकल्प,

वह भी तेरा स्वभाव नहीं—ऐसा भगवान कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? उसके अन्तर में जा। भगवान विराजते हैं। परमात्मा, तू स्वयं परमात्मा है। आहाहा! दया, दान और व्रत, भक्ति के विकल्प राग हैं, वे तेरे स्वभाव में नहीं हैं, उनसे तेरा हित नहीं है। तेरा हित तो अन्दर भरा है, भगवान! ऐसा कहा न? **निरन्तर बहुत प्राणियों का हित जिनसे होता है, ऐसे उपदेश के दाता हैं...** देखो! ऐसे उपदेश के दाता हैं। ऐई! देवानुप्रिया! ऐसी वाणी होती है।

मुमुक्षु : अभी ऐसा ही है।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं तो ऐसा कहे, भगवान जाने भाई! कब हमारे भव घटेंगे। अब सुन न! वस्तु में भव कैसा? भगवान आत्मा में भव कैसा और भव का कारण अन्दर में कैसा? ऐसी वाणी वीतराग कहकर अनुभव करावे, ऐसा कहते हैं, भाई! आहाहा! ऐसा अनुभव कर, भगवान! भाई! देख न तू। तुझमें पूर्ण आनन्द और ज्ञान पड़ा है, प्रभु! उस तेरी प्रभुता से पूर्ण प्रभु है उसे सम्हाल न! ऐसी वीतराग की वाणी आती है, कहते हैं। रामजीभाई! आहाहा!

बहुत प्राणी (ऐसी) भाषा ली है न। संख्या नहीं ली। **बहुसत्त्व** अर्थात् जीव। भाषा **सत्त्व** ली है। आहाहा! **सत्त्व** बहुत जीव जो सत्त्ववाले जीव हैं, उनके हित की वाणी भगवान की आती है। सुख की प्राप्ति के उपाय की वाणी, उसमें आता है। समझ में आया? तुम्हारे घर में जा। परघर में से विमुख हो, ऐसी वाणी वीतराग की होती है, लो! कहते हैं। समझ में आया?

और कर्म के क्षय का कारण हैं... देखो! कर्म के क्षय का कारण कहना, आत्मा के गुण की पर्याय को, यह निमित्त। उसके बदले भगवान की वाणी और भगवान कर्म के क्षय का कारण (कहा), भाई! क्षयोपशम का या उपशम का (कारण), ऐसा नहीं। भाषा तो देखो? है न? मूल पाठ है। यह तो हेतु है पूरा। मूल में भाव करावे ऐसी वाणी वीतराग की होती है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? पूर्ण आनन्द का प्रभु, शान्ति का सागर तू है, भाई! तेरी नजर के आलस से संसार रह गया है। समझ में आया? जहाँ नजर डाले तो आनन्द का कन्द प्रभु, आनन्दधाम अतीन्द्रिय आनन्द का वह तो सरोवर है। उसके किनारे अन्दर में जा और मीठे मधुर आनन्द का पेय पी, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

समझ में आया? विषय के भोग की रुचि का तो विरेचन करा डालती है। यह आ गया है न पहले? जिनवचन वीतराग के कैसे होते हैं? रेच करा डालते हैं ऐसे। आहाहा! अरे प्रभु! तुझमें आनन्द है न! प्रभु! यह विषय में सुख की कल्पना! कहाँ गया तू? समझ में आया? जहाँ नहीं, वहाँ गया, यह तुझे क्या हुआ? भगवान अन्दर है।

ऐसी वाणी आती है कि विषय की सुखबुद्धि का तो रेच करा डाले, दस्त करा डाले। ऐसे परमात्मा तीर्थंकरदेव केवलज्ञानी की समवसरण में वाणी निकलती है। इन्द्र होते हैं, गणधर होते हैं। आहाहा! अर्थात् कि परसन्मुख के भाव को विनष्ट कर दे, ऐसी उनकी वाणी होती है। धीरुभाई! लो, यह वीतराग की वाणी ऐसी होती है। ऐसी शैली है, क्योंकि स्वयं सर्वज्ञ हुए, वे पहले जब तीर्थंकरगोत्र बाँधा था, तब विकल्प तो ऐसा था कि मैं पूर्ण होऊँ और जीव धर्म को प्राप्त करे, अत: उनकी वाणी में तो धर्म प्राप्त करने का ही निमित्त होता है। गिरने का, नीचे जाने का, वापस बदलने का उस वाणी में नहीं होता। आहाहा! समझ में आया?

कर्म के क्षय का कारण हैं, ऐसे तीर्थंकर परमदेव हैं, वे वंदने योग्य हैं। गणधर और इन्द्रों को भी वन्दने योग्य हैं। यह विभूति तो लोग, इन्द्र करते हैं, इसमें उन्हें क्या है? समझ में आया?

***भावार्थ* – यहाँ चौंसठ चँवर, चौंतीस अतिशय सहित विशेषणों से तो तीर्थंकर का प्रभुत्व बताया है...** बाहर की पुण्य प्रकृति, हों! तीर्थंकर अर्थात् अन्दर स्वभाव की नहीं। **और प्राणियों का हित करना तथा कर्मक्षय का कारण विशेषण से दूसरे का उपकार करनेवालापना बताया है,...** लो, दोनों। पर के उपकार में निमित्त यह। देखो! व्यवहार आया। व्यवहार भी ऐसा होता है उनका, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हित में निमित्त है न। उपकार करनेवाला जो अपना आत्मा अन्दर में है, वह वाणी में आता है। भगवान की वाणी में। पूर्ण आनन्द का धाम सरोवर स्वयंभू सागर है। भाई! तुझमें अतीन्द्रिय आनन्द का स्वयंभू समुद्र है। उसमें नजर डाल। ऐसी वाणी में निमित्तपना होता है, इससे वह सर्व जीव का हित करने में, उपकार करने में उपकारी कहने में आते हैं। जिन्हें आत्मा का उपकार अन्दर में होता है, उन्हें वाणी

उपकार करती है, ऐसा कहने में आता है। जिन आत्माओं ने भगवान की वाणी सुनी, तीर्थंकर की वाणी सुनी, केवली पण्णत्तो धम्मो शरणम्, ऐसा आया या नहीं। ऐसी वाणी सुनकर जो आत्मा का अन्तर में हित करनेवाले हैं, अन्दर में आत्मा का उपकार करनेवाले हैं, स्वयं देव, स्वयं गुरु और स्वयं धर्म। ऐसा भगवान की वाणी में आया था। समझ में आया? ऐसा जिसने अन्तर में आत्मा को ढंढोलकर, खोलकर शोध लिया है और उसके घोलन में जो वर्तता है, ऐसे धर्मी को जीव ने स्वयं अपना उपकार किया है, उसे वीतराग की वाणी व्यवहार से उपकार (करती है), ऐसा कहते हैं। समझ में आया? यहाँ तो उपकार होता ही है, उसकी बात है। वीतराग की वाणी सुननेवाले को अन्दर में लायक पात्र होता है, उसे ही यह वाणी निमित्त आती है। तब उसे उपकारी कहा जाता है। समझ में आया?

उपकार करनेवालापना बताया है, इन दोनों ही कारणों से जगत में वंदने, पूजने योग्य हैं। इसलिए इसप्रकार भ्रम नहीं करना कि तीर्थंकर कैसे पूज्य हैं,.. समझ में आया? **तीर्थंकर सर्वज्ञ वीतराग हैं।** अब गुण लिया। यह तो पूर्ण सर्वज्ञ परमात्मा। बाहर की ऋद्धि तो इन्द्र अपनी भक्ति से अन्दर करता है। उसे कोई लेना-देना नहीं है। उसे कोई चँवर के साथ सम्बन्ध नहीं है और समवसरण के साथ सम्बन्ध नहीं है, वाणी के साथ सम्बन्ध नहीं है। ओहो! समझ में आया? तीर्थंकर तो सर्वज्ञ हैं, एक समय में तीन काल-तीन लोक जाननेवाले हैं और वीतराग हैं। पहले वीतराग होने के बाद सर्वज्ञपना होता है तो सर्वज्ञ वीतराग हैं। उन्हें कहीं यह चँवर ढोले, इसलिए सुख शान्ति मिले, ऐसा होगा? वाणी निकलती है, इसलिए ठीक होता है, ऐसा है अन्दर? वाणी के कारण वाणी निकलती है। समझ में आया? देखो! यह तीर्थंकर अर्थात् सर्वज्ञ वीतराग गुण से ऐसे होते हैं और पुण्य में ऐसे होते हैं, ऐसा बताते हैं। समझ में आया? यह गुणी है, इसलिए वन्दनेयोग्य हैं।

उनके समवसरणादिक विभूति रचकर इन्द्रादिक भक्तजन महिमा करते हैं। देखो! यह तो इन्द्र आकर भक्ति (करते हैं कि) ओहो! प्रभु! समवसरण की रचना (होती है) देव आकर चँवर ढोलते हैं, आते हैं न? ऐसे चँवर कि बगुले के पंख जैसे। आते हैं न उसमें? ...स्तुति में आया है। मानो बगुले की पंक्ति ऊँची-नीची होती हो, ऐसे श्वेत,

उज्ज्वल चंवर देव झलते हैं। क्या करना ? भगवान को साता होने के लिये, ऐसा होगा ? वे तो अनन्त आनन्दमय हैं। उन्हें साता पर से कहाँ लेनी है और देनी है ? जिन्हें अनन्त आनन्द की कली पूर्ण खिल गयी है। पर के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। वे तो वीतराग हैं। आहाहा! भक्तजन अपनी भक्ति से महिमा करते हैं।

इनके कुछ प्रयोजन नहीं है,.. इनके कुछ प्रयोजन नहीं है। भगवान के कुछ प्रयोजन नहीं है। **स्वयं दिगम्बरत्व को धारण करते हुए अंतरीक्ष तिष्ठते हैं..** लो, भगवान तो दिगम्बर हैं, ऐसे वस्त्र का धागा भी तीर्थंकर को नहीं होता और अन्तरीक्ष-सिंहासन से ऊँचे बैठे होते हैं। नीचे सिंहासन को स्पर्श नहीं करते.. आहाहा! देखो! ऐसे देव का स्वरूप साथ में वर्णन करते हैं और उन्हें सर्वज्ञ और वीतरागता होती है, वह वन्दने और आदरनेयोग्य है। समझ में आया ?

स्वयं दिगम्बरत्व को धारण करते हुए... वे तो नग्न-मुनि हैं। तीर्थंकर हैं, वे केवल (ज्ञान) प्राप्त हुए। नग्न होते हैं। शरीर अत्यन्त नग्न-दिगम्बर। **अंतरीक्ष तिष्ठते हैं..** बैठने का वापिस कोई कहे, सिंहासन है न ? वह सब समवसरण और (सब है न)। वे तो अध्धर बैठते हैं। सिंहासन से अध्धर होते हैं। आहाहा! समझ में आया ? **ऐसा जानना।** लो।

गाथा-३०

आगे मोक्ष किससे होता है सो कहते हैं -

णाणेण दंसणेण य तवेण चरियेण संजमगुणेण।
चउहिं पि समाजोगे मोक्खो जिणसासणे दिट्ठो।।३०।।

ज्ञानेन दर्शनेन च तपसा चारित्रेण संयमगुणेन।
चतुर्णामपि समायोगे मोक्षः जिनशासने दृष्टः।।३०।।

हैं ज्ञान से दर्शन तपों से चरित्र संयम गुणों से।
इन चार से संयुक्त का ही जिनधर्म में मोक्ष है।।३०।।

अर्थ – **ज्ञान, दर्शन, तप और चारित्र से इन चारों का समायोग होने पर जो संयमगुण हो उससे जिन शासन में मोक्ष होना कहा है।।३०।।**

गाथा-३० पर प्रवचन

आगे मोक्ष किससे होता है सो कहते हैं – लोग कहते हैं न, भाई! हमें सुख कैसे प्राप्त हो? धर्म कैसे प्राप्त हो? मुक्ति कैसे हो? इस प्रकार भगवान कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं।

णाणेण दंसणेण य तवेण चरियेण संजमगुणेण।
चउहिं पि समाजोगे मोक्खो जिणसासणे दिट्ठो।।३०।।

ओहोहो! कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं, जैन शासन में ऐसा कहा गया है। जैन शासन में इस प्रकार लिखा है। वीतरागमार्ग में इस प्रकार कहा है कि **ज्ञान,..** आत्मा का ज्ञान-स्वसंवेदन ज्ञान। आत्मा अन्दर वस्तु चैतन्यबिम्ब है, उसका ज्ञान, वह मोक्ष का कारण है। आत्मा का **दर्शन,...** आत्मा की निर्विकल्प प्रतीति, वह सुख का कारण और धर्मरूप मोक्ष का कारण है। **तप...** अर्थात् इच्छानिरोध। अतीन्द्रिय आनन्द की उग्रता के द्वारा। और **चारित्र से...** दोनों रखे हैं न? दोनों शब्द—**तवेण चारियेण**

इन चारों का समायोग होने पर... 'संजमगुणेण' 'चरियेण संजमगुणेण' यह शब्द नहीं आया। इसके बाद सब है, देखा? **इन चारों का समायोग होने पर जो संयमगुण हो...** ऐसा डाला है। **'चउहिं पि समाजोगे मोक्खो जिणसासणे दिट्ठो'** समझ में आया? चारों के मेल से अन्दर संयमपना प्रगट हुआ है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और तप इच्छानिरोध, इन चार के समायोग से अन्दर में पर से हटकर स्वरूप में स्थिरता जमी है, ऐसे संयम गुण द्वारा **जिन शासन में मोक्ष होना कहा है।** वीतरागमार्ग में इस कारण से मोक्ष होता है – ऐसा कहा है। समझ में आया? भगवान ने तो इसमें ऐसा भी नहीं कहा कि मेरी भक्ति से तेरा मोक्ष होगा। इसमें कहीं आ जाती होगी। इसमें कहीं आयी है। समझ में आया? तप में आ जाता है। तप में आता है न? चारित्र में व्रत आवे, विकल्प है और तप में आता है न? अनशन, ऊनोदर, विनय और वैयावृत्त्य

नहीं आता ? उसमें से कुछ होता होगा। यह तो तब संयमपना वीतरागी पर्याय है, वह मोक्ष का कारण है, ऐसा कहते हैं। इसीलिए तो संयम कहा है। सम-यम। सम्यक् प्रकार से आत्मा के अनुभवसहित अन्दर में यम अर्थात् लीनता होना, वह मोक्ष का कारण है। आहाहा!

यहाँ तो ऐसी बात है कि जिसे जन्म-मरण से छूटने की बात हो, उसकी बात है। कहीं मिठास स्वर्ग में, सेठाई में, राज में और चक्रवर्तीपने में रह जाए, उसे संसार चाहिए। उसे मोक्ष नहीं चाहिए। आहाहा! उसे महिमा चाहिए। बाहर की (महिमा)। उस महिमावाले का यह मार्ग नहीं है, कहते हैं। आहाहा! समझ में आया ?

जैन शासन में—ऐसी भाषा की है न ? वीतराग शासन में। जैन शासन किसे कहा वहाँ ? १५वीं गाथा में देखो न ! शुद्धोपयोग भावश्रुतज्ञान, वह जैन शासन। ठीक ! समझ में आया ? बालक होवे, उसे बहुत ऐसा नहीं करते। वह तो चलता है। समझ में आया ? स्वयं बालक थे, तब ऐसे थे, ऐसा याद करके समाधान रखना। वह तो बालक है तो चले। ...जाता है तो क्या हुआ ?

मुमुक्षु : सिर मारे...

पूज्य गुरुदेवश्री : सिर मारे। दिक्कत यह थी। सिर मारे। उसमें कुछ नहीं, बालक है। छोटा बालक वह बेचारा आया है और बैठा है न ! कहो, समझ में आया ? यहाँ सोना नहीं चाहिए, हों ! लड़कों को ध्यान रखना और दीवार के सहारे नहीं बैठना चाहिए। यह तो वृद्ध हों, वे दीवार के सहारे बैठे। लड़के दीवार के सहारे बैठते हैं ? यहाँ कहते हैं... आहाहा ! खाना होवे तो कोई दीवार के सहारे बैठे-बैठे खाया जाता है ? तो भी ऐसा करना पड़े।

मुमुक्षु : तो भी टेढ़ा झुकना पड़े।

पूज्य गुरुदेवश्री : टेढ़ा झुकना पड़े।

मुमुक्षु : कुर्सी पर बैठा हो तो भी ऐसा करना पड़े।

पूज्य गुरुदेवश्री : कुर्सी पर बैठा हो तो भी ऐसा करना पड़े, थोड़ा तो झुकना पड़े। सुननेवाले को तो... क्या कहलाता है नींद की नहीं लेना चाहिए। नींद का सहारा लिया जरा, आराम का। आहाहा !

ऐसा मार्ग कहाँ मिले? भाई! महाकठिनता से चौरासी में से निकलकर, निगोद में से निकलकर (यहाँ आया है)। समझ में आया? और निगोद में से बहुत समय में निकला परन्तु फिर भव में से कहीं से निकला है न! आहाहा! अरे! भव के भ्रमण में रहा, घानी की तरह पिल गया। आहाहा! निगोद में एक श्वास में अठारह भव, गजब बात है! भगवान केवली कहते हैं। निगोद यह आलू, शकरकन्द, हरी काई, एक श्वास अठारह भव। जन्मे और मरे, जन्मे और मरे। आहाहा! यह आकुलता के जन्म-मरण के दुःख। भाई! इस आनन्द को भूलकर भोगे हैं। वस्तु तो वस्तु रही है, हों! पर्याय में ऐसा हुआ है, भाई! आहा! तेरे दुःख की बातें...

वहाँ भावपाहुड़ में तो आयेगा, भाई! तू मर गया और तेरे मरण के पीछे तेरी माँ के आँसू अनन्त समुद्र भर जाएँ, इतना तेरी माँ पीछे रोयी है। आहाहा! समझ में आया? तेरे इतने मरण हुए हैं कि मरण के बाद (माता ने इतना रुदन किया है)। बीस-बीस वर्ष का जवान लड़का... कहा न?.... इसकी माँ को कैसा होता होगा? ऐसे मरण तूने किये हैं, भाई! तेरी माँ के आँसू के रोने की बूँदें इकट्ठे करें तो स्वयंभूरमण समुद्र अनन्त भर जाएँ। आहाहा! अनन्त काल में क्या नहीं हुआ? किसे अनन्त नहीं कहना? और भान होवे तो ही अनन्त का ज्ञान और अनन्त आनन्द आता है, कहते हैं। वह भी अनन्त है और वह (दुःख) भी अनन्त है। आहाहा! समझ में आया?

अरे! दुःख के जले आठ-आठ वर्ष के राजकुमार (कहते हैं) ऐ... माँ! मुझे कहीं शान्ति नहीं है। मुझे अब जाने दे, माँ! तुझे एक बार रोना हो तो रो, परन्तु फिर से अब माँ नहीं बनाऊँगा, हों! हमें आत्मा, हमारा आत्मा इस चौरासी लाख में दुःखी है। चार गति में दुःख की घानी में पिलता है, माँ! आज्ञा दे, हमारा साधन वन में जाकर करें। आहाहा! आठ-आठ वर्ष के बालक, धन्य अवतार न! जिन्हें एक मोरपिच्छी छोटी और छोटा कमण्डल। आहाहा! दिखाव! ऐसा चारित्र अन्दर में जिसे रमता हो, वे आठ वर्ष के बालक, हों! वे अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान लें! आहाहा! भाई! तू बालक कहाँ है? भाई! तू बालक कहाँ है, तू वृद्ध कहाँ है। तू तो आत्मा है न, प्रभु! आहा!

कहते हैं, ज्ञान-दर्शन-चारित्र से मोक्ष का साधन जैन शासन में कहा है। आहाहा! वीतराग की शिक्षा कहो या वीतरागभाव कहो, वह जैनशासन है। समझ में आया?

गाथा-३१

आगे इन ज्ञान आदि के उत्तरोत्तर सारपणा कहते हैं –

णाणं णरस्स सारो सारो वि णरस्स होइ सम्मत्तं।
सम्मत्ताओ चरणं चरणाओ होइ णिव्वाणं।।३१।।

ज्ञानं नरस्य सार: सार: अपि नरस्य भवति सम्यक्त्वम्।
सम्यक्त्वात् चरणं चरणात् भवति निर्वाणम्।।३१।।

है सार नर का ज्ञान उसका सार भी सम्यक्त्व है।
सम्यक्त्व से चारित्र है चारित्र से निर्वाण है।।३१।।

अर्थ – पहिले तो इस पुरुष के लिए ज्ञान सार है, क्योंकि ज्ञान से सब हेय-उपादेय जाने जाते हैं, फिर उस पुरुष के लिए सम्यक्त्व निश्चय से सार है, क्योंकि सम्यक्त्व बिना ज्ञान मिथ्या नाम पाता है, सम्यक्त्व से चारित्र होता है, क्योंकि सम्यक्त्व बिना चारित्र भी मिथ्या है, चारित्र से निर्वाण होता है।

भावार्थ – चारित्र से निर्वाण होता है और चारित्र ज्ञानपूर्वक सत्यार्थ होता है तथा ज्ञान सम्यक्त्वपूर्वक सत्यार्थ होता है, इसप्रकार विचार करने से सम्यक्त्व के सारपना आया। इसलिए पहिले तो सम्यक्त्व सार है; पीछे ज्ञान चारित्र सार है। पहिले ज्ञान से पदार्थों को जानते हैं अत: पहिले ज्ञान सार है तो भी सम्यक्त्व बिना उसका भी सारपना नहीं है, ऐसा जानना।।३१।।

गाथा-३१ पर प्रवचन

आगे इन ज्ञान आदि के उत्तरोत्तर सारपणा कहते हैं – यह स्तुति, गाथा में होता है। लड़के बोले (उसमें)। सारं, दर्शनं, ज्ञानं नहीं आता? परन्तु ज्ञान, दर्शन अर्थात् क्या? अपने श्लोक आता है। स्थानकवासी में... होता है न? उसमें बोले।... फिर यह बोले सारं, दर्शनं, ज्ञानं सारं सयमं। ऐई! शान्तिभाई! सीखे थे या नहीं? सारं जिनवर धम्मं.. पश्चात्? सारं पंडित मरण। परन्तु यह कहना किसे? यह तो भाषा है।

मुमुक्षु : बोलते थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : बोलते थे परन्तु क्या बोलते थे? यहाँ भगवान कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं-

णाणं णरस्स सारो सारो वि णरस्स होइ सम्मत्तं।
सम्मत्ताओ चरणं चरणाओ होइ णिव्वाणं।।३१।।

अर्थ – **पहिले तो इस पुरुष के लिए ज्ञान सार है,..** सम्यक् आत्मा का स्वसंवेदन ज्ञान सार है। आहाहा! कहो, यह पैसा सार है और अच्छा शरीर सार है और बड़ी इज्जत प्राप्त करना, वह सार है, ऐसा कुछ यहाँ नहीं कहा। इसमें धूल में भी सार नहीं है। ऐसा होगा? मलूकचन्दभाई! आहाहा! कहते हैं, अरे! ज्ञान चैतन्यप्रभु सर्वज्ञस्वरूपी भगवान को देखा, उसका ज्ञान, उसका ज्ञान, वह इस जगत में सार है और वह ज्ञान उस समकितसहित होता है। यहाँ मूल तो वजन समकित का देना है। समझ में आया?

पहिले तो इस पुरुष के लिए ज्ञान सार है,.. वह ज्ञान कौन? यह पढ़ना-बढ़ना, वह ज्ञान नहीं है। यह शिक्षा का ज्ञान, वह ज्ञान होगा या नहीं? तब तू किसलिए पढ़ने जाता है? पढ़ता है किसलिए? यहाँ तू वहाँ पढ़ने के लिये जानेवाला है। ऐई! सुरेश! तेरे पिता कहते हैं, जा दूसरे... जाना पड़ेगा। आहाहा! कहते हैं कि यह संसारी शिक्षा का ज्ञान तो सार नहीं है परन्तु शास्त्र का ज्ञान भी सार नहीं है। सार तो भगवान आत्मा चैतन्यमूर्ति प्रभु का स्वसंवेदन ज्ञान (सार है)। स्व अर्थात् अपना सं अर्थात् प्रत्यक्ष। राग और मनरहित चैतन्य का सीधा जिस ज्ञान को अवलम्बन है, उस ज्ञान को सार कहा जाता है। आहाहा! समझ में आया?

क्योंकि ज्ञान से सब हेय-उपादेय जाने जाते हैं,... ज्ञान से-भेदज्ञान से हेय रागादि और उपादेय त्रिकाली आत्मा, यह ज्ञान में ज्ञात होता है। इसलिए इस ज्ञान को-इस प्रकार भेदज्ञान का सार कहने में आता है। समझ में आया? जाते अर्थात् जिससे। **ज्ञान से सब हेय-उपादेय...** देखो! सब हेय-उपादेय। भगवान आत्मा पूर्ण शुद्ध ध्रुव चैतन्य आनन्द, वह उपादेय है, आदरणीय है अर्थात् उसके सन्मुख होकर अनुभव करनेयोग्य है। ऐसा ज्ञान द्वारा ज्ञात होता है और रागादि, विकल्प आदि हेय हैं। वे ज्ञान द्वारा ज्ञात होते हैं। आत्मा के ज्ञान द्वारा वे ज्ञात होते हैं। समझ में आया? आहाहा!

फिर उस पुरुष के लिए सम्यक्त्व निश्चय से सार है,... वास्तव में तो आत्मा को सम्यग्दर्शन सार है क्योंकि सम्यग्दर्शन के बिना सम्यक् स्वसंवेदन ज्ञान नहीं होता, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? इस आत्मा को **सम्यक्त्व निश्चय से सार है,... 'सारो वि णरस्स होइ सम्मत्तं..' 'णाणं णरस्स सारो सारो वि णरस्स होइ सम्मत्तं'** यह आया न? मनुष्य को ज्ञान भी (सार है)। 'वि' शब्द पड़ा है न? 'अपि' 'अपि' में जोर डाला है। **निश्चय से सार है,...** सम्यग्दर्शन सार है अर्थात् आत्मा पूर्ण शुद्ध आनन्द, उसकी अन्तर में ज्ञान होकर प्रतीति-श्रद्धा करना, वह सम्यग्दर्शन वीतरागमार्ग में सार है। समझ में आया? इतने लड़के हुए और इतने पैसे हुए और इतनी इज्जत बढ़ाई, इसलिए सार है, धूल भी नहीं। सब हैरान होने के रास्ते हैं। समझ में आया?

भगवान परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव ने कहा, सार तो सम्यग्ज्ञान, भेदज्ञान सार है। राग हेय है, त्रिकाल स्वभाव उपादेय है। वह ज्ञान-भेदज्ञान से ज्ञात होता है और वह ज्ञान, सम्यग्दर्शन के बिना नहीं होता। समझ में आया? दर्शनपाहुड़ है न? यह मुख्य सम्यग्दर्शन का अधिकार है न! आहाहा! समझ में आया?

उस पुरुष के लिए सम्यक्त्व निश्चय से सार है, क्योंकि सम्यक्त्व बिना ज्ञान मिथ्या नाम पाता है,... लो। आहाहा! शास्त्र पढ़ा हुआ हो, परन्तु सम्यग्दर्शन बिना वह ज्ञान मिथ्याज्ञान है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? भगवान पूर्ण स्वरूप देवाधिदेव स्वयं आत्मा है। ऐसा उसका स्वभाव पूर्ण है। उसका भान होकर प्रतीति (होना) वह सम्यग्दर्शन सार चीज़ है। सम्यग्दर्शन सार तो बहुत से बोलते हैं परन्तु इससे सम्यग्दर्शन कहना किसे? देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा, नवतत्त्व की श्रद्धा, (वह) सम्यग्दर्शन... हो गया। जाधवजीभाई! वह समकित नहीं है, वह तो मिथ्यात्व है। पर के लक्ष्यवाला ज्ञान, उसे मानना कि समकित है, वह तो मिथ्यात्व है। कहो, समझ में आया?

वह सार खोजो दुनिया में तो कहते हैं कि पहला सम्यग्ज्ञान प्राप्त कर और वह सम्यग्ज्ञान भी सम्यग्दर्शन के बिना नहीं होता, इसलिए सम्यग्दर्शन सार है। आहाहा! समझ में आया? ग्यारह अंग पढ़ा, नौ पूर्व पढ़े परन्तु वह परलक्ष्यी ज्ञान, वह सम्यग्दर्शनरहित मिथ्याज्ञान है। आहाहा! क्योंकि उसमें राग से भिन्न पड़कर आत्मा का भान और विवेक नहीं आया। विवेकरहित ज्ञान को ज्ञान नहीं कहते। आहाहा! यह विवेक, हों! समझ में

आया ? ऐसा मार्ग दुनिया को लगता है कि यह अनभ्यासी चीज़ ऐसी महँगी हमें लगती है। उसका दूसरा कोई रास्ता हल्का होगा ? हल्का कहो या ऊँचा कहो; जो है, वह यह है। आहाहा! जो सत् भगवान आत्मा है और उस सत् का स्वभाव सत्तास्वरूप है, अस्तिवाला है। अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द... फैलाव है। जिसमें आनन्द और ज्ञान का फैलाव पड़ा है। बेहद स्वभाव है। ऐसा आत्मस्वभाव, उसमें अन्तर में प्रतीति अन्तर्मुख होकर के (होना)। यह वस्तु है, ऐसा भान होकर श्रद्धा होना, वह समकित जगत में भगवान त्रिलोकनाथ कहते हैं कि सार है। कहो, समझ में आया ? अनन्त बार द्रव्यलिंग धारण किया, पंच महाव्रत लिये, वह कोई सार नहीं है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? दिगम्बर साधु हुआ, अट्ठाईस मूलगुण ऐसे निरतिचार व्यवहार के (पालन किये), वह कुछ सार नहीं है क्योंकि रागरहित पूरा आत्मा, उसकी तो असातना हो गयी और विकल्प का आदर हुआ है। जिसमें-सम्यग्दर्शन में पूरा आत्मा आदरणीय होता है और वह विकल्प ज्ञान में हेय ज्ञात होता है। ऐसा सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शनसहित का (सम्यग्ज्ञान), वह सार है। लो, यह समझ में आया ? मोहनलालभाई! तुमने पूछा था न ?—कि क्या करना ? यह करना है। सुख के लिये उपाय क्या ? नहीं पूछा था। यह, उपाय यह है। आहाहा!

आत्मा वस्तु भगवान जैसा कहते हैं, वैसा पहले जानकर, पहिचानकर और फिर स्वसन्मुख होकर सम्यग्दर्शन करना, उसमें जो ज्ञान होता है, उसे यहाँ सार (कहते हैं) और सुख का उपाय यह है। दूसरा कोई सुख का उपाय नहीं है। सुख अर्थात् पूर्ण मोक्ष। आहाहा! समझ में आया ? दुनिया का परोपकार करना, दुनिया को सहायता देना, ऐसा करना, इसलिए आत्मा का हित होगा, बापू! ऐसा नहीं है। आहाहा! रागरहित भगवान निष्क्रिय है। राग की क्रिया अपेक्षा से। ऐसा चैतन्यबिम्ब प्रभु है न! भगवान की वीतराग मुद्रा देखकर भी इसे ऐसा विचार करना चाहिए। भगवान जैसे वीतराग स्थिरबिम्ब स्थित हैं, ऐसा मेरा सत्त्व राग से भिन्न, राग की परिणति / पर्याय से भिन्न शुद्धचैतन्य वस्तु का सम्यग्दर्शन, उसका ज्ञान करके सम्यक् होना और उस सम्यग्दर्शनसहित का ज्ञान, उसे सार कहा जाता है। आहाहा! पहले यह लिया, फिर चारित्र सार लेंगे। समझ में आया ? क्यों ?—कि

सम्यक्त्व बिना ज्ञान मिथ्या नाम पाता है,... आहाहा! आनन्दस्वभाव भगवान

आत्मा का है। अतीन्द्रिय आनन्द की कतली। उसे चूसना-अनुभव करना। इस अनुभव में जो प्रतीति होती है, वह सार है। समझ में आया? **सम्यक्त्व से चारित्र होता है,...** है न? देखो! **'सम्मत्ताओ चरणं...' 'सम्मत्ताओ चरणं'** तीसरा पद है। और वह समकित होवे तो चारित्र होता है। समकित के बिना चारित्र नहीं होता। समझ में आया? सम्प्रदायवालों को तो समकित बिना सब करो, वह मिथ्या है, इतना सुनना सुहाता नहीं है। समकित किसे कहना, एक ओर रखो। अपने महाराज सब तपस्या कर गये, अपवास कर गये, चारित्र पालन कर गये, उन्हें समकित नहीं था? परन्तु सुन न! समकित नहीं था परन्तु समकित किसे कहना, इसका भान नहीं था। ऐई! समझ में आया?

मुमुक्षु : क्रियाएँ पहली।

पूज्य गुरुदेवश्री : राग। आहाहा!

जैसा उसका-भगवान आत्मा का स्वरूप है, वह पूर्ण वीतराग है। राग से हिले नहीं, ऐसा वह स्वभाव है। ऐसा वीतरागबिम्ब चैतन्य पूर्ण यह आत्मा है, ऐसा ज्ञान होकर प्रतीति होना, वह जगत में भगवान कहते हैं कि सार है। भले ज्ञान कम हो, समझाना भी न आता हो। आहाहा! समझ में आया?

सम्यक्त्व बिना ज्ञान मिथ्या नाम पाता है, सम्यक्त्व से चारित्र होता है, क्योंकि सम्यक्त्व बिना चारित्र भी मिथ्या है,... उस ज्ञान को मिथ्या कहा, वह चारित्र मिथ्या कहा। जिसे आत्मा अन्दर निर्विकल्प अनुभव की प्रतीति नहीं, इसके बिना व्रत और क्रियाकाण्ड करे तो सब वृथा एकरहित शून्य है। समझ में आया?

भजन में बहुत दृष्टान्त दिये हैं। भजनावली पुस्तक है न? इन्दौर से प्रकाशित हुई है न? बहुत भजन (दिये हैं) द्यानतराम और दौलतराय, भैया भगवतीदास, उसमें अध्यात्म संग्रह है। पानीरहित सरोवर, नींव बिना मकान, नीचे जड़रहित वृक्ष; ऐसे सम्यक्त्व बिना सब व्यर्थ है। समझ में आया? आहाहा! पति नहीं और फिर शृंगार पहने, यह टीका करे और ऐसा करे, तुझे किसे बताना है, पति तो है नहीं। आहाहा! यह तेरे टीका-टपला करना व्यर्थ है; इसी प्रकार सम्यग्दर्शन के बिना भगवान की पूजा और भगवान के भजन करना, यह सब मोह भजन है, ऐसा कहते हैं। अनुभवप्रकाश में (कहते हैं) आहाहा! जंगल में जैसे हिरण (रहते हैं), और गाँव में जैसे कुत्ते-श्वान (रहते हैं), दोनों समान हैं, कहते हैं।

आहाहा! आता है या नहीं उसमें। अनुभवप्रकाश में। गाँव में श्वान, जंगल में मृग रहते हैं, वैसे आत्मा पुण्य और पाप के विकल्प के क्रियाकाण्ड से अत्यन्त भिन्न है, ऐसा जिसे भान नहीं, वे भानरहित, अनुभवरहित हैं। कहते हैं, वे गाँव के श्वान और बाहर के मृग उनके जैसे हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : श्वान अर्थात् कुत्ता।

पूज्य गुरुदेवश्री : कुत्ता, श्वान अर्थात् कुत्ता। श्वान का अर्थ है न कुछ? यह कुत्ता नहीं कहते? कुत्ता अर्थात् कुसंस्कार से तिरे, वह कुत्ता ऐसा कहते हैं। संसार से तिरे, वह धूल नहीं तिरे। ऐसा कहते हैं। छोटी उम्र में सुना था। पोथी तर्या कूतरा। ऐसा कि कुत्ते का नम्बर अन्त में होता है। ऐसे के ऐसे। छोटी उम्र में सुनते थे। धूल भी नहीं बेचारे। लट पड़े, यह सिर सड़े, लटों में। ऐसे-ऐसे करते... आर्तध्यान करके कहीं मरकर बेचारा (जाता है)। और फिर कुत्ता हो, हिरण हो। आहाहा! बेचारा पशु की जाति प्राप्त करे। बहुत माँस आदि न खाया हो।

तिरने का उपाय भगवान ने जो कहा, वह तो आत्मा का सम्यग्दर्शन, उसका ज्ञान और उसकी सम्यग्दर्शनसहित चारित्र वह है। सम्यग्दर्शन बिना व्रत, तप को... यहाँ चारित्र लिया है न? **सम्यक्त्व से चारित्र होता है, क्योंकि सम्यक्त्व बिना चारित्र...** ऐसा चारित्र नहीं होता परन्तु लोग कहते हैं न? हमने चारित्र अंगीकार किया, पाँच महाव्रत अंगीकार किये, दीक्षा ली। सब मिथ्या है। दक्ष्या है, दीक्षा नहीं। समझ में आया? समकित के बिना चारित्र... समकित अर्थात् देव, गुरु, शास्त्र की श्रद्धा के विकल्प से भी पार निर्विकल्प अन्दर वेदन होकर प्रतीति होना, ऐसा जो सम्यग्दर्शन, उसके बिना व्रत और तप के एकरहित शून्य भी लिखे हैं। बहुत दृष्टान्त दिये हैं। एक के बिना शून्य है। रण में शोर मचाने जैसी बात है। आहाहा! समझ में आया? सब मानते हैं। क्या करे?... दूसरा सुना नहीं, मार्ग दूसरा है, कहाँ ढलना और कहाँ से हटना, यह बात सुनने को मिली नहीं, इसलिए वहाँ रुक गया। समझ में आया?

चारित्र से निर्वाण होता है। लो, पहले मिथ्या कहा। समकितरहित ज्ञान मिथ्या और समकितरहित चारित्र मिथ्या। परन्तु **'सम्मत्ताओ'** समकित सहित का ज्ञान और समकित सहित का चारित्र, वह मुक्ति का कारण है, निर्वाण का कारण है। समझ में आया

या नहीं... ? मार्ग ऐसा है भगवान का। थोड़ा दिन, एक-दो दिन में तो ऐसा लगे, यह क्या है ? वीतराग का मार्ग यह है, भाई ! परमेश्वर तीर्थंकरदेव इन्द्रों के समक्ष, गणधरों की समक्ष में यह बात कहते थे, वह बात यहाँ कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं। समझ में आया ?

***भावार्थ* – चारित्र से निर्वाण होता है और चारित्र ज्ञानपूर्वक सत्यार्थ होता है...** सच्चे ज्ञानपूर्वक चारित्र सच्चा होता है, ऐसा कहते हैं। **तथा ज्ञान सम्यक्त्वपूर्वक सत्यार्थ होता है,...** पहले मिथ्या, मिथ्या कहा था न ? उसके सामने सच्चा-सच्चा कहा। चारित्र अर्थात् स्वरूप के अन्दर रमणता, आनन्द की लहरता, आनन्द की हिलोरें अन्दर में उठे, अतीन्द्रिय आनन्द के हिलोरे उठे। उसे चारित्र कहते हैं। आहाहा ! लोग कहते हैं कि चारित्र तो दूध के दाँत से चने चबाने जैसा है। बापू ! ऐसा दुःख होगा चारित्र ? अभी भान नहीं होता (कि) चारित्र किसे कहना ? दूध के दाँत से लोहे के चने चबाना, बापू ! दुःख होगा बेचारा।

चारित्र अर्थात् अन्तर के आनन्द की हिलोरें अन्दर से उठें, आनन्द का उफान (आवे) ऐसा चारित्र, उससे मुक्ति होती है। वह चारित्र, ज्ञानपूर्वक सच्चा होता है। सच्चा स्वसंवेदन ज्ञान हो तो वह चारित्र सच्चा होता है और **तथा ज्ञान सम्यक्त्वपूर्वक सत्यार्थ होता है,...** और वह ज्ञान भी सम्यग्दर्शन होवे तो ज्ञान सच्चा होता है। समझ में आया ? **इस प्रकार विचार करने से सम्यक्त्व के सारपना आया।** लो ! ऐसा विचारने पर सबमें समकित का सारपना आया। समझ में आया ?

इसलिए पहिले तो सम्यक्त्व सार है; पीछे ज्ञान चारित्र सार है। जिससे पहले तो समकित सार है, ऐसा कहते हैं; पश्चात् ज्ञान और पश्चात् चारित्र। **पहिले ज्ञान से पदार्थों को जानते हैं, अतः पहिले ज्ञान सार है तो भी सम्यक्त्व बिना उसका भी सारपना नहीं है,..** इसलिए समकित, वह इस जगत में मूल सार पहली चीज़ है। दर्शनपाहुड़ है न ! यह सम्यग्दर्शन अर्थात् वस्तु का पूर्ण स्वभाव, उसका अन्तर अनुभव होकर प्रतीति होना, उसे सम्यग्दर्शन और उसे सार में सार कहा जाता है। उस सहित ज्ञान और चारित्र हो तो सार कहा जाता है। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)

गाथा-३२

आगे इसी अर्थ को दृढ़ करते हैं –

णाणम्मि दंसणम्मि य तवेण चरिएण सम्मसहिएण।
[1]चउण्हं पि समाजोगे सिद्धा जीवा ण सन्देहो।।३२।।

ज्ञाने दर्शने च तपसा चारित्रेण सम्यक्त्वसहितेन।
चतुर्णामपि समायोगे सिद्धा जीवा न सन्देहः।।३२।।

दृग ज्ञान में सम्यक्त्व पूर्वक तप चरण इन चार के।
संयोग में हो सिद्ध आतम सुनिश्चित जानो इसे।।३२।।

***अर्थ* – ज्ञान और दर्शन के होने पर सम्यक्त्व सहित तप करके चारित्रपूर्वक इन चारों का समायोग होने से जीव सिद्ध हुए हैं, इसमें सन्देह नहीं है।**

***भावार्थ* – पहिले जो सिद्ध हुए हैं, वे सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन चारों के संयोग से ही हुए हैं, यह जिनवचन है, इसमें सन्देह नहीं है।।३२।।**

प्रवचन-२० गाथा-३२ से ३४ रविवार, ज्येष्ठ कृष्ण १०, दिनांक २८-०६-१९७०

---

३२ का अंक लिखा है परन्तु ३१ है। ३२ अब आयेगा। ऊपर ३१, नीचे ३२। अन्दर में ३२, वापस नीचे... इन अक्षरों में फेरफार है। क्या कहा ३१ में? देखो!

सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान भी मिथ्या और चारित्र भी मिथ्या, और उसके बिना कुछ मोक्ष का मार्ग नहीं हो सकता। ३१ में ऐसा कहा। अन्तिम कहा न? **सम्यक्त्व बिना उसका भी सारपना नहीं है,..** ज्ञान से ज्ञान में आवे हेय-अहेय इत्यादि। परन्तु आत्मा राग के कर्ता से रहित, विकल्प का कर्ता, आस्रव का, महाव्रत आदि के परिणाम का, उसके कर्ता से रहित अखण्ड आनन्द शुद्ध चैतन्य के अनुभवरूप समकित बिना वह सब व्यर्थ एक के बिना शून्य है। चाहे जैसी तपस्यायें करे, अपवास करे, व्रत करे। समझ में

---

१. पाठान्तरः ह्न चोण्हं

आया ? परन्तु जहाँ एकड़ा—सम्यग्दर्शन नहीं, उसके बिना सब ज्ञान भी सार नहीं, उसके व्रत भी सार नहीं और उसका कुछ है नहीं। उसे अब विशेष दृढ़ करते हैं।

णाणम्मि दंसणम्मि य तवेण चरिएण सम्मसहिएण।
चउण्हं पि समाजोगे सिद्धा जीवा ण सन्देहो।।३२।।

अर्थ – **ज्ञान...** सम्यक् भेदज्ञान। ज्ञान अर्थात् आत्मा के स्वभाव का (ज्ञान)। शरीर, वाणी, मन से तो भिन्न परन्तु व्रत, अव्रत के जो विकल्प, जो राग है, उससे अत्यन्त भिन्न चीज़ है। ऐसा अन्तर में ज्ञान-भेदज्ञान होना, उसे यहाँ सम्यग्ज्ञान और सच्चा ज्ञान और मोक्ष का मार्ग कहते हैं। समझ में आया ? ऐसा ज्ञान नहीं है और यह व्रत, तप और अपवास करता है, वह सब लंघन, संसार में भटकने के मिथ्यात्वभाव हैं। सेठी ! समझ में आया ? यह समकित-दर्शनपाहुड़ है न ! व्रत करे और दया पाले, अपवास करे और सूख जाए लाखों-करोड़ों वर्षों तक अपवास करके और व्रत करके, वह सब मिथ्यात्वभाव है क्योंकि वह व्रत और तप का विकल्प है, वह राग है और राग का कर्ता होकर उसे करता है, वह मिथ्यात्वभाव है और वह मिथ्यात्वभाव है, तब तक उसे धर्म का अंश भी नहीं होता। समझ में आया ?

ज्ञान और दर्शन के होने पर सम्यक्त्व सहित तप करके चारित्रपूर्वक... आत्मा अत्यन्त विकल्परहित निर्विकल्प वस्तु अनन्त आनन्द की खान है। साक्षात् भगवान परमात्मा स्वयं ही वस्तु है। समझ में आया ? गुरु भी वह, सर्वज्ञदेव भी वह और धर्म का धाम भी वह है।

मुमुक्षु : सुख का धाम।

पूज्य गुरुदेवश्री : सुख कहो या धर्म कहो। वह सुख का धाम और आनन्द का धाम। कल्पनारहित, कुछ भी कहीं सुख की कल्पना दया, दान, व्रत, भक्ति के भाव में यह ठीक है, ऐसी कल्पना हुई, उसने राग में सुख माना, उसने आत्मा में सुख नहीं माना, वह मिथ्यादृष्टि है। समझ में आया ?

भगवान आत्मा, इन विषयों में जहाँ प्रेम है, उसे आत्मा के आनन्द का अन्तर प्रेम और रुचि नहीं है। आहाहा ! विषय के भोग में मजा है, चाहे तो इन्द्राणी के भोग, वह अशुभभाव, इस शुभभाव के फलरूप से मिले परन्तु वे भी दु:ख हैं। उनमें हित या सुख

या मजा बिल्कुल नहीं है। इसी तरह व्रत अव्रत के परिणाम या तप करने के भाव, उस भाव में भी जरा भी सुख नहीं है। कहो, क्या है? उसमें सुख अर्थात् धर्म मानता है, धर्म मानता है, कहो या सुख मानता है कहो, यह उसे दृष्टि में जहर है। वस्तु अमृतस्वरूप है, भगवान स्वयं आनन्द और ज्ञान की लक्ष्मी का अकेला भण्डार साक्षात् स्वयं है। उसकी दृष्टि जहाँ नहीं और पर में सुखबुद्धि और पुण्य में, व्रत में कहीं भी (सुख माना है), वह सब दृष्टि जहर-मिथ्यादृष्टि है। उसके व्रत और तप सब बालतप और बालव्रत कहने में आये हैं। क्या कहते हैं?

मुमुक्षु : बिना समझे भूल निकाल दिखावे।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो बात करते हैं। कहा नहीं?

सम्यक्त्व सहित तप करके चारित्रपूर्वक... अन्दर स्वरूप का अनुभव आत्मा के आनन्द का (होना), जो शुभ और अशुभरागरहित है, उसके आनन्द की प्रतीति और विश्वास सहित की दृष्टि में जो ज्ञान और चारित्र होता है अथवा तप होता है अर्थात् इच्छा निरोध होता है, वह तप और चारित्रपूर्वक **इन चारों का समायोग होने से...** ज्ञान, दर्शन, समकित, तप और चारित्र ऐसे चार। समकितसहित यह चार, ऐसा। आहाहा! समझ में आया? यह तप अर्थात् ये बारह प्रकार के तप करूँ और अपवास। इस विकल्प को यहाँ तप नहीं कहते। आहाहा! अमृतस्वरूप भगवान आत्मा, अतीन्द्रिय अमृत का सागर आत्मा, ऐसा जहाँ अनुभव में प्रतीति हुई और उस अनुभव में-आनन्द में रमता है और विषय के सुख की अस्थिरता भी टलती है। विषय के सुख में सुख है, यह बुद्धि तो समकिती को टल गयी होती है। समझ में आया? परन्तु जो अस्थिरता, आसक्ति हुई हो, होती हो, वह भी टलकर स्वरूप के आनन्द के अमृत में रमे, ऐसा तप और ऐसा चारित्र समकितसहित होता है। समझ में आया? तब चार के योग से जीव सिद्ध होता है, तब उसे मुक्ति मिलती है। आहाहा! समझ में आया?

सच्ची सम्यक्दृष्टि होने पर अपने आनन्द के अतिरिक्त पूरी दुनिया में से आनन्द है, यह दृष्टि पहले उठ जाती है। यह पहले आ गया है, विषय विरेचन कराने में। समझ में आया? कहीं लक्ष्मी में, स्त्री में, इन्द्राणी में, पद में, अधिपतिपने में, बड़ा अधिकारी हो, पाँच-पाँच, दस-दस हजार, पचास हजार, लाख का मासिक वेतनदार (होवे), उसमें

कुछ ठीक है, भोग में बाहर की अनुकूलता में ठीक है—ऐसी जो मान्यता है, वह मिथ्यात्वभाव है। वह मिथ्यात्वभाव टलकर आत्मा में ही आनन्द और धर्म है, ऐसी दृष्टि होने के बाद तप और चारित्र और ज्ञानसहित का भाव पूर्ण हो, उसे मुक्ति होती है। समझ में आया? समकित के बिना का वह ज्ञान, वह तप और व्रत सब वृथा चार गति में भटकने के कारण हैं।

इसमें सन्देह नहीं है। देखो! **'जीवा ण सन्देहो'** सन्देहयोग्य (बात) नहीं कि उसे मुक्ति होगी या नहीं? स्वरूप जहाँ भगवान आत्मा अनाकुल ज्ञान और अनाकुल आनन्द के स्वभाव से भरपूर आत्मा, परम आत्मा, परमस्वरूप, परमस्वरूप ऐसा जहाँ अन्तर में अनुभव में, श्रद्धा में, दृष्टि में, वेदन में, ज्ञान में आया, तब उसे समकित कहने में आता है, तब उसे धर्म की पहली शुरुआत कही जाती है। समझ में आया? इस शुरुआत के पश्चात् उसके स्वरूप में रमे, चरना-रमना और आहार-पानी आदि लेने की इच्छा ही न हो, इतने आत्मा के अमृत में लवलीन हो, अतीन्द्रिय आनन्द में लवलीन हो, ऐसे जीव को सिद्धपद प्राप्त होता है, इसमें सन्देह नहीं है। समझ में आया?

भावार्थ **– पहिले जो सिद्ध हुए हैं,...** अभी तक जितने सिद्ध हुए हैं, अनन्त सिद्ध हुए, वे **सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन चारों के संयोग से ही हुए हैं,...** लो! यह मूल सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप ऐसा लेना। समझ में आया? **यह जिनवचन है,...** यह वीतराग की, सर्वज्ञ परमेश्वर की वाणी यह है। **इसमें सन्देह नहीं है।** इसमें सन्देह करनेयोग्य नहीं है।

गाथा-३३

आगे कहते हैं कि लोक में सम्यग्दर्शनरूप रत्न अमोलक है और वह देव-दानवों से पूज्य है –

कल्लाणपरंपरया लहंति जीवा विसुद्धसम्मत्तं।
सम्मद्दंसणरयणं अग्घेदि सुरासुरे लोए।।३३।।

कल्याणपरंपरया लभंते जीवाः विशुद्धसम्यक्त्वम् ।
सम्यग्दर्शनरत्नं अर्घ्यते सुरासुरे लोके ।।३३।।

कल्याण पारंपर्य से सुविशुद्ध समकित प्राप्त हो।
सम्यग्दरश है रत्न जग में सुरासुर से पूज्य हो।।३३।।

अर्थ **– जीव विशुद्ध सम्यक्त्व को कल्याण की परम्परा सहित पाते हैं, इसलिए सम्यग्दर्शन रत्न है वह इस सुर–असुरों से भरे हुए लोक में पूज्य है।**

भावार्थ **– विशुद्ध अर्थात् पच्चीस मलदोषों से रहित निरतिचार सम्यक्त्व से कल्याण की परम्परा अर्थात् तीर्थंकर पद पाते हैं, इसलिए यह सम्यक्त्व रत्न लोक में सब देव, दानवों और मनुष्यों से पूज्य होता है। तीर्थंकर प्रकृति के बंध के कारण सोलहकारण भावना कही हैं, उनमें पहली दर्शनविशुद्धि है, वही प्रधान है, यही विनयादिक पंद्रह भावनाओं का कारण है, इसलिए सम्यग्दर्शन के ही प्रधानपना है ।।३३।।**

गाथा-३३ पर प्रवचन

आगे कहते हैं कि लोक में सम्यग्दर्शनरूप रत्न अमोलक है... उसके समक्ष इन सब करोड़ों, अरबों रुपये के हीरा, यह सब पत्थर हैं, इनकी कुछ कीमत नहीं है। जड़ है, ज्ञेय है, उसमें क्या वस्तु कहना? अरबों रुपये के हीरे या चक्रवर्ती का राज, इन्द्र के इन्द्रासन के पद सम्यग्दर्शन के रत्न के समक्ष ये सब पत्थर, कंकड़, धूल, कोयला है। समझ में आया? आहा! यहाँ तो अभी सम्यग्दर्शन की पहली बात करते हैं। चौथे गुणस्थान में। श्रावक और साधु बाद में होते हैं। यह श्रावक और साधु जो बाड़ा के हैं, वे कहीं साधु, श्रावक नहीं हैं। सम्यग्दर्शन किसे कहना, उन्हें तो इसकी भी खबर नहीं। समझ में आया?

यहाँ तो सम्यग्दर्शन अर्थात् शुद्ध उपयोग। ऐसा शुद्ध उपयोग होकर प्रतीति होना, इसका नाम सम्यग्दर्शन है। समझ में आया? शुद्ध आत्मा जो आनन्दस्वरूप ज्ञान की मूर्ति चित्पिण्ड आनन्द का करण्ड, आनन्द का करण्डिया आत्मा, उसे खोले तो आनन्द निकले ऐसा है। उसमें दूसरा कुछ है नहीं। यह आता है, भजन में कहीं आता है। उसमें भी आता

है, नहीं ? 'चित् करण्ड रमी...' उसमें आनन्दकरण्ड और चित्पिण्ड, दो शब्द आते हैं। भजन में कहीं आते हैं। आनन्द आता है। चित्पिण्ड अलग शब्द। यहाँ तो आनन्द और चित्पिण्ड दो शब्द भजन में कहीं आते हैं। यह भजन है न ? उसमें कहीं आते हैं। आनन्द का करण्डिया है और चित् का वह पिण्ड है। समझ में आया ? ऐसा आत्मा किसे कहाँ खोजना ? परन्तु है, वहाँ खोजता नहीं और दया, दान, व्रत और विकल्प में खोजने जाता है। धूल में, कोयला में हीरा खोजने जाता है। समझ में आया ?

कहते हैं **लोक में सम्यग्दर्शनरूप रत्न अमोलक है और वह देव-दानवों से पूज्य है..** लो ! समझ में आया ?

कल्लाणपरंपरया लहंति जीवा विसुद्धसम्मत्तं।
सम्मद्दंसणरयणं अग्घेदि सुरासुरे लोए।।३३।।

अर्थ – **जीव विशुद्ध सम्यक्त्व को कल्याण की परम्परा सहित पाते हैं,...** आहाहा ! समझ में आया ? श्रेणिक राजा, भरत चक्रवर्ती। यह छियानवें हजार स्त्रियों के वृन्द में भरत चक्रवर्ती स्थित थे। समझ में आया ? अन्तर में आत्मा के आनन्द के अतिरिक्त कहीं चैन नहीं पड़ता। समकिती को आत्मा के आनन्द के अतिरिक्त कहीं चैन नहीं पड़ता। दिखता है कि इस स्त्री के विषय में बैठा है और यह करता है, कहीं उसे चैन नहीं पड़ता। यह प्रताप सम्यग्दर्शन का है !

जिसने भगवान आत्मा शुद्ध चिदानन्द की मूर्ति का अनुभव किया, वह शुभ और अशुभ के राग की क्रिया के भी पार पड़ा हुआ प्रभु, उसका भान हुआ, उसका वेदन हुआ, कहते हैं कि वह सम्यग्दर्शन तो अमुलक है। उसका मूल्य क्या ? कहते हैं। अमूल्य ऐसा भगवान आत्मा, उसकी श्रद्धा, उसका मूल्यांकन क्या ? मूल्यांकन क्या करना ? चक्रवर्ती के पद भी उसके समक्ष हीन है। आहाहा ! चक्रवर्ती ऐसा राजा होकर नीच के घर से रोटी माँगे, भीख माँगे, ऐसा यह भगवान आत्मा आनन्द का कन्द चक्रवर्ती प्रभु, वह कहीं पुण्य और पाप के राग में सुख माने, वह भिखारी है। भगवान मिटकर भिखारी हुआ। समझ में आया ?

सम्यग्दर्शन अर्थात् ? अपने मानते हैं वह श्रद्धा। परन्तु क्या श्रद्धा ? किसकी श्रद्धा ? परन्तु तीर्थंकर कौन ? उन्हें क्या है ? स्वयं तीर्थंकर है। चौबीस तीर्थंकर तो दूसरे

रहे। समझ में आया? ऐसे अनन्त तीर्थंकरों को जानने की एक समय की पर्याय में ताकत रखता है। ऐसी अनन्त पर्याय का पिण्ड, आनन्द और ज्ञान का पिण्ड, चैतन्यपिण्ड, वह आत्मा है। आत्मा की जिसे सम्यग्दर्शन और प्रतीति हुई, कहते हैं कि उसे तीर्थंकरगोत्र का भाव भी रुचिकर नहीं लगता। समझ में आया? जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह भाव समकिती को खटकता है, रुचता नहीं, जहर लगता है, दु:ख लगता है। आहाहा! यह तो कोई बात है। समझ में आया?

इसलिए कहते हैं कि **जीव विशुद्ध सम्यक्त्व...** है, जो जीव विशुद्ध समकिती है। श्रेणिक राजा पहले नरक का आयुष्य बँध गया परन्तु बाद में समकित प्राप्त हुए परन्तु उन्होंने अनन्त संसार तोड़ डाला। चौरासी हजार वर्ष की नरक की स्थिति रही। लड्डू बाँधा, उसमें से कहीं घी, आटा निकाला नहीं जा सकता। उसकी कहीं रोटी नहीं होती। वह तो खाना ही पड़ता है। इसी प्रकार एक बार आयुष्य बँध गया, उसकी स्थिति घटे, यह हो, परन्तु गति पलटे और आयुष्य पलटे, ऐसा नहीं होता। इतनी आयुष्य की स्थिति श्रेणिक राजा ने मिथ्यात्वभाव में; महासन्त आनन्द के कन्द थे, उनका अनादर करके, असातना की, (जिससे) तैंतीस सागर का सातवें नरक का आयुष्य बाँधा। सातवाँ नरक—रौरौव नरक अपरिठाणा का आयुष्य बाँधा था परन्तु जहाँ समकित प्राप्त हुए। पूरी सुखबुद्धि उड़ गयी। तीन काल तीन लोक में मेरे आनन्द के अतिरिक्त कोई शुभ विकल्प तीर्थंकरगोत्र का आवे, परन्तु उसमें सुख है नहीं। ऐसी दृष्टि बदली और जहाँ आत्मदर्शन होने के पश्चात् तीर्थंकरगोत्र का विकल्प आया, तथापि उसे आदरणीय नहीं मानते। आहाहा! यह तो कोई बात है! जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह भी राग है, वह आस्रव है। वास्तव में तो आत्मा के अमृत से विरुद्ध वह जहर है। इस जहर की भी जिसे आकांक्षा नहीं, ऐसी सम्यग्दृष्टि पूर्ण आनन्द की भावना भाता है। समझ में आया? गजब बात, भाई!

जीव विशुद्ध सम्यक्त्व को कल्याण की परम्परा सहित पाते हैं,... क्या कहते हैं? तीर्थंकरगोत्र भी बीच में बँध जाए और कल्याण की परम्परा का अर्थ मूल तो शुद्धि होती जाती है, परन्तु यहाँ जरा बाहर की बात साथ ली है। **इसलिए सम्यग्दर्शन रत्न है...** सम्यग्दर्शन तो रत्न है।

अनुभव रत्न चिन्तामणि अनुभव है रसकूप।
अनुभव मारग मोक्ष का अनुभव मोक्षस्वरूप॥

आत्मा के आनन्द का अनुभव, उसमें श्रद्धा होना, उसे समकित कहा जाता है। ऐसे अनुभव बिना पंच महाव्रत के क्लेश करो (तो भी वह) बोझा है। हल्का नहीं, यह पंच महाव्रत के परिणाम भी राग का बोझा है। समझ में आया? सम्यग्दर्शन अमुलक चीज़ है, ऐसा सिद्ध करना है। ओहो! यह क्या चीज़ है! भगवान आत्मा सम्यग्दर्शनसहित **सुर–असुरों से भरे हुए लोक में पूज्य है**। लो। सुर–असुर (अर्थात्) देव और दानव से भी सम्यग्दृष्टि पूजनेयोग्य है। कहो, समझ में आया? परन्तु वह सम्यग्दर्शन किसे कहना, इसकी खबर नहीं होती और इसे धर्म हो गया। यह व्रत, तप, यात्रा और भक्ति... धूल में भी इसमें धर्म नहीं, सुन न!

यह दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का भाव, वह तो राग है। यह राग, वह संवर नहीं, यह राग वह निर्जरा नहीं। राग, वह पुण्य है और पुण्य है, वह जहर है। बापू! वीतराग का मार्ग समझना, सर्वज्ञ कथित मार्ग के स्वरूप की प्रतीति होना, (यह) अलौकिक चीज़ है। सम्यग्दर्शन हुआ, वह तिरने के पन्थ में आया, अब वह संसार से तिरता है, कहते हैं। आहाहा! नवरंगभाई! वह भवजल से तिरकर पार पा जाएगा और जहाँ वह सम्यग्दर्शन नहीं, वे जीव व्रत करें, तप करें, और सब थोथा करते हैं न? उपधान करे और व्रत करे, सोथा करे और शरीर को जीर्ण कर डाले, वह सब संसार के भाव पुण्य हैं, वह राग है, जहर है, सब भटकने का मार्ग है। भारी कठिन काम! समझ में आया?

यह तो हड्डियाँ, जड़, मिट्टी, धूल, राख है। दाल, भात, रोटी का बना हुआ पिण्ड है और श्मशान की राख होकर उड़ जाएगा। यह तो धूल है, यह कहाँ आत्मा है। जिसे ऐसे शरीर के प्रति भी यह शरीर मेरा है, ऐसा प्रेम है, वह मिथ्यादृष्टि है। समझ में आया? और इस शरीर की अनुकूलता कुछ मुझे मिले तो मुझे ठीक पड़ता है, यह भाव भी मिथ्यादृष्टि का मिथ्यात्व है। वह जैन परमेश्वर की आज्ञा को नहीं मानता। मार्ग ऐसा है, भाई! आहाहा!

'सुरासुरे लोए' इसमें से निकाला। भरा हुआ लोक है न? लोक। ओहोहो! भले

कहते हैं कि स्त्री, परिवार, राज्य छूटा न हो, उसकी आसक्ति अन्दर हो। ऐ... नागरभाई! तथापि आसक्ति की रुचि नहीं। आसक्ति में प्रेम नहीं, आसक्ति की आसक्ति नहीं। भगवान आत्मा आसक्तिरहित सत्-शाश्वत् आनन्द का धाम, ऐसे में जहाँ अन्तर्दृष्टि हुई और सम्यग्दर्शन में आत्मा आनन्द है, इसके अतिरिक्त कहीं आनन्द नहीं, ऐसी जहाँ अनुभव में प्रतीति हुई, कहते हैं कि अमुलक अलौकिक रत्न समकित है। जिसे सुर-असुर के देव भी पूजते हैं। समझ में आया?

यहाँ तो शरीर सुन्दर दिखायी दे और यह सुन्दर है तो यह सब हड्डियाँ, हड्डियाँ हैं ये तो। अभी बीच में एक बिल्ली मर गयी थी न? यहाँ देखी थी। जंगल की बिल्ली थी दुर्गन्ध.. दुर्गन्ध.. दुर्गन्ध.. यहाँ कौने में थी। बहुत दुर्गन्ध। वह रजकण की पर्याय ठीक नहीं, ऐसा जो मानता है, वह भी मिथ्यादृष्टि है। यह रजकण की पर्याय स्त्री का सुन्दर शरीर होकर जब आवे, रजकण तो वह के वही हैं। जो सड़े हुए थे वे, वे रजकण जब यहाँ परमाणु रूपवान रूप से होकर, कोमलरूप से परिणमते हैं और इसे ठीक लगते हैं कि यह अच्छा है, (वह) मिथ्यादृष्टि मूढ़ है, उसे जैन नहीं कहते। समझ में आया?

कहते हैं, ओहो! ऐसा जो सम्यग्दर्शन मेंढ़क को हो, मच्छ को हो, परन्तु कहते हैं कि वह सम्यग्दर्शन रत्न तो देव और दानव से भरपूर लोक से वह पूज्य है। आहाहा! समझ में आया?

***भावार्थ* – विशुद्ध अर्थात् पच्चीस मलदोषों से रहित...** विशुद्ध की व्याख्या की है। **'विसुद्धसम्मत्तं'** (शब्द) पड़ा है न? इसलिए पश्चात् दर्शनविशुद्धि, आता है न? भाई! सोलह बोल में। उसमें से यह निकाला तीर्थंकरपना। मैं विशुद्ध—शब्द है न? **पच्चीस मलदोषों से रहित...** आहाहा! जिसे शास्त्र के उघाड़ के ज्ञान ग्यारह अंग नौ पूर्व का हुआ हो, उसका जिसे अभिमान है कि यह ज्ञान कहलाता है, वह मिथ्यात्वभाव है। समझ में आया? ऐसा जो ज्ञान का विकास क्षयोपशम, उतना मैं और वह मेरा है, इसका नाम भगवान मिथ्यात्व अर्थात् पर का स्वामीपना, परचीज़ मेरी—ऐसा माना, वह मिथ्यात्वभाव है। वह भाव जिसे टल गया है। समझ में आया? ऐसे पच्चीस मलदोष से रहित, उसमें एक बड़ा बोल कहा।

निरतिचार सम्यक्त्व से कल्याण की परम्परा अर्थात् तीर्थंकर पद पाते हैं,..

इसमें यह डाला है। दर्शनविशुद्धि शब्द है न? इसलिए कल्याण बढ़ता जाता है, मूल तो ऐसा (कहना है)। तीर्थंकर पदवी – पद है। वह कहीं कल्याण का कारण नहीं है परन्तु जिसने तीर्थंकरगोत्र बाँधा है, उसे कल्याण की शुद्धि अपने पुरुषार्थ की योग्यता से बढ़ती ही जाती है। वह वापस गिरे, ऐसा नहीं है, ऐसा। समझ में आया?

जो तीर्थंकर का आत्मा होनेवाला हो या हुआ है, उसका समकित अप्रतिहत होता है, उसका समकित गिरता नहीं। समझ में आया? अरे! श्रेणिक राजा क्षायिक समकित, हजारों रानियाँ – राज और भोग (थे)। बाहर की हिंसा देखो तो पूरे कुँए के पानी राजा के लिये प्रयोग करते हों और जिसके घर में सब्जी या उसके करोड़ों सैनिक लोग आदि, उनके लिये करोड़ों-अरबों मण हरितकाय खायी जाती हो। राज मेरा है, ऐसा वह ज्ञानी अन्तर में मानता नहीं है। आहाहा! समझ में आया? अपने हुकम प्रमाण रैयत चले, इसलिए यह रैयत मेरी, ऐसा समकिती नहीं मानता। आहाहा! धीरुभाई! ऐसी समकित की व्याख्या है। क्या हो? जगत को मिला नहीं भव चला जाता है ऐसा का ऐसा। भले करोड़ों रुपये हों और अरबों रुपये हों। ऐई! भिखारी! अपने आनन्द के बादशाह को तो जो चाहता नहीं और ऐसे राग और राग के फल को चाहता है, परमात्मा कहते हैं कि बड़ा भगवान होने पर भी वह भिखारी हो गया और वह अपने स्वरूप के अनुभव में जहाँ प्रतीति हुई, वहाँ बादशाह हुआ। उसे चक्रवर्ती का राज भी नहीं चाहिए और इन्द्र के इन्द्रासन भी नहीं चाहिए। आहाहा! समझ में आया?

स्त्री का शरीर मक्खन जैसा सुन्दर हो और उस विषय में उसे प्रेम ऐसा हो कि वह तो एकाकार भूल जाए। मूढ़ है, कहते हैं। मिथ्यादृष्टि गहल पागल.. पागल.. पागल.. पागल है। तुझे धर्मी कौन कहे? ऐसा कहते हैं। समझ में आया? आहाहा! धर्मी को तो ऐसी स्थिति में पागलपना स्वयं को लगे। आहाहा! अरे! यह पागलपन क्या? यह सुख मानता नहीं, इसलिए विकल्प की लगनी में इसे गहलता लगती है। अरे! यह पागलपन है, हों! आहाहा! समझ में आया?

कहते हैं, अहो! ऐसे विशुद्ध निरतिचार समकित की कल्याण की परम्परा कहते हैं। **अर्थात् तीर्थंकर पद पाते हैं, इसलिए यह सम्यक्त्व रत्न लोक में सब देव, दानवों और मनुष्यों से पूज्य होता है।** लो! यह तो वहाँ पूज्य होता है, ऐसा डाला, ऐसा

कहा, भाई! तीर्थंकरगोत्र बाँधे, पश्चात् सर्व लोक से पूज्य है। यहाँ पूज्य है, यहाँ तो मूल विशेष यह है। समझ में आया?

'रजकण तेरे भटकेंगे जैसे भटकती रेत।' यह मिट्टी-धूल.. धूल पुद्गल की इकट्ठी हुई है। वह रजकण-रजकण पृथक् पड़ जायेंगे। प्रभु! वह तेरे नहीं और उनकी समानता से तुझे समानता नहीं और उनकी असमानता से तुझे असमानता नहीं। समझ में आया? धर्मी को शरीर में सोलह रोग हों, रौरौव नरक में हो तब या पहले नरक में होवे, रौरौव (नरक में) नारकी को) (शरीर में) सोलह रोग (होते हैं) परन्तु वह तो जड़ की दशा है, वह कहीं मैं नहीं हूँ। इस प्रकार समकिती अपने को आनन्दमूर्ति मानकर रोग की अवस्था वह मुझमें, मुझे है नहीं (ऐसा मानता है)।

यहाँ थोड़ी भी प्रतिकूलता सहन नहीं होती और ऐसे अनुकूलता के प्रेम में ऐसा मिथ्यात्वभाव (सेवन करता है) कि जिसमें से अनन्त प्रतिकूलता खड़ी होती है, ऐसे भाव को वह अच्छा मानता है। समझ में आया? आहाहा! यह तो जरा वीतरागी बात है, भाई! समकित है, वह वीतरागी समकित है। समझ में आया?

कहते हैं, ओहो! जिसे समभाव ज्ञातादृष्टा का अंश प्रतीति होकर ऐसा हुआ है कि जिसमें शुद्धि की वृद्धि होते-होते कोई तीर्थंकर पद भी बीच में शुभभाव आवे और हो, वह पदवी प्राप्त करे तो इससे वह समकित रत्न सर्व लोक में देव, दानव और मनुष्य से पूज्य है। आहाहा!

श्रेणिक राजा समकितसहित अभी नरक में हैं। राजपाट छूटा नहीं था। सम्यग्दृष्टि हैं, वहाँ से निकलकर पहले तीर्थंकर होनेवाले हैं। जैसे महावीर भगवान यहाँ चौबीसवें तीर्थंकर थे, वैसे ही काया सात हाथ ऊँची इत्यादि-इत्यादि लगभग, उनके जैसे भगवान होनेवाले हैं। स्त्री, पुत्र छोड़े नहीं। छोड़े नहीं अर्थात्? आसक्तिरूप से, हों! दृष्टि में से तो रागादि सब छूट गया है। आहाहा! वह जीव तीर्थंकर होगा। अभी पहले नरक में है। चौरासी हजार वर्ष की स्थिति में है। और साधु नग्न दिगम्बर होने पर भी, वे महाव्रत के परिणाम हैं, वे आस्रव हैं, उन्हें अपना माने और हितकर माने, वह मिथ्यादृष्टि निगोद के पंथ में पड़ा है। यहाँ कल्याण की परम्परा आयी, उसके सामने यह आया। आहाहा! गजब बात! समझ में आया?

धर्मी को आत्मा के आनन्द के स्वाद के समक्ष धर्मी पहले नम्बर का समकिती हो, तब से उसे आत्मा के आनन्द के स्वाद के समक्ष कोई चीज़ रागादि या राग के फल में आनन्द, लाभ दिखायी नहीं देता। समझ में आया? यह तो बहुत महंगा, ऐसा कितने ही कहते हैं। वह है वह है। लोगों ने माना होता है न? देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा करो और पुस्तक आदरो बारह व्रत की, हो गये हम श्रावक और समकिती। ठगा जायेगा, मर जायेगा। यहाँ आयुष्य पूरा होकर निगोद में चला जायेगा। समझ में आया? आहाहा! प्रकाशदासजी! ऐसी बात है। आहाहा!

कहते हैं, वह तीर्थंकर होगा। आहाहा! समकित आत्मा के भानसहित श्रेणिक नरक में गये हैं। वहाँ वे तीर्थंकरगोत्र बाँधते हैं। बाँधते हैं? पण्डितजी! वहाँ भी बाँधते हैं। दो दिन पहले कह गये हैं। पहले शुरुआत यहाँ से हुई थी, परन्तु ऐसी की ऐसी अभी चालू है। आहाहा! दो-तीन दिन पहले बात हुई थी, परन्तु इन्हें याद नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

ज्ञानस्वरूपी भगवान तो अकेला चैतन्य का पिण्ड आत्मा तो है। उसमें यह दया, दान, व्रत और भक्ति का, पूजा का विकल्प (आवे), वह वस्तु में है ही नहीं। वह तो नया खड़ा करके राग को उत्पन्न करता है। आहाहा! समझ में आया? वीतरागस्वरूप भगवान आत्मा का स्वरूप ही वीतरागस्वरूप है। अनादि-अनन्त प्रत्येक आत्मा का। ऐसे वीतरागस्वरूप के अन्दर ज्ञान में उसका ज्ञेय होकर प्रतीति हो, उसे दुनिया में कहीं चैन नहीं पड़ती। छियानवें हजार स्त्रियाँ पद्मिनी जैसी (हो) और एक देवी की तो हजार देव सेवा करें। क्या कहलाती है वह देवी? स्त्रीरत्न। स्त्रियों में बड़ी, धूल में। वह भी उसे ललचावे तो भी समकिती को कहीं सुख भासित नहीं होता। समझ में आया? आहाहा! ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव को आत्मा के आनन्द के अतिरिक्त कहीं सुख नहीं लगता। उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? लो, हम अब समकिती हैं, भगवान को मानते हैं। अब व्रत लो, चौपड़ी लो, चौपड़ी। चौपड़ी लो। व्रत कहाँ थे अज्ञानी को? आहाहा! समझ में आया?

कहते हैं, देखो! पाठ में महिमा कितनी की है! '**सम्मद्दंसणरयणं अग्घेदि सुरासुरे लोए**' शब्द तो ऐसा कहा है। भाई! परन्तु उसे जरा उसके प्रताप में, सम्यग्दर्शन के भान

में (ऐसा होता है, ऐसा कहते हैं।) छहढाला में भी आता है न? 'लेश न संयम पै सुरनाथ जजै हैं।' चरित मोहवश वश में पड़ा है, हों! मोह उसे कराता नहीं है परन्तु इतनी चारित्रमोह के उदय की आसक्ति है। ऐसा होने पर भी चारित्र नहीं परन्तु सम्यग्दर्शन है तो सुरनाथ जजै हैं। सुर के नाथ अर्थात् इन्द्र भी उसे पूजते हैं। ओहो! धन्य अवतार! धन्य बापू! तेरा भाव। जिसने चैतन्यरत्न अनुभव में लिया... आहाहा! धन्य तेरा सफल अवतार! ऐसे इन्द्र भी जिसके गीत गाते हैं। समझ में आया? पैसेवाले गाने गवाते हैं न? देखो! पैसा होवे तो कहे, जलसा करो, हमारी इज्जत करो, हमारे ७५ वर्ष हुए, ८० वर्ष हुए, जन्मजयन्ती साथ में मनावे... ऐसा करके करे, करावे तब, भिखारी होकर। समझ में आया? उसे तो बिना कहे इन्द्र उसकी शोभा करते हैं, ऐसा जिसे सम्यग्दर्शन था, उसके भाव में शुभभाव में जो आया, उसके फल में जिसे ऐसा सत्कार, सम्मान का जलसा होता है परन्तु वह सत्कार, सम्मान को स्पर्श नहीं करता। आहाहा!

तीर्थंकर प्रकृति के बंध के कारण सोलहकारण भावना कही हैं,... तीर्थंकरपना बाँधे, उस सम्यग्दृष्टि को ऐसा भाव आता है। जो कुछ व्रत और नियम के विकल्प हैं, वह मानो धर्म है, ऐसा माननेवाले मिथ्यादृष्टि को तो ऐसा विकल्प नहीं हो सकता। समझ में आया? यहाँ कहते हैं कि **तीर्थंकर प्रकृति के बंध के कारण सोलहकारण भावना कही हैं,...** भावना शब्द से यह विकल्प आ जाता है। भाता है, ऐसा नहीं, हों!

उनमें पहली दर्शनविशुद्धि है,... देखा! **'लोए'** शब्द पड़ा है न? **'विसुद्धसम्मत्तं' वही प्रधान...** है। सोलहकारण में दर्शनविशुद्धि तीर्थंकर प्रकृति बन्धन में प्रधान है और सम्यग्दर्शन की शुद्धि नहीं है, ऐसे भले भगवान का विनय करे, अपवास करे, छह आवश्यक करे, सामायिक, चौबीसंथो आदि (करे), वह सब व्यर्थ-व्यर्थ पुण्य बाँधकर उड़ जानेवाले हैं। समझ में आया? वैभव की कितनी कीमत इसमें?

मुमुक्षु : जरा भी नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : जरा भी नहीं, तो वहाँ तुम्हें किसलिए बुलाते हैं? यहाँ नहीं आते? सुमनभाई यहाँ आवे, देखो! खबर है? यहाँ आवे और वहाँ वापस पैर दबाये, हों!

मुमुक्षु : इसमें फायदा क्या...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो आते हैं, इतनी बात की न! और इन्हें वहाँ जाना पड़े सेवा कराने के लिये, वाह! ऐ... हिम्मतभाई! आहाहा!

मुमुक्षु : वह न आवे तो मुझे वहाँ जाना पड़े।

पूज्य गुरुदेवश्री : तुम कब वहाँ गये हो? आहाहा!

कहते हैं, धर्मी तो अपना शरीर उत्पन्न करनेवाले निमित्त पिता, उसे पिता ही नहीं मानता न, अरे! ऐई! क्योंकि धर्मी को आत्मा के अतिरिक्त कोई परचीज़ है, वह सब ज्ञान का ज्ञेय है। वह मेरे पिता हैं और मैं पुत्र हूँ—ऐसा समकिती नहीं मानता। आहाहा! गजब बातें हैं! गजब काम। ऐ... मोहनभाई! क्या होगा इसमें? इन्हें इकलौता पुत्र है, उसे वहाँ भटकाते हैं। सुरेन्द्र। लो, निकट है न! समझ में आया? कल हिम्मतभाई कहते थे। मेरे इकलौता पुत्र है तो अन्यत्र घुमायेगा नहीं, मेरी नजर तले रहता है। वहाँ भले वेतन अधिक मिले परन्तु मुझे नहीं रखना, ऐसा हिम्मतभाई कहते थे। आहाहा!

मुमुक्षु : यहाँ का लाभ मिले।

पूज्य गुरुदेवश्री : फिर जरा... लिया, यहाँ का सुनने का लाभ मिले। आहाहा!

भगवान! तेरे स्वरूप की क्या बातें! परमेश्वर केवलज्ञानी तीर्थंकरदेव ने जो आत्मा कहा, उसके गुणों की क्या व्याख्या! ऐसे गुण का समुद्र भगवान, उसे पुण्य और पाप के राग से भिन्न करके भेदज्ञान हुआ और उसमें प्रतीति, प्रतीति – श्रद्धा भरोसा आया कि यह तो अनन्त आनन्द और कल्याण की मूर्ति ही आत्मा तो है। उसमें से तो केवलज्ञान और आनन्द पके, ऐसा यह मेरा फल है। मेरा क्षेत्र तो ऐसा है कि जिसमें सिद्ध पद पके। संसार पके नहीं, ऐसा मैं हूँ, ऐसा मानते हैं। आहाहा! ऐई! रतिभाई! यह पैसा–बैसा की कीमत कुछ नहीं रही। कहते हैं न यह सब, तुम करोड़पति हो, ऐसी बातें करते हैं। कहाँ गया अतुल? समझ में आया? यह कीमत है। बात यह है। धूल में कुछ (नहीं) अब। तेरे कंकड़ करोड़ हो और पाँच करोड़ हो और दस करोड़ हो। धूल है, धूल। मिट्टी है, सुन न! उसे देखकर प्रसन्न होता है, मूढ़ है। मलूकचन्दभाई! भगवान को–आत्मा को देखकर प्रसन्न होवे कि आहाहा! यह तो चैतन्य चमत्कार हीरा! जिसकी कीमत केवली ने की, बाकी साधारण लोगों का गज नहीं है। आहाहा! समझ में आया? ऐसा अनुभवगम्य प्रभु, उसका जो समकित, उसकी भावना में दर्शनशुद्धि प्रधान है। दूसरी सब क्रियाएँ भले

विनय आदि हो परन्तु यह दर्शनशुद्धि न हो तो छह आवश्यक और वह सब आता है न? वह सब व्यर्थ है। यह होवे विकल्प तो उसे व्यवहार कहा जाता है।

विनयादिक... देखो! शब्द यह आया, हों! इसमें। मेरे मस्तिष्क में से अध्धर से उठा था। विनय उठता है न? बहुत विनयवाला अच्छा कहलाये न! इसमें यह आया, हों! **यही विनयादिक पंद्रह भावनाओं का कारण है,...** आहाहा! समझ में आया? भगवान अनमोल रत्न, उसका मूल्य नहीं, ऐसा चैतन्यरत्न, उसका जिसे सम्यग्दर्शन का रत्न प्रगट हुआ, कहते हैं कि उसके सम्यग्दर्शन में सम्यग्दर्शन की प्रधानता का जो पहला विकल्प है, वह तीर्थंकरगोत्र का कारण है। दर्शनशुद्धि अकेला कारण नहीं है, वह विकल्प होता है न? परन्तु उसमें यह होवे, पश्चात् वे पन्द्रह कारण होवें तो हो, न होवे तो अकेले दर्शनविशुद्धि से तीर्थंकरगोत्र बाँधे। आहाहा! समझ में आया? कितने ही-कितने होते हैं, सब भले नहीं होते। उतारे हैं न? धवल में उतारे हैं प्रत्येक में। यह होवे तो इतना तो हो, यह होवे तो इतना तो हो, ऐसे सब उतारे हैं। बड़ा विस्तार है। एक बार अपने पढ़ा था, नहीं? यहाँ पढ़ा था। आहाहा! रामजीभाई तब नहीं थे। यहाँ पढ़ा था। हाँ, खबर है।

सोलह कारण से तीर्थंकरगोत्र बँधे। उसमें पहला मुख्य सम्यग्दर्शन की विशुद्धि का ऐसा विकल्प। सम्यग्दर्शन है, वह तो कहीं तीर्थंकरगोत्र बाँधने का कारण नहीं है। सम्यग्दर्शन तो धर्मस्वरूप आत्मा का आनन्द है, वह कहीं बन्ध का कारण नहीं हो सकता परन्तु दर्शनविशुद्धि की भूमिका का जो विकल्प, राग उठता है, उसे तीर्थंकरगोत्र बन्ध का कारण कहा जाता है। समझ में आया? आहाहा! वे यह विवाद उठाते हैं। समकित से देव का आयुष्य बँधता है, (ऐसा कहते हैं)। अरे! देव का बँधा। समकिती सराग समकित सहित सराग संयमी हो, रागवाला संयम हो, वह स्वर्ग में जाता है, ऐसा कहा है परन्तु उस सराग संयम में राग के अंश के कारण से जाता है। सुन तो सही! यह तो पहली बात में कहा। आहाहा! देव के आयुष्य का बन्धन पड़े या चक्रवर्ती का या तीर्थंकरगोत्र का, वह सब राग का अंश होवे तो बन्धन पड़े। आत्मा के धर्म से बन्धन पड़ेगा? धर्म की खबर (नहीं)। धर्म तो अबन्ध परिणामी है। आहाहा! चौरासी के अवतार में लुटा है न! उसमें से-लूट में से निकलना इसे सुहाता नहीं और उसके प्ररूपक भी इसे ऐसे मिल जाते हैं। आहाहा!

बापू! तेरी चीज़ तो वीतरागस्वरूप है। वह केवली वीतराग होता है, वह वीतरागपना कहाँ से आता है? वह बाहर से आता है? बाहर से आवे कहाँ से? पीपर में से चौंसठ पहरी चरपराहट जो आती है, वह बाहर से आती है? वह चौंसठ पहरी चरपराहट की छोटी पीपर नहीं? बाहर से आती है? अन्दर में पड़ी है, वह आती है। इसी प्रकार वीतराग सर्वज्ञ पद, सिद्धपद वह कहाँ से आया? वह अन्दर में स्वभाव में है, उसमें से आता है। वे विकल्प किये और महाव्रत पालन किये, उसमें से कुछ सिद्धपद नहीं आता। आहाहा! भारी काम। कठिन परन्तु गजब, हों! लोगों को साधारण नये लोगों को ऐसा लगता है यह तो क्या यह? किस प्रकार का यह धर्म? धीरुभाई! नये लोगों को तो ऐसा लगे, यह किस प्रकार का धर्म? अरे! भगवान! बापू! तूने सुना नहीं, भाई! परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकर वीतरागदेव इन्द्र और गणधरों के समक्ष में यह बात कहते थे। तुझे सुनने को नहीं मिले, इसलिए धर्म कुछ दूसरा हो जाये, ऐसा नहीं है। समझ में आया?

इसलिए सम्यग्दर्शन के ही प्रधानपना है। लो, समझ में आया?

गाथा-३४

अब कहते हैं कि जो उत्तम गोत्र सहित मनुष्यत्व को पाकर सम्यक्त्व की प्राप्ति से मोक्ष पाते हैं, यह सम्यक्त्व का माहात्म्य है –

लद्धूण[१] य मणुयत्तं सहियं तह उत्तमेण गोत्तेण।
लद्धूण य सम्मत्तं अक्खयसोक्खं[२] च मोक्खं च।।३४।।

लब्ध्वा च मनुजत्वं सहितं तथा उत्तमेन गोत्रेण।
लब्ध्वा च सम्यक्त्वं अक्षयसुखं च मोक्षं च।।३४।।

उत्कृष्ट गोत्र-सहित मनुजता प्राप्तकर सम्यक्त्व को।
पा सौख्य अक्षय ज्ञान केवल और मुक्ति प्राप्त हो।।३४।।

१. 'दट्ठूण' पाठान्तर। २. 'अक्खयसोक्खं लहदि मोक्खं च' पाठान्तर।

अर्थ **– उत्तमगोत्र सहित मनुष्यपना प्रत्यक्ष प्राप्त करके और वहाँ सम्यक्त्व प्राप्त करके अविनाशी सुखरूप केवलज्ञान प्राप्त करते हैं तथा उस सुखसहित मोक्ष प्राप्त करते हैं।**

भावार्थ **– यह सब सम्यक्त्व का माहात्म्य है।।३४।।**

गाथा-३४ पर प्रवचन

अब कहते हैं कि जो उत्तम गोत्र सहित मनुष्यत्व को पाकर सम्यक्त्व की प्राप्ति से मोक्ष पाते हैं, यह सम्यक्त्व का माहात्म्य है.. अहा! जिसे आत्मदर्शन हुआ, आत्मानुभव-सम्यग्दर्शन हुआ, कहते हैं कि उसे बाकी रहा हुआ जरा राग होता है तो उससे इन्द्र आदि में गया, वहाँ से उत्तम योग इत्यादि कोई राजकुल में जाकर अवतार होकर वहाँ केवलज्ञान पाकर मोक्ष जायेगा, ऐसा कहते हैं। उत्तम गोत्र लेना है न? आहाहा! समकिती को उत्तम गोत्र होता है, कहते हैं। रत्नकरण्ड श्रावकाचार में आता है। पण्डितजी! रत्नकरण्ड श्रावकाचार में। नहीं? शक्ति, ऐसा आता है न? रत्नकरण्ड श्रावकाचार में छह बोल ऋद्धि, समकिती ऐसी ऋद्धि को पाता है।

मुमुक्षु : नारक, तिर्यंच....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह नहीं, वह नहीं। यह तो पावे तो ऐसी शक्ति की बात है। बोल आते हैं। क्या नाम? ऋद्धि आदि छह बोल हैं। श्लोक में हैं। शक्ति, ऋद्धि...

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह। कहीं है। है शास्त्र। छह बोल हैं। समकिती आराधक हुआ है, उसे ऐसा होता है, ऐसा। श्वेताम्बर में दस बोल आते हैं। इसमें कहीं छह बोल आते हैं। श्वेताम्बर में दशांगीसुख में उपजता है, ऐसा आता है। तीसरे अध्ययन में है। समझ में आया? इसमें—रत्नकरण्ड श्रावकाचार में भी बोल आते हैं। सब कहीं याद रहता है? समझ में आया?

यहाँ आचार्यदेव कहते हैं, जिसे आत्मदर्शन, आत्म साक्षात्कार, आत्मा का भान,

आत्मा का अनुभव हुआ, उसे समकिती कहते हैं। उसके बिना जीव को समकिती नहीं कहते। यह समकिती का माहात्म्य ऐसा है कि **'लद्धूण य मणुयत्तं'** वापस यहाँ से मरकर स्वर्ग में जाए और स्वर्ग में से मरकर वह तो वापस मनुष्य ही हो। और समकिती जो देव और नारकी हो, वह मनुष्य में आवे और तिर्यंच पशु असंख्य सम्यग्दृष्टि भगवान ने देखे हैं। ढाई द्वीप के बाहर, ढाई द्वीप के बाहर हजार-हजार योजन के मच्छ अनुभवी समकिती हैं। वे सब मरकर स्वर्ग में जाते हैं। समझ में आया? स्वर्ग के देव और नारकी के जीव दोनों मनुष्यपने में आते हैं और मनुष्य तथा पशु समकिती हों, वे मरकर देव में जाते हैं। समझ में आया? यह बात लेकर कहते हैं...

लद्धूण य मणुयत्तं सहियं तह उत्तमेण गोत्तेण।
लद्धूण य सम्मत्तं अक्खयसोक्खं च मोक्खं च।।३४।।

'अक्खयसोक्खं मोक्खं' पाठ में है।

अर्थ **– उत्तमगोत्र सहित मनुष्यपना प्रत्यक्ष प्राप्त करके...** आहाहा! जब समकित पाता है, तब भले साधारण नरकगोत्र आदि हो। नरक में भी होवे, पशु में भी होवे, मनुष्य में, देव में हो परन्तु सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के पश्चात् उसे तो उत्तम गोत्र मनुष्यपने की ही उसे प्राप्ति होती है। उसे पशु का या विकलत्रय का या... समझ में आया? भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष का अवतार उसे नहीं हो सकता। आहाहा! समझ में आया? **'मणुयत्तं सहियं'** अर्थात् सहित है वह पाता है। **'उत्तमेण गोत्तेण'**

सम्यग्दृष्टि जीव यहाँ स्थिति पूरी करके मनुष्य होता है और तिर्यंच होता है तो स्वर्ग में जाता है परन्तु यहाँ से कहते हैं कि उत्तम गोत्र ऐसे मनुष्य में राजकुल में जन्मे या कोई धनाढ्य अरबोंपति के घर में उसका जन्म होता है। पूर्व में आराधन किया है, इसलिए उसके पुण्य के फल में भी ऐसी उसकी उत्तम गोत्र की दशा होती है। तथापि उसे वहाँ उसमें प्रेम नहीं होता। आहाहा! ऐसे उत्तम मनुष्य में आये, वह कुछ नहीं। गरीब हो या उत्तम हो, समकिती को दोनों के प्रति ज्ञाता और ज्ञेयपना है।

यहाँ तो यह प्रत्यक्ष ऐसा कहते हैं, **वहाँ सम्यक्त्व प्राप्त करके अविनाशी सुखरूप केवलज्ञान प्राप्त करते हैं...** लो, यहाँ तो सीधी ही बात की है। समकिती ऐसा

होता है और वैसा होता है, इतने भव करता है, ऐसी बातें नहीं ली। पंचम काल में कहते हैं ऐसे समकिती हो, वह तो अल्प काल में केवल (ज्ञान) प्राप्त करके मोक्ष ही जाता है। समझ में आया? विस्तार है, विशेष लेंगे... **यह सब सम्यक्त्व का माहात्म्य है।** भावार्थ में एक शब्द लिया। (**श्रोता:** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा-३५

अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि जो सम्यक्त्व के प्रभाव से मोक्ष प्राप्त करते हैं, वे तत्काल ही प्राप्त करते हैं या कुछ अवस्थान भी रहते हैं ? उसके समाधानरूप गाथा कहते हैं –

विहरदि जाव जिणिंदो सहसट्ठसुलक्खणेहिं संजुत्तो।
चउतीसअइसयजुदो सा पडिमा थावरा भणिया।।३५।।

विहरति यावत् जिनेन्द्रः सहस्राष्टलक्षणैः संयुक्तः।
चतुस्त्रिंशदतिशययुतः सा प्रतिमा स्थावरा भणिता।।३५।।

वे सहस अष्ट सुलक्षणों चौंतीस अतिशय से सहित।
जब तक जिनेंद्र विहार करते कहें प्रतिमा स्थावर।।३५।।

अर्थ **– केवलज्ञान होने के बाद जिनेन्द्र भगवान जबतक इस लोक में आर्यखंड में विहार करते हैं, तबतक उनकी वह प्रतिमा अर्थात् शरीर सहित प्रतिबिम्ब उसको 'थावर प्रतिमा' इस नाम से कहते हैं। वे जिनेन्द्र कैसे हैं ? एक हजार आठ लक्षणों से संयुक्त हैं। वहाँ श्रीवृक्ष को आदि लेकर एक सौ आठ तो लक्षण होते हैं। तिल मुस को आदि लेकर नो सौ व्यंजन होते हैं।**

चौतीस अतिशयों में दस तो जन्म से ही लिये हुए उत्पन्न होते हैं – १. निस्वेदता, २. निर्मलता, ३. श्वेतरुधिरता, ४. समचतुरस्रसंस्थान, ५. वज्रवृषभनाराचसंहनन, ६. सुरूपता, ७. सुगंधता, ८. सुलक्षणता, ९. अतुलवीर्य, १०. हितमितवचन – ऐसे दस होते हैं। घातिया कर्मों के क्षय होने पर दस होते हैं – १. शतयोजन सुभिक्षता,

२. आकाशगमन, ३. प्राणिवध का अभाव, ४. कवलाहार का अभाव, ५. उपसर्ग का अभाव, ६. चतुर्मुखपना, ७. सर्वविद्याप्रभुत्व, ८. छायारहितत्व, ९. लोचन स्पंदनरहितत्व, १०. केश नखवृद्धिरहितत्व – ऐसे दस होते हैं। देवों द्वारा किये हुए चौदह होते हैं – १. सकलार्द्धमागधी भाषा, २. सर्वजीव मैत्रीभाव, ३. सर्वऋतु–फलपुष्पप्रादुर्भाव, ४. दर्पण के समान पृथ्वी का होना, ५. मंद सुगंध पवन का चलना, ६. सारे संसार में आनन्द का होना, ७. भूमिकंटकादिरहित होना, ८. देवों द्वारा गंधोदक की वर्षा होना, ९. विहार के समय चरणकमल के नीचे देवों द्वारा सुवर्णमयी कमलों की रचना होना, १०. भूमि धान्यनिष्पत्ति सहित होना, ११. दिशा आकाश निर्मल होना, १२. देवों का आह्वानन शब्द होना, १३. धर्मचक्र का आगे चलना, १४. अष्ट मंगल द्रव्य होना – ऐसे चौदह होते हैं। सब मिलाकर चौंतीस हो गये।

आठ प्रातिहार्य होते हैं, उनके नाम – १. अशोकवृक्ष, २. पुष्पवृष्टि, ३. दिव्यध्वनि, ४. चामर, ५. सिंहासन, ६. छत्र, ७. भामंडल, ८. दुन्दुभिवादित्र – ऐसे आठ होते हैं। ऐसे अतिशयसहित अनन्तज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख, अनंतवीर्य सहित तीर्थंकर परमदेव जबतक जीवों के सम्बोधन निमित्त विहार करते विराजते हैं, तबतक स्थावर प्रतिमा कहलाते हैं।

स्थावर प्रतिमा कहने से तीर्थंकर के केवलज्ञान होने के बाद में अवस्थान बताया है और धातु पाषाण की प्रतिमा बनाकर स्थापित करते हैं, वह इसी का व्यवहार है।।३५।।

प्रवचन-२१ गाथा-३५ से ३६ सोमवार, ज्येष्ठ कृष्ण ११, दिनांक २९-०६-१९७०

यह अष्टपाहुड़ है। दर्शनपाहुड़ की ३५वीं गाथा। ३४ में समकित का माहात्म्य कहा। ३५ में ऐसा कहते हैं—

सम्यक्त्व के प्रभाव से मोक्ष प्राप्त करते हैं, वे तत्काल ही प्राप्त करते हैं या कुछ अवस्थान भी रहते हैं? कहते हैं कि यह आत्मा पूर्ण शुद्ध आनन्द और ज्ञानमय आत्मा है, उसका जहाँ अन्तरभान होकर सम्यग्दर्शन होता है, उसकी पुण्य–पाप के राग में या विषय–वासना में सुखबुद्धि उड़ जाती है। समझ में आया? इससे वह दु:ख को क्षय करने में इस आत्मा का सुखस्वरूप है। आत्मा ऐसा जहाँ भान होता है, उस भान को

सम्यग्दर्शन कहते हैं। उसी के द्वारा, उसके प्रभाव से पूर्ण आनन्द को, मोक्ष को पाता है। समझ में आया?

जिसे सुखी होना हो तो कैसे सुखी होता है, ऐसा कहते हैं। यह अनादि संसार में दुःखी है, शुभ-अशुभभाव, संकल्प-विकल्पभाव, यह सब आस्रव है, मैल है, दुःख है, जहर है। उसका जिसे प्रेम और रुचि है, वह निगोद और चार गति के पन्थ में पड़ा हुआ है। समझ में आया? जिसे आत्मा के आनन्द के अतिरिक्त किसी भी बाह्य चीज़ में प्रेम और प्रीति होकर सुखबुद्धि उपजती है, वह सब दुःख में जाने के रास्ते हैं, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? और जिसे आत्मा के आनन्द का प्रेम और रुचि है, अतीन्द्रिय आनन्द भगवान आत्मा का अनुभव होने पर आनन्द का वेदन आने पर उस आनन्द का समकित अर्थात् श्रद्धा, ऐसे सम्यग्दर्शन द्वारा परम आनन्दरूपी मोक्ष को प्राप्त करता है। वह (अज्ञानी) दुःख की दृष्टिवाला चार गति के भव को प्राप्त करता है। समझ में आया?

सम्यक्त्व के प्रभाव से... अर्थात् आत्मा... यह शरीर, वाणी, मन तो जड़ है। समझ में आया? यह मरने / देह छूटने के काल में कण्ठ भी रुँध जाएगा, आवाज भी नहीं कर सकेगा क्योंकि आवाज की क्रिया तो कण्ठ-जड़ की है। समझ में आया? देह छूटने के काल में कितनों का यह कण्ठ बन्द (हो जाता है) जीते-जी (ऐसा होता है) अभी दस-पन्द्रह मिनिट जीवे, कण्ठ बन्द हो जाता है। ऊं... ऊं... (करे)। आहाहा! क्योंकि वह तो जड़ की क्रिया है, कहीं आत्मा की नहीं है। इसलिए बोलकर समाधान करता था, वह बोलने का नहीं रहा। समझ में आया? आहाहा! कण्ठ पकड़ा जाता है क्योंकि कण्ठ छूटता है, वह जड़ की क्रिया है, यह आवाज आदि कहीं आत्मा की क्रिया नहीं है।

मुमुक्षु : इसमें ही विवाद...

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु इसे प्रत्यक्ष नहीं दिखता? वह बड़ा डाकू नहीं था? मोटर को 'रामानन्द गामा' मोटर को खड़ी रखता। मक्खी आकर बैठे तो ऐसा नहीं उड़ा सकता था। मरते समय (ऐसी दशा हो गयी थी)। जिसे सरकार की ओर से ईनाम मिलता था। क्या कहलाता है वह? पहलवान। सैंडो पहलवान। वह तो जड़ है, यह तो मिट्टी का

पहलवान है। आत्मा कहाँ है ? आत्मा तो अन्दर अलग चीज़ है। आहाहा! यह फोटो आया था। ऐसा बैठा था और फोटो खींचा। मक्खी यहाँ बैठी थी तो (ऐसा) नहीं होता था। बापू! वह तो जड़ की क्रिया, भाई! उसे खबर नहीं। वह मुझसे होती है, ऐसा माने तो वह शरीर को अपना मानता है। शरीर मुझसे भिन्न है, ऐसी इसे दृष्टि नहीं है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : वैराग्य पहले से होवे तो वहाँ आगे हो। पहले देखे कि हाथ में बाण डालना आता न हो और फिर गोरों के सामने खड़ा रहना या सोल्जर के सामने ? इस शरीर की यह भाषा, कण्ठ यह होता है, वह सब जड़ की पर्याय से होता है। वह जड़ की पर्याय रुकेगी, तब फिर आत्मा बोल सके, यह नहीं रहेगा। कुछ कहना हो तो अन्दर इसे आकुलता होगी। हाय... हाय...! यह कहा नहीं गया, यह अमुक नहीं। परन्तु कौन कहे ? सुन न भाई! आहाहा! समझ में आया ? ममता हो लड़के के प्रति, स्त्री के प्रति, मकान के प्रति। एकदम कण्ठ (बन्द हो जाए)। बापू! जिसे इस शरीर के प्रति रुचि है और विषय के भाव में जिसे रुचि और प्रेम है, वह सब कण्ठ रुँधेगा, तब उलझन में आएँगे। समझ में आया ? क्योंकि दूसरी चीज़ पर अपनी प्रीति थी। आहाहा! समझ में आया ?

यहाँ भगवान ऐसा कहते हैं कि जिसे सम्यग्दर्शन है, आत्मा आनन्दस्वरूप है, चैतन्य प्रभु है। वह भगवान आत्मा को साक्षात् चैतन्य भगवानस्वरूप है। आनन्द और ज्ञान की लक्ष्मीवाला है। वह स्वयं प्रभु है। ऐसी प्रभु की जिसे प्रीति, प्रतीति ज्ञान में आयी नहीं और पर की रुचि और प्रीति-प्रेम छूटा नहीं वे सब मरने के काल में हें... हें... हो जाएँगे। बाहर से दु:खी, इस समय भी है, माने तब। समझ में आया ?

और जो धर्मी है, उसने आत्मा में आनन्द माना है। कहीं इन्द्र और इन्द्राणियाँ और करोड़ों-अरबों रुपये या सुन्दर शरीर में कहीं सुखबुद्धि धर्मी को नहीं होती। समझ में आया ? इसलिए वह सब सामग्री ढीली पड़ जाए और न हो तो मानी हुई चीज़ सही, वह तो मेरी नहीं। समझ में आया ? उसमें सुखपना नहीं है। बोलूँ तो कुछ समाधान होगा, चलूँ तो कुछ काम होगा, शरीर फिरे तो ऐसे फिरा सके, नीचे तपता हो, पसीना लगा हो। सब

लोग साथ में खड़े हों, ऐसे फिराया नहीं जा सकता, ख्याल आता है। यह तो जड़ है। जड़ का फिरना, बोलना, यह तो सब जड़ की क्रिया है और अन्दर विषय में सुखबुद्धि होना, वह मिथ्याबुद्धि है। समझ में आया? उस मिथ्याबुद्धि से ही नरक और निगोद की गति में जाता है। यहाँ कहते हैं कि जिसे सम्यक् बुद्धि सम्यक् हुआ वह मोक्ष में जाता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया?

अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि जो सम्यक्त्व के प्रभाव से मोक्ष प्राप्त करते हैं,... जहाँ आनन्द भगवान चैतन्य प्रभु परमेश्वररूप अपना है। प्रत्येक गुण की ईश्वरता स्वयं में है। समझ में आया? धर्मी इस पुण्य-पाप के विकल्प को सुखरूप नहीं मानता, उसे धर्म नहीं मानता। जो कोई शुभभाव को धर्म मानता है, उसे विषय में सुखबुद्धि है। इसका यह अर्थ है। आहाहा! भगवान आत्मा चैतन्य चिन्तामणि कल्पवृक्ष है। उसके अन्तर का प्रेम और सन्मुखता छोड़कर, जिसने अनादि के अज्ञानभाव में इन शुभ-अशुभभाव और शरीर के अस्तित्व से, इनसे मुझे ठीक है, इनसे मुझे ठीक है, (ऐसा माना है), वह जीव फेरफार होगा, (तब) उलझन में आयेगा। कहते हैं कि वह उलझन में मरकर चार गति के पन्थ में, भटकने के पन्थ में चला जाएगा। कहो, समझ में आया? सेठी!

आत्मा है या नहीं? तो है तो वह भाव करता है या नहीं? ऐसे भाव करता है तो फिर देह की स्थिति पूरी होने से कहीं जाएगा या नहीं? भव में जाएगा, कहते हैं। जिसे सम्यक्त्व है... ओहो! आत्मा पूर्णानन्द का नाथ परमेश्वर स्वयं है। मेरा परमेश्वर मैं स्वयं हूँ। समझ में आया? ऐसी अन्तर में श्रद्धा, विश्वास जानकर बैठा है, उसके प्रभाव से पूर्ण आनन्दरूपी मोक्षदशा प्राप्त करता है। है यह शब्द? है? देखो! **सम्यक्त्व के प्रभाव से मोक्ष प्राप्त करते हैं,...** इसकी व्याख्या हुई। आहाहा! समझ में आया? लोगों ने धर्म का ऐसा रूप दिया है न... अन्तर में छोड़कर बाहर में कलबलाहट... कलबलाहट.. (करके) उसमें धर्म माना है। समझ में आया? उसमें नहीं कहा? मेरा भगवान मेरे पास है। नहीं देश-देशान्तर। मेरो धणी नहीं देश-देशान्तर, मोही मैं है, मुझे सूझत नीके (समयसार नाटक में) पण्डित बनारसीदास कहते हैं। मेरा प्रभु नहीं सम्मेदशिखर में, नहीं शत्रुंजय में, नहीं बद्री नारायण में। आहाहा! मेरा भगवान तो मेरे पास; पास अर्थात् मैं स्वयं हूँ, ऐसा।

कैसे जँचे ? रंक को विश्वास (कैसे आवे) ? ऐसा बड़ा बादशाह, उसकी इसे प्रतीति नहीं आती। रंक हो गया। एक जरा सी अनुकूलता होवे और दो अच्छे शब्द बोलावे तो अन्दर से गलगलिया हो जाता है। हाँ, यह मुझे पहिचानते हैं, हों! अच्छा है यह। आहाहा! भाई! तू कहाँ प्रसन्नता के रास्ते चढ़ गया। प्रसन्नता तो अन्दर में भगवान आत्मा में है। समझ में आया ? देखो! यह समकित का माहात्म्य कहते हैं। जिसे आत्मा स्वरूप से आनन्द और ज्ञानमूर्ति है। भगवान सर्वज्ञ तीर्थंकर केवली ने कहा। उसमें आयेगा, देखो! भगवान थोड़ा काल यहाँ शरीर में रहते हैं। समकित के प्रभाव से भाव मोक्ष होता है, तथापि शरीर में अवस्थानरूप से रहता है। तब वाणी का योग हो और लोगों को सुनने को मिले न ? ऐसा का ऐसा न रहे और एकदम हो जाए... ? देह छूट जाए, लो! समझ में आया ? किसी को हो। यहाँ तो तीर्थंकर की बात लेनी है।

तीर्थंकर को तो इस सम्यग्दर्शन के प्रभाव से आगे बढ़कर कोई पुण्य विकल्प हुआ और (कर्म) बँध गया। वह केवलज्ञान पाकर औदारिकशरीर में बसते हैं। तो कहते हैं कि **वे तत्काल ही प्राप्त करते हैं या कुछ अवस्थान भी रहते हैं?** थोड़ा काल यहाँ रहते हैं या नहीं ? समझ में आया ? **उसके समाधानरूप गाथा कहते हैं..** उसके समाधानरूप (गाथा है)। यह धर्म की बातें सूक्ष्म हैं, भाई! आहाहा! इसने पुण्य और पाप के विकल्प के प्रेम में और यह शरीर और बाहर की चीज़ के प्रेम में आत्मा के आनन्द को खण्ड कर डाला है। समझ में आया ? और जिसे आत्मा के आनन्द का प्रेम हुआ है, उसे अखण्ड आनन्द प्रगट हुआ है। आहाहा! वह अखण्डानन्द है। समझ में आया ? उसके प्रभाव से अखण्डपना कैवल्य प्राप्त करे तो भी थोड़े काल शरीर में रहते हैं। उसे यहाँ स्थावर प्रतिमा कहा जाता है। रहते हैं न थोड़ा ? समझ में आया ?

विहरदि जाव जिणिंदो सहसट्ठसुलक्खणेहिं संजुत्तो।
चउतीसअइसयजुदो सा पडिमा थावरा भणिया।।३५।।

देखो, यहाँ तीर्थंकर लिये हैं।

विहरति यावत् जिनेन्द्रः सहस्राष्टलक्षणैः संयुक्तः।
चतुस्त्रिंशदतिशययुतः सा प्रतिमा स्थावरा भणिता।।३५।।

अर्थ – **केवलज्ञान होने के बाद जिनेन्द्र भगवान...** जिन्होंने राग-द्वेष और

अज्ञान को जीतकर, जिन्होंने आनन्द और वीतरागता पूर्ण तथा केवलज्ञान प्रगट किया है, ऐसे समकित के प्रभाव से प्रगट हुई पूर्ण दशा। **जबतक इस लोक में आर्यखंड में विहार करते हैं,...** जितना काल इस आर्यक्षेत्र में (रहें)। देखो! भगवान आर्य में होते हैं न? अनार्यक्षेत्र में नहीं होते। **तबतक उनकी वह प्रतिमा अर्थात् शरीरसहित प्रतिबिम्ब उसको 'थावर प्रतिमा' इस नाम से कहते हैं।** भगवान जहाँ तक केवलज्ञानरूप से विचरते हैं तो उनके शरीरसहित को स्थावर प्रतिमा कहा जाता है।

वे जिनेन्द्र कैसे हैं? एक हजार आठ लक्षणों से संयुक्त हैं। शरीर... शरीर का लक्षण ऐसा है, कहते हैं। शरीर जो यहाँ थोड़े काल रहता है, उस शरीर का लक्षण ऐसा है। अन्तर की तो बात क्या करना? तीर्थंकर तो पवित्रता में पूर्ण और पुण्य में भी पूर्ण। उनका यहाँ दृष्टान्त दिया है, स्थावर प्रतिमा का। लो! समझ में आया? **वे जिनेन्द्र कैसे हैं? एक हजार आठ लक्षणों से संयुक्त हैं। वहाँ श्रीवृक्ष को आदि..** पैर में, हाथ में होते हैं। **एक सौ आठ तो लक्षण होते हैं।** लो, **तिल मुस को आदि लेकर नो सौ व्यंजन होते हैं।**

चौतीस अतिशयों... भगवान को होते हैं। देह की स्थिति जब तक यहाँ भगवान (को) हों, सम्यग्दर्शन के प्रभाव के द्वारा, स्वरूप की रमणता द्वारा, आनन्द में गुंजार करता प्रभु, जब केवलज्ञान को प्राप्त करते हैं, तब शरीर में थोड़ा काल होते हैं, कहते हैं। समझ में आया? **जन्म से ही लिये हुए उत्पन्न होते हैं..** दस अतिशय तो जब भगवान जन्मते हैं, उस भव में तीर्थंकर होकर केवलज्ञान प्राप्त करना है, वह जीव जब जन्मता है... देखो! यह सर्वोत्कृष्ट पवित्रता और पुण्यवन्त परमात्मा तीर्थंकर होते हैं, ऐसा यहाँ वर्णन करते हैं और उन्हें वाणी रहती है, मूल तो ऐसा कहना है। लोगों को सुनने के लिये उन्हें शरीर होता है, तब तक वाणी का योग होता है। समझ में आया? पश्चात् दिव्यध्वनि सुनकर बहुत से जीव आत्मा का कल्याण स्वयं से करते हैं।

१. निस्वेदता,.. शरीर में पहले से जन्म से पसीना नहीं होता। देखो! यह पुण्य। अन्तर का मैल नहीं होता, बाहर में पसीना नहीं होता। आत्मा अन्तर सम्यग्दर्शन में पूर्ण प्रभु शुद्ध अखण्ड अभेद पूरा आत्मा अनन्त केवलज्ञान का पिण्ड है, वह आत्मा, उसे श्रद्धा में-प्रतीति में भरोसे में लिया है, कहते हैं कि उसमें केवलज्ञान पड़ा है; इसलिए क्रम

से आये बिना रहेगा नहीं। इसलिए समकित के प्रभाव से केवलज्ञान प्राप्त करेगा, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? आहाहा!

मुमुक्षु : प्रभाव तो उसका है।

पूज्य गुरुदेवश्री : किसका?

मुमुक्षु : समकित का।

पूज्य गुरुदेवश्री : समकित का प्रभाव अपने को नहीं पड़ा? अपने में प्रभाव पड़ा। गुण की पर्याय का अपने में प्रभाव पड़कर गुण की पर्याय बढ़ी, वह प्रभाव। बाहर का प्रभाव किसी के ऊपर पड़ता है, ऐसा नहीं है। समझ में आया? अन्तरस्वरूप का भान हुआ उसका प्रभाव आत्मा में पड़ा, ऐसा कहते हैं। उस प्रभाव से केवलज्ञान पाते हैं। चारित्र उसमें आता ही है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? देखो न, इतना जोर दिया है, यह समकित का जोर दिया है, लो! क्योंकि समकित की श्रद्धा में पूरा आत्मा अनन्त आनन्द और अनन्त केवलज्ञान ऐसी अनन्त शक्ति में ऐसी अनन्त पर्यायें पड़ी हैं। स्वभाव, पूरा स्वभाव, पूर्ण स्वभाव, एक स्वभाव, अभेद स्वभाव, ऐसे परमात्मा होने की पर्यायें तो अनन्त-अनन्त उसके द्रव्यस्वभाव में पड़ी है। आहाहा! ऐसे पूरे भगवान को प्रतीति में लिया, ऐसा यहाँ कहना है। उसके भरोसे-विश्वास में चढ़ा, उसका जहाज तैरता हो गया। समझ में आया? आहाहा! पैसेवाले और शरीर सुन्दर और स्त्री, पुत्र की समरूपता... मर जानेवाला है, कहते हैं।

मुमुक्षु : ऐसा कोई आज जीवन नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो किसी को जरा बाहर का समरूप हो। सुमनभाई जैसे लड़के हों। ऐई! आकर पैर दबाये। बापूजी! पहले आकर कहे। लड़के का लड़का दबाये, लो न। ऐई! यहाँ तो कहना है, अरे! प्रभु! परपदार्थ में जहाँ मेरेपन की बुद्धि (पड़ी है), महासंसार के दुःखदायी गहरे कुँए में उतरने की बुद्धि है। आहाहा! समझ में आया? मेरे अस्तित्व में पर का अस्तित्व होवे तो ठीक, वह अपनी सत्ता का स्वीकार नहीं करता। शरीर के रजकण बिखरेंगे, भाई! कण्ठ छूट जाएगा। आहाहा! देखो न!

सुना न, अनन्तनाथ भगवान का। सम्मेदशिखर पर अनन्तनाथ भगवान की टूँक थी

न? बिजली गिरी (तो) टुकड़े-टुकड़े (हो गये)। नाशवान चीज़ में ऐसा होता है। समाचार-पत्र में आया है, जैनमित्र में। सब चरण जो थे, (वे) टुकड़े-टुकड़े (हो गये) और बिजली नीचे अन्दर उतर गयी। गहरी उतरी। देखो! कब के चरणपादुका होंगे! उसमें तो लिखा है दिगम्बर के हैं, परन्तु बदल डाले थे। कुछ रह गया होगा। टुकड़े-टुकड़े। और यहाँ... क्या कहलाता है? ईसरी। ईसरी में ३६ फीट का झण्डा, केसरिया झण्डा था, वह पूरा झण्डा बिजली पड़ी तो जलकर भस्म (हो गया)। दो (जगह) हुआ। वह ऊपर हुआ और यह नीचे हुआ, भले नम्बर से हुआ हो। समाचार-पत्र में-जैनमित्र था। लोगों को दु:ख हुआ कि आहा! परन्तु यह तो नाशवान पदार्थ में दूसरा क्या होगा परन्तु? वह पाण्डाल जला था, तब कहा था, नहीं? परन्तु वह तो ऐसा होता है, उसमें है क्या?

बड़े श्रीकृष्ण वासुदेव और बलदेव की उपस्थिति और तीन लोक के नाथ तीर्थंकर यह विचरते हैं, उनकी बात चलती है, देखो! इस सौराष्ट्र में विचरते थे। समझ में आया? स्थावर प्रतिमा भगवान की विचरती थी। नेमिनाथ प्रभु। यहाँ नगरी सुलगी। क्या करे? कौन करे? छह-छह महीने तक दाह। हजारों राजकुँवर, हजारों रानियाँ, हीरा माणिक के गहने पहने हुए। वे ऐसे के ऐसे सुलग गये। आहाहा! गजब है न! नाशवान में क्या देखना है तुझे? अविनाशी तो भगवान आत्मा है।

बलदेव और वासुदेव जैसे पुरुष, जिनकी आवाज से हजारों देव उपस्थित हों, निजकी आवाज से हजारों देव उपस्थित हों। वे देव कहाँ गये? बापू! पुण्य बदला। गये उनके ठिकाने। आहाहा! समझ में आया? माता-पिता को ऐसे रथ में डालकर... धग-धग सुलगता है। पानी डालने गये, वहाँ पानी का तेल हो गया। प्रकृति देखो न! और उनकी आँख में आँसू बहने लगे। अरे! यह माता-पिता को तो निकालें। उन्हें रथ में डालकर बलदेव स्वयं हाँकने लगे। आहाहा! वासुदेव की हाँक से जहाँ राजाओं का पेशाब निकाल जाए; सिंह का कान पकड़े, वहाँ पिल्ले की तरह ऐसा हो। वे कहाँ गये? इस कौशम्बी वन में जरतकुमार (द्वारा) पैर विंध गया। खड़े नहीं रह सके। कहाँ गया बल? वह तो जड़ का बल था, भाई! वह आत्मा का कहाँ था? द्वारिका नगरी, वह सब जड़ और उसकी अवस्था (जड़)। माता-पिता को निकालने जाते हैं वहाँ... निकल

जाओ, दो के अतिरिक्त नहीं बचेंगे। आहाहा! जिन्हें रक्षण दिया था बाहर में, वे स्वयं रक्षणरहित हो गये थे। परन्तु बाहर में क्या काम आवे? भाई! आहाहा!

अरे! अविनाशी भगवान आत्मा में आनन्द और पूरा निधान पड़ा है। वह निधान कम न हो, ऐसा निधान है। उसके जिसे रुचि और प्रेम नहीं और इस दुनिया की दशाओं का प्रेम है, इस दुनिया का प्रेम, उसे दुनिया में ले जाएगा। संसार का प्रेम संसार में भटकने ले जाएगा और जिसे आत्मा का सम्यक् प्रेम हुआ, उसे मोक्ष में ले जाएगा। समझ में आया? आहाहा! लोगों को अन्तर क्षणभंगुर जैसा दिखता नहीं। आत्मा त्रिकाल महा अविनाशी चैतन्यरसरूप सत् है। वह सत् अविनाशी है। ऐसे आनन्द के भाव का जिसे अन्तर में सम्यक् परिणमन हुआ है, ऐसा कहते हैं। विश्वास आया है कि ओहोहो! यह भगवान आत्मा है।

कहते हैं कि इसके प्रभाव से जिनेन्द्र केवली होता है और वे केवली जब विचरते हैं, तब उन्हें स्थावर प्रतिमा कहा जाता है। और उस शरीर में ऐसे चिह्न होते हैं। **१. निस्वेद,..** (अर्थात्) उन्हें पसीना नहीं होता। ओहोहो! **२. निर्मलता,..** इस शरीर की, हों! अन्दर निर्मलता तो पूर्ण प्रभु है परन्तु बाहर में शरीर भी निर्मल उज्ज्वल ऐसा होता है, जिसमें देखे और नजर करे तो सात भव दिखें, ऐसा (होता है)। आहाहा! **३. श्वेतरुधिरता,..** भगवान के शरीर का खून सफेद होता है। सफेद हो गया। खून सफेद हो गया, भगवान सफेद नहीं हुआ। केवली को तो भगवान सफेद (पवित्र) हो परन्तु उन्हें शरीर परमौदारिकरूप से हो जाता है परन्तु यह तो लम्बे काल टिके, ऐसे शरीर की बात चलती है। समझ में आया? खून बदल गया, खून बदल गया। आहाहा! इन्हें तो जन्म से-पहले से है। जन्म से पसीना नहीं, ऐसा कहते हैं। बालक खेले और कूदे वहाँ पसीना हो जाता है न यहाँ? भगवान के शरीर को पसीना नहीं होता, जन्म से नहीं होता। आहाहा! पवित्रता के स्थान में बाँधा हुआ पुण्य, उस पुण्य के संयोग से मिली हुई दशा, शरीर की स्थिति ऐसी होती है।

रावण ने जहाँ शक्ति से लक्ष्मण को बाँधा, राम पुकार करते हैं। अरे! यह क्या हुआ? यह मेरा लक्ष्मण वासुदेव मूर्च्छा में आ गया है। रावण की शक्ति से (ऐसा हुआ)। पुकार.. पुकार... (करते हैं), कोई लाओ रे लाओ। ऐई! वहाँ वह आती है न महिला?

विशल्या... विशल्या। यह विशल्यरहित आत्मा जहाँ अन्दर आया और अन्दर से जगमगाहट हो गया। जहाँ आती है... वहाँ ऐसा पाठ है, भाई! वह आती है वहाँ... कितनों को चोट लगी हुई, उसकी हवा से ठीक होने लगे। देखो न! ऐई! अभी तो महिला (विशल्या) कुँवारी थी परन्तु उसने ऐसा पुण्य बाँधा था। पूर्व में चक्रवर्ती की पुत्री थी। उसे कोई जंगल में ले गया। जंगल में अजगर ने पकड़ी। अजगर के पेट में गयी। मुख इतना बाहर रहा, इतने में चक्रवर्ती खोजता-खोजता आया। बाण चढ़ाया अजगर को मारने के लिये। (विशल्या कहती है), पिताजी! कुछ करना नहीं, हों! क्योंकि मैं बाहर निकलूँगी तो मुझे तो संथारा है। आहार-पानी सबका त्याग है, मैं कुछ निभनेवाली नहीं हूँ। आहाहा! देखो! स्त्री की देह। पिताजी! बाण चढ़ाया। आधा निगल गया है, मुख इतना (बाहर रहा है) अजगर को मार डालूँ तो यह जीवित रहे। (ऐसा) मत करना, पिताजी! बाहर में भी जीनेवाली नहीं हूँ, देह ही छूट जानेवाली है। देखो! यह स्थिति! कितनी सहनशीलता ज्ञातारूप से रखी। उसमें ऐसा पुण्य बँध गया कि जिसके शरीर की हवा लगे, वहाँ चोट लगे हुए रोग मिट जाएँ। ऐई! कहो, हवा का असर हुआ या नहीं? यह वहाँ मिटने की पर्याय परमाणु की हो, तब ऐसा निमित्त उसे होता है, ऐसा बताते हैं। समझ में आया?

जहाँ इसे स्नान कराया और वह पानी लक्ष्मण पर छिड़का... आलस त्यागकर खड़े होते हैं। कहाँ है रावण? वह था न अन्दर तो। रावण को मारने के लिये खड़े हुए। रावण से मरे लक्ष्मण? नहीं मर सकते। इसी प्रकार आत्मा के लक्ष्य से जहाँ आत्मा का अनुभव किया, वह अब विकार से और पर से नहीं मरता। पर को मार के ही रहेगा। यहाँ कहा न? सम्यग्दर्शन से विकार के भाव का नाश करके केवलज्ञान को प्राप्त करता है। आहाहा! समझ में आया?

अन्दर में ऐसा भगवान है, महाचैतन्य चमत्कारी वस्तु है कि जो चमत्कार किसी दूसरी चीज़ में ऐसा नहीं होता। जिसे एक समय में तीन काल... उसमें कहीं ऐसा कहा कि... बहुत ऐसी सर्वज्ञ की बातें साधारण के पास नहीं करना, ऐसा कुछ आया है। लोगों को साधारण बात (करना)। केवलज्ञानी की न करे तो उसके बिना आत्मा कहाँ था? जैन सन्देश में (आया है)। उसे—आत्मा को धर्म करना हो, उसे आत्मा की बात नहीं करना, तब किसकी करना उसे? बहुत नहीं करना, किसी ने लिखा है। बहुत लेख आया है।

साधु ऐसे... साधु ऐसे... साधु के लिये ट्रस्ट होता है। संघ बढ़ गये और साधु के लिये खर्च बहुत चाहिए। इसलिए खर्च के लिये ट्रस्ट होता है, एक जगह कलकत्ता में। पैसे इकट्ठे करें, १५-१५, २०-२० साधु साथ में (होवें)। आर्यिका होवे, सबके लिये मोटरें चाहिए, यह चाहिए, आहार चाहिए। अब तो खर्च बढ़ गया है, इसलिए संस्था स्थापित करो। परन्तु यह कुकर्म होते हैं। यह जैन आगम से विरुद्ध होता है। साधु के लिये संस्था और उसके पैसे से उन्हें आहार-पानी निभाना... यह संस्था किस प्रकार की होती है ? आहाहा!

(सच्चे मुनि तो) अपने आनन्द से निभते हैं और या करते हैं संथारा। संथारा में आनन्द में स्थित होते हैं। आहाहा! उस चक्रवर्ती की पुत्री को अजगर खाता है तो भी शान्ति रखती है। ऐसा योग आया, उसका पिता आया। नहीं पिताजी! स्थिति पूरी होने का योग ही है। बाहर निकालोगे तो भी निभूँगी नहीं और यहाँ रहूँगी तो भी नहीं बचूँगी। जैसा है, वैसा रहने दो। समझ में आया ?

इसी प्रकार आत्मा अन्तर आनन्द से उछलकर जहाँ केवलज्ञान को प्राप्त करता है, तब कहते हैं कि उसके शरीर में भी भगवान तीर्थंकर होते हैं, उन्हें जन्म से ऐसे अतिशय (होते हैं)। अतिशय अर्थात् विशेषता। अतिशय अर्थात् खास विशेषता। दूसरे में न हो ऐसी उसकी (विशेषता होती है)।

४. समचतुरस्रसंस्थान,... उन्हें यह पहला संस्थान होता है। संस्थान-आकार। **५. वज्रवृषभनाराचसंहनन,...** होता है। वज्र की हड्डियाँ, उनकी हड्डियाँ वज्र की होती हैं। **६. सुरूपता,...** सुन्दर रूप होता है। भले नेमिनाथ काले हों परन्तु रूप सुन्दर होता है। प्रत्येक अवयव, कोमल-कोमल ऐसे होते हैं। ये जड़ की अवस्था भी ऐसी होती है, कहते हैं। आहाहा! भगवान अन्दर में तो खिल निकला है परन्तु जड़ की अवस्था भी ऐसी हो जाती है। देखो! समझ में आया ? **७. सुगंधता,...** शरीर में गुलाब के फूल जैसी उन्हें गन्ध होती है। शरीर, श्वास में ऐसा तो उनका श्वास होता है। देखो! परमात्मा ऐसे होते हैं। जो वह परमात्मा जिसने बैठा दिया है (ऐसे नहीं होते)। समझ में आया ? तीर्थंकरदेव का आत्मा ऐसा पूर्ण पवित्र होता है और उनका शरीर भी इस प्रकार का होता है। उन्हें देवाधिदेव और तरणतारण परमात्मा कहा जाता है। समझ में आया ?

८. **सुलक्षणता,..** शरीर में सब लक्षण सुन्दर होते हैं। ९. **अतुलवीर्य,..** शरीर का, हों! जन्म से बात है न यहाँ तो। अतुलवीर्य। तीर्थंकर को शरीर में इतनी सामर्थ्य जन्म से होती है, हों! आता है न? नेमिनाथ और श्रीकृष्ण की बात? बड़ी सभा भरी थी। पाँच पाण्डव-वाण्डव सब हजारों योद्धा एकत्रित हुए थे। कोई कहे पाण्डवों का बल है, कोई कहे कि अमुक का बल है, कोई कहे कि अमुक का बल है, ऐसा सब कहने लगे। एक व्यक्ति कहे - सबकी बात रहने दो, ये नेमिनाथ भगवान (सबसे अधिक बलवान हैं)। नेमिनाथ भगवान तो बैठे थे, कुछ बोले नहीं। गृहस्थाश्रम में थे। उन भगवान का शरीर का बल, वैसा किसी का बल नहीं। शरीर का ऐसा बल। वह आत्मा है, इसलिए बल नहीं, हों! यह तो एक वस्तुस्थिति का अस्तित्व ऐसा है, ऐसा कहते हैं। यह तो पहले से कहा, जिसे पर का प्रेम है, उसे आनन्द का-भगवान का प्रेम नहीं। उसे भगवान के प्रति अनादर है और जिसे भगवान आत्मा के आनन्द का प्रेम है, उसे सब चीज़ों के प्रति प्रेम उड़ जाता है। चाहे तो सर्वार्थसिद्धि का भव हो या तीर्थंकरगोत्र के परिणाम हों। समझ में आया? आहाहा! भाई! समकित दर्शन अर्थात् क्या और उसका फल अर्थात् क्या? और उसके माहात्म्य का क्या कहना?—वह तो यह वर्णन किया जाता है। यहाँ तो थोड़ा काल शरीर अभी निभे, पूर्ण परमात्मा हो तो भी थोड़े काल रहे। समझ में आया? **१०. हितमितवचन..** उनके होते हैं। देखो! समझ में आया? **ऐसे दस होते हैं**। जन्म से होते हैं। नेमिनाथ भगवान को जन्म से थे, वैसे सब तीर्थंकरों को थे।

घातिया कर्मों के क्षय होने पर दस होते हैं-१. शतयोजन सुभिक्षता,... भगवान को केवलज्ञान हो, (तब) सौ योजन में सुभिक्षता होती है। कहीं दुष्काल नहीं पड़ता। ऐसी स्थिति जगत की पर्याय की होती है, ऐसा कहते हैं। यह सब वहाँ लगावे कि इसलिए वहाँ होता है। **शतयोजन सुभिक्षता,...** कहो, समझ में आया? सौ योजन में सुकाल होता है, भगवान है इसलिए। बराबर है? वह तो जगत के सुकाल की पर्याय होनी है, तब भगवान का अवतार इस प्रकार से केवलज्ञान प्राप्त करने का काल उन्हें होता है। वह स्वयं के कारण से (होता है)।

२. **आकाशगमन,...** भगवान आकाश में चलते हैं, नीचे नहीं चलते। ३. **प्राणिवध का अभाव,..** भगवान जहाँ होते हैं, वहाँ आसपास में फूल, प्राणी का वध नहीं हो

सकता। एकेन्द्रिय जीव आदि हों, वह अलग बात है। निगोद। यह तो कोई मनुष्य या पशु मरे, ऐसा वहाँ नहीं होता। समझ में आया? ४. **कवलाहार का अभाव,..** भगवान को आहार नहीं होता। ग्रास का आहार नहीं होता। भगवान को (क्षुधा) होवे और फिर आहार लावे और खाये, यह भगवान को नहीं होता। यह भगवान का रूप ही कुरूप कर डाला है। आहाहा! गजब बात। समझ में आया? ५. **उपसर्ग का अभाव,..** भगवान को उपसर्ग नहीं होता। कोई देव, मनुष्य, तिर्यंच भगवान को कोई दुःख दे या ऐसे संयोग हों, (ऐसा) उन्हें नहीं हो सकता। केवलज्ञान के बाद की बात है, हों! कमठ ने परीषह दिया, ऐसा होता है। केवलज्ञान के बाद उन्हें नहीं हो सकता। केवलज्ञान होवे, इसलिए तो पुण्य के परिणाम का रस अन्दर बढ़ गया और पाप रस घट गया होता है। उन्हें उपसर्ग नहीं होता।

६. **चतुर्मुखपना,...** उनके चार मुख होते हैं। चारों ओर के लोग ऐसा कहते हैं कि भगवान मेरी ओर देखते हैं। ओहोहो! देखो तो एक पवित्रता की प्राप्ति और उसके साथ के पुण्य की ऐसी योग्यता। ७. **सर्वविद्याप्रभुत्व,...** सर्व विद्या का प्रभुत्व इनके उसमें होता है। समझ में आया?

मुमुक्षु : रॉकेट को जाने?

पूज्य गुरुदेवश्री : तीन काल-तीन लोक की विद्या को जाने। ज्योतिष-व्योतिष सब जानें, ऐसा कहते हैं। केवलज्ञान क्या न जाने? समझ में आया? मन्त्र और तन्त्र आते हैं न सब? भगवान सबको जानते हैं, ऐसा कहते हैं। केवलज्ञान में क्या नहीं ज्ञात होगा? आहाहा! समझ में आया?

८. **छायारहितत्व,..** शरीर में छाया नहीं पड़ती। जैसे अपने शरीर में ऐसी छाया पड़ती है न? वह भगवान के शरीर की छाया नहीं पड़ती। इतना तो उनका पुण्य का अतिशय है। पवित्रता का तो पार नहीं परन्तु ऐसे पुण्य के कारण ऐसी स्थिति होती है। यहाँ तो कहना है, ऐसे शरीरवाला थोड़े काल यहाँ रहता है, ऐसा कहना है। ऐसे शरीरवाला थोड़े काल रहता है। उसे स्थावर प्रतिमा कहा जाता है। ९. **लोचन स्पंदनरहितत्व,...** भगवान को केवलज्ञान के बाद आँख भी ऐसे... ऐसे नहीं होती। स्थिर हो जाती है, आँख जैसी है वैसी स्थिर हो जाती है। परिस्पन्दन-कम्पन नहीं होता।

१०. **केश नखवृद्धिरहितत्व...** केश और नख नहीं बढ़ते। **ऐसे दस होते हैं।**

देवों द्वारा किये हुए चौदह होते हैं... हैं तो स्वयं से परन्तु देव का उनमें निमित्त है। **१. सकलार्द्धमागधी भाषा,...** वाणी में सकल अर्द्धमागधी भाषा आती है। वैसे आवे ॐ, परन्तु ॐ में सब भाषाएँ आती हैं। **२. सर्वजीव मैत्रीभाव,...** लो, सर्व जीव मैत्रीभाव। किसी को बैर नहीं होता। भगवान होते हैं, वहाँ नेवला, घूस (बड़ा चूहा) होता है, चूहा, बिल्ली होते हैं (परन्तु किसी को) बैरभाव नहीं है। सर्व जीव मैत्री है। सबको मैत्रीपना आता है। **३. सर्वऋतु-फलपुष्पप्रादुर्भाव,...** आम सर्दी में होते हैं। सब फल बारह महीने होते हैं। समझ में आया? फल-फूल होने की ऋतु में होते हैं, ऐसा नहीं। प्रत्येक ऋतु प्रत्येक फल और प्रत्येक फूल होता है, ऐसा कहते हैं।

४. दर्पण के समान पृथ्वी का होना,... दर्पण जैसी तो भूमि नीचे होती है। आहाहा! समझ में आया? **५. मंद सुगंध पवन का चलना,...** मन्द-मन्द सुगन्धी पवन चलती है। **६. सारे संसार में आनन्द का होना,...** सुख। आनन्द अर्थात् आत्मा का आनन्द नहीं, हों! आत्मा का आनन्द भगवान को होता है और सबको एक अंश होता है तो सबको तुरन्त मुक्ति हो जाए। बाहर के साता में मन्द कषाय का उसे जरा सुख लगता है। समझ में आया? **७. भूमिकंटकादिरहित होना,...** जहाँ भगवान चलते हैं, वहाँ जमीन में काँटे नहीं होते। काँटे-बाँटे नहीं होते। काँटे निकाल डाले, उन्हें बाहर के काँटे किसके हों? ऐसा कहते हैं।

८. देवों द्वारा गंधोदक की वर्षा होना,... देव हैं न? उत्कृष्ट सुगन्धित पानी की वर्षा करते हैं। **९. विहार के समय चरणकमल के नीचे देवों द्वारा सुवर्णमयी कमलों की रचना होना,...** सोने के कमल। भगवान उनके ऊपर पैर रखते हैं, ऐसा कहा जाता है। वहाँ कहाँ उन्हें रखना था। आहा! आवे वहाँ। **१०. भूमि धान्यनिष्पत्ति सहित होना,...** जहाँ भगवान विचरते हों, वहाँ चारों ओर धान पका होता है। दुष्काल नहीं होता। धान न पके, ऐसा नहीं। वर्षा न हो तो धान न पके। यहाँ तो भगवान हो, वहाँ सर्वत्र धान पकता है। केवलज्ञान का कणसला पके वहाँ बाहर का पाक सबको होता है, ऐसा पुण्य होता है, ऐसा कहते हैं।

११. दिशा आकाश निर्मल होना,... आकाश चारों ओर निर्मल होता है। यह

धुंधला ऐसा हो – ऐसा नहीं होता, यह कहते हैं। **१२. देवों का आह्वानन शब्द होना,...** देव अन्दर से आह्वानन करे, चलो.. चलो.. चलो.. चलो.. **१३. धर्मचक्र का आगे चलना,...** लो! तीर्थंकर के धर्मचक्र (होता है)। जैसे चक्रवर्ती को चक्र होता है, ऐसे तीर्थंकर को धर्मचक्र होता है, सामने आगे चलता है। **१४. अष्ट मंगल द्रव्य होना...** आठ मांगलिक। **ऐसे चौदह होते हैं। सब मिलाकर चौंतीस हो गये।**

आठ प्रातिहार्य होते हैं, उनके नाम – १. अशोकवृक्ष,... होता है भगवान के ऊपर। **२. पुष्पवृष्टि,...** देव फूल की वृष्टि करते हैं। **३. दिव्यध्वनि,...** यहाँ आया। **४. चामर,...** देव ढोलते हैं। **५. सिंहासन,...** सिंहासन पर बैठते नहीं, हों! सिंहासन नीचे होता है। **६. छत्र,...** यह देव करते हैं। **७. भामंडल,...** होता है। शरीर में प्रकाश निकलता है, ऐसा भामण्डल (होता है)। **८. दुन्दुभिवादित्र..** लो, यह आठ। **ऐसे आठ होते हैं।**

ऐसे अतिशयसहित... अब अन्दर में। **अनन्तज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख, अनंतवीर्य सहित तीर्थंकर परमदेव जबतक जीवों के सम्बोधन निमित्त विहार करते विराजते हैं, तबतक स्थावर प्रतिमा कहलाते हैं।** ... स्थावर प्रतिमा कहते हैं। **स्थावर प्रतिमा कहने से तीर्थंकर के केवलज्ञान होने के बाद में अवस्थान बताया है...** केवलज्ञान होने के पश्चात् रहते हैं। **और धातु पाषाण की प्रतिमा बनाकर स्थापित करते हैं, वह इसी का व्यवहार है।** यह प्रतिमा है न? यह तो इसका–निमित्त का व्यवहार है। निश्चय वह है और व्यवहार प्रतिमा यह है। जंगम प्रतिमा कही। एक समय में ऐसे भगवान जाते हैं न? उसे जंगम प्रतिमा कही है। बोधपाहुड़ में (कही है)। समझ में आया? इसमें भी आगे आयेगा। **एकसमय लगता है, उस समय जंगम प्रतिमा कहते हैं।** यह ३६ में आयेगा।

गाथा-३६

आगे कर्मों का नाश करके मोक्ष प्राप्त करते हैं ऐसा कहते हैं –

बारसविहतवजुत्ता कम्मं खविऊण विहिबलेण सं।
वोसट्टचत्तदेहा णिव्वाणमणुत्तरं पत्ता।।३६।।

द्वादशविधतपोयुक्ताः कर्मक्षपयित्वा विधिबलेन स्वीयम्।
व्युत्सर्गत्यक्तदेहा निर्वाणमनुत्तरं प्राप्ताः।।३६।।

द्वादश तपों से युक्त अपने विधी बल से कर्म–क्षय।
कर देह विरहित अनुत्तर निर्वाण को पाते नियत।।३६।।

अर्थ – जो बारह प्रकार के तप से संयुक्त होते हुए विधि के बल से अपने कर्म को नष्ट कर 'वोसट्टचत्तदेहा' अर्थात् जिन्होंने भिन्न कर छोड़ दिया है देह, ऐसे होकर वे अनुत्तर अर्थात् जिससे आगे अन्य अवस्था नहीं है, ऐसी निर्वाण अवस्था को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ – जो तप द्वारा केवलज्ञान प्राप्त कर जबतक विहार करें, तबतक अवस्थान रहें पीछे द्रव्य, क्षेत्र, काल–भाव की सामग्रीरूप विधि के बल से कर्म नष्टकर व्युत्सर्ग द्वारा शरीर को छोड़कर निर्वाण को प्राप्त होते हैं। यहाँ आशय ऐसा है कि जब निर्वाण को प्राप्त होते हैं, तब लोकशिखर पर जाकर विराजते हैं, वहाँ गमन में एकसमय लगता है, उस समय जंगम प्रतिमा कहते हैं। ऐसे सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र से मोक्ष की प्राप्ति होती है, उसमें सम्यग्दर्शन प्रधान है। इस पाहुड में सम्यग्दर्शन के प्रधानपने का व्याख्यान किया है।।३६।।

(सवैया छन्द)

मोक्ष उपाय कह्यो जिनराज जु सम्यग्दर्शन ज्ञान चरित्रा।
तामधि सम्यग्दर्शन मुख्य भये निज बोध फलै सु चरित्रा।।
जे नर आगम जानि करै पहचानि यथावत मित्रा।
घाति क्षिपाय रु केवल पाय अघाति हने लहि मोक्ष पवित्रा।।१।।

(दोहा)

नमूं देव गुरु धर्म कूं, जिन आगम कूं मानि।
जा प्रसाद पायो अमल, सम्यग्दर्शन जानि।।२।।

इति श्री कुन्दकुन्दस्वामि विरचित अष्टप्राभृत में प्रथम दर्शनप्राभृत और उसकी जयचन्द्रजी छाबड़ा कृत देशभाषामयवचनिका का हिन्दी भाषानुवाद समाप्त हुआ।

गाथा-३६ पर प्रवचन

आगे कर्मों का नाश करके मोक्ष प्राप्त करते हैं... अन्तिम गाथा है। सम्यग्दर्शन की अष्टपाहुड़ में (अन्तिम गाथा)।

बारसविहतवजुत्ता कम्मं खविऊण विहिबलेण सं।
वोसट्टचत्तदेहा णिव्वाणमणुत्तरं पत्ता।।३६।।

अर्थ – **जो बारह प्रकार के तप से संयुक्त होते हुए...** इच्छा का निरोधसहित, आनन्द समकित सहित वहाँ उन्हें बारह प्रकार के तप होते हैं। ऐसी **विधि के...** विधि अर्थात् चारित्र। **विधि के बल से...** स्वरूप की रमणता बल द्वारा करके **अपने कर्म को नष्ट कर...** भगवान को जितने कर्म आदि हों, उन्हें खपाकर। **'वोसट्टचत्तदेहा' अर्थात् जिन्होंने भिन्न कर छोड़ दिया है देह, ऐसे होकर वे अनुत्तर अर्थात् जिससे आगे अन्य अवस्था नहीं है,..** इससे ऊँची अवस्था नहीं होती। **ऐसी निर्वाण अवस्था को प्राप्त होते हैं।** लो!

भावार्थ – **जो तप द्वारा केवलज्ञान प्राप्त कर जबतक विहार करें, तबतक अवस्थान रहें पीछे द्रव्य, क्षेत्र, काल-भाव की सामग्रीरूप विधि के बल से...** अर्थात् कर्म का उदय टलना होता है, वहाँ भावशुद्धि भी इतनी होती है। **कर्म नष्टकर व्युत्सर्ग द्वारा शरीर को छोड़कर निर्वाण को प्राप्त होते हैं।** सिद्धपद में यहाँ से देह छूटकर भगवान चले जाते हैं।

मुमुक्षु : बाहर में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव...

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, ऐसा कहा। द्रव्य अर्थात् रजकण परन्तु इस जाति के खिरते हैं न, और भाव अपनी शुद्धि की पर्याय इतनी वहाँ है। उसमें चारित्र लिया है। षट्पाहुड़ में। विधबल और चारित्रबल।

यहाँ आशय ऐसा है कि जब निर्वाण को प्राप्त होते हैं, तब लोकशिखर पर जाकर विराजते हैं, वहाँ गमन में एक समय लगता है, उस समय जंगम प्रतिमा कहते हैं। लो! आगे जंगम प्रतिमा आयेगा। साधु को, संयमी को। संयमी को बोधपाहुड़ में जंगम प्रतिमा कहेंगे और यह एक समय की प्रतिमा भगवान की। **ऐसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से मोक्ष की प्राप्ति होती है, उसमें सम्यग्दर्शन प्रधान है।** बात यह। ऐसी निर्वाणदशा अवस्थान रहकर पश्चात् एक समय में मोक्ष को प्राप्त करें। ऐसी दशा सम्यग्दर्शन की मुख्यता से यह सब दशा सभी पाते हैं। सब गुण की पर्याय को प्रगट करने में सम्यग्दर्शन सेनापति है। समझ में आया? **इस पाहुड में सम्यग्दर्शन के प्रधानपने का व्याख्यान किया है।** लो, इसमें यह कहा।

(सवैया छन्द)

मोक्ष उपाय कह्यो जिनराज जु सम्यग्दर्शन ज्ञान चरित्रा।
तामधि सम्यग्दर्शन मुख्य भये निज बोध फलै सु चरित्रा।।
जे नर आगम जानि करै पहचानि यथावत मित्रा।
घाति क्षिपाय रु केवल पाय अघाति हने लहि मोक्ष पवित्रा।।१।।

भगवान ने-जिनराज ने मोक्ष का उपाय ऐसा कहा, वीतरागदेव ने आत्मा की सिद्धपद की दशा का उपाय यह कहा—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र। आत्मा का सम्यग्दर्शन, आत्मा के स्वभाव का निर्णय, आत्मा के स्वभाव का बोध और आत्मा के स्वभाव में लीनता। लो, यह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र। समझ में आया?

तामधि सम्यग्दर्शन मुख्य.. सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में भी सम्यग्दर्शन मुख्य है। सम्यग्दर्शन न हो तो ज्ञान-चारित्र सब व्यर्थ कहने में आते हैं। समझ में आया? आहाहा!

निज बोध फलै सु चरित्रा। जिसमें सम्यग्दर्शन मुख्य है, पश्चात् अपना ज्ञान भी सम्यग्दर्शन होता है, (तब) होता है और चारित्र भी होता है। **जे नर आगम जानि...** वीतराग के शास्त्रों को जानकर **पहचानि यथावत मित्रा।** यथावत आत्मा के प्रति प्रेम करे। **घाति क्षिपाय रु केवल पाय...** वह घातिकर्म का नाश करके, केवल पाकर **अघाति हने...** अघाति का नाश करके मोक्ष जाता है, लो।

(दोहा)

नमूं देव गुरु धर्म कूं, जिन आगम कूं मानि।
जा प्रसाद पायो अमल, सम्यग्दर्शन जानि ।।२।।

देव, गुरु और धर्म को **जिन आगम कूं मानि।** जैन शास्त्र भगवान ने वीतराग ने कहे हुए, केवली ने कहे हुए, (उनको) मानकर और देव-गुरु-शास्त्र को मैं नमन करता हूँ। **जा प्रसाद पायो अमल, सम्यग्दर्शन...** जिनके प्रताप से निर्मल सम्यग्दर्शन को प्राप्त हुआ, ऐसे देव-गुरु-शास्त्र को मैं नमन करता हूँ। यह अन्त मंगल किया। लो, मंगल।

इति श्री कुन्दकुन्दस्वामि विरचित अष्टप्राभृत में प्रथम दर्शनप्राभृत और उसकी जयचन्द्रजी छाबड़ा कृत देशभाषामयवचनिका का हिन्दी भाषानुवाद समाप्त हुआ। लो!

दूसरा सूत्रपाहुड़। उसमें तो दूसरा चारित्रपाहुड़ है। है और लिखा है। वैसे वह मेल यह आता है।

वीर जिनेश्वर को नमूं गौतम गणधर लार।
काल पंचमा आदि मैं भए सूत्रकरतार ।।१।।

सिद्धान्त को करनेवाले भगवान महावीर और गणधर दो हुए। वीर जिनेश्वर परमात्मा त्रिलोकनाथ वीरप्रभु को नमस्कार करता हूँ। **गौतम गणधर लार।** उनके साथ गौतम भगवान को भी साथ में नमन करता हूँ। **'काल पंचमा'** पंचम काल की शुरुआत में भगवान महावीर और गौतम गणधर हुए, वे सूत्र के करनेवाले हुए, इसलिए उन्हें पहले नमस्कार करता हूँ।

इस प्रकार मंगल करके श्री कुन्दकुन्द आचार्यकृत प्राकृत गाथा बंध

सूत्रपाहुड की देशभाषामय वचनिका लिखते हैं – प्रथम ही श्रीकुन्दकुन्द आचार्य सूत्र की महिमागर्भित सूत्र का स्वरूप बताते हैं – लो! यह सूत्र की महिमागर्भित सूत्र का माहात्म्य।

अरहंतभासियत्थं गणहरदेवेहिं गंथियं सम्मं।
सुत्तत्थमग्गणत्थं सवणा साहंति परमत्थं ।।१।।

यह पहले कुन्दकुन्दाचार्य मांगलिक करते हैं। **जो गणधरदेवों ने सम्यक् प्रकार पूर्वापरविरोधरहित गूँथा (रचना की) वह सूत्र है।** गौतम भगवान ने वीतराग की वाणी सुनकर सूत्र रचे हैं। एक क्षण में बारह अंग और चौदहपूर्व प्रगट हुए। आहाहा! समझ में आया? ऐसे सूत्र के रचनेवाले गणधर थे, उनके सूत्र को यहाँ नमस्कार करते हैं। **वह सूत्र कैसा है ? सूत्र का जो कुछ अर्थ है,...** सूत्र का जो अर्थ है, भावार्थ है, परमार्थ है, **उसको मार्गण अर्थात् ढूंढने जानने का जिसमें प्रयोजन है...** ऐसे साधु, यह कहते हैं। **ऐसे ही सूत्र के द्वारा श्रमण (मुनि)...** शास्त्रों का भाव-रहस्य क्या है, वह समझकर जो श्रमण हुए हैं, उन्हें यहाँ साधु कहा जाता है।

परमार्थ अर्थात् उत्कृष्ट अर्थ प्रयोजन जो अविनाशी मोक्ष को साधते हैं। आहाहा! क्या कहते हैं? भगवान ने जो सूत्र कहे... भगवान ने तो अर्थ कहे और फिर गणधर ने सूत्र गूँथे। उस सूत्र का भावार्थ / परमार्थ / रहस्य क्या है, वह जिसने शोधकर जिसने परमार्थ मुनि ने साधा है। देखो! शास्त्र कैसे होते हैं-उसकी व्याख्या करते हैं। समझ में आया? यह अभी तो सब फेरफार हो गया है। भगवान के नाम से चढ़ाये शास्त्र, वे शास्त्र नहीं हैं। इसके लिए दूसरी गाथा में कहेंगे। भगवान के कहे हुए और गणधर के गूँथे हुए और उसमें से परमार्थ शोधकर साधु स्वयं उत्कृष्ट अर्थ को प्राप्त हुए अर्थात् मोक्ष को प्राप्त हुए।

यहाँ गाथा में 'सूत्र' इसप्रकार विशेष्य पद नहीं कहा तो भी विशेषणों की सामर्थ्य से लिया है। ऐसा। **'अरहंतभासियत्थं'** शब्द है न वहाँ? **'अरहंतभासियत्थं'** शब्द है, भाई! सूत्र नहीं। इसका अर्थ सूत्र नहीं, परन्तु ऐसा ले लेना-ऐसा कहते हैं। इसमें से अर्थ किया है। इसलिए वह सूत्र शब्द यहाँ नहीं, परन्तु ले लेना। ऐसा भगवान ने अर्थ

कहा और गणधर ने सूत्र रचे। समझ में आया? आहाहा! वीर हिमाचल से निकली। वाणी निकली भगवान के मुख से। गौतम गणधर ने चार ज्ञान (धारी ने) चौदह पूर्व की रचना अन्तर्मुहूर्त में प्रगट की, उन्होंने यह शास्त्र रचे। ये गणधर के रचे शास्त्र, इनके अन्दर में रहस्य क्या है? उसे खोजकर जिन्होंने-सन्तों ने परमार्थ को साधा और वह परमार्थ साधकर जो मोक्ष को प्राप्त हुए, ऐसे सूत्र को आगम और परमागम कहा जाता है।

***भावार्थ* – जो अरहंत सर्वज्ञ द्वारा भाषित है तथा गणधरदेवों ने अक्षरपद वाक्यमयी गूंथा है...** भगवान के तो अर्थ में निकला है। फिर गणधरों ने शब्दों-वाक्यों की रचना की है। **सूत्र के अर्थ को जानने का ही जिसमें अर्थ-प्रयोजन है – ऐसे सूत्र से मुनि परमार्थ जो मोक्ष उसको साधते हैं।** वास्तव में तो आगम में जो परमार्थ भगवान ने कहा है, उसे साधकर परमार्थ अर्थात् मोक्ष को मुनि साधते हैं। जिनके खोटे साधन... उसमें परमार्थ नहीं होता। इसलिए यह सूत्र कहा है। समझ में आया? बहुत कठिन बात है।

अन्य जो अक्षपाद, जैमिनि, कपिल, सुगत आदि छद्मस्थों के द्वारा रचे हुए कल्पित सूत्र हैं,... छद्मस्थ ने रचे शास्त्र, **उनसे परमार्थ की सिद्धि नहीं है,..** भगवान के परमार्थ से कहे सिद्धान्त। उनके रहस्य को समझकर जिन्होंने परमार्थ-मोक्ष को पाया, उसे यहाँ सूत्र कहा जाता है। समझ में आया? फिर प्रश्न करते हैं कि तब वह सूत्र किसे कहना? अभी तो गणधर नहीं और अरिहन्त भी नहीं। इसकी दूसरी गाथा है। उनकी कही परम्परा में आये हुए – भगवान की कही परम्परा में आये हुए को सूत्र और शास्त्र कहा जाता है। यह बात दूसरी गाथा में कहेंगे। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)